ज्ञानपीठ मूर्तिदेवी जैन ग्रन्थमाला : प्राकृत ग्रन्थांक २०

श्रीमद्वट्टकेराचार्य प्रणीत

मूलाचार

(भाग २)

(श्री वसुनन्दी सिद्धान्तचक्रवर्ती द्वारा विरचित
आचारवृत्ति संस्कृत टीका सहित)

हिन्दी टीकानुवाद
आर्यिकारत्न ज्ञानमती जी

•

सम्पादन
सिद्धान्ताचार्य पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री
पं. जगन्मोहनलाल शास्त्री
पं. (डॉ.) पन्नालाल जैन साहित्याचार्य

भारतीय ज्ञानपीठ

प्रथम संस्करण : १९८६ • मूल्य ६५/-

स्व० पुण्यश्लोका माता मूर्तिदेवी की पवित्र स्मृति में

स्व० साहू शान्तिप्रसाद जैन द्वारा संस्थापित

एवं

उनकी धर्मपत्नी स्व० श्रीमती रमा जैन द्वारा संपोषित

भारतीय ज्ञानपीठ मूर्तिदेवी जैन ग्रन्थमाला

इस ग्रन्थमाला के अन्तर्गत प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, हिन्दी, कन्नड़, तमिल आदि प्राचीन भाषाओं में उपलब्ध आगमिक, दार्शनिक, पौराणिक, साहित्यिक, ऐतिहासिक आदि विविध-विषयक जैन-साहित्य का अनुसन्धानपूर्ण सम्पादन तथा उसका मूल और यथासम्भव अनुवाद आदि के साथ प्रकाशन हो रहा है। जैन-भण्डारों की सूचियाँ, शिलालेख-संग्रह, कला एवं स्थापत्य, विशिष्ट विद्वानों के अध्ययन-ग्रन्थ और लोकहितकारी जैन-साहित्य ग्रन्थ भी इसी ग्रन्थमाला में प्रकाशित हो रहे हैं।

•

ग्रन्थमाला सम्पादक

सिद्धान्ताचार्य पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री

विद्यावारिधि डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन

•

प्रकाशक

भारतीय ज्ञानपीठ

प्रधान कार्यालय : १८ इन्स्टीट्यूशनल एरिया, लोधी रोड, नयी दिल्ली-११०००३

मुद्रक : अंकित प्रिंटिंग प्रेस, शाहदरा, दिल्ली-११००३२

•

दी टाइम्स रिसर्च फाउण्डेशन, बम्बई के सहयोग से प्रकाशित

स्थापना : फाल्गुन कृष्ण ९, वीर नि० २४७० विक्रम सं० २००० • १८ फरवरी, १९४४

भारतीय ज्ञानपीठ : संस्थापना 1944

मूल प्रेरणा

दिवंगता श्रीमती मूर्तिदेवी जी

मातुश्री साहू श्रेयांस प्रसाद जैन

एव

स्व. साहू शान्ति प्रसाद जैन

संस्थापक, भारतीय ज्ञानपीठ

JNANPITH MOORTIDEVI GRANTHAMALA ; Prakrit Grantha No: 20

SHRI VATTAKERACHARYA'S

MŪLĀCHĀRA

(Vol. 2)

(With Acharavritti, a Sanskrit commentary of Acharya Vasunandi Siddhantachakravarti)

Translated by

Venerable Arylkaratna Jnanmatiji

Edited by

Siddhantacharya Pt. Kailash Chandra Shastri
Pt. Jaganmohanlal Shastri
Pt. (Dr.) Pannalal Jain Sahityacharya

BHARATIYA JNANPITH

First Edition : 1986
Price : Rs. 65/-

BHARATIYA JNANPITH
MOORTIDEVI JAIN GRANTHAMALA
FOUNDED BY
LATE SAHU SHANTI PRASAD JAIN
IN MEMORY OF HIS LATE MOTHER SMT. MOORTIDEVI
AND
PROMOTED BY HIS BENEVOLENT WIFE
LATE SRIMATI RAMA JAIN

IN THIS GRANTHAMALA CRITICALLY EDITED JAIN AGAMIC, PHILOSOPHICAL, PURANIC, LITERARY, HISTORICAL AND OTHER ORIGINAL TEXTS AVAILABLE IN PRAKRIT, SANSKRIT, APABHRAMSHA, HINDI, KANNADA, TAMIL ETC., ARE BEING PUBLISHED IN THEIR RESPECTIVE LANGUAGES WITH THEIR TRANSLATIONS IN MODERN LANGUAGES.

ALSO

BEING PUBLISHED ARE CATALOGUES OF JAINA-BHANDARAS, INSCRIPTIONS, STUDIES ON ART AND ARCHITECTURE BY COMPETENT SCHOLARS, AND ALSO POPULAR JAIN LITERATURE.

●

General Editors
Siddhantacharya Pt. Kailash Chandra Shastri
Vidyavaridhi Dr. Jyoti Prasad Jain

Published by
Bharatiya Jnanpith
Head Office : 18, Institutional Area, Lodhi Road, New Delhi-110003
Printed at Ankit Printing Press, Shahdara, Delhi-110032

●

Published with the help of
THE TIMES RESEARCH FOUNDATION, BOMBAY

Founded on Phalguna Krishna 9, Vira Sam. 2470, Vikram Sam. 2000, 18th Feb. 1944

सम्पादकीय

गत वर्ष मूलाचार का प्रथम भाग विद्वानों के हाथ में पहुँच चुका है। संस्कृत और हिन्दी टीका सहित वह संस्करण स्वाध्याय-प्रेमियों के लिए अत्यन्त रुचिकर सिद्ध हुआ है। अनेक आचार्य-संघों में उसके आधार से मूलाचार का पठन-पाठन हुआ है।

अब पाठकों के हाथ में उसका द्वितीय भाग समर्पित करते हुए प्रसन्नता होती है। इस भाग में खासकर समयसाराधिकार में अनेक सुभाषित गाथाएँ दी हुई हैं जो पाठकों के हृदय पर गहरा असर करती हैं। ऐसी गाथाओं में से चुनकर १०८ गाथाओं का एक संग्रह 'कण्ठहार' के नाम से ग्रन्थ के आदि में दिया हुआ है। इन गाथाओं का पुण्यपाठ करने से जहाँ आत्मविशुद्धि प्राप्त होती है वहाँ नवीन प्रवचनकर्ताओं के लिए प्रवचन की प्रभावक सामग्री भी प्राप्त होती है।

इस खण्ड के पर्याप्ति-अधिकार में जैन सिद्धान्त के अनेक तत्त्व प्रतिपादित हैं। संस्कृत टीकाकार ने उन्हें अच्छी तरह प्रस्फुटित किया है। संस्कृत टीकाकार ने प्रायः समस्त सैद्धान्तिक चर्चाओं को अपनी टीका में समाविष्ट किया है। इन चर्चाओं को देखते हुए 'मूलाचार' न केवल चरणानुयोग का ग्रन्थ रह जाता है अपितु करणानुयोग और द्रव्यानुयोग का भी ग्रन्थ बन जाता है।

आर्यिकारत्न श्री १०५ ज्ञानमती माता जी ने संस्कृत टीका के भाव को प्रकट करने का अच्छा प्रयास किया है और वे अपने प्रयास में सफल हुई हैं। भारतीय ज्ञानपीठ के संचालकों ने मूलाचार—दोनों खण्डों के प्रकाशन से अपूर्व श्रुतसेवा की है।

आशा है, यह भाग भी प्रथम भाग के समान ही विद्वज्जनों के द्वारा समादृत होगा और आगामी चातुर्मास में इसका भी पठन-पाठन आचार्य-संघों में चालू होगा।

विनीत

—पन्नालाल साहित्याचार्य
(सम्पादक-मण्डल की ओर से)

मूलाचारस्योत्तरार्धे पुण्यपाठयोग्याः कतिपय-गाथाः
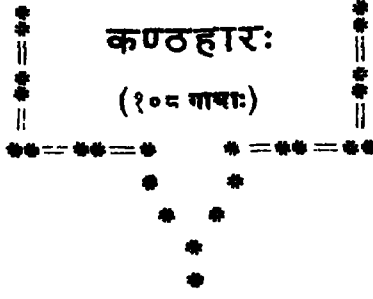
जम्मजरामरण समाहिदह्मि सरणं ण विज्जदे लोए ।
जरमरण-महारिउवारणं तु जिणसासणं मुच्चा ॥६९८॥

मरणभयह्मि उवगदे देवा वि सइंदया ण तारंति ।
धम्मो ताणं सरणं गदि त्ति चिंतेहि सरणत्तं ॥६९९॥

सयणस्स परियणस्स य मज्झे एक्को रुवंतओ दुहिदो ।
वज्जदि मच्चुवसगदो ण जणो कोई समं एदि ॥७००॥

एक्को करेइ कम्मं एक्को हिंडदि य दीहसंसारे ।
एक्को जायदि मरदि य एवं चिंतेहि एयत्तं ॥७०१॥

अण्णो अण्णं सोयदि मदोत्ति मम णाहओत्ति मण्णंतो ।
अत्ताणं ण दु सोयदि संसारमहण्णवे वुड्ढं ॥७०३॥

तत्थणुहवंति जीवा सकम्मणिव्वत्तियं सुहं दुक्खं ।
जम्मणमरणपुणब्भवमणंतभवसायरे भीमे ॥७१७॥

मादा य होदि धूदा धूदा मादुत्तणं पुण उवेदि ।
पुरिसो वि तत्थ इत्थी पुमं च अपुमं च होइ जए ॥७१८॥

धिग्भवदु लोगधम्मं देवा वि य सुरवदीय महड्ढीया ।
भोत्तूण सुक्खमतुलं पुणरवि दुक्खावहा होंति ॥७१९॥

आयास दुक्खवेरभयसोगकलिरागदोसमोहाणं ।
असुहाणमावहो वि य अत्थो मूलं अणत्थाणं ॥७२३॥

दुग्गमदुल्लहलाभा भयपउरा अप्पकालिया लहुआ ।
कामा दुक्खविवागा असुहा सेविज्जमाणा वि ॥७२४॥

मोत्तूण जिणक्खादं धम्मं सुहमिह दु णत्थि लोगम्मि ।
ससुरासुरेसु तिरिएसु णिरयमणुएसु चिंतेज्जो ॥७२८॥

दुक्खभयमीणपउरे संसारमहण्णवे परमघोरे ।
जंतू जं तु णिमज्जदि कम्मासवहेदुयं सव्वं ॥७२९॥

रागो दोसो मोहो इंदियसण्णा य गारवकसाया ।
मण-वयण-काय सहिदा दु आसवा होंति कम्मस्स ॥७३०॥

रंजेदि असुहकुणपे रागो दोसो वि दूसदी णिच्चं ।
मोहो वि महारिवु जं णियदं मोहेदि सब्भावं ॥७३१॥

धिद्धी मोहस्स सदा जेण हिदत्थेण मोहिदो संतो ।
ण विबुज्झदि जिणवयणं हिदसिवसुहकारणं मग्गं ॥७३२॥

धित्तेसिमिंदियाणं जेसिं वसेदो दु पावमज्जणिय ।
पावदि पावविवागं दुक्खमणंतं भवगदिसु ॥७३५॥

कोधो माणो माया लोभो य दुरासया कसायरिऊ ।
दोससहस्सावासा दुक्खसहस्साणि पावंति ॥७३७॥

रुद्धेसु कसायेसु अ मूलादो होंति आसवा रुद्धा ।
दुब्भत्तम्हि णिरुद्धे वणम्मि णावा जह ण एदि ॥७४१॥

इंदिय-कसाय-दोसा णिग्घिप्पंति तवणाणविणएहिं ।
रज्जूहि णिघिप्पंति हु उप्पहगामी जहा तुरया ॥७४२॥

जह धादू धम्मंतो सुज्झदि सो अग्गिणा दु संतत्तो ।
तवसा तहा विसुज्झदि जीवो कम्मेहिं कणयं वा ॥७४८॥

णाणवर मारुद जुदो सीलवरसमाधिसंजमुज्जलिदो ।
दहइ तवो भवबीयं तणकट्ठादी जहा अग्गी ॥७४९॥

सव्व जगस्स हिदकरो धम्मो तित्थं करेहिं अक्खादो ।
धण्णा तं पडिवण्णा विसुद्धमणसा जगे मणुया ॥७५२॥

उवसम दया य खंती वड्ढइ वेरग्गदा य जह जह से ।
यह तह य मोक्खसोक्खं अक्खीणं भावियं होइ ॥७५५॥

संसारविसमदुग्गे भवगहणे कह वि मे भमंतेण ।
दिट्ठो जिणवरदिट्ठो जेट्ठो धम्मोत्ति चिंतेज्जो ॥७५६॥

संसारह्मि अणंते जीवाणं दुल्लहं मणुस्सत्तं ।
जुगसमिला संजोगो लवणसमुद्दे जहा चेव ॥७५७॥

सेयं भवभयमहणी बोधी गुणवित्थडा मए लद्धा ।
जदि पडिदा ण हु सुलहा तम्हा ण खमो पमादो मे ॥७६०॥

दुल्लहलाहं लद्धूण य बोधिं जो णरो पमादेज्जो ।
सो पुरिसो कापुरिसो सोयदि कुगदिं गदो संतो ॥७६१॥

जम्मणमरणुव्विग्गा भीदा संसारवासमसुभस्स ।
रोचंति जिणवरमदं पावणयं वड्ढमाणस्स ॥७७७॥

गामेयरादिवासी णयरे पंचाहवासिणो धीरा ।
सवणा फासुविहारी विवित्तएगंतवासी य ॥७८७॥

सीहा इव णरसीहा पव्वयतडकडयकंदरगुहासु ।
जिणवयणमणुमणंता अणुविग्गमणा परिवसंति ॥७९४॥

सज्झायझाणजुत्ता रत्तिं ण सुवंति ते पयामं तु ॥
सुत्तत्थं चिंतंता णिद्दाय वसं ण गच्छंति ॥७९६॥

उवधिभरविप्पमुक्का वोस्सट्टंगा णिरंबरा धीरा ।
णिक्किंचण परिसुद्धा साधु सिद्धिं वि मग्गंति ॥७९८॥

जिणवयणमणुगणेंता संसारमहब्भयं हि चिंतंता ।
गब्भवसदीसु भीदा भीदा पुण जम्ममरणेसु ॥८०७॥

लद्धे ण होंति तुट्ठा ण वि य अलद्धेण दुम्मणा होंति ।
दुक्खे सुहे य मुणिणो मज्झत्थमणाउला होंति ॥८१८॥

सुदरयणपुण्णकण्णा हेउणयविसारदा विउलबुद्धी ।
णिउणत्थसत्थकुसला परमपयवियाणया समणा ॥८३५ ॥

अवगदमाणत्थंभा अणुस्सिदा अगव्विदा अचंडा य ।
दंता मद्दवजुत्ता समयविदण्हू विणीदा य ॥८३६॥

उवलद्धपुण्णपावा जिणसासणगहिद मुणिदपज्जाला ।
करचरणसंवुडंगा झाणुवजुत्ता मुणी होंति ॥८३७॥

जिणवयणमोसहमिणं विसयसुहविरेयणं अमिदभूदं ।
जरामरणवाहिवेयण खयकरणं सव्वदुक्खाणं ॥८४३॥

रोगाणं आयदणं वाधिसदसमुच्छिदं सरीरघरं ।
धीरा खणमवि रागं ण करेंति मुणी सरीरम्मि ॥८४५॥

अट्ठिं च चम्मं च तहेव मंसं
पित्तं च सिंभं तह सोणिदं च ।
अमेज्झसंघायमिणं सरीरं
पस्संति णिव्वेदगुणाणुपेहि ॥८५०॥

अट्ठिणिछण्णं णालिणिबद्धं
कलिमलभरिदं किमिउलपुण्णं।
मंसविलित्तं तयपडिछण्णं
सरीरघरं तं सददमचोक्खं ॥८५१॥

एदारिसे सरीरे दुग्गंधे कुणिमपूदियमचोक्खे।
सडणपडणे असारे रागं ण करिंति सप्पुरिसा ॥८५२॥

भासं विणयविहूणं धम्मविरोही विवज्जए वयणं।
पुच्छिदमपुच्छिदं वा ण वि ते भासंति सप्पुरिसा ॥८५५॥

णिच्चं च अप्पमत्ता संजमसमिदीसु झाणजोगेसु।
तवचरणकरणजुत्ता हवंति सवणा समिद पावा ॥८६४॥

हेमंते धिदिमंता सहंति ते हिमरयं परमघोरं।
अंगेसु णिवडमाणं णलिणीवणविणासणं सीयं ॥८६५॥

जल्लेण मइलिदंगा गिह्मे उण्णावदेण दड्ढंगा।
चेट्ठंति णिसिट्ठंगा सूरस्स य अहिमुहा सूरा ॥८६६॥

धारंधयारगुविलं सहंति ते वादवाद्दलं चंडं।
रत्तिदियं गलंतं सप्पुरिसा रुक्खमूलेसु ॥८६७॥

वादं सीदं उण्हं तण्हं च छुधं च दंसमसयं।
सव्वं सहंति धीरा कम्माण खयं करेमाणा ॥८६८॥

दुज्जणवयण चडयणं सहंति अच्छोड सत्थपहरं च।
ण य कुप्पंति महरिसी खमणगुणवियाणया साहू ॥८६९॥

ते इंदियेसु पंचसु ण कयाइ रागं पुणो वि बंधंति।
उण्हेण व हारिद्दं णस्सदि रागो सुविहिदाणं ॥८७४॥

विसएसु पधावंता चवला चंडा तिदंडगुत्तेहिं।
इंदियचोरा घोरा वसम्मि ठविदा ववसिदेहिं ॥८७८॥

जह चंडो वणहत्थी उद्दामो णयररायमग्गम्मि।
तिक्खंकुसेण धरिदो णरेण दिढसत्तिजुत्तेण ॥८७६॥

तह चंडो मणहत्थी उद्दामो विसयराजमग्गम्मि।
णाणंकुसेण धरिदो रुद्धो जह मत्तहत्थिव्व ॥८७७॥

ण य एदि विणिस्सरिदुं मणहत्थी झाणवारिबंधणिदो।
बद्धो तह य पयंडो विरायरज्जूहिं धीरेहिं ॥८७८॥

एदे इंदियतुरया पयडीदोसेण चोइया संता।
उम्मग्गं णिंति रहं करेह मणपग्गहं बलियं ॥८८१॥

जह ण चलइ गिरिराजो अवरुत्तर-पुव्वदक्खिणे वाए।
एवमचलिदो जोगी अभिक्खणं झायदे झाणं ॥८८६॥

धीरो वइरग्गपरो थोवं हि य सिक्खिदूण सिज्झदि हु।
ण य सिज्झदि वेरग्गविहीणो पढिदूण सव्वसत्थाइं ॥८९६॥

थोवम्हि सिक्खिदे जिणइ बहुसुदं जो चरित्तसंपुण्णो।
जो पुण चरित्तहीणो किं तस्स सुदेण बहुएण ॥८९९॥

णिज्जावगो य णाणं वादो झाणं चरित्तणावा हि।
भवसागरं तु भविया तरंति तिहि सण्णिपायेण ॥९००॥

णाणं पयासओ तओ सोधओ संजमो य गुत्तियरो।
तिण्हं पि य संपजोगे होदि हु जिणसासणे मोक्खो ॥९०१॥

णाणं करणविहीणं लिंगग्गहणं च संजमविहूणं।
दंसणरहिदो य तवो जो कुणइ णिरत्थयं कुणइ ॥९०२॥

तवेण धीरा विधुणंति पावं
अज्झप्पजोगेण खवंति मोहं।
संखीणमोहा धुदरागदोसा
ते उत्तमा सिद्धिगदिं पयंति ॥९०३॥

सम्मत्तादो णाणं णाणादो सव्वभावउवलद्धी।
उवलद्धपयत्थो पुण सेयासेयं वियाणादि ॥९०५॥

सव्वं पि हु सुदणाणं सुट्ठु सुगुणिदं पि सुट्ठु पढिदं पि।
समणं भट्टचरित्तं ण हु सक्को सुग्गइं णेदुं ॥९०८॥

जदि पडदि दीवहत्थो अवडे किं कुणदि तस्स सो दीवो।
जदि सिक्खिऊण अणयं करेदि किं तस्स सिक्खफलं ॥९०८॥

मूलं छित्ता समणो जो गिण्हादी य बाहिरं जोगं।
बाहिरजोगा सव्वे मूलविहूणस्स किं करिस्संति ॥९२०॥

किं काहदि वणवासो सुण्णागारो य रुक्खमूलो वा।
भुंजदि आधाकम्मं सव्वे वि णिरत्थया जोगा ॥९२५॥

जह वोसरित्तु कत्तिं विसं ण वोसरदि दारुणो सप्पो।
तह को वि मंदसमणो पंच दु सूणा ण वोसरदि ॥९२७॥

बहुगं पि सुदमधीदं किं काहदि अजाणमाणस्स।
दीवविसेसो अंधे णाणविसेसो वि तह तस्स ॥९३५॥

सम्मादिट्ठिस्स वि अविरदस्स ण तवो महागुणो होदि।
होदि हु हत्थिण्हाणं चुंदच्छिदकम्म तं तस्स ॥९४२॥

जत्थ कसायुप्पत्तिरभत्तिंदियदारइत्थिजणबहुलं ।
दुक्खमुवसग्गबहुलं भिक्खू खेत्तं विवज्जेऊ ॥९५१॥

णिवदिविहूणं खेत्तं णिवदी वा जत्थ दुट्ठओ होज्ज ।
पव्वज्जा च ण लब्भइ संजमघादो य तं वज्जे ॥९५३॥

वड्ढदि बोही संसग्गेण तह पुणो विणस्सेदि ।
संसग्गविसेसेण दु उप्पलगंधो जहा कुंभो ॥९५६॥

चंडो चवलो मंदो तह साधू पुट्ठिमंसपडिसेवी ।
गारवकसायबहुलो दुरासओ होदि सो समणो ॥९५७॥

वेज्जावच्चविहूणं विणयविहूणं च दुस्सुदि कुसीलं ।
समणं विरागहीणं सुजमो साधू ण सेवेज्ज ॥९५८॥

दंभं परपरिवादं णिसुणत्तण पावसुत्त पडिसेवं ।
चिर पव्वइदं पि मुणी आरंभजुदं ण सेवेज्ज ॥९५९॥

चिर पव्वइदं पि मुणी अपुट्ठधम्मं असंपुडं णीचं ।
लोइय लोगुत्तरियं अयाणमाणं विवज्जेज्ज ॥९६०॥

आयरियकुलं मुच्चा विहरदि समणो य जो दु एगागी ।
ण य गेण्हदि उवदेसं पावस्समणोत्ति वुच्चदि दु ॥९६१॥

आयरियत्तणं तुरिओ पुव्वं सिस्सत्तणं अकाऊण ।
हिंडइ ढुंढायरिओ णिरंकुसो मत्तहत्थिव्व ॥९६२॥

आयरियत्तणमुवणाय३ जो मुणि आगमं ण याणंतो ।
अप्पाणं वि विणासिय अण्णे वि पुणो विणासेई ॥९६५॥

घोडयलद्दिसमाणस्स बाहिर बगणिहुदकरणचरणस्स ।
अब्भंतरम्हि कुहिदस्स तस्स दु किं बज्झजोगेहिं ॥९६६॥

मा होह वासगणणा ण तत्थ वासाणि परिगणिज्जंति ।
बहवो तिरत्तवुत्था सिद्धा धीरा विरग्गपरा समणा ॥९६७॥

सज्झायं कुव्वंतो पंचिंदिय संपुडो तिगुत्तो य ।
हवदि य एयग्गमणो विणएण समाहिओ भिक्खू ॥९७१॥

बारसविहम्मि य तवे सब्भंतर बाहिरे कुसलदिट्ठे ।
ण वि अत्थि ण वि य होहदि सज्झायसमं तवोकम्मं ॥९७२॥

सूई जहा ससुत्ता ण णस्सदि दु पमाददोसेण ।
एवं ससुत्तपुरिसो ण णस्सदि पमाददोसेण ॥९७३॥

णिद्दं जिणेहि णिच्चं णिद्दा खलु णरमचेदणं कुणदि ।
वट्टेज्ज हु पसुत्तो समणो सव्वेसु दोसेसु ॥९७४॥

मोहग्गिणा महंतेण दज्झमाणे महाजगे धीरा ।
समणा विसयविरत्ता झायंति अणंतसंसारं ॥९७८॥

आरंभं च कसायं च ण सहदि तवो तहा लोए ।
अच्छी लवणसमुद्दो य कयारं खलु जहा दिट्ठं ॥९७९॥

अकसायं तु चरित्तं कसायवसिओ असंजदो होदि ।
उवसमदि जम्हि काले तक्काले संजदो होदि ॥९८४॥

वरं गणपवेसादो विवाहस्स पवेसणं ।
विवाहे रागउप्पत्ती गणो दोसाणमागरो ॥९८५॥

अत्थस्स जीवियस्स य जिब्भोवत्थाण कारणं जीवो ।
मरदि य मारावेदि य अणतसो सव्वकालं तु ॥९८९॥

जिब्भोपत्थणिमित्तं जीवो दुक्ख अणादिसंसारे ।
पत्तो अणंततो तो जिब्भोवत्थे जयह दाणि ॥९९०॥

चदुरंगुला य जिब्भा असुहा चदुरगुलो उवत्थो वि ।
अट्ठगुलदोसेण जीवो दुक्ख खु पप्पोदि ॥९९१॥

बीहेदव्व णिच्च कट्ठत्थस्स वि तहित्थिरूवस्स ।
हवदि हि चित्तक्खोभो पच्चयभावेण जीवस्स ॥९९२॥

चिदभरिदघडसरित्थो पुरिसो इत्थो वलत अग्गिसमा ।
तो महिलेय ढुक्का णट्ठा पुरिसा सिव गया इयरे ॥९९३॥

मायाए बहिणीए धूआए मूइ वुड्ढ इत्थीए ।
बीहेदव्व णिच्च इत्थीरूव णिरावेक्खं ॥९९४॥

हत्थपादपरिच्छिण्ण कण्णणासवियप्पिय ।
अविवास सदि णारि दूरिदो परिवज्जए ॥९९५॥

भावविरदो दु विरदो ण दव्व विरदस्स सुग्गई होई ।
विसयवणरमणलोलो धरियव्वो तेण मणहत्थी ॥९९७॥

पढमं विउलाहारं विदियं कायसोहण ।
तदिय गधमल्लाइं चउत्थं गीयवाइयं ॥९९८॥

तह सयणसोधणं पि य इत्थिसंसग्ग वि अत्थसंगहणं ।
पुव्वरदिसरणमिदियविसयरदी पणिदरससेवा ॥ ९९९॥

दस विहमब्बंभमिण ससारमहादुहाणमावाहं ।
परिहरइ जो महप्पा सो दढ बंभव्वओ होदि ॥१०००॥

भावसमणा हु समणा ण समणाण सुग्गई जम्हा ।
जहिऊण दुविहमुवहिं भावेण सुसंजदो होह ॥१००४॥

चाओ य होइ दुविहो संगच्चाओ कलत्तचाओ य।
उभयच्चाय किच्चा साहू सिद्धि लहू लहदि ॥१००८॥

कध चरे कध चिट्ठे कधमासे कध सये।
कध भुजेज्ज भासेज्ज कध पाव ण बज्झदि ॥१०१४॥

जद चरे जद चिट्ठे जदमासे जद सये।
जद भुजेज्ज भासेज्ज एव पाव ण बज्झइ ॥१०१५॥

जद तु चरमाणस्स दयापेहुस्स भिक्खुंणो।
पाव ण बज्झदे कम्म पोराण च विधूयदि ॥१०१६॥

इत्थीससग्गो पणिदरसभोयण गधमल्ल सठप्प।
सयणासणभूसणय छट्ठ पुण गीयवाइय चेव ॥१०३०॥

अत्थस्स सपयोगो कुसीलसग्गि रायसेवा य।
रत्ती वि सयरण दस सीलविराहणा भणिया ॥१०३१॥

—●—

आद्य उपोद्घात

सिद्धान्तचक्रवर्ती श्री वसुनन्दि आचार्य ने मूलाचार ग्रन्थ की टीका के प्रारम्भ में भूमिका में कहा है कि यह ग्रन्थ आचारांग के आधार से लिखा गया है और आचारांग समस्त श्रुतस्कंध का आधारभूत है। यथा—

"श्रुतस्कन्धाधारभूतमष्टादशपदसहस्रपरिमाणं, मूलगुण-प्रत्याख्यान-संस्तरस्तवाराधना-समयाचार (समाचार) - पंचाचार-पिंडशुद्धि-षडावश्यक-द्वादशानुप्रेक्षानगारभावना-समयसार-शीलगुणप्रस्तार-पर्याप्त्याद्यधिकार-निबद्धमहार्थगंभीरं लक्षणसिद्धपदवाक्यवर्णोपचितं, घातिकर्मक्षयोत्पन्नकेवलज्ञानप्रबुद्धाशेषगुणपर्यायखचितषड्द्रव्यनवपदार्थजिनवरोपदिष्टं, द्वादशविध-तपोनुष्ठानोत्पन्नानेकप्रकारर्द्धिसमन्वितगणधरदेवरचितं, मूलगुणोत्तरगुणस्वरूपविकल्पोपाय-साधन सहाय-फलनिरूपणप्रवणमाचारांगमाचार्य-पारम्पर्यप्रवर्तमानमल्पबल-मेधायुःशिष्यनिमित्तं द्वादशाधिकारैरुपसंहर्तुकामः स्वस्य श्रोतॄणां च प्रारब्धकार्यप्रत्यूहनिराकरणक्षमं शुभपरिणामं विदधच्छ्रीवट्टकेराचार्यः प्रथमतरं तावन्मूलगुणाधिकारं प्रतिपादनार्थं मंगलपूर्विकां प्रतिज्ञां विधत्ते मूलगुणेष्वित्यादि—

—जो श्रुतस्कन्ध का आधारभूत है, अठारह हजार पदपरिमाण है, जो मूलगुण, प्रत्याख्यान, संस्तर, स्तवाराधना, समयाचार, पंचाचार, पिंडशुद्धि, छह आवश्यक, बारह अनुप्रेक्षा, अनगार भावना, समयसार, शीलगुणप्रस्तार और पर्याप्ति आदि अधिकार से निबद्ध होने से महान् अर्थों से गम्भीर है, लक्षण-व्याकरणशास्त्र से सिद्ध पद, वाक्य और वर्णों से सहित है, घातिया कर्मों के क्षय से उत्पन्न हुए केवलज्ञान के द्वारा जिन्होंने अशेष गुणों और पर्यायों से खचित छह द्रव्य और नव पदार्थों को जान लिया है ऐसे जिनेन्द्रदेव के द्वारा जो उपदिष्ट है, बारह प्रकार के तपों के अनुष्ठान से उत्पन्न हुई अनेक प्रकार की ऋद्धियों से समन्वित गणधर देव के द्वारा जो रचित है, जो मूलगुणों और उत्तरगुणों के स्वरूप, भेद, उपाय, साधन, सहाय और फल के निरूपण करने में कुशल है, आचार्य परम्परा से चला आ रहा—ऐसा यह आचारांग नाम का पहला अंग है। उस आचारांग का अल्प शक्ति, अल्प बुद्धि और अल्प आयु वाले शिष्यों के लिए बारह अधिकारों में उपसंहार करने की इच्छा करते हुए अपने और श्रोताओं के प्रारम्भ किए गए कार्यों के विघ्नों को दूर करने में समर्थ शुभ परिणाम की धारणा करते हुए श्रीवट्टकेराचार्य सर्वप्रथम मूलगुण नामक अधिकार का प्रतिपादन करने के लिए 'मूलगुणेसु' इत्यादि रूप मंगलपूर्वक प्रतिज्ञा करते हैं—

मूलगुणेसु विसुद्धे वंदित्ता सव्वसंजदे सिरसा।
इहपरलोयहिदत्थे मूलगुणे कित्तइस्सामि ॥ १ ॥

—मूलगुणों में विशुद्ध सभी संयतों को सिर झुकाकर नमस्कार करके इस लोक और परलोक के लिए हितकर मूलगुणों (उत्तरगुणों के लिए आधारभूत प्रधान अनुष्ठान) का मैं वर्णन करूंगा।

यह ग्रन्थ १२ अधिकारों में विभाजित है। पूर्वार्ध अर्थात् पहली जिल्द में ७ अधिकार हैं। मूलाचार का यह खण्ड सन् १९८४ में भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित हो चुका है।

प्रस्तुत भाग इस ग्रन्थ का उत्तरार्ध है जिसमें शेष पाँच अधिकारों का वर्णन है। इन १२ अधिकारों का विषय संक्षेप में इस प्रकार है—

१. मूलगुणाधिकार—इस अधिकार में मूलगुणों के नाम बतलाकर पुनः प्रत्येक का लक्षण अलग-अलग गाथाओं में बतलाया गया है। अनन्तर इन मूलगुणों के पालन करने का फल निर्दिष्ट है।

२. बृहत् प्रत्याख्यान—संस्तरस्तवाधिकार—इस अधिकार में पापयोग के प्रत्याख्यान—त्याग करने का कथन है। संन्यासमरण के भेद और उनके लक्षणों का भी संक्षेप में विवेचन है।

३. संक्षेप प्रत्याख्यानाधिकार—इसमें अति संक्षेप में पापों के त्याग का उपदेश है। दश प्रकार के मुण्डन का भी अच्छा वर्णन है।

४. समाचाराधिकार—प्रातःकाल से रात्रिपर्यन्त—अहोरात्र साधुओं की चर्या का नाम ही समाचार चर्या है। इसके औघिक और पदविभागी दो भेद किए हैं। उनमें भी औघिक के १० भेद और पदविभागी के अनेक भेद किए गये हैं। इस अधिकार में आजकल के मुनियों को एकलविहारी होने का निषेध किया है। आर्यिकाओं की चर्या का कथन, यथा उनके आचार्य कैसे हों—इस पर भी अच्छा प्रकाश डाला गया है।

५. पंचाचाराधिकार—इसमें दर्शनाचार, ज्ञानाचार, चारित्राचार, तप-आचार और वीर्याचार इन पाँचों आचारों का बहुत ही सुन्दर विवेचन है।

६. पिण्डशुद्धि अधिकार—उद्गम, उत्पादन, एषणा, संयोजना, प्रमाण, अंगार, धूम और कारण इन आठ दोषों से रहित पिण्डशुद्धि होती है। उद्गम के १६, उत्पादन के १६, एषणा के १० इस प्रकार ४२ दोष हुए। पुनः संयोजना, अप्रमाण, अंगार और धूम ये ४ मिलकर ४६ दोष होते हैं। मुनिजन इन दोषों को टालकर, ३२ अन्तरायों को छोड़कर आहार लेते हैं। किन कारणों से आहार लेते हैं? किन कारणों से छोड़ते हैं? इत्यादि का इसमें विस्तार से कथन है।

७. षडावश्यकाधिकार—इसमें 'आवश्यक' शब्द का अर्थ बतलाकर समता, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग—इन छह आवश्यक क्रियाओं का विस्तार से वर्णन है।

यहाँ तक ग्रन्थ के पूर्वार्ध का विषय है। उत्तरार्ध का विषय इस प्रकार है—

८. द्वादशानुप्रेक्षाधिकार—इसमें १२ अनुप्रेक्षाओं का वर्णन है। लोकानुप्रेक्षा को आचार्य ने छठी अनुप्रेक्षा में लिया है। सप्तम अनुप्रेक्षा का नाम अशुभ अनुप्रेक्षा रखा है, और आगे उसी अशुभ का लक्षण किया है। इन अनुप्रेक्षाओं के क्रम का मैंने पूर्वार्ध की प्रस्तावना में भी खुलासा कर दिया है।

९. अनगारभावनाधिकार—इसमें मुनियों की उत्कृष्ट चर्या का वर्णन है। लिंग, व्रत, वसति, विहार, भिक्षा, ज्ञान, शरीर-संस्कार-त्याग, वाक्य, तप और ध्यान सम्बन्धी दश शुद्धियों का अच्छा विवेचन तथा अभ्रावकाश आदि योगों का भी वर्णन है। इस अधिकार का पालन पूर्णरूप से जिनकल्पी मुनि ही कर सकते हैं।

१०. समयसाराधिकार—इसमें चारित्रशुद्धि के हेतुओं का कथन है। चार प्रकार के लिंग का और दश प्रकार के स्थितिकल्प का भी अच्छा विवेचन है। दश स्थितिकल्प के नाम हैं—(१) अचेलकत्व, (२) अनौद्देशिक, (३) शैयागृह-त्याग, (४) राजपिंड-त्याग, (५) कृतिकर्म, (६) व्रत, (७) ज्येष्ठता, (८) प्रतिक्रमण, (९) मासस्थितिकल्प और (१०) पर्यवस्थितिकल्प।

११. शील-गुणाधिकार—इसमें शील के १८ हजार भेदों का विस्तार से निरूपण है तथा ८४ लाख उत्तरगुणों का भी कथन है।

१२. पर्याप्त्यधिकार—इस अधिकार में जीव की छह पर्याप्तियों को बताकर संसारी जीव के अनेक भेद-प्रभेदों का कथन किया गया है, क्योंकि जीवों के नाना भेदों को जानकर ही उनकी रक्षा की जा सकती है। अनन्तर कर्म-प्रकृतियों के क्षय का विधान है, यह इसलिए कि 'मूलाचार' ग्रन्थ के पढ़ने का फल मूलगुणों को ग्रहण करके अनेक उत्तरगुणों को भी प्राप्त करना है। पुनः तपश्चरण और ध्यान विशेष के द्वारा कर्मों को नष्ट कर देना ही इसके स्वाध्याय का फल दिखलाया गया है।

इस ग्रन्थ में बहुत से विशेष जानने योग्य विषय हैं जिनका संकेत पूर्वार्ध की प्रस्तावना में मैंने किया है। एक और महत्त्वपूर्ण विषय यह है कि धवला पुस्तक नं० १३ में दसवें गुणस्थान तक धर्मध्यान माना है। यथा—

"असंजदसम्माइट्ठि-संजदासंजद-पमत्तसंजद-अपमत्तसंजद- अपुव्वसंजद-अणियट्टिसंजद-सुहुमसांपराइयखवगोवसामएसु धम्मज्झाणस्स पवुत्ती होदि त्ति जिणोवएसादो।"[1]

लेकिन धवलाटीकाकार आचार्य वीरसेन स्वामी से पूर्व इस मूलाचार ग्रन्थ के कर्ता श्री वट्टकेर स्वामी ने ग्यारहवें गुणस्थान से शुक्लध्यान माना है। यथा—

उवसंतो दु पुहुत्तं झायदि झाणं विदक्क-वीचारं।
खीणकसाओ झायदि एयत्तविदक्कवीचारं ॥ ४०४ ॥

—उपशान्तकषाय मुनि पृथक्त्ववितर्कवीचार नामक शुक्लध्यान को ध्याते हैं, क्षीणकषाय मुनि एकत्ववितर्क-अवीचार नामक ध्यान करते हैं।

सुहुमकिरियं सजोगी झायदि झाणं च तदियसुक्कं तु।
जं केवली अजोगी झायदि झाणं समुच्छिण्णं ॥ ४०५ ॥

सूक्ष्मक्रिया नामक तीसरा शुक्लध्यान सयोगी ध्याते हैं। जो अयोग केवली ध्याते हे वह समुच्छिन्नध्यान है।

यही बात 'भगवती आराधना' में शिवकोटि आचार्य ने कही है—

दव्वाइं अणेयाइं तीहिं वि जोगेहिं जेण ज्झायंति।
उवसंतमोहणिज्जा तेण पुधत्तं त्ति तं भणिया ॥ १८७४ ॥
जेणेगमेव दव्वं जोगेणेगेण अण्णदरगेण।
खीणकसाओ ज्झायदि तेणेगत्तं तयं भणियं ॥ १८७७ ॥
सुहुमम्मि कायजोगे वट्टंतो केवली तदियसुक्कं।
झायदि णिरुंभिदुं जे सुहुमत्तं कायजोगं पि ॥ १८८१ ॥
तं पुण णिरुद्धजोगो सरीरतियणासणं करेमाणो।
सव्वण्हू अपडिवादी ज्झायदि ज्झाणं चरिमसुक्कं ॥ १८८३ ॥

इसी प्रकार एकलविहारी मुनि कैसे हों—यह विषय भी इसमें निरूपित है जो आज के लिए महत्त्वपूर्ण है। यथा—

---

१. धवला पुस्तक १३ पृ० ७४।

तवसुत्तसत्तएगत्तभावसंघडणधिदिसमग्गो य ।
पविआ आगमबलिओ एयविहारी अणुण्णादो ॥ १४६ ॥
गिहिदत्थेयविहारो विदिओऽगिहिदत्थसंसिदो चेव ।
एत्तो तदियविहारो णाणुण्णादो जिणवरेहिं ॥ १४८ ॥
सच्छंदगदागदी-सयणणिसयणादाणभिक्खवोसरणे ।
सच्छंदजंपरोचि य मा मे सत्तू वि एगागी ॥ १५० ॥
गुरुपरिवादो सुदवुच्छेदो तित्थस्स मइलणा जडदा ।
भिंभलकुसीलपासत्थदा य उस्सारकप्पम्हि ॥ १५१ ॥
कंटयखण्णुयपडिणियसाणगोणादिसप्पमेच्छेहिं ।
पावइ आदविवत्ती विसेण य विसूइया चेव ॥ १५२ ॥
गारविओ गिद्धीओ माइल्लो अलसलुद्धणिद्धम्मो ।
गच्छे वि संवसंतो णेच्छइ संघाडयं मंदो ॥ १५३ ॥
आणा अणवत्था वि य मिच्छत्ताराहणादणासो य ।
संजमविराहणा वि य एदे दु णिकाइया ठाणा ॥ १५४ ॥

विहार के गृहीतार्थ-विहार और अगृहीतार्थ-विहार ऐसे दो भेद हैं । इनके सिवाय तीसरे विहार की जिनेश्वरों ने आज्ञा नहीं दी है ।

जीवादि तत्त्वों के स्वरूप के ज्ञाता मुनियों का चारित्र का पालन करते हुए देशान्तर में विहार गृहीतार्थविहार है, और जीवादि तत्त्वों को न जानकर चारित्र का पालन करते हुए मुनियों का जो विहार है वह अगृहीतार्थ-संश्रित-विहार है । जो साधु बारह प्रकार के तप को करने वाले हैं, द्वादशांग और चतुर्दश पूर्व के ज्ञाता हैं अथवा काल, क्षेत्र आदि के अनुरूप आगम के ज्ञाता हैं या प्रायश्चित आदि ग्रन्थों के वेत्ता हैं, देह की शक्ति और हड्डियों के बल से अथवा भाव के सत्त्व से सहित हैं, शरीरादि से भिन्न रूप एकत्व भावना में तत्पर हैं, वज्रवृषभनाराच आदि तीन संहननों में से किसी एक उत्तम संहनन के धारक हैं, धृति—मनोबल से सहित हैं अर्थात् क्षुधा आदि बाधाओं को सहने में समर्थ हैं, बहुत दिन के दीक्षित हैं, तपस्या से वृद्ध हैं —अधिक तपस्वी हैं और आचार-शास्त्रों में पारंगत हैं—ऐसे मुनि को एकलविहारी होने की जिनेन्द्रदेव ने आज्ञा दी है ।

गमनागमन, सोना, उठना, बैठना, कोई वस्तु ग्रहण करना, आहार लेना, मलमूत्रादि विसर्जन करना, बोलना-चालना आदि क्रियाओं में स्वच्छन्द प्रवृत्ति करने वाला ऐसा कोई भी मुनि मेरा शत्रु भी हो तो भी वह एकाकी विचरण न करे । स्वेच्छाचारी मुनि के एकाकी विहार से गुरु की निन्दा होती है, श्रुताध्ययन का व्युच्छेद, तीर्थ की मलिनता, जड़ता—मूर्खता, आकुलता, कुशीलता, पार्श्वस्थता आदि दोष आते हैं । एकल-विहारी होने से कंटक, ठूंठ आदि का उपद्रव; कुत्ते, बैल आदि पशुओं के और म्लेच्छों के उपसर्ग; विष, हैजा आदि से भी अपना घात हो सकता है । ऋद्धि आदि गौरव से गर्वयुक्त, हठग्राही, कपटी, आलसी, लोभी और पापबुद्धियुक्त मुनि संघ में रहते हुए भी शिथिलाचारी होने से अन्य मुनियों के साथ नहीं रहना चाहता है । स्वच्छन्द मुनि के जिनेन्द्रदेव की आज्ञा का लोप, अनवस्था—देखादेखी स्वच्छन्द विहारी की परम्परा बन जाना, मिथ्यात्व की आराधना, आत्मगुणों का नाश और संयम की विराधना—इन पाँच निकाचित दोषों का प्रसंग आता है ।

आर्यिकाओं की चर्या

"मुनियों के लिए जो मूलगुण और समाचार का वर्णन किया है वही सब मूलगुण और समाचार-विधि आर्यिकाओं के लिए भी है। विशेष यह है कि वृक्षमूलयोग, आतापनयोग आदि का आर्यिकाओं के लिए निषेध है।"[1]

अन्यत्र भी कहा है—

"जिस प्रकार यह समाचार नीति मुनियों के लिए बतलाई है उसी प्रकार लज्जादि-गुणों से विभूषित आर्यिकाओं को भी इन्हीं समस्त समाचार-नीतियों का पालन करना चाहिए।"[2]

आर्यिकाएँ वसतिका में परस्पर में एक-दूसरे के अनुकूल रहती हैं। निर्विकार वस्त्र-वेश को धारण करती हुई दीक्षा के अनुरूप आचरण करती हैं। रोना, बालक आदि को स्नान कराना, भोजन बनाना, वस्त्र सीना आदि गृहस्थोचित कार्य नहीं करती हैं। इनका स्थान साधुओं के निवास से दूर तथा गृहस्थों के स्थान से न अतिदूर न अतिपास रहता है। वहीं पर मलमूत्रादि विसर्जन हेतु एकान्त प्रदेश रहता है। ऐसे स्थान में दो, तीन या तीस, चालीस आदि तक आर्यिकाएँ निवास करती हैं। ये गृहस्थों के घर आहार के अतिरिक्त अन्य समय नहीं जाती है।

कदाचित् सल्लेखना आदि विशेष कार्य यदि आ जावे तब गणिनी की आज्ञा से दो-एक आर्यिकाओं के साथ जाती हैं। इनके पास दो साड़ी रहती हैं किन्तु तीसरा वस्त्र नहीं रख सकती हैं, फिर भी ये लंगोटी मात्र धारी ऐलक से अधिक पूज्य हैं क्योंकि इनके उपचार से महाव्रत माने गये हैं, किन्तु ऐलक के अणुव्रत ही हैं।

यथा—"ग्यारहवीं प्रतिमाधारी ऐलक लंगोट में ममत्व सहित होने से उपचार महाव्रत के योग्य भी नहीं हैं। किन्तु आर्यिका एक साड़ी मात्र धारण करने पर भी ममत्व रहित होने से उपचार महाव्रती हैं।"[3] एक साड़ी पहनना और बैठकर आहार करना इन दो चर्याओं में ही मुनियों से इनमें अन्तर है।

यहाँ मूलाचार में एकलविहारी मुनि का जो लक्षण किया है, 'भावसंग्रह' ग्रन्थ में आचार्य देवसेन ने जिनकल्पी मुनि का वैसा ही लक्षण किया है। यथा—

"जिनेन्द्रदेव ने मुनियों के जिनकल्प और स्थविर-कल्प ऐसे दो भेद कहे हैं।"[4]

---

१. एसो अज्जाणंपि य सामाचारो जहाक्खिओ पुव्वं।
सव्वम्हि अहोरत्ते विभासिदव्वो जधाजोग्गं ॥१८७॥

२. लज्जाविनयवैराग्यसदाचारविभूषिते।
आर्याव्राते समाचारः संयतेष्विव किन्त्विह ॥८१॥ आचारसार, पृ० ४२

३. कौपीनेऽपि समूर्च्छत्वात् नार्हत्यार्यो महाव्रतम्।
अपि भाक्तममूर्च्छत्वात् साटिकेऽप्यार्यिकार्हति ॥सागरधर्मामृत, पृ० ५१८

४. दुविहो जिणेहिं कहिओ जिणकप्पो तह य थविरकप्पो य।
सो जिणकप्पो उत्तो उत्तमसंहणणधारिस्स ॥११९॥

जिनकल्पी मुनि

"जो उत्तम संहननधारी हैं उनके जिनकल्प होता है। वे मुनि पैर में काँटा लग जाने पर या नेत्र में धूलि पड़ जाने पर स्वयं नहीं निकालते हैं। यदि कोई निकाल देता है तो मौन रहते हैं। जलवृष्टि हो जाने पर गमन रुक जाने से छह मास तक निराहार रहते हुए कायोत्सर्ग में स्थित हो जाते हैं। ग्यारह अंगधारी होते हैं। धर्मध्यान अथवा शुक्लध्यान में तत्पर रहते हैं। अशेष कषायों को छोड़ चुके होते हैं, मौनव्रती रहते हैं और गिरि-कंदराओं में निवास करने वाले होते हैं। बाह्याभ्यंतर परिग्रह से रहित, स्नेहरहित, निःस्पृही, यतिपति 'जिन' (तीर्थंकर) के समान विचरण करते हैं ऐसे ही श्रमण जिनकल्प में स्थित कहलाते हैं अर्थात् जिनकल्पी होते हैं।"[1]

स्थविरकल्पी मुनि

"जिनेन्द्रदेव ने अनगारों के लिए स्थविरकल्प भी बताया है। वह इस प्रकार है—पाँच प्रकार के वस्त्रों का त्याग करना, अकिंचन वृत्ति धारण करना और प्रतिलेखन—पिच्छिका ग्रहण करना।[2] पाँच महाव्रत धारण करना, स्थिति भोजन और एक भक्त करना, भक्ति सहित श्रावक के द्वारा दिया गया आहार कर-पात्र में ग्रहण करना, याचना करके भिक्षा नहीं लेना, बारह विध तपश्चरण में उद्युक्त रहना, छह आवश्यक-क्रियाओं को सदा पालना, क्षितिशयन करना, शिर के केशों का लोच करना; जिनेन्द्रदेव की मुद्रा को धारण करना, संहनन की अपेक्षा से इस दुःषम काल में पुर, नगर और ग्राम में निवास करना। ऐसी चर्या करने वाले साधु स्थविरकल्प में स्थित हैं। ये वही उपकरण रखते हैं कि जिस से चारित्र का भंग न हो, अपने योग्य पुस्तक आदि को ही ग्रहण करते हैं। ये स्थविरकल्पी साधु समुदाय में संघ सहित विहार करते हैं। अपनी शक्ति के अनुसार धर्म की प्रभावना करते हुए भव्यों को धर्मोपदेश सुनाते हैं और शिष्यों का संग्रह करके उनका पालन भी करते हैं।

इस समय संहनन अतिहीन है, दुषम काल है और मन चंचल है, फिर भी वे धीर-वीर पुरुष ही हैं जो कि महाव्रत के भार को धारण करने में उत्साही हैं।

पूर्व में अर्थात् चतुर्थ काल में जिस शरीर से एक हजार वर्ष में जितने कर्मों की निर्जरा की जाती थी, इस समय हीन-संहनन वाले शरीर से एक वर्ष में उतने ही कर्मों की निर्जरा हो जाती है।[3]

अन्यत्र भी ऐसे ही कहा है। यथा—

जिनकल्पी—"जो जितेन्द्रिय साधु सम्यक्त्वरत्न से विभूषित हैं, एक अक्षर के समान एकादश अंग के ज्ञाता हैं,...निरंतर मौन रहते हैं, वज्रवृषभनाराच संहनन के धारक हैं, पर्वत की गुफा, वन, पर्वतों पर तथा नदियों के किनारे रहते हैं, वर्षाकाल में छह मास पर्यन्त निराहार रहकर कायोत्सर्ग करते हैं, जो 'जिन भगवान्' के सदृश विहार करते हैं वे जिनकल्पी कहे गये हैं।"

---

१. जिण इव विहरंति सया ते जिणकप्पे ठिया सवणा ॥—भावसंग्रह १२३

२. थविरकप्पो वि कहिओ अणयाराणं जिणेण सो एसो।
पंचच्चेलच्चाओ अकिंचणत्तं च पडिलिहणं ॥—भावसंग्रह १२४

३. वरिससहस्सेण पुरा जं कम्मं हणइ तेण काएण।
तं संपइ वरिसेण हु णिज्जरयइ हीणसंहणणो ॥—भावसंग्रह १३१

स्थविरकल्पी—जो जिन मुद्रा के धारक हैं,संघ के साथ-साथ विहार करते हैं, धर्म प्रभावना तथा उत्तम-शिष्यों के रक्षण में और वृद्ध साधुओं के रक्षण व पोषण में सावधान रहते हैं, महर्षिगण उन्हें स्थविरकल्पी कहते हैं। इस भीषण कलिकाल में हीन संहनन होने से ये साधु स्थानीय नगर-ग्राम आदि के जिनालय में रहते हैं। यद्यपि यह काल दुस्सह है, संहननहीन है, मन अत्यन्त चंचल है, और मिथ्यामत सारे संसार में विस्तीर्ण हो गया है तो भी ये साधु संयम-पालन में तत्पर रहते हैं।[1]

जो कर्म पूर्व काल में हजार वर्ष में नष्ट किये जाते थे, वे कलियुग में एक वर्ष में ही नष्ट किये जा सकते हैं।

इन उद्धरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि उत्तम संहननधारी मुनि ही जिनकल्पी कहलाते हैं। इस पंचम काल में उत्तम संहनन का अभाव है। तीन हीन संहनन ही होते हैं। अतः आज के युग में जिनकल्पी मुनि न होकर स्थविरकल्पी ही होते हैं। श्री कुन्दकुन्ददेव आदि भी जिनकल्पी नहीं थे, क्योंकि न इनके उत्तम संहनन ही था, न ये ग्यारह अंगों के ज्ञाता ही थे, न ये छह-छह मास कायोत्सर्ग में लीन हो सकते थे और न ही सदा गिरि, गुफा, पर्वतों पर ही रहते थे। क्योंकि इस स्थिति में ग्रन्थों के लेखन आदि का कार्य सम्भव नहीं हो सकता था।

श्री कुन्दकुन्ददेव ने प्रवचनसार में भी आचार्य को संघ-संचालन का आदेश दिया है। यथा—

"जो अरहन्तादि की भक्ति, आचार्य आदि के प्रति वात्सल्य पाया जाता है, वह शुभयुक्त चर्या शुभोपयोगी मुनि का चारित्र है। वन्दना नमस्कार आदि करना, विनय-प्रवृत्ति करना, उनकी थकान दूर करना सरागचर्या में निषिद्ध नहीं है।

अनुग्रह की इच्छा से दर्शन और ज्ञान का उपदेश देना, शिष्यों का ग्रहण करना और उन का पोषण करना और जिनेन्द्रदेव की पूजा का उपदेश देना, यह सरागी मुनियों की चर्या है। जो मुनि नित्य ही चातुर्वर्ण संघ का जीवों की विराधना से रहित उपकार करता है वह राग की प्रधानता वाला है। रोगी, गुरु, बाल या वृद्ध श्रमणों की वैयावृत्य के लिए शुभोपयोगी मुनि को लौकिक जन से वार्तालाप करने का निषेध नहीं है।"[2]

यहाँ पर 'शिष्यों का ग्रहण करना और उनका पोषण करना' यह आदेश ही संघ के संचालन का द्योतक है।

मूलाचार में तो आचार्यों के लिए संघ बनाने का आदेश दिया ही है। यथा—

"जो शिष्यों का संग्रह और उन पर अनुग्रह करने में कुशल हैं, सूत्र और उसके अर्थ में

---

१. सांप्रतं कलिकाले स्मिन् हीनसंहननत्वतः ॥
स्थानीयनगर-ग्रामजिनसद्मनिवासिनः ॥११९॥
कालोऽयं दुसहो हीनं शरीरं तरलं मनः ।
मिथ्यामतमतिव्याप्तं तथापि संयमोद्यता ॥१२०॥
—भद्रबाहुचरित, परिच्छेद ४

२. प्रवचनसार गा० २४६, २४७, २४८, २४९, २५३
"दंसणणाणुवदेसो सिस्सग्गहणं च पोसणं तेसिं ॥२४७॥

विशारद हैं, कीर्तिमान हैं, क्रिया और आचरण से युक्त हैं, जिनके वचन प्रमाणीभूत हैं और जिन्हें सब मानते हैं ऐसे आचार्य होते हैं।"[1]

'भगवती आराधना' में भी ऐसे ही संघ की व्यवस्था मानी गई है। एक संघ के आचार्य अपनी सल्लेखना हेतु अपने योग्य शिष्य पर संघ का भार छोड़कर अर्थात् उन्हें आचार्य बना कर आप स्वयं द्वितीय संघ में प्रवेश करते हैं कि जिससे शिष्यों के मोह आदि के निमित्त से उनकी सल्लेखना में विघ्न न आ जावे। तथा वहाँ पर भी वे आचार्य अड़तालीस मुनि के साथ उनकी सल्लेखना कराते हैं। कम से कम दो मुनि सल्लेखनारत मुनि की परिचर्या के लिए अवश्य होना चाहिए ऐसा ही वहाँ विधान किया गया है।

संघ-परम्परा

भगवान् महावीर के समय से ही आचार्य-परम्परा चली आ रही है। यथा—"वर्धमान तीर्थंकर के निमित्त से गौतम गणधर श्रुतपर्याय से परिणत हुए, इसलिए द्रव्यश्रुत के कर्ता गौतम गणधर हैं। उन गौतम स्वामी ने दोनों प्रकार का श्रुतज्ञान लोहाचार्य को दिया। लोहाचार्य ने जम्बूस्वामी को दिया। परिपाटीक्रम से तीनों ही सकलश्रुत के धारक कहे गये हैं। यदि परिपाटीक्रम की अपेक्षा न की जाये तो संख्यात हजार सकलश्रुत के धारी हुए हैं। गौतमस्वामी, लोहाचार्य और जम्बूस्वामी—ये तीनों केवलज्ञान प्राप्त कर निर्वाण को प्राप्त हुए हैं। इसके बाद विष्णु, नन्दिमित्र, अपराजित, गोवर्धन और भद्रबाहु—ये पाँचों ही आचार्य परिपाटी क्रम से चौदह पूर्व के पाठी हुए। तदनन्तर विशाखाचार्य, प्रोष्ठिल, क्षत्रिय, जयाचार्य, नागाचार्य, सिद्धार्थदेव, धृतिसेन, विजयाचार्य, बुद्धिल, गंगदेव और धर्मसेन—ये ग्यारह ही साधु परिपाटी क्रम से ग्यारह अंग और दशपूर्व के धारी हुए। इसके बाद नक्षत्राचार्य, जयपाल, पाण्डुस्वामी, ध्रुवसेन, कंसाचार्य—ये पाँचों ही आचार्य परिपाटी क्रम से ग्यारह अंगों और चौदहपूर्वों के एक देश के धारक हुए। तदनन्तर सुभद्र, यशोभद्र, यशोबाहु और लोहाचार्य—ये चारों ही आचार्य सम्पूर्ण आचारांग के धारक और शेष अंग तथा पूर्वों के एक देश के धारक हुए। इसके बाद सभी अंग और पूर्वों का एक देश (ज्ञान) आचार्य-परम्परा से आता हुआ धरसेन आचार्य को प्राप्त हुआ।"[2]

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि धरसेनाचार्य पर्यन्त श्रुतपरम्परा और आचार्य परम्परा का व्युच्छेद नहीं हुआ है, क्योंकि "आइरियपरम्पराए आगच्छमाणो" यह वाक्य स्पष्ट रूप से आचार्य-परम्परा को घोषित कर रहा है।

पुनः अपना यह श्रुतज्ञान श्री धरसेनाचार्य ने पुष्पदन्त और भूतबलि महामुनियों को दिया, जिन्होंने 'षट्खण्डागम' सूत्र में उसे लिपिबद्ध किया है।

आचार्य परम्परा

'प्रथम शुभचन्द्र की गुर्वावली' में श्री गुप्तिगुप्त अर्थात् अर्हद्बलि आचार्य से लेकर उन-उन के पट्ट पर आसीन होने वाले आचार्यों की नामावली दी गई है, जिसमें १०२ आचार्यों के नाम हैं। यथा—

---

१. मूलाचार, अ० ४

२. "तदो सव्वेसिमंगपुव्वाणमेगदेसो आइरियपरम्पराए आगच्छमाणो धरसेणाइरियं संपत्तो।"
—धवला पु० १, पृ० ६६-६८

"श्रीमानशेषनरनायकवन्दितांघ्रीः श्रीगुप्तिगुप्त (१) इति विश्रुतनामधेयः ॥
यो भद्रबाहु (२) मुनिपुंगवपट्टपद्मः, सूर्यः स वो दिशतु निर्मलसंघवृद्धिम् ॥ १ ॥

श्रीमूलसंघेऽजनि नन्दिसंघस्तस्मिन् बलात्कारगणोऽतिरम्यः ।
तत्राऽभवत्पूर्वपदांशवेदी श्रीमाघनन्दी (३) नरदेववन्द्यः ॥ २ ॥

पट्टे तदीये मुनिमान्यवृत्तो जिनादिचन्द्र (४) स्समभूदतन्द्रः-
ततोऽभवत्पंचसुनामधाम श्रीपद्मनन्दी मुनिचक्रवर्ती ॥ ३ ॥

आचार्यः कुन्दकुन्दाख्यो (५) वक्रग्रीवो महामुनिः ।
एलाचार्यो गृद्धपिच्छः पद्मनन्दीति तन्नुतिः ॥ ४ ॥

तत्त्वार्थसूत्रकर्तृत्व-प्रकटीकृतसन्मनाः ।
उमास्वाति (६) पदाचार्यो मिथ्यात्वतिमिरांशुमान् ॥ ५ ॥

पद्मनन्दी गुरुर्जातो बलात्कारगणाग्रणी ।
पाषाणघटिता येन वादिता श्रीसरस्वती ॥
ऊर्ज्जयंतगिरौ तेन गच्छः सारस्वतोऽभवत् ।
अतस्तस्मै मुनीन्द्राय नमः श्रीपद्मनन्दिने ॥ ६३ ॥'[1]

अर्थात् समस्त राजाओं से पूजितपादपद्मवाले, मुनिवर 'भद्रबाहु' स्वामी के पट्ट-कमल को उद्योत करने में सूर्य के समान श्री 'गुप्तिगुप्त' मुनि आप लोगों को शुभसंगति दें। श्री मूलसंघ मे नंदिसंघ उत्पन्न हुआ। इस संघ में अतिरमणीय बलात्कार गण हुआ। उस गण में पूर्व के जानने वाले, मनुष्य व देवों से वन्द्य, श्री 'माघनन्दिस्वामी' हुए। उनके पट्ट पर मुनिश्रेष्ठ 'जिनचन्द्र' हुए और इनके पट्ट पर पाँच नामधारक मुनिचक्रवर्ती श्री 'पद्मनन्दि स्वामी' हुए। कुन्दकुन्द, वक्रग्रीव, एलाचार्य, गृद्धपिच्छ और पद्मनन्दी उनके ये पाँच नाम थे। (ये ही कुन्दकुन्दाचार्य समयसार आदि ग्रन्थों के कर्ता हैं।)

पुनः उनके पट्ट पर दशाध्यायी तत्त्वार्थसूत्र के प्रसिद्ध कर्ता, मिथ्यात्व-तिमिर के लिए सूर्य के समान 'उमास्वाति' (उमास्वामी) आचार्य हुए। इत्यादि

इसी क्रम से १०२ आचार्यों की परम्परा बताकर अन्त में श्री कुन्दकुन्द स्वामी की विशेषताओं का स्मरण करते हुए उन्हें नमस्कार किया गया है—

"श्री पद्मनन्दी (कुन्दकुन्द) गुरु ने बलात्कारगण मे अग्रसर होकर पट्टारोहण किया है। उन्होंने पाषाणघटित सरस्वती को ऊर्जयन्तगिरि पर वादी के साथ वादित कराया (बुलवाया) है, तब से ही सारस्वत-गच्छ चला। इसी उपकृति के स्मरणार्थ उन श्री पद्मनन्दी मुनि को मैं नमस्कार करता हूँ।"

इस श्लोक से वृन्दावन कवि की ये पंक्तियाँ स्मरण मे आये बिना नहीं रहती हैं जो कि उन्होंने गुरु के मंगलाष्टक में कही हैं—

संघ सहित श्री कुन्दकुन्द गुरु वन्दन हेत गये गिरनार।
वाद पर्यो तँह संशयमति सों साक्षी बदी अम्बिकाकार।

---

१. 'तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा' पृ० ४, पृ० ३९३-३९९।

सत्यपंथ निर्ग्रन्थ दिगम्बर, कही सुरीतहूँ प्रकट पुकार ।
सो गुरुदेव बसो उर मेरे विघ्नहरण मंगलकरतार ॥१॥

इस प्रकरण से आचार्य श्री कुन्दकुन्द द्वारा गिरनारपर्वत पर श्वेताम्बर साधुओं से विवाद होकर निर्ग्रन्थ दिगम्बर पन्थ ही सत्य है—यह बात सरस्वती मूर्ति से कहला देने की कथा सत्य सिद्ध हो जाती है ।

नन्दिसंघ की पट्टावली में तो एक-एक आचार्य किस संवत् में पट्टासीन हुए इसका उल्लेख भी किया गया है। यथा—१. भद्रबाहु द्वितीय (४), २. गुप्तिगुप्त (२६), ३. माघनन्दी (३६), ४. जिनचन्द्र (४०), ५. कुन्दकुन्दाचार्य (४९), ६ उमास्वामी (१०१), इत्यादि ।[1]

अर्थात् भद्रबाहु द्वितीय, विक्रम संवत् ४ में पट्ट पर बैठे, उनके पट्ट पर गुप्तिगुप्त वि० सं० २६ में आसीन हुए, इत्यादि ।

आज भी भावलिंगी दिगम्बर मुनि होते हैं

श्री कुन्दकुन्ददेव कहते हैं—

"भरहे दुस्समकाले धम्मज्झाणं हवेइ साहुस्स ।
त अप्पसहावठिदे ण हु मण्णइ सो वि अण्णाणी ॥७६॥

अर्थात् इस भरत क्षेत्र में दुषमकाल में मुनि को आत्मस्वभाव में स्थित होने पर धर्मध्यान होता है। जो ऐसे नहीं मानता है, वह अज्ञानी है ।

अज्ज वि तिरयणसुद्धा अप्पा झाएवि लहइ इंदत्तं ।
लोयंतियदेवत्तं तत्थ चुदा णिव्वुदिं जंति ॥७७॥

अर्थात् आज भी, इस पंचमकाल में, रत्नत्रय से शुद्ध आत्मा (मुनि) आत्मध्यान करके इन्द्रत्व और लौकांतिक देव के पद को प्राप्त कर लेते हैं और वहाँ से च्युत होकर निर्वाण को प्राप्त कर लेते हैं ।"[2]

पद्मनन्दि आचार्य कहते हैं—

"संप्रत्यस्ति न केवली किल कलौ त्रैलोक्यचूडामणि,
तद्वाचः परमासतेऽत्र भरतक्षेत्रे जगद्द्योतिकाः ।
सद्रत्नत्रयधारिणो यतिवरास्तासां समालंबनं,
तत्पूजा जिनवाचि पूजनमतः साक्षाज्जिनः पूजितः ॥६८॥

—इस समय भरतक्षेत्र में त्रैलोक्य-चूड़ामणि केवली भगवान् नहीं हैं, फिर भी लोक को प्रकाशित करनेवाले उनके वचन तो यहाँ विद्यमान हैं और उनके वचनों का अवलम्बन लेने वाले रत्नत्रयधारी श्रेष्ठ यतिगण भी मौजूद हैं, इसलिए उन मुनियों की पूजा जिन-वचनों की पूजा है और जिन-वचन की पूजा से साक्षात् जिनदेव की पूजा की गई है ऐसा समझना ।[3]

---

१. देखिए, नन्दिसंघ की पट्टावलि के आचार्यों की नामावली (इण्डियन एण्टीक्वेरी के आधार पर) तथा 'तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा' भाग ४, पृ० ४४१

२. प्रवचनसार, गाथा २३०-२३१ ।

३. पद्मनन्दिपंचविंशतिका, पृ० ३१

श्री कुन्दकुन्ददेव 'नियमसार' में निश्चय प्रतिक्रमण आदि छह आवश्यकों का वर्णन करते हुए अन्त में कहते हैं—

"जदि सक्कदि कादुं जे पडिकमणादिं करेज्ज झाणमयं ।
सत्तिविहीणो जो जइ सद्दहणं चेव कायव्वं ॥१५४॥

—यदि करना शक्य हो तो ध्यानमय प्रतिक्रमण आदि करना चाहिए और यदि वैसी शक्ति नहीं हो तो तब तक (वैसी शक्ति आने तक) श्रद्धान ही करना चाहिए ।[1]

टीकाकार श्रीपद्मप्रभ मलधारी देव कहते हैं—

"हे मुनिपुंगव ! यदि संहनन शक्ति का प्रादुर्भाव हो तो तुम ध्यान रूप निश्चय प्रतिक्रमण आदि करो और यदि शक्तिहीन हो तो इस 'दग्धकालेऽकाले' दुषमकाल रूप अकाल में तुम्हें निजपरमात्मतत्त्व का केवल श्रद्धान ही करना चाहिए ।

पुनः टीकाकार कहते हैं—

"असारे संसारे कलिविलसिते पापबहुले,
न मुक्तिर्मार्गेऽस्मिन्ननघजिननाथस्य भवति ।
अतोऽध्यात्मध्यानं कथमिह भवेन्निर्मलधियां,
निजात्मश्रद्धानं भवभयहरं स्वीकृतमिदम् ॥२६४॥

—इस असार संसार में पाप से बहुल कलिकाल का विलास होने पर निर्दोष जिननाथ के इस मार्ग—शासन में मुक्ति नहीं है । अतः इस काल में अध्यात्म ध्यान कैसे हो सकता है ? इसलिए निर्मल बुद्धिवालों के लिए भवभय का नाश करनेवाला यह निजात्मा का श्रद्धान करना ही स्वीकृत किया गया है ।

गुणभद्रस्वामी भी कहते हैं—

"जो स्वयं मोह को छोड़कर कुलपर्वत के समान पृथ्वी का उद्धार अथवा पोषण करने वाले हैं, जो समुद्रों के समान स्वयं धन की इच्छा से रहित होकर रत्नों की निधि—ज्ञान अर्थात् स्वामी हैं तथा जो आकाश के समान व्यापक होने पर भी किन्हीं के द्वारा स्पर्शित न होकर विश्व की विश्रांति के लिए हैं, ऐसे अपूर्व गुणों के धारक चिरन्तन—महामुनियों के शिष्य और सन्मार्ग में तत्पर कितने ही साधु आज भी विद्यमान हैं ।[3]

भगवान् महावीर के तीर्थ में धर्म-व्युच्छित्ति नहीं है

श्री यतिवृषभाचार्य कहते हैं—

"सुविधिनाथ को आदि से लेकर सात तीर्थों में उस धर्म की व्युच्छित्ति हुई थी और शेष सोलह तीर्थंकरों के तीर्थों में धर्म की परम्परा निरन्तर बनी रही है । उक्त सात तीर्थों में क्रम से पाव पल्य, आधा पल्य, पौन पल्य, पल्य, पौन पल्य, आधा पल्य और पाव पल्य प्रमाण धर्मतीर्थ का व्युच्छेद रहा है । हुण्डावसर्पिणी के दोष से यहाँ धर्म के सात विच्छेद हुए हैं । उस समय दीक्षा के अभिमुख होने वालों का अभाव होने पर

---

१. नियमसार गा० १३५ ।
२. नियमसार, गाथा १५४, टीका ।
३. सन्त्यद्यापि चिरंतनांतिकचराः संतः कियंतोऽप्यमी ॥३३॥ —आत्मानुशासन गा० १२७८-७९ ।

धर्मरूपी सूर्यदेव अस्तंगित हो गया था।"[1]

तात्पर्य यह है कि तीर्थंकर वृषभदेव से लेकर पुष्पदन्त तक धर्म परम्परा अव्युच्छिन्न रूप से चली आई थी। पुनः पुष्पदन्त के तीर्थ में पाव पल्य तक धर्म का अभाव रहा है। अनन्तर जब शीतलनाथ तीर्थंकर हुए तब धर्मतीर्थ चला। उनके तीर्थ में भी अर्धपल्य तक धर्म का अभाव रहा। ऐसे ही श्रेयांसनाथ के तीर्थ में पौन पल्य, वासुपूज्य के तीर्थ में एक पल्य, विमलनाथ के तीर्थ में पौन पल्य, अनन्तनाथ के तीर्थ में अर्ध पल्य और धर्मनाथ के तीर्थ में पाव पल्य तक धर्म का अभाव रहा है। अर्थात् कोई भी मनुष्य जैनेश्वरी दीक्षा लेनेवाले नहीं हुए, अतः धर्म का अभाव हो गया।

यहाँ पर यह बात समझने की है कि मुनिसंघ के बिना धर्म की परम्परा नहीं चल सकती है। इसी का स्पष्टीकरण और भी देखिए श्री यतिवृषभाचार्य के शब्दों में—

गौतम स्वामी से लेकर अंग-पूर्व के एक देश के जाननेवाले मुनियों की परम्परा के काल का प्रमाण छह सौ तेरासी (६८३) वर्ष होता है। उसके बाद—

"जो श्रुततीर्थ धर्म-प्रवर्तन का कारण है, वह बीस हजार तीन सौ सत्रह वर्षों में काल-दोष से व्युच्छेद को प्राप्त हो जायेगा।" अर्थात् इक्कीस हजार (६८३+२०३१७=२१०००) वर्ष का यह पंचम काल है तब तक धर्म रहेगा, अन्त में व्युच्छेद को प्राप्त हो जायेगा।

इतने पूरे समय तक चातुर्वर्ण्य संघ जन्म लेता रहेगा, किन्तु लोग प्रायः अविनीत, दुर्बुद्धि, असूयक, सात भय व आठ मदों से संयुक्त, शल्य एवं गारवों से सहित, कलहप्रिय, रागिष्ठ, क्रूर एवं क्रोधी होंगे।"[2]

इन पंक्तियों से बिल्कुल ही स्पष्ट है कि इक्कीस हजार वर्ष के इस काल में हमेशा चातुर्वर्ण्य संघ रहेगा। पश्चात् मुनि के अभाव में धर्म, राजा और अग्नि का भी अभाव हो जावेगा यथा—

"इस पंचम काल के अन्त में इक्कीसवां कल्की होगा। उसके समय में वीरांगज नामक एक मुनि, सर्वश्री नामक आर्यिका तथा अग्निदत्त और पंगुश्री नामक श्रावक युगल होंगे। एक दिन कल्की की आज्ञा से मन्त्री द्वारा मुनि के प्रथम ग्रास को शुल्करूप से माँगे जाने पर मुनि अन्तराय करके वापस आ जायेंगे। उसी समय अवधिज्ञान को प्राप्तकर, 'दुषमाकाल का अन्त आ गया है' ऐसा जानकर, प्रसन्न चित्त होते हुए, आर्यिका और श्रावक युगल को बुलाकर वे चारों जन चतुराहार का त्याग कर संन्यास ग्रहण कर लेंगे। और तीन दिन बाद कार्तिक कृष्ण अमावस्या के स्वाति नक्षत्र में शरीर को छोड़कर देवपद प्राप्त करेंगे।

उसी दिन मध्याह्नकाल में क्रोध को प्राप्त कोई असुरकुमारदेव राजा को मार डालेगा और सूर्यास्त के समय अग्नि नष्ट हो जावेगी।

इसके पश्चात् तीन वर्ष, आठ माह और एक पक्ष के बीत जाने पर महाविषम छठा काल प्रवेश करेगा।" इन वीरांगज मुनि के पहले-पहले मुनियों का विहार हमेशा इस पृथ्वीतल पर होता ही रहेगा।

—आर्यिकारत्न ज्ञानमती

---

१. हुण्डावसप्पिणिस्स य दोसेणं सत्त होंति विच्छेदा।
दिक्खाहिमुहाभावे अत्थमिदो धम्मरविदेओ ॥१२८०॥—तिलोयपण्णत्ति, अ० ४, पृ० ३१३

२. तिलोय० अ० ४, गाथा १४९३।

३. तेत्तिमेत्ते काले जम्मिस्सदि चाउवण्णसंघाओ। —तिलोय० अ० ४, गा० १४९४-९५

विषयानुक्रमणिका

११. शीलगुणाधिकार

श्रीवट्टकेरस्वामिकृतो

मूलाचारः

(श्रीवसुनन्दिसिद्धान्तचक्रवर्तिविरचितटीकासहितः)

[1]द्वादशानुप्रेक्षाधिकारः

[2]सिद्धे णमंसिदूण य झाणुत्तमखवियदीहसंसारे।
दह दह दो दो य जिणे दह दो अणुपेहणा वुच्छं ॥६९३॥[3]

सिद्धान् लब्धात्मस्वरूपान्। नमंसित्वा प्रणम्य। किंविशिष्टान्? ध्यानेनोत्तमेन क्षपितो दीर्घसंसारो यैस्ते ध्यानोत्तमक्षपितदीर्घसंसारास्तान् शुक्लध्यानविध्वस्तमिथ्यात्वासंयमकषाययोगान्। दश दश वीप्सावचनं चैतत् विंशतितीर्थंकरान्, द्वौ द्वौ चतुरश्चतुर्विंशतितीर्थंकरांश्च जिनान् प्रणम्य। दश द्वे च द्वादशानुप्रेक्षा वक्ष्य इति संबंधः। [4]ध्यानमध्ये या द्वादशानुप्रेक्षाः सूचितास्तासां प्रपंचोऽयमिति ॥६९३॥

गाथार्थ—उत्तम ध्यान द्वारा दीर्घ संसार का नाश करनेवाले सिद्धों को और चौबीस तीर्थंकरों को नमस्कार करके बारह अनुप्रेक्षाओं को कहूँगा ॥६९३॥

आचारवृत्ति—जिन्होंने शुक्लध्यान के द्वारा मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योगरूप दीर्घ संसार का विध्वंस कर दिया है और जो आत्मस्वरूप को प्राप्त कर चुके हैं ऐसे सिद्धों को तथा दश-दश, दो-दो अर्थात् वर्तमान विंशति तथा चतुर्विंशति तीर्थंकरों को भी नमस्कार करके, दश और दो अर्थात् द्वादश अनुप्रेक्षाओं को कहूँगा, क्योंकि ध्यान के मध्य जो द्वादश अनुप्रेक्षाओं को सूचित किया था, उन्हीं का यह विस्तार है ऐसा समझना।

---

१. फलटन से प्रकाशित प्रति में यह नवम अधिकार है और 'अनगार भावना' अष्टम अधिकार है।

२. ब नु प्रेक्षानामान्याह।

३. अनन्तपदलाभाय यत्पदद्वन्द्वचिन्तनम्।
जगदर्हः स वः पायाद्देवस्त्यागदिगम्बरः॥

द्वादशानुप्रेक्षाधिकारमष्टमं प्रपञ्चयंस्तावदादौ नमस्कारपूर्वकं प्रतिज्ञावाक्यमाह—इति ब प्रती अधिकः पाठः।

४. ध्यानमध्ये या द्वादशानुप्रेक्षाः सूचितास्तासां प्रपंचोऽयमिति प्रतिज्ञावाक्येन सूचितास्तासां प्रपंचोऽयमिति, प्रेस-पुस्तके पाठः।

प्रतिज्ञावाक्येन सूचितानुप्रेक्षानामान्याह—

अद्धुवमसरणमेगत्तमण्णसंसारलोगमसुचित्तं ।
आसवसंवरणिज्जरधम्मं बोधिं च चिंतेज्जो ॥६९४॥

अध्रुवमनित्यमशाश्वतं । अशरणमत्राणं । एकत्वमसहायत्वं द्वितीयस्याभावो न मे द्वितीयः । अन्यत्वं पृथक्त्वं शरीरादप्यन्योऽहमिति भावनं । संसारश्चतुर्गतिपरिभ्रमणं प्रदेशानामुद्वर्त्तनं परिवर्तनं च । लोकं वेत्रासनझल्लरीमृदंगसंस्थानं । अशुभत्वमशुचित्वं सर्वदुःखस्वरूपं । आस्रवं कर्मागमद्वारं मिथ्यात्वादिकं । संवरं कर्मागमद्वारनिरोधनं सम्यक्त्वादिकं । निर्जरां कर्मनिर्गमनं । धर्ममुत्तमक्षमादिलक्षणं । बोधिं सम्यक्त्वादिलाभं चान्तकाले संन्यासेन प्राणत्यागं चिन्तयेत् । एवंप्रकारा द्वादशानुप्रेक्षा ध्यायेदिति ॥६९४॥

तासु मध्ये तावदनित्यताभेदमाह—

ठाणाणि आसणाणि य देवासुरइड्ढिमणुयसोक्खाइं ।
मादुपिदुसयणसंवासदा य पीदी वि य अणिच्चा ॥६९५॥

स्थानानि ग्रामनगरपत्तनदेशपर्वतनदीमटंबादीनि, अथवा देवेन्द्रचक्रधरबलदेवस्थानानि अथवेक्ष्वाकुहरिवंशादिस्थानानि, तिष्ठन्ति सुखेन जीवा येषु तानि स्थानानि । आसन्ते सुखेन विशन्ति येषु तान्यासनानि राज्याङ्गानि सिंहासनादीनि, अथवा अशनानि नानाप्रकारभोजनानि [1]उत्तरत्राशनशब्देन चाशनादीनां ग्रहणात्,

---

प्रतिज्ञावाक्य से सूचित अनुप्रेक्षाओं के नाम कहते हैं—

गाथार्थ—अध्रुव, अशरण, एकत्व, अन्यत्व, संसार, लोक, अशुभत्व, आस्रव, संवर, निर्जरा, धर्म और बोधि इनका चिन्तवन करे ॥६९४॥

आचारवृत्ति—अध्रुव - अनित्य, अशाश्वत । अशरण—अरक्षा । एकत्व—असहायपना अर्थात् द्वितीय का अभाव होना, मेरा कोई दूसरा नहीं है, मैं अकेला हूँ ऐसा समझना । अन्यत्व—पृथक्पना अर्थात् शरीर से भी मैं भिन्न हूँ ऐसी भावना । संसार—चतुर्गति का परिभ्रमण; आत्मा के प्रदेशों का उद्वर्तन-परिवर्तन होना अर्थात् नाना शरीरों में प्रदेशों का संकुचित, विस्तृत होना । लोक—वेत्रासन, झल्लरी और मृदंग के आकारवाला लोक है । अशुभत्व—अशुचिपना, सर्वदुःखस्वरूपता । आस्रव—कर्मों के आने के द्वार, मिथ्यात्व आदि । संवर—कर्मों के आने के द्वार के निरोध करनेवाले सम्यक्त्व आदि । निर्जरा—कर्मों का निर्जीर्ण होना । धर्म—उत्तमक्षमादिरूप । बोधि—सम्यक्त्व का लाभ होना और अन्तकाल में संन्यासपूर्वक प्राणत्याग करना । इस प्रकार से इन द्वादश अनुप्रेक्षाओं का ध्यान करे ।

उनमें से पहले अनित्य अनुप्रेक्षा को कहते हैं—

गाथार्थ—स्थान, आसन, देव, असुर तथा मनुष्यों के वैभव, सौख्य, माता-पिता-स्वजन का संवास तथा उनकी प्रीति ये सब अनित्य हैं ॥६९५॥

आचारवृत्ति—ग्राम, नगर, पत्तन, देश, पर्वत, नदी और मटंब आदि स्थान कहलाते हैं; अथवा देवेन्द्र, चक्रवर्ती और बलदेव के पद स्थान संज्ञक हैं या इक्ष्वाकुवंश आदि स्थान हैं अर्थात् जिनमें जीव सुख से रहते हैं उन्हें स्थान कहते हैं । जिनमें सुख से प्रवेश करते हैं वे आसन हैं, वे राज्य के अंगभूत सिंहासन आदि हैं । अथवा अशन—नाना प्रकार के भोजन आदि ऐसा

---

1. उत्तरत्रासन शब्देन वेत्रासनादीनां ग्रहणात् । क० ब०

देवाश्चासुराश्च मनुष्याश्च देवासुरमनुष्यास्तेषां ऋद्धिर्विभूतिर्हस्त्यश्वरथपदातिद्रव्यसुवर्णादिकायाः पूर्वावस्थाया अतिरेकः, सौख्यानि शुभद्रव्येन्द्रियजनितानंदरूपाणि। माता जननी, पिता जनकः, स्वजना बान्धवा संवासतास्तैः सहैकत्रावस्थानं। प्रीतिरपि तैः सह स्नेहोऽपि। अनित्या इति संबंधः। एतानि सर्वाणि स्थानादीन्यनित्यानि नात्र शाश्वतरूपा बुद्धिः कर्तव्येति ॥६९५॥

तथा—

सामग्गिंदियरूवं मदिजोवणजीवियं बलं तेजं।
गिहसयणासणभंडादिया अणिच्चेत्ति चितेज्जो ॥६९६॥

सामग्री राज्यगृहाद्युपकरणं हयहस्तिरथपदातिखड्गकुंतलपरशुबीजकोशादीनि, इन्द्रियाणि चक्षुरादीनि, रूपं गौरवर्णादिरमणीयता, मतिर्बुद्धिः पूर्वापरविवेचनं, यौवनं द्वादशवर्षेभ्य ऊर्ध्वं वयःपरिणामः, जीवितमायुः, बलं सामर्थ्यं, तेजः शरीरकान्तिः प्रतापो वा, पुरुषैरानीतानर्थान् गृह्णन्तीति गृहाः स्त्रियस्तत्सहचरितप्रासादादयश्च, शयनानि तूलिकापर्यंकादीनि सुखकारणानि, आसनानि वेत्रासनपीठिकादीनि सुखहेतूनि शरीरादीनि वा पुत्रमित्रदासीदासादीनि च, भांडादीनि च शुंठिमरिचहिंगुवस्त्रकर्पासरूप्यताम्रादीनि सर्वाण्यनित्यानि अध्रुवाणि इत्येवं चिन्तयेत् ध्यायेदिति ॥६९६॥

अर्थ यहाँ लेना चूँकि आगे गाथा में 'आसण' शब्द से 'आसन' अर्थ लिया है। देवों के, असुरों के और मनुष्यों के हाथी, घोड़ा, रथ, पदाति, द्रव्य और सुवर्ण आदि विभूति का पूर्व अवस्था से अधिक हो जाना ऋद्धि है। शुभद्रव्यों के द्वारा इन्द्रियों से उत्पन्न हुआ जो आनन्द है वह सौख्य है। माता-पिता व स्वजन-बन्धुवर्ग के साथ में एकत्र निवास होना संवास है। तथा इनके स्नेह का नाम प्रीति है। इस तरह स्थान, आसन, नानावैभव, सुख, स्वजनों का संवास और स्नेह, ये सब अनित्य—क्षणिक हैं, शाश्वतरूप नहीं हैं ऐसी बुद्धि करना।

उसी प्रकार से और भी कहते हैं—

गाथार्थ—सामग्री, इन्द्रियाँ, रूप, बुद्धि, यौवन, जीवन, बल, तेज, घर, शयन, आसन, और वर्तन आदि सब अनित्य हैं ऐसा चिन्तवन करे ॥६९६॥

आचारवृत्ति—राज्य के या घर के उपकरण—घोड़ा, हाथी, रथ, पदाति, खड्ग, भाला, कुल्हाड़ी, धान्य और कोश ये सामग्री कहलाते हैं। चक्षु आदि इन्द्रियाँ हैं। गौरवर्ण आदि की रमणीयता रूप है। पूर्वापर विवेक रूप बुद्धि का नाम मति है। बारह वर्ष से ऊपर की उम्र का परिणाम यौवन है। आयु का होना जीवन है। सामर्थ्य को बल कहते हैं। शरीर की कान्ति अथवा प्रताप का नाम तेज है। पुरुषों द्वारा लाये हुए अर्थ को 'गृह्णन्ति इति गृहाः' जो ग्रहण करते हैं वे गृह हैं इस लक्षण से स्त्रियाँ भी गृह हैं, तथा उनसे सहचरित महल आदि भी गृह हैं। गद्दे, पलंग आदि सुख के कारणभूत शयन हैं। सुख के हेतुक वेत्रासन, पीठ आदि आसन हैं। अथवा शरीर आदि या पुत्र, मित्र, दासी, दास आदि 'आसन' शब्द से विवक्षित हैं। सोंठ, मिर्च, हींग, वस्त्र, कपास, चाँदी, ताँबा आदि सभी वस्तुएँ भाँड शब्द से कही जाती हैं। ये उपर्युक्त राज्यादि के उपकरण, इन्द्रियाँ, सुन्दररूप, विवेक, यौवन, जीवन, शक्ति, तेज, घर या स्त्रियाँ, शयन, आसन और भाँड आदि सभी क्षणभंगुर हैं—इस प्रकार से ध्यान करें। यह अनित्य भावना है।

अशरणस्वरूपमाह—

हयगयरहणरबलवाहणाणि मंतोसधाणि विज्जाओ।
मच्चुभयस्स ण सरणं णिगडी णीदी य णीया य ॥६९७॥

अश्वगजरथनरबलवाहनानि मंत्रौषधानि च विद्याश्च प्रज्ञप्त्यादयो मृत्युभयाद्युपस्थितान्न शरणं न त्राणं न रक्षा, निकृतिर्वंचना, नीतिश्चाणक्यविद्या "स्वपक्षपरपक्षवृद्धिहानिप्रतिपादनोपायो नीतिः"। सा च सामोपप्रदानभेददंडरूपा। तत्र प्रियहितवचनमंगं स्वाजन्यं च साम, नानाद्रव्यप्रदानमुपप्रदान, त्रासनभर्त्सनादिर्भेदः, ताडनं छेदनं दंडः, निजा बांधवा[1] भ्रात्रादयश्चैवमादीनि मृत्युभये सत्युपस्थिते शरणं न भवतीति चिन्तनीयमिति ॥६९७॥

तथा—

जम्मजरामरणसमाहिदह्मि सरणं ण विज्जदे लोए।
जरमरणमहारिउवारणं तु जिणसासणं मुच्चा ॥६९८॥

जन्मोत्पत्तिः, जरा वृद्धत्वं, मरण मृत्युः, एतैः समाहिते संयुक्ते सुष्ठु [2]संकलिते शरणं रक्षा न विद्यते लोकेऽस्मिञ्जगति, जरामरणमहारिपुवारणं, जिनशासनं मुक्त्वा[3]ऽन्यच्छरणं न विद्यते लोके इति संबंधः ॥६९८॥

तथा—

अशरण का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—घोड़ा, हाथी, रथ, मनुष्य, बल, वाहन, मन्त्र, औषधि, विद्या, माया, नीति और बन्धुवर्ग ये मृत्यु के भय से रक्षक नहीं हैं ॥६९७॥

आचारवृत्ति—मृत्यु के भय आदि के उपस्थित होने पर घोड़ा, हाथी, रथ, मनुष्य, सेना, वाहन, मन्त्र, औषधि तथा प्रज्ञप्ति आदि नाना प्रकार की विद्याएँ शरण नहीं हैं अर्थात् ये कोई भी मृत्यु से बचा नहीं सकते हैं। निकृति—वंचना अर्थात् ठगना, नीति—चाणक्यविद्या, अथवा 'स्वपक्ष की वृद्धि और परपक्ष की हानि के प्रतिपादन का उपाय नीति है।' वह नीति साम, उपप्रदान, भेद और दण्ड के भेद से चार प्रकार की है। जिसमें प्रिय हित वचन साधन है और आत्मीयता का प्रयोग होता है वह सामनीति है। नाना प्रकार के द्रव्यों का प्रदान करना उपप्रदान नीति है। त्रास देना, भर्त्सना आदि करना भेदनीति है तथा ताड़न छेदन करना दण्डनीति है। भाई-बन्धु आदि निज कहलाते हैं। इत्यादि सभी नीतियाँ व बन्धु वर्ग आदि कोई भी मृत्यु भय के आ जाने पर शरण नहीं हैं ऐसा चिन्तवन करना चाहिए। उसी प्रकार से—

गाथार्थ—जन्म-जरा-मरण से सहित इस जगत् में जरा और मरणरूप महाशत्रु का निवारण करनेवाले ऐसे जिनशासन को छोड़कर अन्य कोई शरण नहीं है ॥६९८॥

आचारवृत्ति—टीका सरल है।

तथा—

---

१. निज बान्धवा क २. संकुले क ३. नान्यच्छरणं विद्यते क

मरणभयह्मि उवगदे देवा वि सइंदया ण तारंति ।
धम्मो ताणं सरणं गदित्ति चिंतेहि सरणत्तं ॥६९९॥

मरणभय उपगत उपस्थिते देवा अपि सेन्द्रा देवेन्द्रसहिताः सुरासुराः न तारयन्ति न त्रायन्ते तस्माद्धर्मो जिनवराख्यातस्त्राणं रक्षणं शरणमाश्रयो गतिश्चेति चिंतय भावय शरणत्वं, यस्मान्न कश्चिदन्य आश्रयः, धर्मो पुनः शरणं रक्षकोऽगतिकानां गतिरिति कृत्वा धर्मं शरणं जानीहीति ॥६९९॥

एकत्वस्वरूपमाह—

सयणस्स परियणस्स य मज्झे एक्को रुवंतओ दुहिदो ।
वज्जदि मच्चुवसगदो ण जणो कोई समं एदि ॥७००॥

स्वजनस्य भ्रातृव्यपितृव्यादिकस्य, परिजनस्य दासीदासमित्रादिकस्य च मध्ये, एकोऽसहायः, रुजार्तो व्याधिग्रस्तो दुःखितः रुदन् व्रजति मृत्युवशगतो न जनः कश्चित् तेन सममेति गच्छति ॥७००॥

तथा—

एक्को करेइ कम्मं एक्को हिंडदि य दीहसंसारे ।
एक्को जायदि मरदि य एवं चिंतेहि एयत्तं ॥७०१॥

गाथार्थ—मरण भय के आ जाने पर इन्द्र सहित भी देवगण रक्षा नहीं कर सकते हैं। धर्म ही रक्षक है, शरण है और वही एक गति है इस प्रकार से अशरणपने का चिन्तवन करो ॥६९९॥

आचारवृत्ति—मरणभय के उपस्थित होने पर देवेन्द्र सहित सुर-असुर गण भी जीव की रक्षा नहीं कर सकते हैं। इसलिए जिनेन्द्र देव द्वारा कथित धर्म ही रक्षक है, आश्रय है और वही एक गति है ऐसा चिन्तवन करो; क्योंकि अन्य कोई भी आश्रयभूत नहीं है किन्तु यह धर्म ही त्राता है। जिनके लिए कोई भी गति नहीं है उनके लिए वही एक गति है ऐसा जानकर एक मात्र धर्म को ही शरण समझो। यह अशरण भावना हुई।

एकत्व का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—स्वजन और परिजन के मध्य रोग से पीड़ित, दुःखी, मृत्यु के वश हुआ यह एक अकेला ही जाता है, कोई भी जन इसके साथ नहीं जाता ॥७००॥

आचारवृत्ति—भतीजा, चाचा आदि स्वजन हैं; दासी, दास, मित्र आदि परिजन हैं। इनके मध्य में भी यह जीव असहाय है। अकेला ही यह जीव व्याधि से पीड़ित होता है, अकेला ही दुःखी होता है, रोता है और अकेला ही मृत्यु को प्राप्त होता है। अन्य कोई भी जन इसके साथ परलोक नहीं जाता है।

उसी प्रकार से और भी बताते हैं—

गाथार्थ—अकेला ही यह जीव कर्म करता है, एकाकी हो दीर्घ संसार में भ्रमण करता है, अकेला ही जन्म लेता है और अकेला ही मरता है—इस प्रकार से एकत्व का चिन्तवन करो ॥७०१॥

एकः करोति शुभाशुभं कर्म, एक एव च हिण्डते भ्रमति दीर्घसंसारे, एको जायते, एकश्च म्रियते, एवं चिन्तय भावयैकत्वमिति ॥७०१॥

अन्यत्वस्वरूपमाह—

मादुपिदुसयणसंबंधिणो य सव्वे वि ग्रत्तणो अण्णे ।
इह लोग बंधवा ते ण य परलोगं समं णेंति ॥७०२॥

मातृपितृस्वजनसंबंधिनः सर्वेऽपि आत्मनोऽन्ये पृथग्भूता इह लोके बांधवा किंचित्कार्यं कुर्वन्ति ते न परलोकं समं यन्ति गच्छन्ति—नामुत्र लोके बान्धवास्ते भवन्तीत्यर्थः ॥७०२॥

तथा—

अण्णो अण्णं सोयदि मदोत्ति मम णाहग्रोत्ति मण्णंतो ।
अत्ताणं ण दु सोयदि संसारमहण्णवे बुड्डं ॥७०३॥

अन्यः कश्चिदन्यं जीवं शोचयति मृतो मम नाथ इति मन्यमानः, आत्मानं न तु शोचयति संसार-महार्णवे संसारमहासमुद्रे मग्नमिति ॥७०३॥

शरीरादप्यन्यत्वमाह—

ग्रण्णं इमं सरीरादिगं पि जं होज्ज बाहिरं दव्वं ।
णाणं दंसणमादात्ति एवं चिंतेहि[1] अण्णत्तं ॥७०४॥

आचारवृत्ति—यह जीव अकेला ही शुभ-अशुभ कर्म बाँधता है, अकेला ही दीर्घ संसार में परिभ्रमण करता है। अकेला ही जन्म और मरण करता है—इस तरह एकत्वभावना का चिन्तवन करो। यह एकत्व भावना हुई।

अन्यत्व का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—माता-पिता और स्वजन सम्बन्धी लोग ये सभी आत्मा से भिन्न हैं। वे इस लोक में बांधव हैं किन्तु परलोक में तेरे साथ नहीं जाते हैं ॥७०२॥

आचारवृत्ति—ये माता-पिता बन्धुवर्ग आदि जन मेरी आत्मा से पृथक्‌भूत हैं। इस लोक में कुछ कार्य करते हैं किन्तु परलोक में हमारे साथ नहीं जा सकते हैं अतः ये परलोक के बान्धव नहीं हैं।

उसी प्रकार से और भी कहते हैं—

गाथार्थ—यह जो मर गया, मेरा स्वामी है ऐसा मानता हुआ अन्य जीव अन्य का शोच करता है किन्तु संसार-रूपी महासमुद्र में डूबे हुए अपने आत्मा का शोच नहीं करता है ॥७०३॥

आचारवृत्ति—टीका सरल है।

शरीर से भी भिन्नपना दिखाते हैं—

गाथार्थ—यह शरीर आदि भी अन्य हैं पुनः जो बाह्य द्रव्य हैं, वे तो अन्य हैं ही। आत्मा ज्ञान-दर्शन स्वरूप है इस तरह अन्यत्व का चिन्तवन करो ॥७०४॥

---

१. चिंतिज्ज क

शरीरमप्यन्यदिदं, किं पुनर्यद्बाह्यद्रव्यं नान्यदिति ? तस्माज्ज्ञानं दर्शनमात्मेत्येवं चिन्तयान्यत्व-मिति ॥७०४॥

संसारस्य स्वरूपं विवृण्वन्नाह—

मिच्छत्तेणाछण्णो मग्गं जिणदेसिदं अपेक्खंतो ।
भमिहदि भीमकुडिल्ले जीवो संसारकंतारे ॥७०५॥

मिथ्यात्वेनाछन्नोऽश्रद्धानतमसा समंतादावृतः 'मार्गः सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि' तं जिनदर्शितं जिनेन प्रतिपादितमपश्यन् अज्ञानाद्भ्रमत्ययं जीवः, संसारकान्तारे संसाराटव्यां, भीमे भयानके, कुटिलेऽतीवगहने मोहवल्यादिनिबद्ध इति ॥७०५॥

चतुर्विधं संसारस्वरूपमाह—

दव्वे खेत्ते काले भावे य चदुव्विहो य संसारो ।
चदुगदिगमणणिबद्धो बहुप्पयारेहिं णादव्वो ॥७०६॥

संसरणं संसारः परिवर्तनं, तच्चतुर्विधं द्रव्यपरिवर्तनं क्षेत्रपरिवर्तनं कालपरिवर्तनं भावपरिवर्तनं, भवपरिवर्तनं चात्रैव द्रष्टव्यमन्यत्र पंचविधस्योपदेशादिति । तत्र द्रव्यपरिवर्तनं द्विविधं नोकर्मपरिवर्तनं कर्मपरिवर्तनं चेति । तत्र नोकर्मपरिवर्तनं नाम त्रयाणां शरीराणां षण्णां पर्याप्तीनां योग्या ये पुद्गला एकेन जीवेनैकस्मिन् समये गृहीताः स्निग्धरूक्षवर्णगंधादिभिस्तीव्रमन्दमध्यभावेन च यथावस्थिता द्वितीयादिषु

आचारवृत्ति—जब यह शरीर भी आत्मा से भिन्न है तो पुनः ये बाह्य द्रव्य गृह आदि क्या भिन्न नहीं होंगे ? अर्थात् वे प्रकट रूप से भिन्न हैं। इसलिए ज्ञान-दर्शनरूप ही मेरी आत्मा है ऐसी अन्यत्व भावना का चिन्तवन करो। यह अन्यत्व भावना हुई।

संसार का स्वरूप बताते हैं—

गाथार्थ—मिथ्यात्व से सहित हुआ जीव जिनेन्द्र कथित मोक्षमार्ग को न देखता हुआ भयंकर और कुटिल ऐसे संसार-वन में भ्रमण करता है ॥७०५॥

आचारवृत्ति—तत्त्वों के अश्रद्धानरूपी अन्धकार से सब तरफ से ढका हुआ यह जीव जिनेन्द्रदेव द्वारा प्रतिपादित सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रमय मार्ग को नहीं देखता हुआ, अज्ञान-वश अतीव गहन, मोहरूपी बेल आदि से निबद्ध हो संसाररूपी भयानक वन में भटकता रहता है।

चार प्रकार के संसार का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावरूप चतुर्विध संसार है। यह चतुर्गति के गमन से संयुक्त है। इसे अनेक प्रकार से जानना चाहिए ॥७०६॥

आचारवृत्ति—संसरण करना, परिवर्तन करना संसार है। उसके चार भेद हैं—द्रव्य परिवर्तन, क्षेत्रपरिवर्तन, कालपरिवर्तन और भावपरिवर्तन। भवपरिवर्तन को भी इन्हीं में समझना चाहिए, क्योंकि अन्यत्र ग्रन्थों में पाँच प्रकार के संसार का उपदेश किया गया है।

१. द्रव्य परिवर्तन दो प्रकार का है—नोकर्म परिवर्तन और कर्मपरिवर्तन। उनमें नोकर्म परिवर्तन का स्वरूप बताते हैं—

एक जीव एक समय में तीन शरीर—औदारिक, वैक्रियिक, आहारक और छह पर्या-

समयेषु निर्जीर्णास्ततो गृहीतानंतवारानतीत्य मिश्रकांश्चानंतवारान्प्रगृह्य मध्ये गृहीतांश्चानंतवारान् समतीत्य तेनैव प्रकारेण तस्यैव जीवस्य नोकर्मभावमापद्यन्ते यावत्तावत्समुदितं नोकर्मद्रव्यपरिवर्त्तनमिति। कर्मद्रव्यपरि॰ वर्तनमुच्यते—एकस्मिन् समये जीवेनैकेनाष्टविधकर्मभावेन ये पुद्गला गृहीताः समयाधिकामावलिकामतीत्य द्वितीयादिषु समयेषु निर्जीर्णास्ततो गृहीतानगृहीतान्मिश्राननंतवारानतीत्य त एव कर्मस्कन्धास्तेनैव विधिना तस्य जीवस्य कर्मभावमापद्यन्ते यावत्तावत्कर्मद्रव्यपरिवर्त्तनमिति। क्षेत्रपरिवर्तनमुच्यते—सूक्ष्मनिगोतजीवोऽपर्याप्तकः सर्वजघन्यप्रदेशशरीरो लोकस्याष्टमध्यप्रदेशान् स्वशरीरमध्यप्रदेशान् कृत्वोत्पन्नः क्षुद्रभवग्रहणं जीवित्वा मृतः स एव पुनस्तेनैवावगाहेन द्विरुत्पन्नस्तथा त्रिस्तथा चतुरित्येवं यावदंगुलस्यासंख्येयभागप्रमिताकाशप्रदेशास्तावत्कृत्वा तत्रैव जनित्वा पुनरेकैकप्रदेशाधिकभावेन सर्वो लोक आत्मनो जन्मनो जन्मक्षेत्रभावमुपनीतो भवति यावत्तावत् क्षेत्रपरिवर्त्तनमिति। कालपरिवर्तनमुच्यते—उत्सर्पिण्याः प्रथमसमये जातः कश्चिज्जीवः स्वायुषः परिसमाप्तौ मृतः स एव पुनर्द्वितीयाया उत्सर्पिण्या द्वितीयसमये जातः स्वायुषः क्षयान्मृतः

प्तियों के योग्य जो पुद्गल वर्गणाएँ ग्रहण की हैं उन्हें तीव्र, मन्द और मध्यमरूप जैसे भावों से ग्रहण किया है तथा वे वर्गणाएँ स्निग्ध, रूक्ष, वर्ण, गन्ध आदि से जिस प्रकार की हैं, द्वितीय आदि समयों में निर्जीर्ण हो गयीं। तदनन्तर वही जीव गृहीत पुद्लवर्गणाओं को अनन्तवार ग्रहण करके छोड़ता जावे, पुनः मिश्र वर्गणाओं को अनन्तवार ग्रहण करके छोड़े पुनः मध्य में ग्रहण किये गये ऐसे गृहीत परमाणुओं को अनन्तवार ग्रहण करके छोड़े। पुनः वही जीव उस पहले समय के ग्रहण किये गये प्रकार से उतनी ही पुद्गल वर्गणाओं को उसी प्रकार के भावों से और वैसे ही स्निग्ध, रुक्ष, वर्ण गन्धवाले परमाणुओं को जब ग्रहण करता है तब उतने काल प्रमाण वह उसका नोकर्म परिवर्तन कहलाता है।

कर्मद्रव्य परिवर्तन को बताते हैं—

एक जीव ने एक समय में आठ प्रकार के कर्मभाव से जो पुद्गल ग्रहण किये हैं। एक समय अधिक एक आवली प्रमाण काल को बिताकर द्वितीय आदि समयों में वे कर्म वर्गणाएँ निर्जीण हो गयीं। पुनः गृहीत, अगृहीत और मिश्र पुद्गल वर्गणाओं को अनन्तवार ग्रहण करके छोड़ देने के बाद वही जीव उन्हीं पूर्व के कर्म-स्कन्धों को उसी ही विधि से कर्मभाव से परिणमन कराता है। प्रारम्भ से लेकर तब तक के काल प्रमाण को कर्म द्रव्य-परिवर्तन कहते हैं। क्षेत्र-परिवर्तन का स्वरूप कहते हैं—सर्व जघन्य प्रदेश रूप शरीरधारी सूक्ष्म निगोद जीव, जो कि अपर्याप्तक है, लोक के आठ मध्य प्रदेशों को अपने शरीर के मध्य प्रदेश करके उत्पन्न हुआ, शुद्ध भव ग्रहणकर जीवित रहकर मर गया, वही जीव पुनः उसी अवगाहना को धारण कर दूसरी बार उत्पन्न हुआ, उसी तरह तीसरी बार उत्पन्न हुआ, तथैव चौथी बार उत्पन्न हुआ। इसी तरह से अंगुल के असंख्यात भाग में जितने आकाश प्रदेश होते हैं उतनी उसी जघन्य अवगाहना से जन्म लिया। पुनः वह एक-एक प्रदेश को अधिक ग्रहण करते हुए जितने काल में क्रम से सर्वलोक को अपने जन्म से जन्मक्षेत्ररूप कर लेता है तब उतने काल के हो जाने पर एक क्षेत्र-परिवर्तन होता है।

३. अब काल-परिवर्तन को कहते हैं—

कोई जीव उत्सर्पिणी के पहले समय में उत्पन्न हुआ और अपनी आयु समाप्त होने पर मर गया, वही जीव दूसरी उत्सर्पिणी के दूसरे समय में उत्पन्न हुआ और अपनी आयु के क्षय से

स एव पुनस्तृतीयस्या उत्सर्पिण्यास्तृतीयसमये जातः स एवानेन क्रमेणोत्सर्पिणी परिसमाप्ता तथाऽवसर्पिणी च एवं जन्मनैरन्तर्यमुक्तं, मरणस्यापि तथैव ग्राह्यं, यावत्तावत्कालपरिवर्तनमिति। भावपरिवर्त्तनमुच्यते—पंचेन्द्रियः संज्ञी पर्याप्तको मिथ्यादृष्टिः कश्चिज्जीवः सर्वजघन्यां स्वयोग्यां ज्ञानावरणप्रकृतेः स्थितिमन्तःकोटय-कोटीसंज्ञिकामापद्यते, तस्य कषायाध्यवसायस्थानानि असंख्येयलोकप्रमितानि षट्स्थानपतितानि तत्स्थिति-योग्यानि भवन्ति, तत्र सर्वजघन्यकषायाध्यवसायस्थाननिमित्तान्यनुभवाध्यवसायस्थानान्यसंख्येयलोकप्रमि-तानि भवन्ति, एवं सर्वजघन्यां स्थितिं सर्वजघन्यं च कषायाध्यवसानं सर्वजघन्यमेव चानुभागबंधस्थानमास्कन्द-तस्तद्योग्यं सर्वं जघन्यं योगस्थानं भवति, तेषामेव स्थितिकषायानुभवस्थानानां द्वितीयमसंख्येयभागवृद्धियुक्तं योगस्थानं भवति, एवं चतुःस्थानपतितानि कषायाध्यवसायस्थानानि श्रेण्यसंख्येयभागप्रमितानि योगस्थानानि भवन्ति, तथा तामेव स्थितिं तदेव कषायाध्यवसायस्थानं च प्रतिपद्यमानस्य द्वितीयानुभवाध्यवसायस्थानं भवति तस्य च योगस्थानानि पूर्ववद्दृष्टव्यानि, एवं तृतीयादिष्वप्यनुभवाध्यवसायस्थानेष्वसंख्येयलोकपरिसमाप्तेः, एवं तामेव स्थितिमापद्यमानस्य द्वितीयकषायाध्यवसायस्थानं भवति तस्याप्यनुभवाध्यवसायस्थानानि योगस्था-नानि च पूर्ववद्वेदितव्यानि, एवं तृतीयादिष्वपि कषायाध्यवसायस्थानेषु असंख्येयलोकपरिसमाप्तेर्वृद्धिक्रमो

मर गया, वही जीव पुनः तीसरी उत्सर्पिणी के तीसरे समय में उत्पन्न हुआ। उसी क्रम से वहीं से उत्सर्पिणी के जितने समय हैं उनमें जन्म के क्रम से उत्सर्पिणी को समाप्त करे तथा अवस-र्पिणी के भी जितने समय हैं उतने बार क्रम से जन्म के द्वारा अवसर्पिणी को भी समाप्त करे। इस तरह जन्म का निरन्तरपना कहा गया है। मरण का क्रम भी इसी तरह समझना चाहिए। अर्थात् वही जीव उत्सर्पिणी के प्रथम समय में मरा, पुनः दूसरी उत्सर्पिणी के द्वितीय समय में मरा, पुनः तृतीय उत्सर्पिणी के तृतीय समय में मरा। इसी क्रम से उत्सर्पिणी के समय प्रमाण मरण करके पुनः अवसर्पिणी के प्रथम समय में मरण करे, पुनः दूसरी अवसर्पिणी के दूसरे समय में मरण करे। इसी क्रम से अवसर्पिणी के समयों को भी मरण से पूरा करे। तब एक काल परिवर्तन होता है।

४. भाव-परिवर्तन को कहते हैं—

कोई पंचेन्द्रिय, संज्ञी पर्याप्तक, मिथ्यादृष्टि जीव सर्वजघन्य, स्वयोग्य ज्ञानावरण प्रकृति को अन्तःकोटाकोटी स्थिति को प्राप्त होता है, उसके कषाय-अध्यवसाय स्थान, असंख्याततलोक प्रमाण, षट् स्थान पतित उस स्थिति के योग्य होते हैं। वहाँ उसके सर्वजघन्य कषाय अध्यवसाय स्थान के निमित्त अनुभव अध्यवसायस्थान असंख्याततलोक प्रमाण होते हैं। इस तरह सर्व-जघन्य स्थिति, सर्वजघन्य कषाय अध्यवसायस्थान और सर्वजघन्य ही अनुभागबन्धस्थान को प्राप्त करते हुए जीव के उसके योग्य जघन्य योगस्थान होता है। तथा उन्हीं स्थिति, कषाय और अनुभव स्थानों के असंख्यातभागवृद्धि युक्त दूसरा योगस्थान होता है। इस प्रकार से चतुः स्थान-पतित कषायअध्यवसायस्थान होते हैं और श्रेणी के असंख्यात भाग प्रमाण योगस्थान होते हैं। तदनंतर पूर्वोक्त ही स्थिति और पूर्वोक्त ही कषाय अध्यवसायस्थान को प्राप्त करने वाले जीव के दूसरा अनुभागअध्यवसाय-स्थान होता है, उसके योगस्थान पूर्ववत् समझना चाहिए। इसी प्रकार तीसरे चौथे आदि अनुभव-अध्यवसाय-स्थानों में भी असंख्याततलोक की परिसमाप्ति होने तक समझना चाहिए। इस प्रकार उसी स्थिति को प्राप्त करनेवाले के दूसरा

वेदितव्यः, उक्ताया जघन्यस्थितेः समयाधिकायाः कषायाध्यवसायस्थानानि अनुभागाध्यवसायस्थानानि योगस्थानानि च पूर्ववद्वेदितव्यानि, एवं समयाधिकक्रमेण आ उत्कृष्टस्थितेस्त्रिंशत्सागरोपमकोट्यकोटीपरिमितायाः कषायाध्यवसायस्थानानि वेदितव्यानि, एवं सर्वेषां कर्मणां मूलप्रकृतीनामुत्तरप्रकृतीनां च परिवर्त्तनक्रमो वेदितव्यस्तदेतत्सर्वं समुदितं भावपरिवर्त्तनमिति। चशब्देन सूचितं भवपरिवर्तनमुच्यते—नरकगतौ सर्वजघन्यमायुर्दशवर्षसहस्राणि तेनायुषा तत्र कश्चिदुत्पन्नः पुनः परिभ्रम्य तेनैवायुषा तत्रैव जात एवं दशवर्षसहस्राणां यावन्तः समयास्तावत्कृत्वस्तत्रैव जातो तत्रैव मृतश्च पुनरेकैकसमयाधिकभावेन त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि परिसमापितानि, ततः प्रच्युत्य तिर्यग्गतावन्तर्मुहूर्तायुः समुत्पन्नः पूर्वोक्तेनैव क्रमेण त्रीणि पल्योपमानि तेनैव परिसमापितानि, तथैवं मनुष्यगतौ देवगतौ च नरकगतिवत्, अयं तु विशेषः—एकत्रिंशत्सागरोपमाणि परिसमापितानि यावत्तावद्भवपरिवर्त्तनमिति। एवं चतुर्विधः पंचविधो वा संसारः चतुर्गतिगमननिबद्धो नरकतिर्यङ्मनुष्यदेवगतिभ्रमणहेतुको बहुप्रकारैः षट्सप्तादिभेदैर्ज्ञातव्य इति ॥७०६॥

तथा षड्विधसंसारमाह—

कषाय-अध्यवसाय स्थान होता है, उसके भी अनुभव-अध्यवसाय स्थान और योगस्थान पूर्ववत् जानना चाहिए। इस प्रकार तृतीय चतुर्थ आदिक कषाय-अध्यवसाय-स्थानों में असंख्यातलोक परिसमाप्ति तक वृद्धि का क्रम समझना चाहिए। ऊपर जो एक समय अधिक जघन्य स्थिति कही है उसके कषाय-अध्यवसाय-स्थान, अनुभाग-अध्यवसाय-स्थान और योगस्थान पूर्ववत् जानने चाहिए। इस प्रकार एक-एक समय अधिक के क्रम से उत्कृष्ट स्थिति जो तीस कोड़ा-कोड़ी सागर पर्यन्त है वहाँ तक कषायअध्यवसायस्थान समझना चाहिए। ऐसे ही सर्व कर्मों की मूल प्रकृतियों का और उत्तर प्रकृतियों का परिवर्तन क्रम जानना चाहिए। यह सर्वसमुदित भाव-परिवर्तन कहलाता है।

५. अब गाथा के 'च' शब्द से सूचित भवपरिवर्तन का कथन करते हैं—नरक गति में सर्वजघन्य आयु दश हजार वर्ष की है। कोई जीव उस जघन्य आयु से नरक में उत्पन्न हुआ। संसार में भ्रमण करके पुनः वही जीव उसी दश हजार वर्ष की आयु से उसी नरक में उत्पन्न हुआ, इसी तरह दश हजार वर्ष के जितने समय हैं उतनी बार उस जघन्य आयु से प्रथम नरक में जन्म लिया और मरण किया। पुनः एक-एक समय अधिक क्रम से तेतीस सागर पर्यन्त आयु को प्राप्त कर नरक के जन्म को समाप्त किया। वहाँ से निकलकर वही जीव तिर्यंचगति में अन्तर्मुहूर्त प्रमाण जघन्य आयु से उत्पन्न हुआ। पुनः पूर्वकथित क्रम से तीन पल्य पर्यन्त उत्कृष्ट आयु तक पहुँच गया। इसी तरह मनुष्य गति में समझना। देवगति में नरकगति के समान है। किन्तु अन्तर इतना ही है कि देवगति में इकतीस सागर की आयु तक ही पहुँचना होता है। यह सब मिलकर 'भव परिवर्तन' होता है।

यह चतुर्विध अथवा पंचविध संसार नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव इन चार गतियों में भ्रमण के निमित्त से होता है। तथा छह सात आदि भेदों से अनेक प्रकार का भी है ऐसा जानना चाहिए।

छह प्रकार के संसार को कहते हैं—

किं केण कस्स कत्थ व केवचिरं कदिविधो य भावो य।
छहिं अणिओगद्दारें सव्वे भावाणुगंतव्वा ॥७०७॥

कः संसारः ? संसरणं संसारश्चतुर्गतिगमनरूपः, केन भावेन संसारः ? औदयिकौपशमिकक्षायोपशमिकपारिणामिकादिभावेन, कस्य ? संसारिजीवस्याष्टविधकर्माबष्टब्धस्यनारकतिर्यङ्मनुष्यदेवरूपस्य, क्व संसारः ? मिथ्यात्वासंयमकषाययोगेषु तिर्यग्लोके वा, कियच्चिरं संसारः ? अनाद्यनिधनोऽनादिसनिधनः, कतिविधः ? कतिप्रकार इति। अनेन प्रकारेण संसार एकविधो द्विविधस्त्रिविधश्चतुर्विधः पंचविधः षड्विध इत्यादि, न केवलं संसारः षड्भिरनियोगद्वारैर्ज्ञायते किन्तु सर्वेऽपि भावाः पदार्था अनुगंतव्या ज्ञातव्या इत्यर्थः ॥७०७॥

संसारे दुःखानुभवमाह—

तत्थ जरामरणभयं दुक्खं पियविप्पओग बीहणयं।
अप्पियसंजोगं वि य रोगमहावेदणाओ य ॥७०८॥

तत्रैवंविधे संसारे जरामरणभयं जन्मभयं दुःखं, जरामरणभवं जन्मभवं वा दुःखं कायिकं वाचिकं मानसिकं, प्रियेण विप्रयोगः पृथग्भाव इष्टवियोगदुःखं, भीषणं च महाभयानकं, अप्रियेण संयोगोऽनिष्टेन

गाथार्थ—संसार क्या है ? किस प्रकार से है ? किसके है और कहाँ है ? कितने काल तक है और कितने प्रकार का है ? इन छह अनुयोगों के द्वारा सभी पदार्थों को समझना चाहिए ॥७०७॥

आचारवृत्ति—संसार क्या है ? संसरण करना संसार है जोकि चारों गतियों में गमन रूप है। किस भाव से संसार होता है ? औदयिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक, पारिणामिक आदि भावों से संसार होता है। किसके संसार है ? जो आठ प्रकार के कर्मों से सहित है ऐसे नारकी, तिर्यंच, मनुष्य और देवरूप संसारी जीवों के संसार होता है। संसार कहाँ है ? मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योग इन भावों में संसार है अथवा तिर्यक्लोक में संसार है। कितने काल तक संसार है ? यह अनादि अनन्त है ओर अनादि-सान्त है। अर्थात् अभव्य और दूरानुदूर भव्यों की अपेक्षा अनादि-अनन्त है तथा भव्यों की अपेक्षा अनादि-सान्त है। यह संसार कितने प्रकार का है ? सामान्य संसरण की अपेक्षा यह संसार एक प्रकार का है, दो प्रकार का है, तीन प्रकार का है, चार प्रकार का है, पाँच प्रकार का है और छह प्रकार का है इत्यादि। इन छह अनुयोगों के द्वारा केवल संसार ही नहीं जाना जाता है किन्तु सभी पदार्थ भी जाने जाते हैं। ऐसा जानना चाहिए।

संसार में दुःखों के अनुभव को बताते हैं—

गाथार्थ—संसार में जरा और मरण का भय, इष्ट का वियोग, अनिष्ट का संयोग और रोगों से उत्पन्न हुई महावेदनाएँ ये सब भयंकर दुःख हैं ॥७०८॥

आचारवृत्ति—उपर्युक्त कथित प्रकारवाले इस संसार में जन्म के भय का दुःख, जरा और मरण के भय का दुःख, अथवा जन्म लेने से हुए दुःख जो कि कायिक, वाचनिक और मानसिक होते हैं। प्रिय जनों के वियोग से इष्टवियोगज दुःख होता है, जो कि महाभयानक है।

सहैकत्र वासोद्भवं दुःखं चाऽपि, रोगान् कासश्वासछर्दिकुष्ठव्याध्यादिजनितवेदनाश्चाप्नुवंतीति संबंधः ॥७०८॥

तथा—

जायंतो य मरंतो जलथलखयरेसु तिरियणिरएसु।
माणुस्से देवत्ते दुक्खसहस्साणि पप्पोदि ॥७०९॥

जे भोगा खलु केई देवा माणुस्सिया य अणुभूदा।
दुक्खं च णंतखुत्तो णिरिए तिरिएसु जोणीसु ॥७१०॥

संजोगविप्पओगा लाहालाहं सुहं च दुक्खं च।
संसारे अणुभूदा माणं च तहावमाणं च ॥७११॥

तत्र संसारे जायमानो म्रियमाणश्च जलचरेषु स्थलचरेषु खचरेषु च मध्ये तिर्यक्षु नरकेषु च दुःखसहस्राणि प्राप्नोति, मनुष्यत्वे देवत्वे च पूर्वोक्तानि दुःखसहस्राणि प्राप्नोतीति सम्बन्धः ॥७०९॥

तथा—

ये केचन भोगा दैवा मानुषाश्चानुभूताः सेवितास्तेषु भोगेषु अनंतवारान् दुःखं च प्राप्तं, नरकेषु तिर्यग्योनिषु च दुःखमनंतवारान् प्राप्तमिति ॥७१०॥

तथा—

अस्मिन् संसारे जीवेन संयोगा इष्टसमागमाः, विप्रयोगा अनिष्टसमागमाः, स्वेष्टवस्तुनो लाभ-

---

अप्रिय—अनिष्ट के साथ एकत्र रहने से अनिष्ट संयोगज दुःख होता है। खाँसी, श्वास, छर्दि, कुष्ठ, आदि रोगों से उत्पन्न हुई महावेदनाएँ भी जीवों को प्राप्त होती रहती हैं अतः यह संसार दुःखमय ही है।

उसी प्रकार से और भी दुःखों को दिखाते हैं—

गाथार्थ—जलचर, थलचर और नभचर में, तिर्यंचों में, नरकों में, मनुष्य योनि में और देवपर्याय में जन्म लेता तथा मरण करता हुआ यह जीव हजारों दुःखों को प्राप्त करता है ॥७०९॥

वास्तव में जो कुछ भी देवों और मनुष्यों सम्बन्धी भोगों का अनुभव किया है वे भोग नरक और तिर्यंच योनियों में अनन्त बार दुःख देते हैं ॥७१०॥

संयोग-वियोग, लाभ-अलाभ, सुख-दुःख, मान-अपमान इन सबका संसार में मैंने अनुभव किया है ॥७११॥

आचारवृत्ति—इस संसार में जन्म लेते हुए और मरण करते हुए जीव जलचर, थलचर और नभचरों में, तिर्यंचों में तथा नरकों में हजारों दुःखों को प्राप्त करते हैं। वैसे ही मनुष्य-पर्याय और देवपर्याय में भी हजारों दुःखों का अनुभव करते हैं।

जो कुछ भी भोग देवगति और मनुष्यगति के हैं उनका इस जीव ने अनुभव किया है, पुनः भोगों के फलस्वरूप नरक और तिर्यंच योनियां में इसने अनन्त बार दुःखों का अनुभव किया है।

इस संसार में जीव ने इष्ट समागम, अनिष्ट समागम, इष्ट वस्तु का लाभ व अलाभ,

प्राप्तिः, अलाभोऽप्राप्तिश्चैते सर्वेऽप्यनुभूतास्तथा सुखं दुःखं चानुभूतं तथा मानं पूजा, अपमानं परिभवश्चानुभूतमिति ॥७११॥

संसारानुप्रेक्षामुपसंहरन्नाह—

एवं बहुप्पयारं संसारं विविहदुक्खथिरसारं ।
णाऊण विचिंतिज्जो तहेव लहुमेव णिस्सारं ॥७१२॥

एवं बहुप्रकारं संसारं विविधानि दुःखानि स्थिरः सारो यस्यासौ विविधदुःखस्थिरसारस्तं संसारं ज्ञात्वा लघुमेव शीघ्रं निःसारं चिन्तयेत् भावयेदिति ॥७१२॥

लोकानुप्रेक्षां विवृण्वन्नाह—

एगविहो खलु लोओ दुविहो तिविहो तहा बहुविहो वा ।
दव्वेहिं पज्जएहिं य चिंतिज्जो [1]लोयसब्भावं ॥७१३॥

षड्भिरनुयोगद्वारैर्लोकोऽपि ज्ञातव्यः । सामान्येनैकविधः, लोक्यन्त उपलभ्यन्ते पदार्था यस्मिन्निति स लोकः । उर्ध्वाधःस्वरूपेण द्विविधः, ऊर्ध्वाधस्तिर्यक्स्वरूपेण त्रिविध उत्पादव्ययध्रौव्यस्वरूपेण वा त्रिविधः, गतिरूपेण चतुर्विधः, अस्तिकायादिभेदेन पंचविधः, षड्द्रव्यस्वरूपेण षड्विधः, पदार्थद्वारेण सप्तविधः, कर्मरूपेणाऽष्टविधः, इत्येवं बहुविधः, द्रव्यैः, पर्यायैश्च द्रव्यभेदेन पर्यायभेदेन लोकसद्भावं बहुप्रकारं चिन्तयेत् ध्यायेदिति ॥७१३॥

सुख व दुःख तथा मान-पूजा और अपमान-तिरस्कार इन सबका अनुभव किया हुआ है ।

ससारानुप्रेक्षा का उपसंहार कहते हैं—

गाथार्थ—इस प्रकार नाना दुःखों की स्थिरता के सारभूत इस बहुत भेदरूप संसार को जानकर उसी प्रकार से उसे तत्क्षण निःसाररूप चिन्तवन करो ॥७१२॥

आचारवृत्ति—विविध प्रकार के दुःखों का स्थायी अवस्था रूप होना ही जिसका सार है ऐसे अनेक भेद रूप इस संसार को समझकर शीघ्र ही 'यह निःसार है' ऐसा चिन्तवन करो ।

लोकानुप्रेक्षा को कहते हैं—

गाथार्थ—वास्तव में लोक एक प्रकार है, दो प्रकार, तीन प्रकार तथा अनेक प्रकार का भी है । इस तरह द्रव्य और पर्यायों के द्वारा लोक के सद्भाव का विचार करे ॥७१३॥

आचारवृत्ति—पूर्व कथित छह अनुयोगों के द्वारा लोक को भी जानना चाहिए। सामान्य से लोक एक प्रकार का है, जिसमें पदार्थ अवलोकित होते हैं, उपलब्ध होते हैं, वह लोक है; इस अपेक्षा से लोक एक प्रकार है । ऊर्ध्वलोक और अधोलोक के भेद से दो प्रकार का है । ऊर्ध्व, मध्य और अधोलोक के भेद से तीन प्रकार का है अथवा उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य स्वरूप से भी तीन प्रकार का है । चार गति के रूप से चार प्रकार का है । पाँच अस्तिकायों के भेद से पाँच प्रकार का है । छह द्रव्यों के स्वरूप से छह प्रकार का है । सात पदार्थ—तत्त्वों के द्वारा सात प्रकार का है । आठ कर्मों के विकल्प से आठ प्रकार का है, इत्यादि रूप से यह अनेक प्रकार का है । इस तरह द्रव्यों के भेद से तथा पर्यायों के भेद से इस लोक के अस्तित्व का अनेक प्रकार से चिन्तवन करना चाहिए ।

---

१. लोग क

लोकस्वरूपमाह—

लोओ अकिट्टिमो खलु अणाइणिहणो सहावणिप्पण्णो।
जीवाजीवेहिं भुडो णिच्चो तालरुक्खसंठाणो ॥७१४॥

लोकोऽकृत्रिमः खलु न केनाऽपि कृतः, खलु स्फुटमेतत्प्रमाणविषयत्वात्, अनादिनिधन आद्यन्तवर्जितः, स्वभावनिष्पन्नो विश्वसारूप्येण स्थितः, जीवाजीवैश्च पदार्थैर्भृतः पूर्णः, नित्यः सर्वकालमुपलभ्यमानत्वात्, तालवृक्षसंस्थानस्तालवृक्षाकृतिः, अधो विस्तीर्णः सप्तरज्जुप्रमाणो मध्ये संकीर्ण एकरज्जुप्रमाणः पुनरपि ब्रह्मलोके विस्तीर्णः पंचरज्जुप्रमाण उर्ध्वं संकीर्ण एकरज्जुप्रमित इति ॥७१४॥

लोकस्य प्रमाणमाह—

धम्माधम्मागासा गदिरागदि जीवपुग्गलाणं च।
जावत्तावल्लोगो आगासमदो परमणंतं ॥७१५॥

धर्माधर्मौ लोकाकाशं च यावन्मात्रे जीवपुद्गलानां च गतिरागतिश्च यावन्मात्रं तावल्लोकोऽतः परमित उर्ध्वमाकाशं पंचद्रव्याभावोऽनंतमप्रमाणं केवलज्ञानगम्यमिति ॥७१५॥

पुनरपि लोकस्य संस्थानमित्याह—

लोक का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—निश्चय से यह लोक अकृत्रिम, अनादि-अनन्त, स्वभाव से सिद्ध, नित्य और तालवृक्ष के आकार वाला है तथा जीवों और अजीवों से भरा हुआ है ॥७१४॥

आचारवृत्ति—यह लोक अकृतिम है, क्योंकि निश्चय से यह किसी के द्वारा भी किया हुआ नहीं है। अतः स्पष्ट रूप से यह प्रमाण का विषय है। अर्थात् इस लोक का या सृष्टि का कर्ता कोई नहीं है जिनागम में यह बात प्रमाण से सिद्ध है। यह आदि और अन्त से रहित होने से अनादि अनन्त है। स्वभाव से ही निर्मित है अर्थात् विश्व स्वरूप से स्वयं ही स्थित है। जीव और अजीव पदार्थों से पूर्णतया भरा हुआ है। नित्य है चूंकि सर्वकाल ही इसकी उपलब्धि हो रही है। तालवृक्ष के समान आकारवाला है अर्थात् नीचे में सात राजू प्रमाण चौड़ा है, मध्य में संकीर्ण एक राजू प्रमाण है, पुनः ब्रह्मलोक में पाँच राजू प्रमाण चौड़ा है और ऊपर में संकीर्ण होकर एक राजू प्रमाण रह गया है।

लोक का प्रमाण बताते हैं—

गाथार्थ—जहाँ तक धर्म, अधर्म और आकाश द्रव्य हैं तथा जीव और पुद्गलों का गमनागमन है वहाँ तक लोक है इसके परे अनन्त आकाश है ॥७१५॥

आचारवृत्ति—जितने में धर्म, अधर्म और लोकाकाश हैं और जीवों का व पुद्गलों का गमन आगमन है उतने मात्र को लोक संज्ञा है। इससे परे सभी ओर आकाश है। वहाँ पर पाँच द्रव्यों का अभाव है और वह आकाश अनन्त प्रमाण है, क्योंकि वह केवल ज्ञानगम्य है।

यह लोक पुनरपि किसके आकार का है? सो ही बताते हैं—

हेट्ठा मज्झे उवरिं वेत्तासणझल्लरीमुदंगणिभो।
मज्झिमवित्थारेण दु चोद्दसगुणमायदो लोओ ॥७१६॥

हेट्ठा अधःप्रदेशे मध्यप्रदेशे उपरिप्रदेशे च यथासंख्येन वेत्रासनझल्लरीमृदंगनिभः अधो वेत्रासनाकृतिर्मध्ये झल्लर्याकृतिरूर्ध्वं मृदङ्गाकृतिरिति, मध्यमविस्तार[1]प्रमाणेन चतुर्दशगुणः, मध्यमविस्तारस्य[2] प्रमाणमेका रज्जुः सा च चतुर्दशभिर्गुणिता लोकस्यायामो भवति, वातवलयादधस्तादारभ्य यावन्मोक्षस्थानं तयोर्मध्य आयाम इत्युच्यते। स आयामश्चतुर्दशरज्जुमात्र इति। घनाकारेण यदि पुनर्मीयते तदा त्रिचत्वारिंशदधिकत्रिशतरज्जुमात्रो भवतीति ॥७१६॥

तत्र[3] लोके जीवाः किं कुर्वन्तीत्याह—

तत्थणुहवंति जीवा सकम्मणिव्वत्तियं सुहं[4] दुक्खं।
जम्मणमरणपुणब्भवमणंतभवसायरे भीमे ॥७१७॥

तत्र च लोके जीवाः स्वकर्मनिर्वर्त्तितं स्वक्रियानिष्पादितं सुखं दुःखं चानुभवन्ति, अनंतभवसागरे च जन्ममरणं पुनर्भवं च पुनरावृत्तिं च भीमे भयानके कुर्वन्तीत्यर्थः ॥७१७॥

पुनरप्यसमंजसमाह—

मादा य होदि धूदा धूदा मादुत्तणं पुण उवेदि।
पुरिसो वि तत्थ इत्थी पुमं च अपुमं च होइ जए ॥७१८॥

गाथार्थ—अधोलोक वेत्रासन के समान, मध्यलोक झल्लरी के समान और ऊर्ध्वलोक मृदंग के समान है। पुनः मध्यमविस्तार एक राजू से चौदहगुणे ऊँचा यह लोक है ॥७१६॥

आचारवृत्ति—इस लोक का अधोभाग वेत्रासन—मोढ़ा के आकारवाला है, मध्यप्रदेश झल्लरी के आकार का है और ऊर्ध्वभाग ढोलक के समान है। इसका मध्यम विस्तार एक राजू है उसे चौदह से गुणा करने पर अर्थात् चौदह राजू प्रमाण इस लोक की ऊँचाई है। नीचे के वातवलय से लेकर मोक्षस्थानपर्यन्त के मध्य का जो भाग है उसे आयाम या ऊँचाई कहते हैं। अर्थात् लोक की ऊँचाई चौदह राजू है। यदि इसको घनाकार से मापेंगे तो यह लोक तीन सौ तेतालीस राजू प्रमाण होता है।

इस लोक में जीव क्या करते हैं ? सो ही बताते हैं—

गाथार्थ—इस लोक में जीव अपने कर्मों द्वारा निर्मित सुख-दुःख का अनुभव करते हैं। भयानक अनन्त भव समुद्र में पुनः पुनः जन्म-मरण करते हैं ॥७१७॥

आचारवृत्ति—इस लोक में सभी जीव अपने द्वारा उपार्जित शुभ-अशुभ कर्मों के द्वारा निष्पन्न हुए ऐसे सुख-दुःख को भोगते रहते हैं। इस भयंकर अनन्तरूप महासंसार सागर में जन्म-मरण का अनुभव करते हैं। अर्थात् पुनः पुनः भव ग्रहण करते हैं।

पुनः लोक में जो असमंजस अवस्थाएँ होती हैं, उन्हें दिखाते हैं—

गाथार्थ—माता पुत्री हो जाती है और पुत्री माता हो जाती है। यहाँ पर पुरुष भी स्त्री और स्त्री भी पुरुष तथा पुरुष भी नपुंसक हो जाता है ॥७१८॥

---

१. विस्तर क २. विस्तरस्य क ३. तत्रयात्मके क ४. सुहदुःखं क

अस्मिल्लोके संसारे माता च भवति दुहिता सुता, दुहिता च पुनर्मातृत्वमुपैति प्राप्नोति, पुरुषोऽपि तत्र जगति स्त्री भवति, स्त्र्यपि पुमान्, पुरुषोऽपुमान्नपुंसकं च लोके भवतीति संबंधः ॥७१८॥

पुनरपि लोकगतसंसारविरूपतां दर्शयन्नाह;—

होऊण तेयसत्ताधिओ[1] दु बलविरियरूवसंपण्णो ।
जादो वच्चघरे किमि धिगत्थु संसारवासस्स ॥७१९॥

विदेहस्वामी राजा तेजः—प्रतापः सत्वं—स्वाभाविकसौष्ठवं ताभ्यामधिकस्तेजःसत्वाधिको भूत्वा तथा बलवीर्यरूपसम्पन्नश्च भूत्वा पश्चात्स राजा वर्चोगृहेऽशुचिस्थाने कृमिः संजातो यत एवं ततः संसारवासं धिगस्तु धिग्भवतु संसारे वासमिति ॥७१९॥

पुनरपि लोकस्य स्वरूपमाह—

धिग्भवदु लोगधम्मं देवा वि य सुरवदीय महड्ढीया ।
भोत्तूण सुक्खमतुलं पुणरवि दुक्खावहा होंति ॥७२०॥

धिग्भवतु लोकधर्मं लोकस्वरूपं, यस्माद्देवः सुरपतयोऽपि महर्द्धिका महाविभूतयो भूत्वा सौख्यमतुलं सुखमनुपमं भुक्त्वा पुनरपि दुःखवहा भवन्ति दुःखस्य भोक्तारो भवन्तीति ॥७२०॥

लोकानुप्रेक्षामुपसंहरन्नाह—

आचारवृत्ति—इस संसार में माता पुत्री हो जाती है और पुत्री मातृपने को प्राप्त हो जाती है। पुरुष स्त्री हो जाता है, स्त्री पुरुष हो जाती तथा पुरुष नपुंसक हो जाता है। ऐसे परस्पर में असमंजस अघटित सम्बन्ध भी होते रहते हैं।

पुनरपि लोकगत संसार की विरूपता दिखाते हैं।

गाथार्थ—प्रताप और पराक्रम से अधिक तथा बल, वीर्य और रूप से सम्पन्न होकर भी राजा विष्ठागृह में कीड़ा हो गया। अतः संसारवास को धिक्कार हो ॥७१९॥

आचारवृत्ति—विदेहदेश का राजा अधिक प्रतापी और स्वाभाविक सौष्ठव से सहित होने से अधिक सत्वशाली था। बल, वीर्य और रूप से सहित था। फिर भी वह मरकर अपवित्र स्थान में कृमि हो गया। इस संसार की ऐसी ही स्थिति है। अतः इस संसार में वास करने को धिक्कार!

पुनः लोक की स्थिति स्पष्ट करते हैं—

गाथार्थ—इस लोक की स्थिति को धिक्कार हो जहाँ पर देव, इन्द्र और महर्द्धिक देवगण भी अतुल सुख को भोगकर पुनः दुःखों के भोक्ता हो जाते हैं ॥७२०॥

आचारवृत्ति—इस संसार के स्वरूप को धिक्कार कि जिसमें महाविभूतिमान देव और इन्द्र अनुपम सुख को भोगकर पुनः मरकर गर्भवास आदि में दुःख के अनुभव करनेवाले हो जाते हैं।

लोकानुप्रेक्षा का उपसंहार करते हुए कहते हैं—

---

१. सत्ताहिओ क

णाऊण लोगसारं णिस्सारं दीहगमणसंसारं ।
लोगग्गसिहरवासं झाहि पयत्तेण सुहवासं ॥७२१॥

एवं लोकस्य सारं निःसारं तु ज्ञात्वा दीर्घगमनं[1] संसारं च ज्ञात्वा संसारं चापर्यन्तमवबुध्य लोकाग्रशिखरवासं मोक्षस्थानं सुखवासं निरुपद्रवं ध्यायस्व चिन्तय प्रयत्नेनेति ॥७२१॥

अशुभानुप्रेक्षास्वरूपं निरूपयन्नाह—

णिरिएसु असुहमेयंतमेव तिरियेसु बंधरोहादी ।
मणुएसु रोगसोगादियं तु दिवि माणसं असुहं ॥७२२॥

नरकेष्वशुभमेकान्ततः सर्वकालमशुभमेव, तिर्यक्षु [2]महिषाश्ववारणादिषु बंधरोधादयो बंधनधरणदमनदहनताडनादयः, मनुष्येषु रोगशोकादयस्तु, दिवि देवलोके मानसमशुभं परप्रेषणवाहनमहर्द्धिकदर्शनेन मनोगतं सुष्ठु दुःखमिति ॥७२२॥

तथार्थद्वारेण दुःखमाह—

आयासदुक्खवेरभयसोगकलिरागदोसमोहाणं ।
असुहाणमावहो वि य अत्थो मूलं अणत्थाणं ॥७२३॥

आयासोऽर्थार्जनतत्परता, दुःखमसातावेदनीयकर्मोदयनिमित्तासुखरूपं, वैरं मरणानुबंधः, भयं भय-

---

गाथार्थ—बहुत काल तक भ्रमण रूप संसार निस्सार है। ऐसे इस लोक के स्वरूप को जानकर सुख के निवासरूप लोकाग्रशिखर के आवास का प्रयत्नपूर्वक ध्यान करो ॥७२१॥

आचारवृत्ति—इस तरह इस लोक का सार निस्सार है तथा यह संसार अनन्त अपार है—ऐसा जानकर जो लोकाग्रशिखरवास मोक्ष स्थान है वही निरुपद्रव है। तुम सर्वप्रयत्न पूर्वक ऐसा चिन्तवन करो। इस तरह लोक भावना का वर्णन हुआ।

अशुभ अनुप्रेक्षा का स्वरूप निरूपित करते हैं—

गाथार्थ—नरकों में एकान्त से अशुभ ही है। तिर्यंचों में बन्धन और रोधन आदि, मनुष्यों में रोग, शोक आदि और स्वर्ग में मन सम्बन्धी अशुभ है ॥७२२॥

आचारवृत्ति—नरक में एकान्त से सर्वकाल अशुभ ही है। भैंस, घोड़ा, हाथी, बकरा आदि तिर्यंचों में बाँधना, र कना, दमन करना, जलाना, ताड़न करना, पीटना आदि दुःख प्राप्त होते हैं। मनुष्यों में रोग, शाक आदि अशुभ दुःख होते हैं। तथा स्वर्ग में देवों को मानसिक दुःख होता है, सो ही अशुभ है। अर्थात् दूसरे देवों द्वारा प्रेरित होकर भृत्य कार्य करना, दूसरों के वाहन बनना अथवा अन्य देवों की महान् ऋद्धियों को देखकर मन में खिन्न होना—ये सब मनोगत अत्यन्त दुःख होते हैं।

अर्थ के द्वारा जो दुःख होते हैं उन्हें दिखाते हैं—

गाथार्थ—धन सब अनर्थों का मूल है। उससे श्रम, दुःख, वैर, भय, शोक, कलह, राग द्वेष और मोह इन अशुभों का प्रसंग होता ही है ॥७२३॥

आचारवृत्ति—धन का उपार्जन करने में प्रयत्नशील होने से जो खेद होता है वह

---

१. दीर्घगमनसंसारं क०   २. अश्वमहिषवारणादिसु क०

कर्मोदयजनितत्रस्तता, शोकः शोककर्मोदयपूर्वकेष्टवियोगजः संतापः, कलिर्वचनप्रतिवचनकृतो द्वन्द्वः, रागो रतिकर्मोदयजनिता प्रीतिः, द्वेषोऽरतिकर्मोदयोद्भूताऽप्रीतिः, मोहो मिथ्यात्वासंयमादिरूप इत्येवमादीनामशुभानामावहोऽवस्थानं, अर्थः स्त्रीवस्त्रसुवर्णादिरूपः, अथवैतान्यशुभान्यावहति प्रापयतीति आयासाद्यशुभावहः, अनर्थानां च सर्वपरिभवानां च मूलं कारणमर्थस्तस्मात्तेन यच्छुभं तच्छुभं एव न भवतीति ।।७२३।।

तथा कामसुखमप्यशुभमिति प्रतिपादयति[1]—

दुग्गमदुल्लहलाभा भयपउरा अप्पकालिया लहुया।
कामा दुक्खविवागा असुहा सेविज्जमाणा वि ।।७२४।।

दुःखेन कृच्छ्रेण गम्यन्त इति दुर्गमा[2] विषमस्था दुरारोहाः, दुर्लभो लाभो येषां ते दुर्लभलाभाः स्वेप्सितप्राप्तयो न भवन्ति, भयं प्रचुरं येभ्यस्ते भयप्रचुरा दंडमारणवंचनादिभयसहिताः, अल्पकाले भवा अल्पकालिकाः सुष्ठु स्तोककालाः, लघुका निःसाराः, के ते ? कामा मैथुनाद्यभिलाषा दुःखं विपाक फलं येषां

आयास है। असातावेदनीय कर्म के उदय के निमित्त से जो खेद होता है वह दुःख है। मरणान्त द्वेष को वैर कहते हैं। भय कर्म के उदय से जो त्रास होता है वह भय है। शोक कर्म के उदय पूर्वक इष्ट वियोग से उत्पन्न हुआ सन्ताप शोक है। वचन-प्रतिवचन रूप द्वन्द्व कलह है। अर्थात् आपस में झगड़ने का नाम कलह है। रतिकर्म के उदय से उत्पन्न हुई प्रीति राग है। अरतिकर्म के उदय से उत्पन्न हुई अप्रीति द्वेष है। मिथ्यात्व, असंयम आदि रूप परिणाम मोह हैं। ये सब अशुभ कहलाते हैं। अर्थ से ही ये सभी अशुभ परिणाम होते हैं। अथवा यह अर्थ ही सभी अशुभों को प्राप्त कराने वाला है।

स्त्री, वस्त्र, सुवर्ण आदि को अर्थ कहते हैं। यह अर्थ सर्व अनर्थों का मूल है। अर्थात् इससे नाना प्रकार के परिभव तिरस्कार प्राप्त होते हैं। इसलिए इससे जो शुभ होता है वह शुभ ही नहीं है। ऐसा समझना। अर्थात् धन, स्त्री आदि पदार्थों से जो कुछ भी सुख प्रतीत है वह सुख नहीं है, प्रत्युत सुखाभास ही है।

कामसुख भी अशुभ हैं ऐसा दिखाते हैं—

गाथार्थ—जो दुःख से और कठिनता से मिलते हैं, भय प्रचुर हैं, अल्पकाल टिकनेवाले हैं, तुच्छ हैं, जिनका परिणाम दुःखरूप है, ऐसे ये इन्द्रिय-विषय सेवन करते समय भी अशुभ ही हैं ।।७२४।।

आचारवृत्ति—पंचेन्द्रियों के विषय-सुखों को कामसुख कहते हैं। ये विषय सुख-दुःख मिलनेवाले होने से दुर्गम हैं, अर्थात् विषम स्थितिवाले और दुरारोह हैं। इनकी प्राप्ति बड़ी कठिनता से होती है, अतः ये दुर्लभ हैं, अर्थात् इच्छित की प्राप्ति नहीं हो पाती है। इनसे भय की प्रचुरता है, अर्थात् इनसे दण्ड, मरण, वंचना आदि भय होते ही रहते हैं, ये क्षणिक हैं, अर्थात् स्वल्पकाल ठहरनेवाले हैं, निस्सार हैं, ऐसे मैथुन आदि की अभिलाषा रूप जो ये कामसुख

---

१. प्रतिपादयन्नाह क० २. सुष्ठु विषमस्था क०

बंधनादि ते दुःखविपाका दुःखावसानाः अशुभाः सेव्यमाना अपि, तत्राऽपि न सुखमस्तीति भावः सर्वाशुभमेवेति ॥७२४॥

आहारादपि न सुखं भवतीत्याह—

असुइविलिविले गब्भे वसमाणो वत्थिपडलपच्छण्णो।
मादूइसिंभ[1]लालाइयं तु तिव्वासुहं पिबदि ॥७२५॥

अशुच्याविले मूत्रपुरीषश्लेष्मपित्तरुधिरादिबीभत्से, गर्भे उदराभ्यंतरे, वसन् संतिष्ठमानः, वस्तिपटलप्रच्छन्नः जरायुरावृतः, मातृश्लेष्मलालायितं जनन्या चर्वितं श्लेष्मलालासमन्वितं रसं तीव्रं दुर्गन्धं पिबति यत एवंभूतो मूलाहारस्ततः कथमाहारात सुखमित्याहारोऽप्यशुभरूप एवेति ॥७२५॥

शरीरमप्यशुभमिति निरूपयन्नाह—

मंसट्ठिसिंभवसरुहिरचम्मपित्तंतमुत्तकुणिपकुडिं।
बहुदुक्खरोगभायण सरीरमसुभं वियाणाहि ॥७२६॥

मांसास्थिश्लेष्मवसारुधिरचर्मपित्तांत्रमूत्रकुणिपाशुचिकुटीं गृहमेतेषां बहुदुःखरोगभाजनं शरीरमिदमशुभमशुचि विजानीहीति ॥७२६॥

तस्मात्—

हैं इनके विपाक फल अन्त में दुःखदायी ही हैं। ये सेवन करते समय भी अशुभ ही हैं। अर्थात् इनके सेवनकाल में भी सुख नहीं है, प्रत्युत वह सुख की कल्पना मात्र है। इसलिए सर्व अशुभ ही हैं।

आहार से भी सुख नहीं होता है, सो ही कहते हैं—

गाथार्थ—अशुचि से व्याप्त गर्भ में रहता हुआ यह जीव जरायु पटल से ढका हुआ है। वहाँ पर माता के कफ और लार से युक्त अतीव अशुभ को पीता है ॥७२५॥

आचारवृत्ति—मल, मूत्र, कफ, पित्त, रुधिर आदि से बीभत्स-ग्लानियुक्त ऐसे माता के उदर में तिष्ठता हुआ यह जीव वहाँ पर जरायुपटल से आवृत्त हो रहा है। वहाँ पर माता के द्वारा खाये गये भोजन से बने हुए कफ, लार आदि से सहित अत्यन्त दुर्गन्धित रस पीता रहता है। यदि जीव का मूल आहार ऐसा है तो फिर आहार से कैसे सुख होगा? इस लिए आहार भी अशुभ रूप ही है, ऐसा समझना।

शरीर भी अशुभ है ऐसा निरूपण करते हैं—

गाथार्थ—मांस, अस्थि, कफ, वसा, रुधिर, चर्म, पित्त, आंत, मूत्र इन अपवित्र पदार्थों की झोंपड़ी रूप बहुत प्रकार के दुःख और रोगों के स्थान स्वरूप इस शरीर को अशुभ ही जानो ॥७२६॥

आचारवृत्ति—यह शरीर मांस, हड्डी, कफ, मेद, रक्त, चमड़ा, पित्त, आंत, मूत्र और मल इन अशुभ पदार्थों का घर है। तीव्र दुःखकर रोगों का स्थान है। ऐसा यह शरीर तुम अशुभ-अपवित्र जानो।

इसलिए क्या करना चाहिए? सो ही बताते हैं—

---

1. मादूअसिंभ लाला—द० क०

अत्थं कामसरीरादियं पि सव्वमसुभत्ति णादूण ।
णिव्विज्जंतो झायसु जह जहसि कलेवरं असुइं ॥७२७॥

अर्थं स्त्रीवस्त्रादिकं, कामं मैथुनादिकं, शरीरादिकमपि सर्वमशुभमिति जगति ज्ञात्वा निर्वेदं गच्छन् ध्यायस्व चिन्तय यथा [1]जहासि कुत्सितकलेवरमशुचि, शरीरवैराग्यं च सम्यक् चिंतयेति ॥७२७॥

अशुभानुप्रेक्षां संक्षेपयन्नाह—

मोत्तूण जिणक्खादं धम्मं सुहमिह दु णत्थि लोगम्मि ।
ससुरासुरेसु तिरिएसु णिरयमणुएसु चिंतेज्जो ॥७२८॥

ससुरासुरेषु नरकतिर्यङ्मनुष्येषु जिनख्यातं धर्मं मुक्त्वा शुभमिहान्यन्नास्ति, एवं चिन्तयेत्, लोके धर्ममन्तरेणान्यच्छुभं न भवतीति जानीहि ॥७२८॥

आस्रवानुप्रेक्षां प्रकटयन्नाह—

दुक्खभयमीणपउरे संसारमहण्णवे परमघोरे ।
जंतू जं तु णिमज्जदि कम्मासवहेदुयं सव्वं ॥७२९॥

गाथार्थ—अर्थ, काम और शरीर आदि ये सभी अशुभ हैं ऐसा जानकर विरक्त होते हुए जैसे अशुचि शरीर छूट जाय वैसा ही ध्यान करो ॥७२७॥

आचारवृत्ति—अर्थ—स्त्री, वस्त्र आदि; काम—मैथुन आदि, और शरीर आदि ये सभी अशुभ हैं। ऐसा इस लोक में जानकर उनसे निर्वेद को प्राप्त होते हुए ध्यान करो। अर्थात् जिस प्रकार से यह कुत्सित शरीर छोड़ सकते हो, उसी प्रकार से शरीर के वैराग्य का और संसार के वैराग्य का अच्छी तरह से चिंतवन करो।

अशुभ अनुप्रेक्षा को संक्षिप्त करते हुए कहते हैं—

गाथार्थ—जिनेन्द्रदेव द्वारा कथित धर्म को छोड़कर सुर-असुर, तिर्यंच, नरक और मनुष्य से सहित इस जगत् में कुछ भी शुभ नहीं है ॥७२८॥

आचारवृत्ति—सुर असुरों से सहित, तथा तिर्यंच, नारकी और मनुष्यों से संयुक्त इस संसार में जिनेन्द्रदेव के धर्म को छोड़कर और कुछ भी शुभ रूप नहीं है, ऐसा समझो। यह अशुभ अनुप्रेक्षा हुई।

भावार्थ—अन्यत्र तत्त्वार्थसूत्र आदि ग्रन्थों में अशुचि अनुप्रेक्षा ऐसा नाम है, किन्तु यहाँ इसे 'अशुद्ध' ऐसा नाम दिया है। सो नाम मात्र का ही भेद है। अर्थ में प्रायः समानता है। वहाँ अशुचिभावना में केवल शरीर आदि सम्बन्धी अपवित्रता का चिन्तन होता है तो यहाँ सर्व अशुभ-दुःखदायी वस्तुयें—धन, इन्द्रिय-सुख आदि तथा शरीर आदि सम्बन्धी अशुभपने का विचार किया गया।

आस्रव अनुप्रेक्षा को प्रगट करते हैं—

गाथार्थ—दुःख और भय रूपी प्रचुर मत्स्यों से युक्त, अतीव घोर संसार रूपी समुद्र में जीव जो डूब रहा है वह सब कर्मास्रव का निमित्त है ॥७२९॥

---

१. जहासि त्यजसि द०

दुःखभयान्येव मीना मत्स्यास्त एव प्रचुराः प्रभूता यस्मिन् स दुःखभयमीनप्रचुरस्तस्मिन् संसार-महार्णवे परमघोरे सुष्ठु रौद्रे जन्तुर्जीवो यस्मान्निमज्जति प्रविशति तत्सर्वं कर्मास्रवहेतुकं कर्मादाननिमित्त-मिति ॥७२९॥

के आस्रवा इत्याशंकायामाह—

रागो दोसो मोहो इंदियसण्णा य गारवकसाया।
मणवयणकायसहिदा दु आसवा होंति कम्मस्स ॥७३०॥

रागद्वेषमोहपंचेन्द्रियाहारभयमैथुनपरिग्रहसंज्ञाः ऋद्धिगौरवरसगौरवसातगौरवकषायाश्च मनो-वचनकायसहिता एवं सर्व एते कर्मण आस्रवा भवन्ति—कर्माण्येतैरागच्छन्तीति ॥७३०॥

रागादीन् विवेचयन्नाह—

रंजेदि असुहकुणपे रागो दोसो वि दूसदी णिच्चं।
मोहो वि महारिवु जं णियदं मोहेदि सब्भावं ॥७३१॥

रागो जीवं कुणपे वस्तुनि रंजयति—कुत्सिते द्रव्येऽनुरागं कारयति रागः। द्वेषोऽपि शोभनमपि द्वेष्टि—सम्यग्दर्शनादिषु द्वेषं कारयति। नित्यं सर्वकालं। मोहोऽपि महारिपुर्महावैरी यस्मान्नियतं निश्चयेन मोहयति सद्भावं—जीवस्य परमार्थरूपं तिरयतीति ॥७३१॥

यत एवंभूतो मोहोऽतस्तं कुत्सयन्नाह—

धिद्धी मोहस्स सदा जेण हिदत्थेण मोहिदो संतो।
ण विबुज्झदि जिणवयणं हिदसिवसुहकारणं मग्गं ॥७३२॥

आचारवृत्ति—दुःख और भय रूप ही जिसमें बहुत से मत्स्य भरे हुए हैं ऐसे इस भयंकर संसार रूपी समुद्र में यह जीव जिस कारण से डूब रहा है वह सब कर्मास्रव का ही निमित्त है।

वे आस्रव कौन-कौन है? सो ही बताते हैं—

गाथार्थ—राग, द्वेष, मोह, इन्द्रियाँ, संज्ञायें, गौरव और कषाय तथा मन, वचन, काय ये कर्म के आस्रव होते हैं ॥७३०॥

आचारवृत्ति—राग, द्वेष, मोह, पाँच इन्द्रियाँ, आहार, भय, मैथुन, परिग्रह ये चार संज्ञायें, रसगौरव, ऋद्धिगौरव और सातगौरव ये तीन गौरव और कषाय तथा मन-वचन-काय इन सभी के द्वारा कर्मों का आगमन होता है। अतः ये आस्रव कहलाते हैं।

रागादि का विवेचन करते हैं—

गाथार्थ—राग अशुभ-कुत्सित में अनुरक्त करता है। द्वेष भी नित्य ही अप्रीति कराता है। मोह भी महाशत्रु है जोकि निश्चित रूप से सत्पदार्थ में मूढ़ कर देता है। ॥७३१॥

आचारवृत्ति—राग जीव को निन्द्य द्रव्य में भी अनुराग कराता है, द्वेष भी हमेशा प्रशस्त सम्यग्दर्शन आदि में द्वेष कराता है और मोह भी महावैरी है कि जो निश्चय से जीव के परमार्थ रूप को तिरोहित कर देता है, ढक देता है।

यह मोह इस प्रकार का है, अतः इसकी निन्दा करते हुए आचार्य कहते हैं—

गाथार्थ—मोह को धिक्कार हो! धिक्कार हो! कि जिस हृदय में स्थित मोह के द्वारा मोहित होता हुआ यह जीव हित रूप, शिव सुख का हेतु, मोक्षमार्ग रूप ऐसे जिन-वचन

धिक्-धिक् भवतु मोहं—मोहः प्रलयं गच्छतु। येन मोहेन हृदयस्थेन[1] मोहितो मूढः सन् न विबुध्यते तन्न जानाति जिनवचनं परमागमं। किं विशिष्टं ? हितशिवसुखकारणं मार्गं—एकांतवादिपरिकल्पितसुखनिमित्तमार्गविपरीतं येन मोहेन हृदयस्थेन न विबुध्यते तं मोहं धिग्भवन्त्विति ॥७३२॥

रागद्वेषौ कुत्सयन्नाह—

जिणवयण सद्दहाणो वि तिव्वमसुहगदिपावयं कुणइ[2]।
अभिभूदो जेहिं सदा धित्तेसिं रागदोसाणं ॥७३३॥

याभ्यां रागद्वेषाभ्यामभिभूतः कदर्थितोऽयं जीवो जिनवचन श्रद्दधानोऽपि तत्वरुचिसहितोऽप्यशुभगतिहेतुकं तीव्रं पापं करोति श्रेणिकादिवत्, धिग्भवतस्तौ रागद्वेषौ, इति दर्शने सत्यपि रागद्वेषौ पुरुषस्य पापं जनयत इति तयोर्निराकरणे संभ्रमः कार्यं इति ॥७३३॥

विषयाणां दुष्टत्वमाह—

अणिहुदमणसा एदे इंदियविसया णिगेण्हिदुं दुक्खं।
मंतोसहिहीणेण व दुट्ठा आसीविसा सप्पा ॥७३४॥

तानि कुत्सयन्नाह—

धित्तेसिमिंदियाणं जेसिं वसेदो दु पावमज्जणिय।
पावदि पावविवागं दुक्खमणंतं भवगदिसु[3] ॥७३५॥

को नहीं समझता है ॥७३२॥

आचारवृत्ति—इस मोह को धिक्कार हो ! अर्थात् यह मोह प्रलय को प्राप्त हो जावे, हृदय में विद्यमान जिस के द्वारा मूढ़ हुआ यह जीव जिन आगम को नहीं जानता है। जिनागम जो कि हितरूप मोक्षसुख का कारण है तथा एकान्तवादियों द्वारा परिकल्पित सुख के कारणरूप मार्ग से विपरीत है। अर्थात् जिस मोह के द्वारा जीव मोक्षमार्ग को नहीं पाता है उस मोह को धिक्कार !

राग-द्वेष की निन्दा करते हुए कहते हैं—

गाथार्थ—जिनके द्वारा पीड़ित हुआ जीव जिनवचन का श्रद्धान करते हुए भी तीव्र अशुभगति कारक पाप करता है उन राग और द्वेष को सदा धिक्कार हो ! ॥७३३॥

आचारवृत्ति—जिन राग-द्वेष के द्वारा पीड़ित हुआ यह जीव तत्त्वों की रुचिरूप सम्यग्दर्शन से युक्त होता हुआ भी श्रेणिक आदि के समान अशुभ गति के लिए कारण ऐसे तीव्र पापों को करता है, ऐसे इन राग-द्वेषों को धिक्कार हो। तात्पर्य यह है कि जीव के सम्यग्दर्शन के होने पर भी ये राग-द्वेष पाप को उत्पन्न करते हैं। अतः इनका निराकरण करने के लिए प्रयत्न करना चाहिए।

इन्द्रिय-विषयों की दुष्टता बतलाते हुए उनकी निन्दा करते हैं—

गाथार्थ—चचल मन से इन इन्द्रिय-विषयों का निग्रह करना कठिन है। जैसे कि मन्त्र और औषधि के बिना दुष्ट आशीविष जातिवाले सर्पों को वश करना कठिन है ॥७३४॥

उन इन्द्रियों को धिक्कार हो कि जिनके वश से पाप का अर्जन करके यह जीव चारों गतियों में पाप के फलरूप अनन्त दुःख को प्राप्त होता है ॥७३५॥

---

१. हृदयस्थितेन क० २. कुणदि क० ३. भवगतिषु

एकाग्रचित्तमन्तरेणैतानिन्द्रियविषयान्निग्रहीतुं दुःखमेतेषां रूपरसगंधस्पर्शशब्दविषयाणामिन्द्रियाणां निग्रहं कर्तुं न शक्यते चलचित्तेन। यथा मंत्रौषधिहीनेन दुष्टा आशीविषाः सर्पा वशीकर्तुं न शक्यन्त इति ।।७३४।।

धिग्भवतु तानीन्द्रियाणि, येषामिन्द्रियाणां वशतो वशं गतः पापमर्जयित्वा च पापं संगृह्य प्राप्नोति, तस्य पापस्य विपाकं फलं भवगतिषु च दुःखमनंतं प्राप्नोतीति ।।७३५।।

संज्ञागौरवाणां स्वरूपमाह—

सण्णाहिं गारवेहिं अ गुरुओ गुरुगं तु पावमज्जणिय ।
तो कम्मभारगुरुओ गुरुगं दुक्खं समणुभवइ ।।७३६।।

आहारादिसंज्ञाभिर्गौरवैश्च गुरुः सन् गुरुकं तु पापमर्जयित्वा पापभारं स्वीकृत्य ततः पापभारेण गुरुर्भूत्वा ततो गुरुकं दुःखं समनुभवतीति ।।७३६।।

कषायास्रवस्वरूपमाह—

कोधो माणो माया लोभो य दुरासया कसायरिऊ ।
दोससहस्सावासा दुक्खसहस्साणि पावंति ।।७३७।।

क्रोधमानमायालोभा दुराश्रया दुष्टाश्रयाः कषायरिपवः दोषसहस्राणामावासाः दुःखसहस्राणि जीवान् प्रापयंति—दुःखसहस्रैः कषाया जीवान् संबंधयन्तीत्यर्थः ।।७३७।।

आचारवृत्ति—एकाग्रचित्त के बिना चंचल चित्तवाले मनुष्य को पाँचों इन्द्रियों के रूप रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द इन विषयों का निग्रह करना शक्य नहीं है जैसे कि, मन्त्र और औषधि से रहित मनुष्य को दुष्ट आशीविष सर्पों का वशीकरण करना शक्य नहीं है। इसलिए इन इन्द्रियों को धिक्कार हो कि जिनके वश में हुआ यह जीव पाप का संग्रह करता है और उस पाप के फलस्वरूप चारों गतियों में अनन्त दुःखों को प्राप्त करता है।

संज्ञा और गौरव का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—संज्ञा और गौरव से भारी होकर तीव्र पाप का अर्जन करके उससे कर्म के भार से गुरु होकर महान् दुःखों का अनुभव करता है ।।७३६।।

आचारवृत्ति—आहार, भय, मैथुन और परिग्रह इन चार संज्ञाओं द्वारा और रस आदि तीन गौरवों द्वारा गुरु अर्थात् भारभूत होता हुआ यह जीव गुरुक—अनेक पाप-भार को स्वीकार करके पुनः उस पापभार से गुरु—भारी होकर गुरुक—बहुत से दुःखों का अनुभव करता है।

कषायास्रव का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—क्रोध, मान, माया और लोभ ये दुष्ट आश्रयरूप कषाय शत्रु हजारों दोषों के स्थान हैं, ये हजारों दुःखों को प्राप्त कराते हैं ।।७३७।।

आचारवृत्ति—ये क्रोध-मान-माया-लोभ रूपी कषाय शत्रु दुष्ट आश्रयरूप हैं। हजारों दोषों के आवास-स्थान हैं, ये जीवों को हजारों दुःख प्राप्त कराते हैं। अर्थात् ये कषाय हजारों दुःखों के साथ जीव का सम्बन्ध करा देते हैं।

पुनरप्यास्रवानाह—

हिंसादिएहिं पंचहिं आसववारेहिं आसवदि पावं ।
तेहिंतु धुव विणासो सासवणावा जह समुद्दे ॥७३८॥

हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहैः पंचभिरास्रवद्वारैरास्रवति कर्मोपढौकते पापं । तेभ्यश्चाश्रितेभ्यो ध्रुवो निश्चयरूपो विनाशो जीवस्य भवति । यथा सास्रवा नौः पोतः समुद्रे निमज्जति, एवं कर्मास्रवैर्जीवः संसार-सागरे निमज्जतीति ॥७३८॥

आस्रवानुप्रेक्षामुपसंहरन्नाह—

एवं बहुप्पयारं कम्मं आसवदि दुट्ठमट्ठविहं ।
णाणावरणादीयं दुक्खविवागं ति चिंतेज्जो ॥७३९॥

एवं ज्ञानावरणादिकं कर्माष्टविधं भेदेन बहुप्रकारं दुष्टं वाऽऽस्रवति यस्मात्तस्मात्तमास्रवं दुःखवि-पाकमिति कृत्वा चिन्तयेत् भावयेदिति ॥७३९॥

यस्मादेवमास्रवैः कर्मास्रवति तस्मात्संवरमाह—

तम्हा कम्मासवकारणाणि सव्वाणि ताणि रुंधेज्जो ।
इंदियकसायसण्णागारवरागादिआदीणि ॥७४०॥

तस्मात्कर्मास्रवकारणानि सर्वाणि यानि तानि निरोधयेत् निवारयेत् । कानि तानि ? इन्द्रियकषाय-

---

पुनरपि आस्रवों को कहते हैं—

गाथार्थ—हिंसा आदि आस्रव-द्वार से पाप का आना होता है। उनसे निश्चित ही विनाश होता है। जैसे जल के आस्रव से सहित नौका समुद्र में डूब जाती है ॥७३८॥

आचारवृत्ति—हिंसा, असत्य, चोरी, कुशील और परिग्रह इन पाँच आस्रव-द्वारों से पाप-कर्म आते हैं और इन कर्मों के आने से निश्चित ही जीव का विनाश होता है। जैसे कि जल के आने के द्वार सहित नौका समुद्र में डूब जाती है। इस प्रकार से कर्मों के आस्रव से यह जीव संसार सागर में डूब जाता है—यह अभिप्राय हुआ।

आस्रव-अनुप्रेक्षा का उपसंहार करते हुए कहते हैं—

गाथार्थ—इस तरह बहु-प्रकार का कर्म दुष्ट है, जो कि ज्ञानावरण आदि से यह आठ प्रकार का है तथा दुःखरूप फलवाला है ऐसा चिन्तवन करे ।।७३९।।

आचारवृत्ति—इन उपर्युक्त कारणों से ज्ञानावरण आदि आठ प्रकार का कर्म, अपने भेदों से अनेक प्रकार का है अथवा दुष्ट-दुःखदायी है। वह आता है इसी का नाम आस्रव है। सो इन आस्रवों का फल दुःखरूप है, इस प्रकार से भावना करो। यह आस्रवानुप्रेक्षा हुई।

जिस कारण इन आस्रवों से कर्म आता है, इस कारण ही संवर को कहते हैं—

गाथार्थ—इन्द्रियाँ, कषाय, संज्ञा, गौरव, राग आदि ये कर्मास्रव के कारण हैं। इसलिए इन सबका निरोध करें ॥७४०॥

आचारवृत्ति—अतः जो कर्म के आने के कारण हैं उन सबका निवारण करना चाहिए। वे इन्द्रिय, कषाय, संज्ञा, गौरव और राग-द्वेष आदि हैं। अर्थात् इन्हीं कारणों से आत्मा में कर्मों का

संज्ञागौरवरागादिकानि। यस्मादेतैः कर्मागच्छति तस्मादेतानि सर्वाणि निरोधयेदिति ॥७४०॥

रुद्धेषु तेषु यद्भवति तदाह—

रुद्धेसु कसायेसु अ मूलादो होंति आसवा रुद्धा।
दुब्भत्तम्हि णिरुद्धे वणम्मि णावा जह ण एदि ॥७४१॥

रुद्धेषु च कषायेषु च मूलादारभ्य मूलत आस्रवाः सर्वेऽपि रुद्धाः सम्यक् पिहिता भवंति यथा दुर्वहति वने पानीये—दुष्टे वहति स्रोतसि जले, अथ व्रणे—विवरे, दुष्टे वहति, निरुद्धे विधृते, नावं नैति जलं यथा। अथवा नालिकेरादित्वग्भिर्बद्धा नौः सास्रवा सत्यपि नयति प्राप्नोति परतीरं, अथवा नैति विनाशं। कषायेषु निरुद्धेषु आस्रवा रुद्धा यथा नावं नैति जलं रुद्धेषु, यथा च सास्रवा नौर्दुर्वहति पानीये निरुद्धे मूलतस्तस्या नावः सर्वेऽपि आस्रवा निरुद्धा भवंति ततः सा नौर्नयति प्रापयतीष्टस्थानमानयति वा स्वेष्टं वस्तु-विनाशं च न गच्छति, एवं कषायेषु रुद्धेषु मूलतः सर्वेऽप्यास्रवा निरुद्धा भवंति ततो यद्यपि योगादिद्वारैः सास्रवो जंतुस्तथाऽपि रत्नत्रयं मोक्षपत्तनं नयतीति ॥७४१॥

इन्द्रियसंवरस्वरूपमाह—

इंदियकसायदोसा णिग्घिप्पंति तवणाणविणएहिं।
रज्जूहिं णिघिप्पंति हु उप्पहगामी जहा तुरया ॥७४२॥

इन्द्रियाणि कषाया द्वेषाश्चैते निगृह्यन्ते निरुध्यन्ते यथासंख्यं[1] तपसा ज्ञानेन विनयेन। इन्द्रियाणि

आता है, अतः इन सबका निरोध करना चाहिए।

इनके रुक जाने पर जो होता है, सो बताते हैं—

गाथार्थ—कषायों के रुक जाने पर मूल से आस्रव रुक जाते हैं जैसे वन में जल के रुक जाने पर नौका नहीं चलती है ॥७४१॥

आचारवृत्ति—कषायों के रुक जाने पर जड़ मूल से सभी आस्रव रुक जाते हैं। जैसे स्रोत के जल को रोक देने पर या जल आने के छिद्र को बन्द कर देने पर नौका में जल नहीं आता है, अथवा नारियल आदि के त्वक् (रस्सी) आदि से बँधी हुई नौका में यद्यपि पानी आने के द्वार होने पर भी वह तीर को प्राप्त करा देती है। अथवा वह विनष्ट नहीं होती है। अर्थात् कषायों के रुकने पर आस्रव रुक जाते हैं। जैसे पानी आने के द्वार सहित नाव है फिर भी पानी के रोक देने पर उस नाव में सभी तरफ से पानी रुक जाता है तब वह नाव मनुष्य को उसके इष्ट स्थान पर पहुँचा देती है अथवा उसकी इष्ट वस्तु नष्ट नहीं होती है, जल में नहीं डूबती है। इस तरह कषायों के रुक जाने पर मूल से सभी आस्रव रुक जाते हैं। यद्यपि योग आदि के द्वारा जीव-क्षीण मोह और सयोग केवली आस्रव सहित हैं फिर भी वे अपने रत्नत्रय को मोक्षनगर में ले जाते हैं। यह अभिप्राय हुआ।

इन्द्रिय संवर का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—इन्द्रिय, कषाय और दोष ये तप, ज्ञान और विनय के द्वारा निगृहीत होते हैं। जैसे कुपथगामी घोड़े नियम से रस्सी से निगृहीत किये जाते हैं ॥७४२॥

---

1. यथासंख्येन द० क०

तपसा निगृह्यन्ते, कषाया ज्ञानभावनया वशीक्रियन्ते, द्वेषो विनयक्रियया प्रलयमुपनीयते । यथोत्पथगामिन उन्मार्गयायिनस्तुरगा अश्वा निगृह्यन्ते वशतामुपनीयन्ते रज्जुभिर्वरत्राभिः खल्विति[1] ॥७४२॥

चारित्रसंवरस्य स्वरूपमाह—

मणवयणकायगुत्तिंदियस्स समिदीसु अप्पमत्तस्स ।
आसवदारणिरोहे णवकम्मरयासवो ण हवे ॥७४३॥

मनोवचनकायैर्गुप्तेन्द्रियस्य समितिषु चेर्याभाषैषणाऽऽदाननिक्षेपोच्चार[2]प्रस्रवणसंज्ञिकास्व-प्रमत्तस्य सुष्ठु प्रमादरहितस्य चारित्रवत आस्रवद्वारनिरोधे यैर्द्वारैः कर्मागच्छति तेषां निरोधे सति नवकर्मरजस आस्रवो न भवेत्—अभिनवकर्मागमो न भवेदिति ॥७४३॥

पुनरपि संक्षेपत आस्रवं संवरं चाह—

मिच्छत्ताविरदीहिं य कसायजोगेहिं जं च आसवदि ।
दंसणविरमणणिग्गहणिरोधणेहिं तु णासवदि ॥७४४॥

मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगैर्यत्कर्मास्रवति तत्कर्म सम्यग्दर्शनविरतिनिग्रहनिरोधनैस्तु यथासंख्यं[3] नास्रवति नागच्छतीति ॥७४४॥

आचारवृत्ति—इन्द्रियों का तप से निग्रह होता है, कषायें ज्ञान-भावना से वश में की जाती हैं और विनयक्रिया से द्वेष प्रलय को प्राप्त हो जाता है। जैसे कि उन्मार्ग में चलनेवाले घोड़े निश्चित ही चर्ममयी रस्सी (चाबुक) से वशीभूत किये जाते हैं।

चारित्रसंवर का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—मन-वचन-काय से इन्द्रियों को वश में करनेवाले, समितियों में अप्रमादी साधु के आस्रव का द्वार रुक जाने से नवीन कर्मरज का आस्रव नहीं होता है ॥७४३॥

आचारवृत्ति—जिन्होंने मन, वचन और काय से अपनी इन्द्रियों को गुप्त अर्थात् वश में कर लिया है, जो ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेपण और उच्चारप्रस्रवण नामक पाँच समितियों में प्रमाद से रहित—सावधान हैं ऐसे अप्रमत्त चारित्रधारी साधु के जिन द्वारों से कर्मास्रव होता है उनका निरोध हो जाने पर उनके नवीन कर्मों का आगमन नहीं होता है।

पुनरपि संक्षेप से आस्रव और संवर को कहते हैं—

गाथार्थ—मिथ्यात्व, अविरति कषाय और योग इनसे जो कर्म आते हैं वे दर्शन, विरति, निग्रह और निरोध से नहीं आते हैं ॥७४४॥

आचारवृत्ति—मिथ्यात्व अविरति, कषाय और योग इनसे आत्मा में जो कर्म आते हैं वे क्रमशः सम्यग्दर्शन, विरति, इन्द्रिय निग्रह और योगनिरोध इन कारणों से नहीं आते हैं—रुक जाते हैं। इस तरह कर्मों का आना आस्रव और कर्मों का रुकना संवर—इन दोनों का वर्णन यहाँ किया गया है।

---

१. स्फुटमिति क० २. निक्षेपोच्चारण प्रस्रवण क० ३. यथासंख्येन क०

संवरानुप्रेक्षां संक्षेपयन् तस्याश्च फलं प्रतिपादयन्नाह—

संवरफलं तु णिव्वाणमेत्ति संवरसमाधिसंजुत्तो।
णिच्चुज्जुत्तो भावय संवर इणमो विसुद्धप्पा ॥७४५॥

संवरफलं निर्वाणमिति कृत्वा संवरेण समाधिना चाथवा संवरध्यानेन सयुक्तः सन् नित्योद्युक्तश्च सर्वकालं यत्नपरं भावयेमं संवरं विशुद्धात्मा सर्वद्वन्द्वपरिहीणः—संवरं प्रयत्नेन चिन्तयेति ॥७४५॥

निर्जरास्वरूपं विवृण्वन्नाह—

रुद्धासवस्स एवं तवसा जुत्तस्स णिज्जरा होदि।
दुविहा य सा वि भणिया देसादो सव्वदो चेव ॥७४६॥

रुद्धास्रवस्य पिहितकर्मागमद्वारस्यैवं तपसा युक्तस्य निर्जरा भवति—कर्मशातनं भवति। साऽपि च निर्जरा द्विविधा भणिता, देशतः सर्वतश्च [1]कर्मैकदेशनिर्जरा सर्वकर्मनिर्जरा चेति ॥७४६॥

देशनिर्जरास्वरूपमाह—

संसारे संसरंतस्स खओवसमगदस्स कम्मस्स।
सव्वस्स वि होदि जगे तवसा पुण णिज्जरा विउला ॥७४७॥

संसारे चतुर्गतिसंसरणे, संसरतः पर्यटतः, क्षयोपशमगतकर्मणः किंचित् क्षयमुपगतं किंचिदुपशान्तं किंचित्सन्स्वरूपेण स्थितं कर्म तस्य कर्मणो या निर्जरा सा सर्वस्यैव जीवस्य भवति जगति सा च देशनिर्जरा

अब संवर-अनुप्रेक्षा को संक्षिप्त करते हुए और उसका फल बतलाते हुए कहते हैं—

गाथार्थ—संवर का फल निर्वाण है, इसलिए संवर-समाधि से युक्त, नित्य ही उद्यमशील, विशुद्ध आत्मा मुनि इस संवर की भावना करे ॥७४५॥

आचारवृत्ति—संवर का फल तो निर्वाण है—ऐसा समझकर संवर और समाधि अथवा संवर ध्यान से संयुक्त होते हुए सर्वकाल यत्न में तत्पर, सर्वद्वन्द्वों से रहित मुनि प्रयत्नपूर्वक इस संवर अनुप्रेक्षा का चिन्तवन करे। यह संवर अनुप्रेक्षा हुई।

निर्जरा का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—इस प्रकार जिनके आस्रव रुक गया है और जो तपश्चर्या से युक्त हैं उनके निर्जरा होती है। वह भी देश और सर्व की अपेक्षा से दो प्रकार की कही गयी है ॥७४६॥

आचारवृत्ति—जिन मुनिराज ने कर्मागम का द्वार बन्द कर दिया है और तपश्चरण से सहित है उनके कर्म के झड़ने रूप निर्जरा होती है। उस निर्जरा के दो भेद हैं कर्मों की एकदेशनिर्जरा और सर्वकर्मनिर्जरा।

एक-देशनिर्जरा का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—संसार में संसरण करते हुए जीव के क्षयोपशम को प्राप्त कर्मों की निर्जरा जगत् में सभी जीवों के होती है और पुनः तप से विपुल निर्जरा होती है ॥७४७॥

आचारवृत्ति—चतुर्गति के संसरण रूप इस संसार में संसरण करते हुए जीव के क्षयोपशम को प्राप्त करते हुए कर्मों की जो निर्जरा होती है वह सभी संसारी जीवों को होती है

---

1. 'एककर्मैक' इति प्रेस-पुस्तके पाठः।

तपसा पुनर्निर्जरा विपुला—तपोग्निना भस्मीकृतस्य सर्वस्य कर्मणो निर्जरा सकलेति ॥७४७॥

सकलनिर्जरायाः फलं स्वरूपं चाह—

जह धादू धम्मंतो सुज्झदि सो अग्गिणा दु संतत्तो।
तवसा तहा विसुज्झदि जीवो कम्मेहिं कणयं व ॥७४८॥

यथा धातुस्सुवर्णपाषाणः धम्यमानः शुध्यति किट्टकालिमादिरहितो भवति अग्निना तु सन्तप्तः सन्, तथा तपसा विशुध्यते कर्मभ्यो जीवः सर्वकर्मविमुक्तः स्यात्कनकमिव। यथा धातुर्धम्यमानोऽग्निना सन्तप्तः कनकः स्यात्तथा जीवस्तपसा संतप्तः सिद्धः संपद्यत इति ॥७४८॥

तपसो माहात्म्यमाह—

णाणवरमारुदजुदो सीलवरसमाधिसंजमुज्जलिदो।
दहइ तवो भवबीयं तणकट्ठादी जहा अग्गी ॥७४९॥

ज्ञानवरमारुतयुतं मत्यादिज्ञानबृहद्वातसहितं, शीलं व्रतपरिरक्षणं, वरसमाधिरेकाग्रचिन्तानिरोधः,

---

वह देशनिर्जरा है। तपरूपी अग्नि से भस्म किये हुए सभी कर्मों की जो निर्जरा होती है वह सकलनिर्जरा है। जिन कर्मों के कुछ अश क्षय को प्राप्त हो चुके हैं, कुछ उपशम अवस्था को प्राप्त हैं, कुछ उदय में आ रहे हैं और कुछ सत्ता में स्थित हैं उसको क्षयोपशम कहते हैं।

सकलनिर्जरा का फल और स्वरूप बताते है—

गाथार्थ—जैसे अग्नि से धमाया गया धातु सन्तप्त हुआ शुद्ध हो जाता है। वैसे ही स्वर्ण के समान ही, जीव तप द्वारा कर्मों से शुद्ध हो जाता है ॥७४८॥

आचारवृत्ति जैसे स्वर्णपाषाण जब धमाया जाता है तब अग्नि से सन्तप्त होता हुआ किट्ट कालिमा रहित शुद्ध सुवर्ण हो जाता है। उसी प्रकार से यह जीव तपश्चरण से तपाया हुआ सर्वकर्म से रहित होकर शुद्ध सिद्ध हो जाता है।

तप का माहात्म्य बतलाते हैं—

गाथार्थ—श्रेष्ठ ज्ञानरूपी हवा से युक्त शील, श्रेष्ठ समाधि व संयम से प्रज्वलित हुई तपरूपी अग्नि भवबीज को जला देती है, जैसे कि अग्नि तृण काठ आदि को जला देती है ॥७४९॥

आचारवृत्ति – मतिज्ञान आदि महान वायु से सहित, शील, समाधि और प्रज्वलित—उद्दीपित तपरूपी अग्नि संसार के बीज—कारणों को भस्मसात् कर देती है, जैसे कि अग्नि तृण, काठ आदि को भस्मसात् कर देती है। व्रतों का रक्षण जिससे होता है वह शील है। एकाग्रचिन्ता-

* फलटन से प्रकाशित मूलाचार में यह गाथा अधिक है—

आवेसणी सरीरे इन्दियभंडो मणो व आगरिओ।
धमिदव्व जीवलोहो बावीसपरीसहग्गीहिं ॥

अर्थ—यह शरीर आवेशनी—चूल्हा के समान है, इन्द्रियाँ भांड अर्थात् अलंकार बनाने के साधन चिमटा हथौड़ा आदि के समान हैं, मन सुवर्णकार के समान है, जीव सुवर्णधातु के समान है और क्षुधातृषादि परीषह अग्नि के समान हैं। अर्थात् शरीर रूपी चूल्हे—भट्टी में बाईस परीषहरूपी अग्नि में मनरूपी उपाध्याय—या सुवर्णकार के द्वारा तपाया गया यह जीवरूपी सुवर्ण कर्मरूपी मल के नष्ट हो जाने से निर्मल—शुद्ध हो जाता है।

पंचनमस्कृतिसहितः संयमः प्राणिदया इन्द्रियनिग्रहश्चैतैरुज्ज्वलितं प्रज्वलितं दीप्तं तपो दहति भवबीजं संसार-कारणं । तृणकाष्ठादिकं [1]यथाऽग्निर्दहति तथेति ॥७४९॥

पुनरपि—

चिरकालमज्जिदं पि य विहुणदि तवसा रयत्ति णाऊण ।
दुविहे तवम्मि णिच्चं भावेदव्वो हवदि अप्पा ॥७५०॥

चिरकालं संख्या(म)तीतसमयं कर्माजितमपि तपसा विधूयत इति ज्ञात्वा द्विविधे तपसि नित्यं निरन्तरमात्मा भावयितव्यो भवतीति ॥७५०॥

भावितात्मा स नु किं स्यादित्याह—

णिज्जरियसव्वकम्मो जादिजरामरणबंधणविमुक्को ।
पावदि सुक्खमणंतं णिज्जरणं तं मणसि कुज्जा ॥७५१॥

ततो निर्जीर्णः सर्वकर्मनिर्मुक्तो जातिजरामरणबन्धनविमुक्तः प्राप्नोति सौख्यमतुलमनंतं, तन्निर्ज-रणं मनसि कृत्वा (कुर्यात्) विधायेति ॥७५१॥

निर्जरानुप्रेक्षां व्याख्याय धर्मानुप्रेक्षास्वरूपं विवेचयन्नाह—

निरोधरूप ध्यान को वरसमाधि कहते हैं। पंचनमस्कार के साथ प्राणियों पर दया करना और इन्द्रिय-निग्रह करना संयम है। इनसे तपरूपी अग्नि को उद्दीपित किया जाता है और उसमें मति, श्रुत आदि ज्ञानरूपी हवा की जाती है। अर्थात् सम्यक्ज्ञान और चरित्र से युक्त तप संसार के कारणों को नष्ट कर देता है।

पुनरपि उसी को बताते हैं—

गाथार्थ—चिरकाल से अर्जित भी कर्मरज तप से उड़ा दी जाती है, ऐसा जानकर दो प्रकार के तप में नित्य ही आत्मा को भावित करना चाहिए ॥७५०॥

आचारवृत्ति—अनन्तकाल में संचित किया गया कर्म भी तपश्चरण द्वारा नष्ट हो जाता है, ऐसा जानकर निरन्तर अन्तरंग व बहिरंग तपश्चरण में आत्मा को लगाना चाहिए।

तप में आत्मा को लगाने से क्या होगा? सो ही बताते हैं—

गाथार्थ—जिसके सर्वकर्म निर्जीर्ण हो चुके हैं ऐसा जीव जन्म-जरा-मरण के बन्धन से छूटकर अनन्त सुख को प्राप्त कर लेता है। अतः मन में तुम उस निर्जरा का चिन्तवन करो ॥७५१॥

आचारवृत्ति—तपश्चरण से समस्त कर्मों की निर्जरा हो जाने पर जन्म, जरा और मरण के बन्धन से मुक्त होता हुआ यह जीव अतुल अनन्त सौख्य को प्राप्त कर लेता है। इसलिए मन में निर्जरा भावना को भावो। यह निर्जरा अनुप्रेक्षा हुई।

निर्जरानुप्रेक्षा का व्याख्यान करके अब धर्मानुप्रेक्षा का विवेचन करते हैं—

---

१. यथाग्निरिति क०

सव्वजगस्स हिदकरो धम्मो तित्थंकरेहिं अक्खादो।
धण्णा तं पडिवण्णा विसुद्धमणसा जगे मणुया ॥७५२॥

सर्वस्य जगतो भव्यलोकस्य हितकरो धर्म उत्तमक्षमादिलक्षणस्तीर्थंकरैराख्यातः प्रतिपादितस्तं धर्मं ये प्रतिपन्नास्तं धर्ममधिष्ठिता ये पुरुषा विशुद्धमनसा शुद्धभावेन ते धन्याः पुण्यवंतः कृतार्था जगतीति ॥७५२॥

धर्मानुरागे कारणमाह—

जेणेह पाविदव्वं कल्लाणपरंपरं परमसोक्खं।
सो जिणदेसिदधम्मं भावेणुववज्जदे पुरिसो ॥७५३॥

येनेह—येन जीवेनास्मिल्लोके कल्याणपरंपरा मांगल्यनैरन्तर्यं परमसौख्यं प्राप्तव्यं स जीवो जिनदेशितं तीर्थंकराख्यातं धर्मं भावेनोपद्यते पुरुषः परमार्थतो धर्मं श्रद्दधाति सेवते—पापक्रियां मनागपि नाचरतीति ॥७५३॥

[1]धर्मस्य विकल्पानाह—

खंतीमद्दवअज्जवलाघवतवसंजमो आंकिचणदा।
तह होइ बंभचेरं सच्चं चाओ य दसधम्मा ॥७५४॥

क्षान्त्यार्जवमार्दवलाघव[2]तपःसंयमा आकिंचन्यं तथा ब्रह्मचर्यं सत्यं त्यागश्चैवं धर्मो दशविधो भवति ज्ञातव्य इति ॥७५४॥

गाथार्थ—तीर्थंकरों द्वारा कथित धर्म सर्वजगत् का हित करनेवाला है। विशुद्ध मन से उसका आश्रय लेनेवाले मनुष्य जगत् में धन्य हैं ॥७५२॥

आचारवृत्ति—तीर्थंकरों के द्वारा प्रतिपादित क्षमा आदि उत्तम धर्म भव्य जीवों का हित करनेवाला है। जिन पुरुषों ने ऐसे धर्म का विशुद्ध मन से अनुष्ठान किया है, वे इस जगत् में धन्य हैं, पुण्यशाली हैं, वे कृतार्थ हो चुके हैं।

धर्मानुराग में कारण को कहते हैं—

गाथार्थ—जिसे इस जगत् में कल्याणों की परम्परा और परम सौख्य प्राप्त करना है वह पुरुष भाव से जिनेन्द्रदेव द्वारा कथित धर्म को स्वीकार करता है ॥ ७५३॥

आचारवृत्ति—जिस जीव को इस जगत् में निरन्तर ही मंगल और परम सुख प्राप्त करना है, वह जीव भाव से तीर्थंकर द्वारा कथित धर्म को प्राप्त करता है। अर्थात् परमार्थ रूप से उस धर्म का श्रद्धान करता है, उसका सेवन करता है और किंचित् मात्र भी पाप क्रिया का आचरण नहीं करता है, यह अभिप्राय है।

धर्म के भेदों को बताते हैं—

गाथार्थ—क्षमा, मार्दव, आर्जव, लाघव, तप, संयम, आकिंचन्य, तथा ब्रह्मचर्य, सत्य और त्याग ये दश धर्म हैं।

टीका सरल है।

---

१ लिङ्गधर्मस्य क० २ लाघवं शौचाचारः (क० टि०)

धर्मभावनाफलमाह—

उवसम दया य खंती वड्ढइ वेरग्गदा य जह जह से।
तह तह य मोक्खसोक्खं अक्खीणं भावियं होइ ॥७५५॥

उपशम इन्द्रियनिग्रहे पुरुषव्यापारो, दयानुकंपा, क्षान्तिः क्रोधाद्यनुत्पत्तिरन्यकृतोपद्रवसहनं, एते विरागता च यथा यथा वर्धन्ते—वैराग्यकारणेन वृद्धि गच्छन्ति यथा यथास्य जीवस्य तथा तथा तस्य जीवस्य मोक्षसौख्यमक्षरं भावितं भवतीति ॥७५५॥

धर्मानुप्रेक्षामुपसंहर्तुकामः प्राह—

संसारविसमदुग्गे भवगहणे कह वि मे भमंतेण।
दिट्ठो जिणवरदिट्ठो जेट्ठो धम्मोत्ति चिंतेज्जो ॥७५६॥

संसारविषमदुर्गे भवगहने भवव्याकुले कथमपि भ्रमता पर्यटता मया जिनवरोपदिष्टो ज्येष्ठः प्रधानो धर्मो दृष्टः इत्येवं चिन्तयेदिति ॥७५६॥

बोधिदुर्लभतास्वरूपमाह—

संसारह्मि अणंते जीवाणं दुल्लहं मणुस्सत्तं।
जुगसमिलासंजोगो लवणसमुद्दे जहा चेव ॥७५७॥

धर्मभावना का फल बताते हैं—

गाथार्थ—जैसे-जैसे इस जीव के उपशम, दया क्षमा और वैराग्य बढ़ते हैं वैसे-वैसे ही अक्षय मोक्षसुख भावित होता है ॥७५५॥

आचारवृत्ति—इन्द्रियों के निग्रह में पुरुष का व्यापार होना उपशम है। अनुकम्पा का नाम दया है, क्रोधादि की उत्पत्ति न होना और अन्यकृत उपद्रव सहन करना क्षमा है, संसार शरीर-भोगों से उद्विग्न होना वैराग्य है। जिस जीव के ये सब वैराग्य के कारण से जैसे-जैसे वृद्धि को प्राप्त होते रहते हैं वैसे-वैसे ही उसी जीव के अक्षय मोक्ष सुख की भावना होती रहती है।

धर्मानुप्रेक्षा का उपसंहार करते हुए कहते हैं—

गाथार्थ—संसारमय विषमदुर्ग इस भववन में भ्रमण करते हुए मैंने बड़ी मुश्किल से जिनवर कथित प्रधान धर्म प्राप्त किया है—इस प्रकार से चिन्तवन करे ॥७५६॥

आचारवृत्ति—यह संसार विषम दुर्ग के समान है, अनेकों भवों से अर्थात् पुनः पुनः जन्म ग्रहण करने से गहन है, व्याकुल है। ऐसे इस संसार में पर्यटन करते हुए बड़ी मुश्किल से मैंने जिनेन्द्रदेव द्वारा उपदिष्ट सर्व प्रधान इस धर्म को प्राप्त किया है। इस प्रकार से चिन्तवन करना चाहिए। यह धर्मानुप्रेक्षा हुई।

बोधिदुर्लभता का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—अनन्त संसार में जीवों को मनुष्य पर्याय दुर्लभ है। जैसे लवणसमुद्र में युग अर्थात् जुवां और समिला अर्थात् सैल का संयोग दुर्लभ है ॥७५७॥

संसारेऽनंतेऽत्यन्तदीर्घे जीवानां दुर्लभं मनुष्यत्वं मनुष्यजन्म, यथा लवणसमुद्रे युगसमिलासंयोगः। पूर्वसमुद्रभागे युगं निक्षिप्तं, पश्चिमसमुद्रभागे समिला निक्षिप्ता, तस्याः समिलायाः युगविवरे यथा प्रवेशो दुर्लभस्तथा जीवस्य चतुरशीतियोनिलक्षमध्ये मनुष्यत्वं दुर्लभमेवेति ।।७५७।।

मनुष्यत्वे लब्धेऽपि यद्दुर्लभं तदाह—

देसकुलजम्म रूवं आऊ आरोग्ग वीरियं विणओ ।
सवणं गहणं मदि धारणा य एदे वि दुल्लहा लोए ।।७५८।।

मनुष्यत्वे लब्धेऽप्यतिदुर्लभ आर्यदेशः, मनुष्यत्वं यतो म्लेच्छखंडेषु भोगभूमावपि विद्यते। आर्यदेशे लब्धेऽपि दुर्लभं कुले जन्म, आर्यदेशे भिल्लवर्बरचांडालादिकुलानामपि संभवात्। विशुद्धकुले लब्धेऽप्यतीव दुर्लभं रूपमवयवसंपूर्णता, शुद्धकुलेऽपि यतो विकलांगदर्शनमिति। रूपे लब्धेऽपि दुर्लभं सुष्ठु दीर्घायुश्चिरं-जीवित्वं। चिरजीवनादप्यारोग्यं दुर्लभतमः। तस्मादपि श्रवणमार्यादिसंप्राप्तिः। तस्मादपि ग्रहणमवधारणं सुष्ठु न सुलभं। तस्मादपि पूर्वापरविवेकरूपता मतिः स्मरणादिकमतीव दुर्लभा। ततोऽपि धारणा कालान्तरे-ऽप्यविस्मरणत्वं दुर्लभा। मनुष्यत्वे लब्धेप्येते सर्वेऽपि क्रमेण दुर्लभा लोके जगतीति ।।७५८।।

एतेभ्योऽपि दुर्लभतममाह—

आचारवृत्ति—अत्यन्त दीर्घ इस अनन्त संसार में जीवों को मनुष्य पर्याय का मिलना बहुत ही दुर्लभ है। जैसे कि लवण समुद्र में युग और समिला का संयोग। अर्थात् जैसे लवण समुद्र के पूर्वभाग में जुवां को डाले और उसी समुद्र के पश्चिम भाग में सैल को डाले। पुनः उस सेल का जुवां के छिद्र में प्रवेश कर जाना जैसे कठिन है उसी प्रकार से चौरासी लाख योनियों के मध्य में इस जीव को मनुष्य जन्म का मिलना दुर्लभ ही है।

मनुष्य पर्याय के मिल जाने पर भी जो कुछ दुर्लभ है उसे बताते हैं—

गाथार्थ—उत्तम देश-कुल में जन्म, रूप, आयु, आरोग्य, शक्ति, विनय, धर्मश्रवण, ग्रहण बुद्धि और धारणा ये भी इस लोक में दुर्लभ ही हैं ।।७५८।।

आचारवृत्ति—मनुष्य पर्याय के मिलने पर भी आर्यदेश का मिलना अतीव दुर्लभ है क्योंकि मनुष्यपना तो म्लेच्छ खण्डों में और भोगभूमि में भी विद्यमान है। आर्यदेश में भील, बर्बर, चाण्डाल आदि कुलों में भी उत्पत्ति हो जाती है। विशुद्धकुल के मिल जाने पर भी रूप अर्थात् शरीर के अवयवों की पूर्णता का होना अतीव दुर्लभ है, क्योंकि शुद्ध कुल में भी विकलांग-हीनांग देखे जाते हैं। रूप के मिल जाने पर भी दीर्घायु का मिलना—चिरजीवी होना अतिशय दुर्लभ है। चिरजीवन से भी आरोग्य-स्वस्थ शरीर का मिलना दुर्लभतर है। आरोग्य से भी शक्ति का मिलना दुर्लभतम है। शक्ति से भी विनय का मिलना अतीव दुर्लभतम है। उससे भी श्रवण अर्थात् आर्यपुरुष आदि की संगति का मिलना उनका उपदेश सुनना अतीव दुर्लभ है। उपदेश सुनने के बाद भी उसको ग्रहण करना—मन में अवधारण करना सुलभ नहीं है। पूर्वापर विवेक रूप बुद्धि का होना, स्मरण शक्ति आदि होना अतीव दुर्लभ है। कालान्तर में भी अविस्मरण रूप धारणा का होना उससे भी दुर्लभ है। अर्थात् मनुष्य पर्याय के मिल जाने के जाने के बाद भी इस जगत् में ये सभी क्रम-क्रम से दुर्लभ ही हैं, ऐसा समझना।

इनसे भी जो दुर्लभतम है उसे बताते हैं—

लद्धेसु वि एदेसु य बोधी जिणसासणम्हि ण हु सुलहा ।
कुपहाणमाकुलत्ता जं बलिया रागदोसा य ।।७५९।।

लब्धेष्वप्येतेषु मनुष्यादिषु बोधिः सम्यक्त्वं दर्शनविशुद्धिस्तत्कारणे च जिनशासने परमागमे नैव सुलभा न सुखेन लभ्यते। कुतः ? कुपथानामाकुलत्वात् यतः कुत्सितमार्गैर्दुष्टाभिप्रायैराकुलोऽयं भ्रान्तोऽयं लोकः, यस्माच्च रागद्वेषौ बलवन्तौ, अथवा कुपथानामाकुलत्वहेतोर्बलिनौ रागद्वेषौ यत इति ।।७५९।।

एवं बोधिदुर्लभत्वं[1] विज्ञाय तदर्थपरिणामं[2] कर्तुकामः प्राह—

सेयं भवभयमहणी बोधी[3] गुणवित्थडा मए लद्धा ।
जदि पडिदा ण हु सुलहा तम्हा ण खमो पमादो मे ।।७६०।।

सेयं बोधिर्भवभयमथनी संसारभीतिविनाशिनी गुणविस्तरा गुणैर्विस्तीर्णा सर्वगुणाधरा मया लब्धा प्राप्ता, यदि कदाचित्संसारसमुद्रे पतिता प्रभ्रष्टा न खलु नैव स्फुटं पुनः सुलभाऽर्द्धपुद्गलपरावर्त्तनमन्तरेण तस्मान्नैव[4] क्षमो नैव योग्यः प्रमादो मम—बोधिविषये प्रमादकरणं मम नैव युक्तमिति ।।७६०।।

बोधिविषये यः प्रमादं करोति तं कुत्सयन्नाह—

गाथार्थ—इनके मिल जाने पर भी जिन-शासन में बोधि सुलभ नहीं है, क्योंकि कुपथों की बहुलता है और राग-द्वेष भी बलवान् हैं ।।७५९।।

आचारवृत्ति—उपर्युक्त आर्यदेश आदि के मिल जाने पर भी बोधि-सम्यक्त्व अर्थात् दर्शनविशुद्धि और उसके कारणों का मिलना परमागम में सुलभ नहीं है । अर्थात् यह बोधि सुख से, सरलता से नहीं मिल सकती है । क्यों ? क्योंकि कुत्सित मार्गों से—दुष्ट अभिप्रायवाले जनों से यह लोक भ्रान्त हो रहा है और इसमें राग-द्वेष भी अतीव बलवान् हैं। अथवा कुपथों में व्याकुलता के हेतु ये बलवान् राग-द्वेष हैं । इसीलिए बोधि का मिलना दुर्लभ है ।

इस प्रकार बोधि-दुर्लभता को जानकर उसके लिए कैसे परिणाम मेरे होवें इसे आचार्य कहते हैं—

गाथार्थ—सो यह भवभय का मंथन करनेवाली, गुणों से विस्तार को प्राप्त बोधि मैंने प्राप्त कर ली है। यदि यह छूट जाए तो निश्चित रूप से पुनः सुलभ नहीं है। अतः मेरा प्रमाद करना ठीक नहीं है ।।७६०।।

आचारवृत्ति—सो यह सम्यग्दर्शन रूप बोधि संसार के भय का नाश करनेवाली है, सर्वगुणों के लिए आधारभूत है। इसे मैंने प्राप्त कर ली है । यदि यह कदाचित् संसार-समुद्र में गिर जाय तो पुनः अर्द्धपुद्गल परिवर्तन के बिना यह सुलभ नहीं है । इसलिए बोधि के विषय में मेरा प्रमाद करना योग्य नहीं है—उचित नहीं है । अर्थात् एक बार सम्यग्दर्शन प्राप्त होने के बाद यदि प्रमाद से वह छूट जाए तो पुनः अधिक-से-अधिक अर्द्धपुद्गल परिवर्तन कालपर्यन्त यह जीव इस संसार में भ्रमण कर सकता है । अतः सम्यक्त्व की रक्षा के लिए सावधान रहना चाहिए ।

बोधि के विषय में जो प्रमाद करते हैं उनकी निन्दा करते हुए कहते हैं—

---

१. बोधेर्दुल- क० २. तदर्थाय परि- क० ३. बोही क० ४. तस्मान्न क०

दुल्लहलाहं लद्धूण बोधिं[1] जो णरो पमादेज्जो।
सो पुरिसो कापुरिसो सोयदि कुगदिं गदो संतो ॥७६१॥

दुर्लभलाभां बोधिं संसारक्षयकरणसमर्थां यो लब्ध्वा प्राप्य प्रमादयेत् प्रमादं कुर्यात्स: पुरुष: कापुरुष: कुत्सित: पुरुष: शोचति दु:खी भवति कुगतिं नरकादिगतिं गत: सन्निति ॥७६१॥

बोधिविकल्पं तत्फलं च प्रतिपादयन्नाह—

उवसमखयमिस्सं वा बोधिं लद्धूण भवियपुंडरिओ।
तवसंजमसंजुत्तो अक्खयसोक्खं तदो लहदि ॥७६२॥

क्षयोपशमविशुद्धिदेशनाप्रायोग्यलब्धीर्लब्ध्वा पश्चादध:प्रवृत्यपूर्वानिवृत्तिकरणानि कृत्वोपशमक्षयोपशमक्षयरूपां[2] बोधिं लभते जीव:। पूर्वसंचितकर्मणोऽनुभागस्पर्द्धकानि यदा विशुद्ध्या प्रतिसमयमनंतगुणहीनानि भूत्वोदीर्यन्ते तदा क्षयोपशमलब्धिर्भवति। प्रतिसमयमनंतगुणहीनक्रमेणोदीरितानुभागस्पर्द्धकजनितजीवपरिणाम: सातादिसुखकर्मबंधनिमित्तोऽसाताद्यसुखकर्मबंधविरुद्धो विशुद्धिलब्धिर्नाम। षड्द्रव्यनवपदार्थोपदेशकर्त्राचार्याद्युपलब्धिर्वोपदिष्टार्थग्रहणधारणविचारणशक्तिर्वा देशनालब्धिर्नाम। सर्वकर्मणामुत्कृष्टस्थितिमुत्कृष्टानुभागं च हत्वाऽन्त:कोट्यकोटीस्थितौ द्विस्थानानुभागस्थानं प्रायोग्यलब्धिर्नाम। तथोपरिस्थितपरिणामैरध:स्थितपरिणामा: समाना अध:स्थितपरिणामैरुपरिस्थितपरिणामा: समाना भवन्ति यस्मिन्नवस्थाविशेषकालेऽध:प्रवर्त्त-

---

गाथार्थ—जो मनुष्य दुर्लभता से मिलनेवाली बोधि को प्राप्त करके प्रमादी होता है वह पुरुष कायर पुरुष है। वह दुर्गति को प्राप्त होता हुआ शोच करता है ॥७६१॥

आचारवृत्ति—संसार का क्षय करने में समर्थ ऐसी दुर्लभता से मिलनेवाली बोधि को प्राप्त करके जो प्रमाद करता है वह पुरुष निन्द्य पुरुष है। वह नरक आदि गतियों को प्राप्त होकर दु:खी होता रहता है।

बोधि के भेद और उसका फल बताते हुए कहते हैं—

गाथार्थ—श्रेष्ठ भव्य जीव उपशम, क्षायिक या क्षायोपशमिक सम्यक्त्व को प्राप्त करके जब तप और संयम से युक्त हो जाता है तब अक्षय सौख्य को प्राप्त कर लेता है ॥७६२॥

आचारवृत्ति—क्षयोपशमलब्धि, विशुद्धिलब्धि, देशनालब्धि और प्रायोग्यलब्धि इन चार लब्धियों को प्राप्त करके यह जीव पुन: अध:प्रवृत्तिकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण परिणामों को करके उपशम सम्यक्त्व, क्षयोपशम सम्यक्त्व अथवा क्षायिक सम्यक्त्व रूप बोधि को प्राप्त कर लेता है। सो ही स्पष्ट करते हैं—

१. जिस काल में पूर्वसंचित कर्म के अनुभागस्पर्धक परिणामविशुद्धि से प्रति समय अनन्तगुणित हीन होकर उदीरणा को प्राप्त होते हैं तब उस जीव के क्षयोपशम-लब्धि होती है।

२. प्रतिसमय अनन्तगुणितहीन क्रम से उदीरणा को प्राप्त हुए अनुभागस्पर्धक से जीव के जो परिणाम होते हैं उनके निमित्त से साता आदि सुखदायी कर्मों का बन्ध होता है और असाता आदि दु:खदायी कर्मबन्ध का निरोध हो जाता है। इसका नाम विशुद्धि-लब्धि है।

३. छह द्रव्य, नव पदार्थ का उपदेश करनेवाले आचार्य आदि की उपलब्धि होना

---

१. जो बोधिं क० २. क्षयसम्यक्त्वरूपां क०

मावधःप्रवृत्तिकरणः। अपूर्वापूर्वशुद्धतराः करणाः परिणामा यस्मिन् कालविशेषे स्युरसावपूर्वकरणः परिणामः। एकसमयप्रवर्त्तमानानां जीवनां परिणामैर्न विद्यते निवृत्तिर्भेदो यत्र सोऽनिवृत्तिकरण इति। एवं क्रियां कृत्वा-ऽनंतानुबंधिक्रोधमानमायालोभप्रकृतीनां सम्यक्त्वसम्यङ्मिथ्यात्वमिथ्यात्वप्रकृतीनां चोपशमादुपशमसम्यक्त्व-बोधिर्भवति। तथा तासामेव सप्तप्रकृतीनां क्षयोपशमात् क्षायोपशमिकसम्यक्त्वबोधिर्भवति। तथा तासामेव सप्तानां प्रकृतीनां क्षयात् क्षायिकसम्यक्त्वं भवति। एवमतिदुर्लभतरां त्रिप्रकारां बोधिं लब्ध्वा भव्यपुण्डरीको भव्योत्तमस्तपसा संयमेन च युक्तोऽक्षयसौख्यं तनो लभते सर्वद्वन्द्वविनिर्मुक्तः सिद्धिमधितिष्ठतीति यतो बोध्यां सर्वोऽपि जीवः सिद्धिं लभते ॥७६२॥

तम्हा अहमवि णिच्चं सद्धासंवेगविरियविणएहिं।
अत्ताणं तह भावे जह सा बोही हवे सुइरं ॥७६३॥

अथवा उनके द्वारा उपदिष्ट पदार्थों को ग्रहण करने, धारण करने और उनके विषय में विचार करने की शक्ति का होना देशनालब्धि है।

४. सर्वकर्मों की उत्कृष्ट स्थिति और उत्कृष्ट अनुभाग को घटाकर उनका अन्तः कोटा-कोटी सागर में स्थापन कर द्विस्थानरूप—(लता दारु रूप) अनुभाग स्थान करना प्रायोग्य-लब्धि है।

५. पाँचवीं करणलब्धि है। उसके तीन भेद हैं—अधःप्रवृत्तिकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण।

ऊपर में स्थित परिणामों से अधःस्थित परिणामों की समानता और अधःस्थित परिणामों से ऊपर स्थित परिणामों की समानता जिस अवस्था विशेष के समय होती है उस काल में अधःप्रवर्तन होने से अधःप्रवृत्तिकरण कहते हैं। जिस काल में अपूर्व-अपूर्व शुद्धतर करण-परिणाम होते हैं वह अपूर्वकरण परिणाम है। एक समय में प्रवृत्त हुए जीवों के परिणामों में भेद नहीं होता है उसे अनिवृत्तिकरण कहते हैं।

इस प्रकार तीन करण रूप क्रिया करके अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ इन चार प्रकृतियों तथा सम्यक्त्व, सम्यग्मिथ्यात्व और मिथ्यात्व इन तीन प्रकृतियों के—ऐसी सात प्रकृतियों के उपशम से उपशमसम्यक्त्व बोधि होती है। इन सातों प्रकृतियों के क्षयो-पशम से क्षयोपशमसम्यक्त्व बोधि होती है तथा इन्हीं सात प्रकृतियों के क्षय से क्षायिक-सम्यक्त्व लब्धि होती है।

इस तरह अति दुर्लभतर तीन प्रकार की बोधि को प्राप्त करके जो भव्योत्तम तप-श्चरण और संयम से युक्त हो जाता है वह भव्य उस चारित्र के प्रसाद से अक्षय सौख्य प्राप्त कर लेता है। अर्थात् वह जीव सर्वद्वन्द्व से रहित होकर सिद्धिपद को प्राप्त कर लेता है; क्योंकि बोधि से ही सभी जीव सिद्ध होते हैं, बिना बोधि के नहीं।

अब आचार्य अपनी भावना व्यक्त करते हैं—

गाथार्थ—इसलिए मैं भी श्रद्धा, संवेग, शक्ति और विनय के द्वारा उस प्रकार से आत्मा की भावना करता हूं कि जिस प्रकार से वह बोधि चिरकाल तक बनी रहे ॥७६३॥

यस्मादेवंविशिष्टा बोधिस्तस्मादहमपि नित्यं सर्वकालं श्रद्धा मानसिकः[1] शासनानुरागः, संवेगो धर्मधर्मफलविषयादनुरागः वीर्यं वीर्यान्तरायक्षयोपशमजनितशक्तिः, विनयो मनोवाक्कायानामनुद्धतिर्नम्रता तैरात्मानं तथा भावयामि यथाऽसौ बोधिर्भवेत्सुचिरं सर्वकालमिति ॥७६३॥

किमर्थं बोधिर्भाव्यत इत्याशंकायामाह—

बोधीय जीवदव्वादियाइं बुज्झइ हु णव वि तच्चाइं ।
गुणसयसहस्सकलियं एवं बोहिं सया झाहि ॥७६४॥

यतो बोधिमवाप्य जीवाजीवास्रवपुण्यपापबंधसंवरनिर्जरामोक्षाः पदार्था द्रव्याणि अस्तिकायाश्च तत्त्वानि च बुध्यंते बोध्या वा बुध्यंते ततो गुणशतसहस्र[2]कलितामेवंभूतां बोधिं सदा सर्वकालं ध्याय भावयेति ॥७६४॥

द्वादशानुप्रेक्षामुपसंहर्तुकामः प्राह—

दस दो य भावणाओ एवं संखेवदो समुद्दिट्ठा ।
जिणवयणे दिट्ठाओ बुहजणवेरग्ग[3]जणणीओ ॥७६५॥

एवं दश द्वे चानुप्रेक्षा भावनाः संक्षेपतः समुपदिष्टाः प्रतिपादिता जिनवचने यतो दृष्टा नान्यत्रानेन

आचारवृत्ति—जिस कारण से यह बोधि इतनी विशेष है उससे मैं भी सर्वकाल, मन के द्वारा होनेवाली जिन शासन के अनुरागरूप श्रद्धा से धर्म और धर्मफल के विषय में अनुराग-रूप संवेग से, वीर्यांतराय के क्षयोपशम से होनेवाली शक्तिविशेषरूप वीर्य से और मनवचन-काय को नम्रतारूप विनय से आत्मा को भावना उस प्रकार करता हूँ कि जिस से यह बोधि सर्वकाल तक बनी रहे।

किसलिए बोधि की भावना करनी ? सो ही बताते हैं—

गाथार्थ—बोधि से जीव पुद्गल आदि छह द्रव्य तथा अजीव आदि नव तत्त्व (पदार्थ) जाने जाते हैं। इस तरह हजारों गुणों से सहित बोधि का सदा ध्यान करो ॥७६४॥

आचारवृत्ति—जिस कारण से बोधि को प्राप्त करके जीव, अजीव, आस्रव, पुण्य, पाप, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये नव पदार्थ; जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये छह द्रव्य; जीवास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्ति-काय ये पाँच अस्तिकाय तथा जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्व जाने जाते हैं, इसी हेतु लाखों गुणों से युक्त इस प्रकार की बोधि की तुम सर्वकाल भावना करो—चिन्तवन करो। यह बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा हुई।

द्वादशानुप्रेक्षा का उपसंहार करते हुए कहते हैं—

गाथार्थ—इस प्रकार संक्षेप में द्वादश भावना कही गयी हैं जोकि जिनवचन में विद्वानों के वैराग्य की जननी मानी गई हैं ॥७६५॥

आचारवृत्ति—इस तरह ये बारह भावनायें संक्षेप में जिनागम में प्रतिपादित की गयी हैं, अर्थात् ये जैन शासन में ही देखी जाती हैं। अन्यत्र (अन्य सम्प्रदाय में) नहीं हैं। इस कथन से

---

१. मानसा क० २. शतसहस्रैः कलितां युक्तां क० ३. बुधजन-वैराग्य क०

प्रामाण्यं ख्यापितं तासां स्यात्, बुधजनानां वैराग्यस्य जनन्यो वैराग्यकारिण्योऽनेन रागाभावश्च ख्यापितः श्रुतस्य भवतीति ॥७६५॥

अनुप्रेक्षाभावने कारणमाह—

अणुवेक्खाहिं एवं जो अत्ताणं सदा विभावेदि ।
सो विगदसव्वकम्मो विमलो विमलालयं लहदि ॥७६६॥

एवमनुप्रेक्षाभिरात्मानं यः सदा भावयेद्योऽभवेत्सः पुरुषो विगतसर्वकर्मा विमलो भूत्वा विमलालयं मोक्षस्थानं लभते प्राप्नोतीति ॥७६६॥

द्वादशानुप्रेक्षावसाने कृतकृत्य आचार्यः परिणामशुद्धिमभिदधन्मंगलं फलं वा वाञ्छन्नाह—

झाणेहिं खवियकम्मा मोक्खग्गलमोडया विगयमोहा ।
ते मे तमरयमहणा तारंतु भवाहि लहुमेव ॥७६७॥

य इमा अनुप्रेक्षा भावयित्वा सिद्धि गतास्ते ध्यानैः क्षपितकर्माणो मोक्षार्गलच्छेदका विगतचारित्र-मोहास्तमोरजोमथना मिथ्यात्वमोहनीयज्ञानावरणादिविनाशकास्तारयन्तु भवात्संसाराच्छीघ्रमेवास्मानिति ॥७६७॥

पुनरप्यनुप्रेक्षां याचमानः प्राह—

इनकी प्रमाणता बतायी गयी है। ये भावनाएँ बुधजनों में वैराग्य को उत्पन्न करनेवाली होने से वैराग्य की जननी मानी गयी हैं। इस कथन से श्रुत—जिनागम में, रागाभाव ही ख्यापित किया गया है, ऐसा समझना।

अनुप्रेक्षा की भावना करने में कारण बताते हैं—

गाथार्थ—इन अनुप्रेक्षाओं के द्वारा जो हमेशा आत्मा की भावना करता है वह सर्व-कर्म से रहित निर्मल होता हुआ विमलस्थान को प्राप्त कर लेता है ॥७६६॥

आचारवृत्ति—इन अनुप्रेक्षाओं के द्वारा जो पुरुष अपनी आत्मा का चिन्तवन करता है वह सर्वकर्मों से रहित निर्मल होकर मोक्षस्थान प्राप्त कर लेता है।

द्वादश अनुप्रेक्षा के अन्त में कृतकृत्य हुए आचार्य परिणामशुद्धि को धारणा करते हुए मंगल व फल की चाह करते हैं—

गाथार्थ—जो ध्यान से कर्म का क्षय करनेवाले हैं, मोक्ष को अर्गला के खोलनेवाले हैं, मोह रहित हैं, तम और रज का मंथन करनेवाले हैं, वे जिनेन्द्रदेव हमें संसार से शीघ्र ही पार करें।

आचारवृत्ति—जो इन अनुप्रेक्षाओं का चिन्तन करके सिद्धि को प्राप्त हुए हैं वे ध्यान से कर्मों का क्षपण करनेवाले हैं, मोक्ष के कपाट को अर्गला—सांकल के खोलनेवाले हैं, चारित्र-मोह से रहित हो चुके हैं, तम—मिथ्यात्व मोहनीय, रज—ज्ञानावरण आदि कर्म का विनाश करनेवाले हैं। वे महापुरुष इस संसार-सागर से हमें शीघ्र ही तारें।

पुनरपि अनुप्रेक्षा की याचना करते हुए कहते हैं—

जह मज्झ तह्यि काले विमला अणुपेहणा भवेज्जहू ।
तह सव्वलोगणाहा विमलगदिगदा पसीदंतु ।।७६८।।

यथा येन प्रकारेण मम तस्मिन्नंतकाले विमला अनुप्रेक्षा द्वादशप्रकारा भवेयुस्तथा ते सर्वलोकनाथा विमलगतिं गताः प्रसीदन्तु प्रसन्ना भवन्तु द्वादशानुप्रेक्षाभावनां मम दिशन्त्विति ।।७६८।।

इति श्रीमद्वट्टकेराचार्यवर्यविनिर्मितमूलाचारे वसुनन्द्याचार्यप्रणीतटीकासहिते
द्वादशानुप्रेक्षकनामाऽष्टमः परिच्छेदः समाप्तः ।

गाथार्थ—जिस तरह अन्तकाल में ये विमल अनुप्रेक्षाएँ मुझे होवें उसी तरह विमल गति को प्राप्त हुए सर्वलोक के नाथ मुझ पर प्रसन्न होवें ।।७६८।।

आचारवृत्ति—जिस प्रकार से मेरे अन्तकाल में ये निर्मल अनुप्रेक्षायें मुझे प्राप्त होवें, उसी प्रकार से विमल स्थान को प्राप्त हुए तीन लोक के नाथ मुझ पर प्रसन्न होवें अर्थात् द्वादश अनुप्रेक्षा की भावना मुझे प्रदान करें। अर्थात् जिनेन्द्रदेव के प्रसाद से ये अनुप्रेक्षायें मुझे प्राप्त हों।

इस प्रकार वसुनन्दि आचार्य प्रणीत टीका सहित श्री वट्टकेराचार्यवर्यविनिर्मित
मूलाचार में द्वादश-अनुप्रेक्षा-कथन नामक आठवाँ परिच्छेद समाप्त हुआ।

अनगारभावनाधिकारः

अनगारभावनाख्यं नवममधिकारं[1] व्याख्यातुकामस्तत्रादौ शुभपरिणामनिमित्तं मंगलमाह—

वंदित्तु जिणवराणं तिहुयणजयमंगलोववेदाणं।
कंचणपियंगुविद्दुमघणकुंदमुणालवण्णाणं ॥७६९॥

जिनवरान् वंदित्वा, किंविशिष्टान्? त्रिभुवने या जयश्रीर्यच्च मंगलं सर्वकर्मदहनसमर्थं पुण्यं ताभ्यामुपेतास्तत्र स्थितास्तांस्त्रिभुवनजयमंगलोपेतान् प्रकृष्टश्रिया युक्तान् सर्वकल्याणभाजनांश्च। पुनरपि

अनगार भावना नामक नवम अधिकार का व्याख्यान करने के इच्छुक आचार्य सबसे प्रथम शुभ परिणाम निमित्त मंगलसूत्र कहते हैं—

गाथार्थ—सुवर्ण, शिरीषपुष्प, मूंगा, धन, कुन्दपुष्प और कमलनाल के समान वर्णवाले त्रिभुवन में जय और मंगल से युक्त ऐसे तीर्थंकरों को नमस्कार करके, मैं अनागार भावना को कहूँगा ॥७६९॥

आचारवृत्ति—त्रिभुवन में जो जयश्री और जो मंगल है, अर्थात् सम्पूर्ण कर्मों को दहन करने में समर्थ पुण्य अर्थात् शुद्धोपयोग रूप परिणाम है उससे एवं जो इन जयलक्ष्मी और मंगल से सहित हैं, उसमें स्थित हैं वे त्रिभुवन के जयमंगल से युक्त हैं। अर्थात् जो प्रकृष्टलक्ष्मी से

1. फलटन से प्रकाशित मूलाचार में 'अनगार भावना' यह आठवाँ अधिकार है और 'द्वादशानुप्रेक्षा' यह नवम अधिकार है।

फलटन से प्रकाशित मूलाचार में इस गाथा का प्रथम, द्वितीय चरण बदला हुआ है। यथा—

णमिऊण जिणवरिन्दे तिहुवणवरणाणदंसण-पदीवे।
कंचणपियंगु-विद्दुम-घणकुन्दमुणालवण्णाणं ॥

—जो अपने अनन्तज्ञानदर्शनरूप दीपक से त्रिभुवन को प्रकाशित करनेवाले हैं, जिनके देह का वर्ण सुवर्ण, शिरीष, मूंगा, कुन्दपुष्प औम कमलनाल के समान है, ऐसे वृषभादि चौबीस तीर्थंकरों का वन्दन करके—

फलटन से प्रकाशित मूलाचार में यह गाथा अधिक है—

णाणज्जोवयराण लोगालोगह्मि सव्वदव्वाणं।
खेत्तगुणकालपज्जय विजाणगाणं पणमियाणं ॥

—जो सर्वजगत् में ज्ञान के उद्योत को धारण करते हैं, जो सर्व जीवादि द्रव्यों के क्षेत्र, काल और पर्यायों को जानते हैं, ऐसे गणधरों में श्रेष्ठ चौबीस तीर्थंकरों को वन्दन कर चक्रवर्ती आदि से वन्दनीय सर्वपरिग्रहरहित महर्षियों के भावना निमित्त मैं अनगार सूत्र को कहूँगा।

किंविशिष्टान् ? कांचनं सर्वाधिकं सुवर्णं, प्रियंगुः शिरीषपुष्परूपद्रव्यकान्तिः विद्रुमः प्रवालद्रव्यं सुरमणीय-रक्तभावद्रव्यं, घनः सुष्ठुः रम्यनवजलधरः, कुन्दो रमणीयपुष्पविशेषः मृणालं सुरम्यपद्मकोमलनालं[1] एतेषां वर्णवद्वर्णं येषां ते कांचनप्रियंगुप्रवालघनकुन्दमृणालवर्णास्तान् कांचनप्रियंगुप्रवालघनकुन्दमृणालवर्णान् । अर्हता-मुपादानाय वर्णविशेषणमुपात्तं, नामस्थापनाद्रव्यजिनपरिहाराय भावजिनोपादानाय चावशेषविशेषणम् । उत्तरसूत्रे वक्ष्यामीति क्रिया तिष्ठति तया सह संबंधः । क्रियासापेक्षं नमस्कारकरणं नित्यक्षणिकयोगचार्वाक-मीमांसकैकान्तनिराकरणार्थं चेति ।

अनगारभावनासूत्रार्थं प्रतिज्ञामाह—

अणयारमहरिसीणं णाइंदणरिंदइंदमहिदाणं ।
वोच्छामि विविहसारं भावणसुत्तं गुणमहंतं ।।७७०।।

युक्त हैं और सर्वकल्याण के भाजन हैं। पुनः वे कैसे हैं ? वे सबसे श्रेष्ठ सुवर्ण वर्णवाले हैं, प्रियंगु—शिरीषपुष्प की कान्तिवाले हैं, विद्रुम—प्रवाल-द्रव्य अथवा पद्मराग मणि की कान्तिवाले हैं, घन—अतिशय सुन्दर नवीन मेघ के वर्णवाले हैं, कुन्द—रमणीय कुन्दपुष्प सदृश वर्णवाले हैं, मृणाल—सुरम्य कमल की कोमलनाल सदृश हैं, अर्थात् इनके वर्ण के समान जिनका वर्ण है वे जिनेन्द्र कांचन, प्रियंगु, प्रवाल, घन, कुन्द, मृणाल वर्णवाले हैं। तीर्थंकर अर्हंतों को ग्रहण करने के लिए इन वर्ण विशेषणों को लिया है। तथा नाम-जिन, स्थापना-जिन और द्रव्य-जिन का परिहार करने के लिए और भाव-जिन को ग्रहण करने के लिए बाकी विशेषण हैं। अगले सूत्र में 'वक्ष्यामि' यह क्रिया है उसके साथ यहाँ पर सम्बन्ध करना। अर्थात् क्रियासापेक्ष नमस्कार किया गया है जोकि नित्यवादी सांख्य, क्षणिक, बौद्ध, योग, चार्वाक और मीमांसकों के एकान्त का निराकरण करने के लिए है।

भावार्थ—यहाँ पर जो तीर्थंकरों के शरीर के वर्ण का वर्णन है उसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—चन्द्रप्रभ, पुष्पदन्त इन दो तीर्थंकरों का देहवर्ण कुन्दपुष्प, चन्द्रपुष्प, चन्द्रमा, बर्फ या हार के समान था। सुपार्श्व और पार्श्वनाथ का वर्ण इन्द्रनील मणि के समान था। पद्मप्रभ और वासुपूज्य तीर्थंकरों का वर्ण बन्धूक पुष्पवर्ण अर्थात् लालवर्ण था। मुनिसुव्रत और नेमिनाथ का वर्ण प्रियंगुपुष्प—कृष्णवर्ण था। और शेष सोलह तीर्थंकरों का देहवर्ण सुवर्ण के समान था।[2] यह स्तवन द्रव्य निक्षेप रूप है चूंकि शरीर के आश्रित है। बाकी के तीनलोक के जय और मंगल से युक्त—यह विशेषण भाव निक्षेप की अपेक्षा है।

अनगार भावना सूत्र हेतु प्रतिज्ञा करते हैं—

गाथार्थ—नागेन्द्र, नरेन्द्र और इन्द्रों से पूजित अनगार महर्षियों के निमित्त गुणों से श्रेष्ठ विविध सारभूत ऐसे भावनासूत्र को मैं कहूँगा ।।७७०।।

---

१. कोमल-पद्मनालं क०

२. द्वौ कुन्देन्दुतुषारहारधवलौ द्वाविन्द्रनीलप्रभौ,
द्वौ बंधूकसमप्रभौ जिनवृषौ, द्वौ च प्रियंगुप्रभौ ।
शेषाः षोडश जन्ममृत्युरहिताः संतप्तहेमप्रभाः,
ते सज्ज्ञानदिवाकराः सुरनुताः सिद्धिं प्रयच्छन्तु नः ।।

न विद्यतेऽगारं गृहं स्त्र्यादिकं येषां तेऽनगारास्तेषामनगाराणां महान्तश्च ते ऋषयश्च महर्षयः सम्यगृद्धिप्राप्तास्तेषां महर्षीणां, नागेन्द्रनरेन्द्रेन्द्रमहितानां श्रीपार्श्वनाथसंजयंताद्युपसर्गनिवारणेन प्राधान्यान्नागेन्द्रस्य पूर्वनिपातोऽथवा बहूनां नियमो नास्ति, मोक्षार्हत्वात्तदनन्तरं नरेन्द्रस्य ग्रहणं, पश्चाद्-व्यन्तरादीनां ग्रहणमेतैर्ये पूजितास्तेषामनगाराणां भावनानिमित्तं विविधसारं सर्वशास्त्रसारभूतं सूत्रं गुणैर्महद्वक्ष्यामि, अर्हतः प्रणम्यानगारभावनासूत्रं वक्ष्यामीति सम्बन्धः ॥७७०॥

स्वकृतप्रतिज्ञानिर्वहणाय दश संग्रहसूत्राण्याह—

लिंगं वदं च सुद्धी वसदिविहारं च भिक्ख णाणं च।
उज्झणसुद्धी य पुणो वक्कं च तवं तधा झाणं ॥७७१॥

लिंगं निर्ग्रन्थरूपता शरीरस्य सर्वसंस्काराभावोऽचेलकत्वलोचप्रतिलेखनग्रहणदर्शनज्ञानचरित्रतपोभावश्च, व्रतान्यहिंसादीनि। शुद्धिशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते, लिंगस्य शुद्धिर्लिंगशुद्धिर्लिंगानुरूपाचरणं व्रतानां शुद्धिर्व्रतशुद्धिर्निरतीचारता। अत्र प्राकृतलक्षणेन षष्ठ्यर्थे प्रथमानिर्देशः कृतः। वसतिः स्त्रीपशुपांडकाभावोप-

---

आचारवृत्ति—अगार—गृह और स्त्री आदि जिनके नहीं हैं वे अनगार हैं। उन अनगारों में जो महान् हैं वे ऋषि महर्षि कहलाते हैं। वे समीचीन ऋद्धियों से सहित होते हैं। वे महर्षिगण नागेन्द्र, नरेन्द्र और इन्द्रों से पूजित हैं। यहाँ पर समास में 'नागेन्द्र' पद पहले रखा है। उसका हेतु यह है कि श्री पार्श्वनाथ व सन्जयन्त मुनि आदि के उपसर्ग निवारण से नागेन्द्र प्रधान करके उसका पूर्व में निपात किया है। अथवा बहुत से पदों में नियम नहीं रहता है। मोक्ष के लिये योग्य होने से उसके बाद में 'नरेन्द्र' पद को रखा है। पश्चात् व्यन्तर आदि के इन्द्रों को ग्रहण किया गया है। इन धरणेन्द्र, नरेन्द्र और इन्द्रों से जो पूजित हैं उन अनगारों की भावना के लिए सर्व शास्त्रों में सारभूत, गुणों से विशाल ऐसे अनगार सूत्र को मैं कहूँगा। यहाँ पर पूर्वगाथा से सम्बन्ध करना, अतः अर्हन्तों को प्रणाम करके मैं अनगार भावना को कहूँगा, ऐसा समझना।

स्वकृत प्रतिज्ञा के निर्वाह हेतु दश संग्रह सूत्रों को कहते हैं—

गाथार्थ—लिंग शुद्धि, व्रत शुद्धि, वसति, विहार, भिक्षा, ज्ञान और उज्झन शुद्धि तथा वाक्य, तप और ध्यान शुद्धि ये दश अनगार भावना सूत्र हैं ॥७७१॥

आचारवृत्ति—शुद्धि शब्द का प्रत्येक के साथ सम्बन्ध कर लेना चाहिए। अतः यहाँ लिंग शुद्धि आदि दश सूत्रों का वर्णन है।

१. लिंगशुद्धि—लिंग के अनुरूप आचरण करना लिंगशुद्धि है। लिंगनिर्ग्रंथरूपता, शरीर के सर्वसंस्कार का अभाव होना। अचेलकत्व, लोच, पिच्छिकाग्रहण और दर्शन, ज्ञान, चरित्र एवं तप की भावना यह लिंग है।

२. व्रतशुद्धि—व्रतों को निरतिचार पालना व्रतशुद्धि है। अहिंसा आदि पाँच व्रत कहलाते हैं।

३. वसतिशुद्धि—स्त्री, पशु और नपुसंक से रहित प्रदेश जोकि परम वैराग्य का

---

* इस मूलाचार में ७७५, ७७६ नम्बर पर जो गाथायें हैं उन्हें फलटन से प्रकाशित मूलचार में इसके पहले लिया है।

लक्षितप्रदेशः परमवैराग्यकारणस्थानं। विहारोऽनियतवासो दर्शनादिनिर्मलीकरणनिमित्तं सर्वदेशविहरणं। भिक्षा चतुर्विधाहारः। ज्ञानं यथावस्थितवस्त्ववगमो मत्यादिकं। उज्झनं परित्यागः शरीराद्यममत्वं। शुद्धिशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते। वसतिशुद्धिर्विहारशुद्धिर्भिक्षाशुद्धिर्ज्ञानशुद्धिरुज्झनशुद्धिः। अत्रापि प्राकृतलक्षणे षष्ठ्यर्थे प्रथमा। पुनरपि च वाक्यं स्त्रीकथादिविरहितवचनं। तपः पूर्वसंचितकर्ममलशोधनसमर्थानुष्ठानं। तथा ध्यानं शोभनविधानेनैकाग्रचिन्तानिरोधनं। अत्रापि शुद्धिर्द्रष्टव्या चशब्दात्सर्वेऽपि स्वगतसर्वभेदसंग्रहणार्था द्रष्टव्या इति ॥७७१॥

एतेषां सूत्राणां पाठे प्रयोजनमाह—

एवमणयारसुत्तं दसविध[1]पद विणयअत्थसंजुत्तं।
जो पढइ भत्तिजुत्तो तस्स पणस्संति पावाइं ॥७७२॥

एतान्यनगारसूत्राणि दशविधपदानि दशप्रकाराधिकारनिबद्धानि नवैकादशसंख्यानि न भवन्ति,

---

कारण स्थान है वह वसति है। ऐसी वसति में रहना वसतिशुद्धि है। यहाँ गाथा में प्राकृत व्याकरण से षष्ठी अर्थ में प्रथमा विभक्ति का निर्देश है। अतः विहार आदि शब्द प्रथमान्त दिख रहे हैं।

४. विहारशुद्धि—अनियतवास का नाम विहार है। सम्यग्दर्शन आदि को निर्मल करने के लिये सर्वदेश में विहार करना विहारशुद्धि है।

५. भिक्षाशुद्धि—चार प्रकार के आहार का नाम भिक्षा है। उसकी शुद्धि—छियालीस दोष आदि रहित आहार लेना भिक्षाशुद्धि है।

६. ज्ञानशुद्धि—यथावस्थित पदार्थों का जानना ज्ञान है जोकि मति आदि के भेद रूप है उसकी शुद्धि ज्ञानशुद्धि है।

७. उज्झनशुद्धि—उज्झन—परित्याग। अर्थात् शरीर आदि से ममत्व का त्याग करना उज्झन शुद्धि है।

८. वाक्यशुद्धि—स्त्री-कथा आदि से रहित वचन बोलना वाक्यशुद्धि है।

९. तपशुद्धि—पूर्व संचित कर्ममल के शोधन में समर्थ ऐसा अनुष्ठान करना तप है। अर्थात् बारह प्रकार के तप का आचरण करना तपशुद्धि है।

१०. ध्यानशुद्धि—शोभन विधान पूर्वक एकाग्रचिंता का निरोध करना ध्यान है। उसकी शुद्धि ध्यानशुद्धि है।

गाथा में 'च' शब्द के आने से ये दशों भेद भी अपने-अपने भेदों से सहित हैं, ऐसा समझना। आगे आचार्य स्वयं इन शुद्धियों का विस्तृत विवेचन करेंगे।

इन सूत्रों के पाठ में प्रयोजन बताते हैं—

गाथार्थ—इन विनय और अर्थ से संयुक्त दश प्रकार के पदरूप अनगार सूत्रों को जो भक्ति सहित पढ़ता है उसके पाप नष्ट हो जाते हैं ॥७७२॥

---

१. दसविह क०।

विनयार्थसंयुक्तानि विनयप्रतिपादकानि सूक्ष्मार्थसंयुक्तानि च यः पठति भक्तियुक्तस्तस्य प्रणश्यन्ति पापानि दुरितानीति ॥७७२॥

पुनरपि सूत्राणां स्तवनमाह[1]—

णिस्सेसदेसिदमिणं सुत्तं धीरजणबहुमदमुदारं।
अणगार[2]भावणमिणं सुसमणपरिकित्तणं सुणह ॥७७३॥

निःशेषदर्शकानीमानि सूत्राणि सर्वशोभनाचारसिद्धांतार्थप्रतिपादकान्येतानि सूत्रपदानि, धीर[3]-जनानां तीर्थंकरगणधरदेवानां बहुमतानि सुष्ठु मतानि बाहुल्येन चाभिमतानि, उदाराणि स्वर्गापवर्गफल-दायकानि, अनगारभावनानीमानि शोभनश्रमणानां परिकीर्तनानि सुसंयतजनकीर्तनव्यापकानि शृणुत हे साधु-जनाः ! बुध्यध्वमिति ॥७७३॥

न केवलमेतानि वक्ष्ये महर्षीणां गुणांश्च वक्ष्यामीत्याह—

णिग्गंथमहरिसीणं अणयारचरित्तजुत्तिगुत्ताणं।
णिच्छिदमहातवाणं वोच्छामि गुणे गुणधराणं ॥७७४॥

निर्ग्रंथमहर्षीणां सर्वग्रन्थविमुक्तयतीनां, अनगारचरित्रयुक्तिगुप्तानां अनगाराणां योऽयं चारित्र-

---

आचारवृत्ति—ये अनगार सूत्र दस प्रकार के अधिकार से निबद्ध हैं। नव अथवा ग्यारह नहीं हैं। ये विनय के प्रतिपादक हैं और सूक्ष्म अर्थ से सहित हैं। जो भव्य भक्ति युक्त होकर इनको पढ़ता है उसके पाप नष्ट हो जाते हैं।

पुनरपि इन सूत्रों का स्तवन करते हैं—

गाथार्थ—ये सूत्र निःशेष शोभनाचार आदि सब सिद्धान्तों के दर्शक हैं, धीर जनों से बहु मान्य हैं, उदार हैं और सुश्रमण की कीर्ति करने वाले हैं। इन अनगार भावनाओं को (श्रृणुत) तुम सुनो। ॥७७३॥

आचारवृत्ति—ये अनगार सूत्र सर्वशोभन आचार-सिद्धान्त-अर्थ के प्रतिपादक हैं। अर्थात् प्रशस्त आचार के प्रतिपादक जो आचार ग्रन्थ हैं उनका अर्थ कहनेवाले हैं। धीरजन-तीर्थंकर, गणधर, देव आदि के लिए अतिशय मान्य हैं या बहुलता से उनके द्वारा स्वीकृत हैं। उदार-स्वर्ग और मोक्ष फल के देनेवाले हैं, सुसंयत जनों के गुणों का व्यापन करने वाले हैं। हे साधुजन ! आप लोग इन अनगार सूत्रों को सुनो और उन्हें समझो।

मैं केवल इन्हें ही नहीं कहूँगा; किन्तु महर्षियों के गुणों को भी नहीं कहूँगा, ऐसा कहते हैं—

गाथार्थ—अनगार के चरित्र से सहित महातप में लगे हुए, गुणों को धारण करनेवाले निर्ग्रंथ महर्षियों के गुणों को मैं कहूँगा ॥७७४॥

आचारवृत्ति—अनगार मुनियों का जो चरित्र योग है, उससे जो संवृत हैं; अर्थात् जो

---

१. सूचनमाह क०। २. अणगार क०। ३. वीर द० क०

योगस्तेन गुप्तानां संवृतानां, निश्चिन्तमहातपसां द्वादशविधतपस्युद्युक्तानां गुणधराणां गुणान् वक्ष्यामीति ॥७७४॥

तावल्लिंगशुद्धि विवेचयन्नाह—

चलचवलजीविदमिणं णाऊण माणुसत्तणमसारं ।
णिव्विण्णकामभोगा धम्मम्मि उवट्ठिदमदीया ॥७७५॥

चलमस्थिरं प्रतिसमयं विनश्वरं, चपलं सोपघातं (विद्युत्स्फुरणमिवाविदितस्वरूपं, जीवितं प्राणधारणं चलचपलजीवितं)[1] आवीचीतद्भवस्वरूपेणायु:क्षयरूपमिदं ज्ञात्वा, मनुष्यत्वं मनुष्यजन्मस्वरूपं, असारं परमार्थरहितं[2], निर्विण्णकामभोगा: स्वेष्टवस्तुसमीहा काम उपभोग: स्त्र्यादिक:, भोग: सकृत्सेवितस्य पुनरसेवनं[3] तांबूलकुंकुमादि तद्विषयो निर्वेदोऽनभिलाषो येषां ते निर्विण्णकामभोगा:, धर्मे चारित्रे नैर्ग्रन्थ्यादिरूप उपस्थितमतिका गृहीताचेलकत्वस्वरूपा इत्यर्थ:, तात्पर्येण नैर्ग्रन्थ्यस्वरूपप्रतिपादनमेतदिति ॥७७५॥

पुनरपि तत्स्वरूपमाह—

मुनियों के चरित्र में निष्णात हैं, जो बारह तप में उद्यमशील हैं, ऐसे सर्वग्रंथ-परिग्रह से रहित गुणधर संयतों के गुणों का मैं वर्णन करूँगा।

अब पहले लिंग शुद्धि का वर्णन करते हैं—

गाथार्थ—यह जीवन बिजली के समान चंचल है व मनुष्य पर्याय असार है, ऐसा जानकर काम भोगों से उदास होते हुए धर्म में बुद्धि को स्थिर करो ॥७७५॥

आचारवृत्ति—यह मनुष्य जन्म चल—अस्थिर है। प्रति समय विनश्वर है, चपल, बाधा सहित है, बिजली के चमकने के समान है, चंचलता के कारण इसका स्वरूप भी नहीं जाना जा सकता है, ऐसा यह जीवन चल और चपल है। प्राणों को धारण करना जीवन है और आयु का क्षय हो जाना मरण है। मरण के दो भेद हैं—आवीचीमरण और तद्भवमरण। प्रति समय आयु के निषेकों का उदय में आकर झड़ना आवीचीमरण है तथा उस भव सम्बन्धी आयु का विनाश होना तद्भव मरण है। प्रतिक्षण इन दो प्रकार के मरण रूप से आयु का क्षय हो रहा है, ऐसा यह मनुष्य जन्म परमार्थ रहित होने से असार है। अपनी इष्ट वस्तु की इच्छा होना काम है और भोग के भोग-उपभोग, ऐसे दो भेद करने से स्त्री आदि तो उपभोग सामग्री हैं और तांबूल कुंकुम आदि भोग हैं। जिनका एक बार सेवन करने के बाद पुन: सेवन न हो सके वह भोग है। जिनका पुन: पुन: सेवन हो सके वे उपभोग हैं। मनुष्य जन्म को चल-चपल और असार जानकर इन काम भोगों में अभिलाषा नहीं करना तथा धर्म-निर्ग्रन्थ अवस्था रूप चारित्र में बुद्धि का लगाना अर्थात् नग्न दिगम्बर मुद्रा को धारण करना चाहिए। इस गाथा में तात्पर्य से नैर्ग्रन्थ्य स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है।

पुनरपि उसका स्वरूप कहते हैं—

---

१. कोष्ठकान्तर्गत: पाठ: द प्रतौ नास्ति विद्युत्स्फुरणवदेवविदित स्वरूपं क०।
२. अपरमार्थ रूपं द०। ३. पुनरप्यसेवनं क०।

णिम्मालियसुमिणाविय धणकणयसमिद्धबंधवजणं च ।
पयहंति वीर[1]पुरिसा विरत्तकामा गिहावासे ॥७७६॥

निर्माल्यसुमनस इवोपभोगितपुष्पनिचयमिव धनं गोऽश्वमहिष्यादिकं कनकं सुवर्णादिकं[2] ताभ्यां समृद्धमाढ्यं धनकनकसमृद्धं बांधवजनं स्वजनपरिजनादिकं परित्यजन्ति गृहवासविषये विरक्तचित्ताः सन्तः । यथा शरीरसंस्पृष्टं पुष्पादिकमकिंचित्करं त्यज्यते तथा धनादिसमृद्धमपि बंधुजनं धनादिकं चाथवा गृहवासं चेति संबंधः परित्यजन्तीति ॥७७६॥

एवं नैर्ग्रन्थ्यं गृहीत्वा तद्विषयां शुद्धिमाह—

जम्मणमरणुव्विग्गा भीदा संसारवासमसुभस्स ।
रोचंति जिणवरमदं पावयणं वड्ढमाणस्स ॥७७७॥

जन्ममरणेभ्यः सुष्ठूद्विग्ना निर्विण्णा भवत्रस्तहृदयाः संसारवासे यदशुभं दुःखं तस्माच्च भीताः सन्तः पुनर्ये रोचंते समिच्छन्ति जिनवरमतं प्रवचनं, रोचते वा मतं मुनिभ्यो वृषभादीनां जिनवराणां, मतं वर्द्धमानभट्टारकस्य प्रवचनं द्वादशांगचतुर्दशपूर्वस्वरूपं समिच्छंतीति ॥७७७॥

तथा—

पवरवरधम्मतित्थं जिणवरवसहस्स वड्ढमाणस्स ।
तिविहेण सद्दहंति य णत्थि इदो उत्तरं अण्णं ॥७७८॥

गाथार्थ—गृहवास विरक्त हुए वीर पुरुष उतारी हुई माला के समान धन सुवर्ण से समृद्ध बांधव जन को छोड़ देते हैं। ॥७७६॥

आचारवृत्ति—उपभोग में ली गयी माला निर्माल्य कहलाती है। जैसे उस पहनी हुई पुष्पमाला को लाग छोड़ देते हैं, वैसे ही गो महिष आदि धन और सुवर्ण आदि से सम्पन्न हुए स्वजन-परिजन आदि को गृहवास से विरक्त-मना पुरुष छोड़ देते हैं। अर्थात् शरीर से स्पर्शित हुए पुष्पादि अकिंचित्कर हो जाने से छोड़ दिये जाते हैं वैसे ही संसार से विरक्त हुए मनुष्य धन आदि से समृद्ध भी बन्धुजनों को अथवा गृहवास को छोड़ देते हैं।

इस प्रकार निर्ग्रन्थरूप को ग्रहण कर उस विषयक शुद्धि को कहते हैं—

गाथार्थ—जो जन्म-मरण से उद्विग्न हैं, संसारवास में दुःख से भयभीत हैं, वे जिनवर के मतरूप वर्धमान के प्रवचन का श्रद्धान करते हैं। ॥७७७॥

आचारवृत्ति—जो जन्म और मरण से अतिशय उद्विग्न हो चुके हैं, अर्थात् जिनका हृदय भव से त्रस्त हो चुका है, जो संसारवास के अशुभ दुःखों से भयभीत हैं, जो वृषभ आदि जिनवरों के मत की रुचि करते हैं और जो द्वादशांग, चतुर्दशपूर्व स्वरूप वर्धमान भट्टारक के प्रवचन की इच्छा करते हैं। उसी प्रकार से—

गाथार्थ—जो जिनवर, वृषभदेव और वर्धमान के श्रेष्ठ धर्मतीर्थ का मन-वचन-काय से श्रद्धान करते हैं। क्योंकि इससे श्रेष्ठ अन्य तीर्थ नहीं है ॥७७८ ॥

---

1. धीर क०। 2. रूप्यसुवर्णादिकं क०।

प्रवराणां वरं प्रवरवरं श्रेष्ठादपि श्रेष्ठं धर्मतीर्थं जिनवरवृषभस्य वर्द्धमानस्य चतुर्विंशतितीर्थंकरस्य त्रिप्रकारेण मनोवचनकायशुद्ध्या श्रद्दधति भावयन्ति। इत ऊर्ध्वं नास्त्यन्यदिति कृत्वास्माद्वर्द्धमानतीर्थंकर-तीर्थादन्यत्तीर्थं नास्ति यतोऽनया लिंगशुद्ध्या सम्यग्दर्शनशुद्धिर्ज्ञानशुद्धिश्च व्याख्यातेति ॥७७८॥

तपःशुद्धिस्वरूपं निरूपयन्नाह—

उच्छाहणिच्छिदमदी ववसिदववसायबद्धकच्छा य।
भावाणुरायरत्ता जिणपण्णत्तम्मि धम्मम्मि ॥७७९॥

उत्साह उद्योगो द्वादशविधे तपसि तन्निष्ठता तस्मिन्नितान्तं निश्चितमतयस्तत्र कृतादराः[1] व्यवसितव्यवसायाः कृतपुरुषकाराः, बद्धकक्षाः सुसंयमितात्मनः कर्मनिर्मूलनसंस्थापितचेतोवृत्तयः, भावानु-रागरक्ताः परमार्थभूतो योऽयमनुरागोऽर्हद्भक्तिस्तेन रक्ता भाविताः, अथवा भावविषयः पदार्थविषयोऽनुरागो दर्शनं ज्ञानं च ताभ्यां रक्ताः सम्यगेकीभूताः, जिनप्रज्ञप्ते धर्मे भावानुरागरक्तास्तस्मिन् बद्धकक्षाश्चेति ॥७७९॥

चारित्रशुद्धिस्वरूपमाह—

धम्ममणुत्तरमिम कम्ममलपडलपाडयं जिणक्खादं।
संवेगजायसड्ढा गिण्हंति महव्वदा पंच ॥७८०॥

आचारवृत्ति—वृषभदेव और वर्धमान अथवा चौबीस तीर्थंकरों का धर्मतीर्थ श्रेष्ठ स भी श्रेष्ठ होने से प्रवरवर है। मन-वचन-काय की शुद्धि से जो ऐसा श्रद्धान करते हैं—ऐसी भावना भाते हैं। तीर्थंकर वर्धमान के इस तीर्थ से बढ़कर अन्य कोई तीर्थ विश्व में नहीं है, जो ऐसा निश्चय करते हैं उन साधुओं के लिंग शुद्धि होती है। इस लिंग शुद्धि से ही सम्यग्दर्शनशुद्धि और ज्ञानशुद्धि का भी व्याख्यान कर दिया गया है।

तपशुद्धि का स्वरूपनिरूपित करते हैं—

गाथार्थ—उत्साह में बुद्धि को दृढ़ करनेवाले, पुरुषार्थ में प्रयत्नशील व्यक्ति जिनवर कथित धर्म में भावसहित अनुरक्त होते हैं। ॥७७९॥

आचारवृत्ति—जो बारह प्रकार के तप में उत्साही हैं, अर्थात् तपश्चरण के अनुष्ठान में आदर करते हैं, पुरुषार्थ को करनेवाले हैं, जिन्होंने कर्मों को निर्मूल करने में अपने चित्त को स्थापित किया है, जो परमार्थभूत अर्हंत भक्ति से परिपूर्ण हैं, अथवा भाव विषय पदार्थ-विषयक अनुराग रूप जो दर्शन और ज्ञान है उन दर्शन और ज्ञान से अच्छी तरह एकमेक हो रहे हैं, वे मुनि जिनदेव द्वारा प्रतिपादित धर्म में भावपूर्वक अनुरक्त हैं और पुरुषार्थ में कमर कस कर तत्पर हैं, उन्हीं के तपशुद्धि होती है।

चारित्र शुद्धि का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—कर्ममल समूह का नाशक जिनेंद्र द्वारा कथित यह धर्म अनुत्तर है। इस तरह संवेग से उत्पन्न हुई श्रद्धा से सहित मुनि पंच महाव्रतों को ग्रहण करते हैं। ॥ ७८० ॥

---

1. कृतावतारा द०।

धर्ममुत्तमक्षमादिलक्षणमनुत्तरमद्वितीयमिमं कर्ममलपटलपाटनसमर्थं जिनाख्यातं गृह्णन्ति महाव्रतानि च संवेगजातहर्षाः, अथवा धर्मोयं कृत्वा गृह्णन्ति महाव्रतानि पंच । अनेन तात्पर्येण लिंगशुद्धिर्व्याख्याता वेदितव्या ॥७८०॥

कानि तानि महाव्रतानीत्याशंकायां व्रतशुद्धिं च निरूपयंस्तावद्व्रतान्याह—

सच्चवयणं अहिंसा अदत्तपरिवज्जणं च रोचंति ।
तह बंभचेरगुत्ती परिग्गहादो विमुत्ति च ॥७८१।

सत्यवचनं हिंसाविरतिं अदत्तपरिवर्जनं रोचन्ते सम्यगभ्युपगच्छन्ति तथा ब्रह्मचर्यगुप्तिं परिग्रहाद्विमुक्तिं च लिंगग्रहणोत्तरकालं प्रतीच्छन्तीति ॥७८१॥

यद्यपि व्यतिरेकमुखेनावगतः प्राणिवधादिपरिहारस्तथापि पर्यायार्थिकशिष्यप्रतिबोधनायान्वयमाह—

पाणिवह मुसावादं अदत्त मेहुण परिग्गहं चेव ।
तिविहेण पडिक्कंते जावज्जीवं विढजिवीया ॥७८२॥

आचारवृत्ति—ये उत्तम क्षमा आदि लक्षण वाले धर्म अद्वितीय हैं, अर्थात् इनके सदृश अन्य कोई दूसरा धर्म नहीं हैं । ये कर्ममल समूह को नष्ट करने में समर्थ हैं । इस प्रकार से संवेग भाव से जिनको हर्ष उत्पन्न हो रहा है अथवा 'यह धर्म है', ऐसा समझकर जो पाँच महाव्रतों को स्वीकार करते हैं उनके चारित्रशुद्धि होती है । इस तात्पर्य से यहाँ पर लिंगशुद्धि का व्याख्यान हुआ समझना चाहिए । अर्थात् लिंग शुद्धि के अन्तर्गत ही दर्शनशुद्धि, ज्ञानशुद्धि, तपशुद्धि और चारित्रशुद्धि होती है ।[1] पूर्व में संस्कार का अभाव, आचेलक्य, लोच, पिच्छिका ग्रहण और दर्शनज्ञान, चारित्र तथा तप का सद्भाव इसी का नाम लिंग शुद्धि है, ऐसा कहा है । इसीलिए दर्शन आदि शुद्धियाँ उससे अन्तर्भूत हो जाती हैं ।

वे महाव्रत कौन हैं ? ऐसी आशंका होने पर तथा व्रतशुद्धि का निरूपण करते हुए पहले व्रतों को कहते हैं—

गाथार्थ—सत्य वचन, अहिंसा, अदत्त त्याग, ब्रह्मचर्य, गुप्ति और परिग्रह से मुक्ति इन व्रतों की रुचि करते हैं । ॥७८१ ॥

आचारवृत्ति—लिंग ग्रहण के अनन्तर वे मुनि सत्य वचन को, अहिंसा विरति को और अदत्तवस्तु के वर्जन रूप व्रत को स्वीकार करते हैं तथा ब्रह्मचर्य व्रत और परिग्रह के त्याग व्रत को स्वीकार करते हैं ।

यद्यपि व्यतिरेकमुख से प्राणिवध आदि के परिहार का ज्ञान हो गया है तो भी पर्यायार्थिक शिष्यों को प्रतिबोधित करने के लिए अन्वय मुख से कहते हैं ।

गाथार्थ—प्राणिवध, असत्यवचन, अदत्तग्रहण, मैथुन सेवन और परिग्रह इनका दृढ़ बुद्धि वाले पुरुष जीवन पर्यन्त के लिए मन-वचन-काय से त्याग कर देते हैं । ॥७८२ ॥

---

१. गाथा ७७१ की टीका में

प्रतिक्रामंति परित्यजंतीति पृथगभिसंबध्यते, प्राणिवधं परिक्रामन्ति परिहरन्तीत्यर्थः, तथा मृषावादं, अदत्तग्रहणं, मैथुनप्रसंगं, परिग्रहं च त्यजन्ति मनोवचनकायैर्यावज्जीवं मरणान्तं दृढधृतयो मुनयः—स्थिरमतियुक्ताः साधवः प्राणिवधादिकं सर्वकालं परिहरन्तीति ॥७८२॥

व्रतविषयां शुद्धिमाह—

ते सव्वगंथमुक्का अममा अपरिग्गहा जहाजादा।
वोसट्टचत्तदेहा जिणवरधम्मं समं णेंति ॥७८३॥

ते मुनयः सर्वग्रन्थमुक्ता मिथ्यात्ववेदकषायरागहास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्सा इत्येतैश्चतुर्दशाभ्यन्तरग्रंथैर्मुक्ताः, अममाः स्नेहपाशान्निर्गताः, अपरिग्रहाः क्षेत्रादिदशविधबाह्यपरिग्रहान्निर्गताः, यथाजाता नाग्न्यगुप्तिं गताः, व्युत्सृष्टत्यक्तदेहा मर्दनाभ्यंगोद्वर्तनस्नानादिदेहसंस्काररहिता एवंभूता जिनवरधर्मं चारित्रं युगपन्नयंति भवान्तरं प्रापयन्तीति ॥७८३॥

कथं ते सर्वग्रंथमुक्ता इत्याशंकायामाह—

सव्वारंभणियत्ता जुत्ता जिणदेसिदम्मि धम्मम्मि।
ण य इच्छंति ममत्तिं परिग्गहे बालमित्तम्मि ॥७८४॥

यतस्ते मुनयः सर्वारंभेभ्योऽसिमषिकृषिवाणिज्यादिव्यापारेभ्यो निवृत्ता जिनदेशिते धर्मे चोद्युक्ता यतः श्रामण्यायोग्यबालमात्रपरिग्रहविषये ममत्वं नेच्छन्ति यतस्ते सर्वग्रन्थविमुक्ता इति ॥७८४॥

आचारवृत्ति—स्थिर बुद्धि से युक्त साधु इन प्राणिवध आदि पाँचों पापों का जीवन भर के लिए मन-वचन-काय पूर्वक त्याग कर देते हैं।

व्रत विषयक शुद्धि को कहते हैं—

गाथार्थ—वे ग्रन्थों—परिग्रहों से रहित, निर्मम, निष्परिग्रही यथाजात रूपधारी संस्कार से रहित मुनि जिनवर के धर्म को साथ में ले जाते हैं। ॥ ७८३ ॥

आचारवृत्ति—जो मुनि सर्वग्रन्थ—मिथ्यात्व, तीन वेद, चार कषाय, हास्य, रति, अरति, शोक, भय और गुस्सा इन चौदह अभ्यन्तर परिग्रहों से मुक्त है, स्नेह पाश से निकल चुके हैं, क्षेत्र, वास्तु आदि दस प्रकार के बहिरंग परिग्रह से भी रहित हैं, यथाजात नाग्न्यगुप्ति को धारण कर चुके हैं, मर्दन अभ्यंग उद्वर्तन, अर्थात् तैल मालिश, उबटन स्नान आदि के द्वारा शरीर के संस्कार से रहित हैं, ऐसे मुनि जिनेन्द्र भगवान् के धर्म को—चारित्र को युगपत भवांतर में अपने साथ ले जाते हैं।

वे सर्वग्रन्थ से रहित किस लिए होते हैं? ऐसी आशंका होने पर कहते हैं—

गाथार्थ—मुनि सर्व आरम्भ से निवृत्त हो चुके हैं और जिनदेशित धर्म में तत्पर हैं बालमात्र भी परिग्रह में भी ममत्व नहीं करते हैं। ॥७८४॥

आचारवृत्ति—जिस कारण वे मुनि असि, मषि, कृषि वाणिज्य आदि व्यापार से रहित हो चुके हैं, जिनेन्द्रदेव कथित धर्म में उद्युक्त हैं तथा श्रामण्य के अयोग्य बाल-मात्र भी परिग्रह के विषय में ममता नहीं करते हैं, क्योंकि वे सर्वग्रन्थ से विमुक्त हैं।

कथं त्वममा इत्याशंकायामाह—

> अपरिग्गहा अणिच्छा संतुट्ठा सुट्ठिदा चरित्तम्मि।
> अवि णीए वि सरीरे ण करेंति मुणी ममत्तिं ते ॥७८५॥

यस्मादपरिग्रहा निराश्रया अनिच्छाः सर्वाशाविप्रमुक्ताः संतुष्टाः संतोषपरायणाश्चारित्रे सुस्थिताश्चारित्रानुष्ठानपराः, अपि च निजेऽपि शरीरे आत्मीयशरीरेऽपि ममत्वं न कुर्वन्ति मुनयः, अथवाऽविनीते शरीरे ममत्वं न कुर्वन्ति ततस्ते निर्ममा इति ॥७८५॥

अथ कथं ते निष्परिग्रहाः कथं वा यथाजाता इत्याशंकायामाह—

> ते णिम्ममा सरीरे जत्थत्थमिदा वसंति अणिएदा।
> सवणा अप्पडिबद्धा विज्जू जह दिट्ठणट्ठा वा ॥७८६॥

यतस्ते शरीरेऽपि निर्ममा निर्मोहाः, यत्रास्तमितो रविर्यस्मिन् प्रदेशे रविरस्तं गतस्तस्मिन्नेव वसंति तिष्ठंति, अनिकेता न किंचिदपेक्षंते, श्रमणा यतयः, अप्रतिबद्धाः स्वतंत्राः, विद्युद्यथा दृष्टनष्टा ततोऽपरिग्रहा यथाजाताश्चेति ॥७८६॥

वसतिशुद्धिं निरूपयन्नाह—

> गामेयरादिवासी णयरे पंचाहवासिणो धीरा।
> सवणा फासुविहारी विवित्तएगंतवासी य ॥७८७॥

वे निर्मम कैसे हैं ! ऐसी आशंका होने पर कहते हैं—

गाथार्थ—जो मुनि अपरिग्रही हैं, सन्तुष्ट हैं तथा चारित्र में स्थित हैं, वे मुनि अपने शरीर में भी ममत्व नहीं करते हैं। ॥७८५॥

आचारवृत्ति—जिस कारण से वे आश्रयरहित हैं, सर्व आशा से विमुक्त हैं, सन्तोष-परायण हैं और चारित्र के अनुष्ठान में तत्पर हैं, और तो क्या अपने शरीर में भी ममत्व नहीं करते हैं। अथवा इस अविनीत शरीर में ममत्व नहीं करते हैं, इसलिए वे निर्मम कहलाते है।

वे मुनि निष्परिग्रही क्यों हैं ? अथवा यथाजात क्यों है ? सो ही बताते हैं—

गाथार्थ—वे शरीर से निर्मम हुए मुनि आवास रहित हैं। जहाँ पर सूर्य अस्त हुआ वहीं ठहर जाते हैं, किसी से प्रतिबद्ध नही हैं, वे श्रमण बिजली के समान दिखते हैं और चले जाते हैं। ॥७८६॥

आचारवृत्ति—जो अपने शरीर में भी निर्मोही हैं। चलते हुए जिस स्थान पर सूर्य अस्त हो जाता है वहीं पर ठहर जाते हैं, किसी से कुछ अपेक्षा नहीं करते हैं, वे यति किसी से बँधे नहीं रहते हैं—स्वतन्त्र होते हैं। बिजली के समान दिखकर विलीन हो जाते हैं। अर्थात् एक स्थान पर अधिक नहीं ठहरते हैं। अतः ये अपरिग्रही हैं और यथाजात रूपधारी हैं। यहाँ तक का वर्णन हुआ।

अब वसतिशुद्धि का निरूपण करते हैं—

गाथार्थ—ग्राम में एक रात्रि निवास करते हैं और नगर में पांच दिन निवास करते हैं। प्रासुक विहारी हैं और विविक्त एकान्त वास करने वाले हैं ऐसे श्रमण धीर होते हैं। ॥७८७॥

वृत्यावृतो ग्रामस्तस्मिन्नेकरात्रं वसन्ति तत्रैकयैव रात्र्या सर्वसंवेदनात्, चतुर्गोपुरोपलक्षितं नगरं तत्र पंचदिवसं वसन्ति पंच दिनानि नयन्ति यतः पंचदिवसैः सर्वतीर्थादियात्रायाः सिद्धिस्ततरत्र ममत्वदर्शनात्, धीरा धैर्योपेताः, श्रमणाः, प्रासुकविहारिणः सावद्यपरिहरणशीलाः, विविक्ते स्त्रीपशुपांडकवर्जिते देश एकान्ते प्रच्छन्ने वसंतीत्येवं शीला विविक्तैकांतवासिनः, यतो विविक्तैकांतवासिनो यतश्च निरवद्याचरणशीला यतो ग्राम एकरात्रिवासिनो नगरे पंचाहर्वासिनश्चोत्तरत्रौद्देशिकादिदर्शनान्मोहादिदर्शनाच्च न वसंतीति ॥७८७॥

एकान्तं मृगयतामेतेषां कथं सुखमित्याशंकायामाह—

एगंतं मग्गंता सुसमणा वरगंधहत्थिणो धीरा ।
सुक्कज्झाणरदीया मुत्तिसुहं उत्तमं पत्ता ॥ ७८८ ॥

एकांतमेकत्वं विविक्तं मृगयमाणा अन्वेषयंतः सुश्रमणा सुतपसः वरगंधहस्तिन इव धीराः शुक्लध्यानरतय उत्तमं प्राप्ताः । यथा गंधहस्तिन एकांतमभ्युपगच्छंतः सुख प्राप्नुवंति तथा श्रमणा एकांतं मृगयमाणा अपि प्राप्ता यतः शुक्लध्यानरतय इति ॥७८८॥

कथं ते धीरा इत्याशंकायामाह—

आचारवृत्ति—जो बाड़ से वेष्टित है उसे ग्राम कहते हैं, उसमें एक रात्रि निवासकरते हैं, क्योंकि एक रात्रि में ही वहाँ का सर्व अनुभव आ जाता है। चार गोपुरों से सहित को नगर कहते हैं। वहाँ पर पाँच दिवस ठहरते हैं, क्योंकि पाँच दिन में ही वहाँ के सर्व तीर्थ आदि यात्राओं को सिद्धि हो जाती है। आगे रहने से ममत्व देखा जाता है। प्रासुक विहारी—सावद्य का परिहार करने में तत्पर हैं अर्थात् जन्तु रहित स्थानों में विहार करने वाले हैं। स्त्री, पशु और नपुंसक से वर्जित ऐसे एकान्त प्रदेश में निवास करनेवाले हैं। क्योंकि ये विविक्त एकान्तवासी होने से निर्दोष आचरणशील हैं अतएव ग्राम में एक रात्रि और नगर में पाँच दिन रहते हैं, क्योंकि अधिक रहने से औद्देशिक आदि दोष हो जाते हैं और मोह आदि भी हो जाता है, इसलिए वे अधिक नहीं रहते हैं।[1]

एकान्त का अन्वेषण करते हुए इनको सुख कैसे होता है ? सो ही बताते हैं—

गाथार्थ—एकान्त को खोज करने वाले श्रेष्ठ गन्धहस्ती के समान धीर वे सुश्रमण शुक्ल ध्यान में रत होकर उत्तम मुक्तिसुख को प्राप्त कर लेते हैं। ॥७८८॥

आचारवृत्ति—विविक्त एकान्त स्थान का अन्वेषण करते हुए वे सुश्रमण श्रेष्ठ गन्धहस्ती के समान धीर होते हैं और शुक्ल ध्यान में रति करते हुए उत्तम मुक्ति सुख को प्राप्त कर लेते हैं। जैसे गंधहस्ती एकान्त का आश्रय लेकर सुखी होते हैं वैसे ही महामुनि एकान्त का आश्रय लेकर सुखी होते हैं, क्योंकि वहाँ पर वे शुक्ल ध्यान को ध्याते हैं।

वे धीर क्यों हैं ? ऐसी आशंका होने पर कहते हैं—

---

१. यह उत्कृष्ट चर्या है। वैसे आगे दश स्थिति कल्प का लक्षण है कि एक महीने तक एक स्थान पर वास करना। इसलिए सर्व संघ या सर्व मुनियों के लिए इसको एकान्त से नहीं लगाना चाहिए।

एयाइणो अविहला वसंति गिरिकंदरेसु सप्पुरिसा।
धीरा अदीणमणसा रममाणा वीरवयणम्मि ॥ ७८६ ॥

एकाकिनोऽसहायाः, अविकला अविह्वला धृतिसंतोषसत्वोत्साहादिसंपन्ना वसंति संतिष्ठंते गिरिकंदरासु पर्वतजलदारितप्रदेशेषु, सत्पुरुषाः प्रधानपुरुषाः, धीराः अदीनमनसो, दैन्यवृत्तिरहिताः, रममाण क्रीडंतो रतिं कुर्वंतो वीरवचने। यत एकाकिनोऽपि वैकल्यरहिता अदीनभावा वीरवचने भेदभावने रतिं कुर्वाणा गिरिकंदरासु[1] वसंति यतो धीराः सत्पुरुषाश्चेति ॥७८६॥

अतश्च ते धीरा—

वसधिसु अप्पडिबद्धा ण ते ममत्तिं करेंति वसधीसु।
सुण्णागारमसाणे वसंति ते वीरवसधीसु ॥ ७९० ॥

वसतिष्वप्रतिबद्धाः स मदीय आश्रयस्तत्र वयं वसाम इत्येवमभिप्रायरहिताः, ममत्वं न कुर्वंति वसतिषु निवासनिमित्तमोहमुक्तास्ते साधवः, शून्यगृहेषु श्मशानेषु प्रेतवनेषु वसन्ति ते वीरवसतिषु यतो

गाथार्थ—जो एकाकी रहते हैं, विकलता रहित हैं, गिरिकन्दराओं में निवास करते हैं, सत्पुरुष हैं, दीनता रहित हैं, वीर भगवान् के वचन में रमते हुए वे धीर कहलाते हैं। ॥७८६॥

आचारवृत्ति—वे मुनि एकाकी-असहाय विचरण करते हैं। अविकल-विह्वलता रहित अर्थात् धैर्य, संतोष, सत्व और उत्साह आदि से संपन्न होते हैं। वे पर्वत की कंदराओं अर्थात् 'पर्वत पर' जल से विदारित स्थानों में रहते हैं। वे प्रधान-पुरुष दैन्य वृत्ति रहित होते हैं और महावीर प्रभु के वचनों में रति करते हैं अर्थात् भेद-भावना में रति करते हैं। वे एकान्त गिरि गुफाओं में निवास करते हुए भी विकल नहीं होते हैं। यही कारण है कि वे धीर कहलाते हैं।

भावार्थ—यह जिनकल्पी मुनियों की चर्या है। प्रारम्भ में पदविभागी समाचारी में आचार्य ने स्वयं बतलाया है कि जो उत्तम सहन शक्ति, धैर्य, अंगपूर्व के ज्ञान आदि से युक्त हैं वे ही एकलविहारी हो सकते हैं, किन्तु हीन संहननधारी, अल्पज्ञानी मुनि एकलविहारी न बनें, संघ में निवास करें, बल्कि यहाँ तक कह दिया है कि 'मा मे सत्तु विएगागी।' (गाथा १५०) मेरा शत्रु भी इस तरह अकेला न रहे। अतः आज के मुनियों को एकलविहारी होने की आज्ञा नहीं है। न आजकल के मुनि ऐसे धीर ही बन सकते हैं।

इसीलिए वे धीर हैं सो ही बताते हैं—

गाथार्थ—वसति से बँधे हुए नहीं होते हैं, अतः वे वसति में ममत्व नहीं करते हैं, वे शून्य स्थान श्मशान ऐसी वीर वसतिकाओं में निवास करते हैं। ॥ ७९० ॥

आचारवृत्ति—वसतिकाओं में जो प्रतिबद्ध नहीं होते, 'अर्थात् यह मेरा आश्रय स्थान है, यहीं पर मैं रहूँ' इस प्रकार के अभिप्राय से रहित रहते हैं तथा वसतिकाओं में ममत्व नहीं करते हैं, अर्थात् निवास निमित्तक मोह से रहित होते हैं। वे साधु शून्य मकानों में, श्मशानभूमि-प्रेतवनों

---

१. गिरिकन्दरेषु क०

वीराधिष्ठितेषु स्थानेषु महाभयंकरेषु संस्कृतवसतिविषये मुक्तसंगा अपसंगा वसन्त्यतस्तेभ्यः केऽन्ये शूरा इति ॥७६०॥

पुनरपि सत्वव्यावर्णनायाह—

पब्भारकंदरेसु अ कापुरिसभयंकरेसु सप्पुरिसा।
वसधी अभिरोचंति य सावदबहुघोरगंभीरा ॥ ७६१ ॥

प्राग्भारेषु पर्वतनितंबेषु कन्दरेषु जलहृतिकृतप्रदेशेषु चैवंप्रकारेषु दुर्गमप्रदेशेषु, कापुरुषभयंकरेषु सत्वहीनपुरुषभय-जनकेषु[1] वसतयोऽभिरोचन्ते सत्पुरुषेभ्यः अवस्थानमभिवांछंति सत्पुरुषाः सत्वाधिकाः श्वापदबहुघोरगंभीरा वसतय इत्यभिसंबंधः सिंहव्याघ्रसर्पनकुलादि[2]बाहुल्येन रौद्रगहनस्थानेष्वावासमभिवांछंतीति ॥७६१॥

तथा—

एयंतम्मि वसंता वयवग्घतरच्छ अच्छभल्लाणं।
आगुंजियमारसियं सुणंति सद्दं गिरिगुहासु ॥ ७६२ ॥

एकान्ते गिरिगुहासु वसंतः संतिष्ठमाना वृकव्याघ्रतरक्षुऋक्षभल्लादीनामागुंजितमारसितं शब्दं शृण्वंति तथाऽपि सत्वान्न विचलंतीति ॥७६२॥

में ठहरते हैं। वे वीर पुरुषों से अधिष्ठित महाभयंकर स्थानों में निवास करते हैं तथा संस्कारित वसति में आसक्ति नहीं रखते हैं। अतः उनसे अतिरिक्त शूर और कौन हो सकते हैं? अर्थात् ऐसे मुनि ही महा शूरवीर होते हैं। इसी कारण वे धीर-वीर कहलाते हैं।

पुनरपि उनके सत्त्व का वर्णन करते हुए कहते हैं—

गाथार्थ—कायर पुरुषों के लिए भयंकर ऐसे प्राग्भार कन्दराओं में व्याघ्र आदि हिंसक जन्तुओं से घोर व्याप्त वसतियाँ सत्पुरुषों को रुचती हैं ॥७६१॥

आचारवृत्ति—पर्वत के तट को प्राग्भार और जल के आघात से विदारित पर्वत प्रदेश को कन्दरा कहते हैं। ये विषम प्रदेश सत्त्वहीन पुरुषों को भय उत्पन्न करने वाले हैं। वहाँ पर जो वसति हैं उनमें सिंह, व्याघ्र, सर्प, नेवला, आदि जन्तुओं की बहुलता है। ऐसे रौद्र गहन स्थानों में सत्त्वशाली सत्पुरुष ठहरना चाहते हैं। अर्थात् ऐसे स्थान धीर-वीर मुनियों को रुचते हैं।

उसी प्रकार से और भी बताते हैं—

गाथार्थ—एकान्त में रहते हुए गिरि-गुफाओं में भेड़िया, व्याघ्र, चीता और भालू के गूँजते हुए शब्दों को सुनते हैं ॥ ७६२ ॥

आचारवृत्ति—एकान्त स्थान ऐसी पर्वत की गुफाओं में रहते हुए वे मुनि भेड़िया, व्याघ्र, चीता, रीछ और भालू आदि के बोले गये और गूँजते हुए शब्दों को सुना करते हैं, फिर भी वे सत्त्व—धैर्य से विचलित नहीं होते हैं।

---

१. जननेषु क०

२. सर्पादिभिर्बाहुल्येन रौद्रं गहनं स्थानायावासमभिवाञ्छन्तीति क०

तथा—

रत्तिंचरसउणाणं णाणारुदरसिदभीदसद्दालं ।
उण्णावेंति वणंतं जत्थ वसंता समणसीहा ७९३ ॥

रात्रौ चरन्तीति रात्रिंचरा उलूकादयस्तेषां शकुनानां नानारुतानि नानाभीतिशब्दांश्च अत्यर्थं उण्णावेंति उन्नादियंति प्रतिशब्दयन्ति वनांतं वनमध्यं, उद्गतशब्दं सर्वमपि वनं गह्वराटवीं कुर्वन्ति यत्र वसन्ति श्रमणसिंहा इति ॥७९३॥

तथा—

सीहा इव णरसीहा पव्वयतडकडयकंदरगुहासु ।
जिणवयणमणुमणंता अणुव्विग्गमणा परिवसंति ॥ ७९४ ॥

सिंहा इव सिंहसदृशा नरसिंहा नरप्रधानाः पर्वततटकटके "पर्वतस्याधोभागस्य सामीप्यं तटं ऊर्ध्वभागस्य सामीप्यं कटकं" पर्वततटकटककन्दरागुहासु जिनवचनमनुगणयन्तो जिनागमं तत्त्वेन श्रद्दधाना अनुद्विग्नमनस उत्कंठितमानसाः परि—समन्ताद्वसंतीति ॥७९४॥

तथा—

उसी प्रकार से और भी कहते हैं—

गाथार्थ—जहाँ पर श्रमण-सिंह निवास करते हैं, जहाँ पर रात्रिचर जन्तुओं के नाना शब्दों से भयंकर शब्द वन के अभ्यन्तर भाग को शब्दायमान कर देते हैं, वहाँ पर श्रमण-सिंह निवास करते हैं। ॥ ७९३ ॥

आचारवृत्ति—रात्रि में विचरण करने वाले उल्लू आदि रात्रिचर कहलाते हैं। उन पक्षियों के नाना प्रकार के भयंकर शब्द अतिशय रूप से वन के मध्य भाग को प्रतिध्वनित कर देते हैं। अर्थात् उन जीवों के उत्पन्न हुए शब्द सारे वन में गहन अटवी में व्याप्त हो जाते हैं, जहाँ कि वे श्रमण-सिंह निवास करते हैं। अर्थात् ऐसे भयावह स्थान में भी जो निवास करते हैं वे ही मुनि श्रमण-सिंह कहलाते हैं।

गाथार्थ—सिंह के समान नरसिंह महामुनि पर्वत के तट, कटक, कन्दराओं और गुफाओं में जिन-वचनों का अनुचिन्तन करते हुए अनुद्विग्न चित्त होकर निवास करते हैं। ॥ ७९४ ॥

आचारवृत्ति—पर्वत के अधो भाग के समीप का स्थान तट है और पर्वत के ऊर्ध्व भाग के समीप का स्थान कटक है। पर्वत पर जल से जो प्रदेश विदारित हो जाता है उसे कन्दरा कहते हैं, गुफायें प्रसिद्ध ही हैं। सिंह के समान निर्भय हुए मुनि-सिंह अर्थात् मनुष्यों में प्रधान महासाधु पर्वत के तट, कटक, कन्दरा और गुफाओं में रहते हैं। वहाँ पर वे जिनागम के तत्त्वों का चिंतवन करते हुए उत्कण्ठित रहते हैं, उद्विग्न कभी नहीं होते हैं।

उसी प्रकार से और भी बताते हैं—

सावदसयाणुचरिये परिभयभीमंधयारगंभीरे ।
धम्माणुरायरत्ता वसंति रत्तिं गिरिगुहासु ॥ ७९५ ॥

श्वापदसदानुचरिते सिंहव्याघ्रादिभिः सर्वकालं परिसेविते परिभयभीमे समंताद्भयानकेऽन्धकारे आदित्यकिरणानामपि दुष्प्रवेशे गंभीरे सुष्ठु गहने वने इति संबंधः। धर्मानुरागरक्ताश्चारित्रानुष्ठानतत्परा रात्री वसंति गिरिगुहास्विति ॥७९५॥

तादृग्भूते वने रात्री केन विधानेन वसंतीत्याशंकायामाह—

सज्झायझाणजुत्ता रत्तिं ण सुवंति ते पयामं तु ।
सुत्तत्थं चिंतंता णिद्दाय वसं ण गच्छंति ॥ ७९६ ॥

स्वाध्यायध्यानयुक्ताः श्रुतभावनायां युक्ता एकाग्रचितानिरोधे ध्याने च तत्परमानसा रात्रौ न स्वपंति ते मुनयः, प्रयामं प्रचुरं प्रथमयामं पश्चिमयामं च वर्जयन्तीत्यर्थः, सूत्रार्थं च सूत्रमर्थं तदुभयं च चिंतयंतो भावयंतो निद्रावशं न गच्छंति— न निद्रा-राक्षस्या पीड्यंत इति ॥७९६॥

तत्रासनविधानं च प्रतिपादयन्नाह—

पलियंकणिसिज्जगदा वीरासणएयपाससाईया ।
ठाणुक्कडेहिं मुणिणो खवंति रत्तिं गिरिगुहासु ॥ ७९७ ॥

गाथार्थ—सदा हिंस्रजन्तुओं से सहित चारों तरफ से भयंकर अन्धकार से गहन वन में रात्रि में धर्म में अनुरक्त हुए मुनि पर्वत की गुफाओं में निवास करते हैं। ॥ ७९५ ॥

आचारवृत्ति—जहाँ पर हमेशा सिंह व्याघ्र आदि विचरण करते हैं जो सब तरफ से भयानक है, जहाँ पर सूर्य की किरणों का भी प्रवेश नहीं हो सकता, ऐसे गहन अन्धकार से जो व्याप्त है ऐसे वन में चारित्र के अनुष्ठान से तत्पर हुए मुनि रात्रि में वहाँ की गिरि गुफाओं में ठहरते हैं।

ऐसे वन में रात्रि में वे किस प्रकार से रहते हैं ? ऐसी आशंका होने पर कहते हैं—

गाथार्थ—स्वाध्याय और ध्यान में तत्पर हुए वे मुनि प्रथम व अन्तिम पहर में रात्रि में नहीं सोते हैं। वे सूत्र और अर्थ का चिन्तवन करते हुए निद्रा के वश में नहीं होते हैं। ॥७९६ ॥

आचारवृत्ति—वे मुनि श्रुत की भावना में लगे रहते हैं और एकाग्रचिन्ता-निरोध रूप ध्यान में अपने मन को तत्पर रखते हैं। अतः वे रात्रि में नहीं सोते हैं, अर्थात् रात्रि के प्रथम पहर और पश्चिम पहर में नहीं सोते हैं। यदि सोते हैं तो मध्यरात्रि में स्वल्प निद्रा लेते हैं। वे सूत्र का और उनके अर्थ का अथवा दोनों का चिन्तवन करते रहते है। अतः वे निद्रा-राक्षसी के द्वारा पीड़ित नहीं होते हैं।

वहाँ पर कैसे-कैसे आसन लगाते हैं ? सो ही बताते हैं—

गाथार्थ—पर्यंक आसन से बैठे हुए, वीरासन से बैठे हुए या एक पसवाड़े से लेटे हुए अथवा खड़े हुए या उत्कुटिकासन से बैठे वे मुनि पर्वत की गुफाओं में रात्रि को बिता देते हैं। ॥ ७९७ ॥

गतशब्दः प्रत्येकमभिसंबंध्यते, पर्यंकं गताः पर्यंकेण स्थिताः, निषद्यां गताः सामान्येनोपविष्टाः, वीरासनं च गता वीराणामासनेन स्थितास्तथैकपार्श्वशायिनस्तथा स्थानेन कायोत्सर्गेण स्थिता उत्कुटिकेन स्थितास्तथा हस्तिशुंडमकरमुखाद्यासनेन च स्थिता मुनयः क्षपयंति नयंति गमयंति रात्रिं गिरिगुहासु नान्यथेति समाधानताऽनेन प्रकारेण प्रतिपादिता भवतीति ॥७९७॥

प्रतीकाररहितत्वं निष्काङ्क्षत्वं च प्रतिपादयन्नाह—

उवधिभरविप्पमुक्का वोसट्टंगा णिरंबरा धीरा।
णिक्किचण परिसुद्धा साधू सिद्धिं वि मग्गंति ॥ ७९८ ॥

उपधिभरविप्रमुक्ताः श्रामण्यायोग्योपकरणभारेण सुष्ठु मुक्ताः, व्युत्सृष्टांगास्त्यक्तशरीराः, निरंबरा नाग्न्यमधिगताः, धीरा सुष्ठु शूराः, निष्किचना निर्लोभाः, परिशुद्धाः कायवाङ्मनोभिः शुद्धाचरणाः साधवः, सिद्धिं कर्मक्षयं समिच्छंति मृगयंते, तेनेह लोकाकांक्षा परलोकाकांक्षा च परिषहप्रतीकारश्च न विद्यते तेषामिति ज्ञापितं भवति। वसतिशुद्ध्या तपःसूत्रसत्त्वैकत्वधृतिभावनाश्च प्रतिपादिता इति ॥७९८॥

विहारशुद्धिं विवृण्वन्नाह—

मुत्ता णिरावयेक्खा सच्छंदविहारिणो जहा वादो।
हिंडंति णिरुव्विग्गा णयरायरमंडियं वसुहं ॥ ७९९ ॥

आचारवृत्ति—'गत' शब्द का प्रत्येक के साथ अभिसम्बन्ध करना। इससे यह अर्थ हुआ कि वे पर्यंकासन से स्थित हुए निषद्या—सामान्य आसन से बैठे हुए, वीरासन से स्थित हुए एक पसवाड़े से लेटे हुए तथा कायोत्सर्ग से स्थित हुए, या उत्कुटिक आसन से स्थित हुए अथवा हस्तिशुण्डासन, मकरमुखासन आदि आसनों को लगाकर स्थित हुए वे मुनि पर्वत की गुफाओं में रात्रि को व्यतीत करते हैं, अन्य प्रकार से नहीं। इस प्रकार से उनको वहाँ समाधानता बनी रहती है ऐसा यहाँ प्रतिपादित किया गया है।

वे प्रतिकार रहित और कांक्षा रहित होते हैं, सो ही बताते हैं—

गाथार्थ—उपधि के भार से मुक्त हुए, शरीर संस्कार से रहित, वस्त्ररहित, धीर, अकिंचन, परिशुद्ध साधु सिद्धि को खोज करते रहते हैं।॥ ७९८ ॥

आचारवृत्ति—मुनिपने के अयोग्य उपकरण के भार से जो रहित हैं, शरीर के संस्कारों का त्याग कर चुके हैं, नग्न मुद्रा के धारी हैं, अतिशय शूर हैं, निर्लोभी हैं, मन-वचन-काय से शुद्ध आचरणवाले हैं, ऐसे साधु कर्मक्षय की इच्छा करते हैं। इस कथन से उन साधुओं के इह लोक की आकांक्षा, परलोक की आकांक्षा और परीषहों का प्रतिकार नहीं रहता है, ऐसा कहा गया है। इस वसतिशुद्धि के द्वारा तप, सूत्र, सत्त्व, एकत्व और धृति इन भावनाओं का भी प्रतिपादन किया गया है, ऐसा समझना। यहाँ तक वसतिशुद्धि का वर्णन हुआ।

विहारशुद्धि का वर्णन करते हैं—

गाथार्थ—परिग्रह रहित निरपेक्ष स्वच्छन्द विहारी वायु के समान नगर और आकर से मण्डित पृथ्वीतल पर उद्विग्न न होते हुए भ्रमण करते हैं। ॥७९९॥

मुक्ताः सर्वसंगरहिताः, निरपेक्षाः किंचिदप्यनीहमानाः, स्वच्छन्दविहारिणः स्वतंत्रा यथा वातो वात इव नगराकरमंडितायां वसुधायां पृथिव्यां हिण्डंते भ्रमंतीति ॥७९९॥

ननु विहरतां कथं नेर्यापथकर्मबन्ध इत्याशंकायामाह—

वसुधम्मि वि विहरंता पींड ण करेंति कस्सइ कयाई।
जीवेसु दयावण्णा माया जह पुत्तभंडेसु ॥ ८०० ॥

वसुधायां विहरंतोऽपि पृथिव्यां पर्यटंतोऽपि पीडां व्यथां न कुर्वंति नोत्पादयंति कस्यचिज्जीवविशेषस्य कदाचिदपि जीवदयायां[1] प्रवृत्ताः, यथा माता जननी पुत्रपुत्रीषु दयां विदधाति तथैव तेऽपि न कुर्वंति कस्यापि कदापि पीडामिति ॥८००॥

ननु नानादेशेषु विहरतां कथं सावद्यपरिहार इत्याशंकायामाह—

जीवाजीवविहत्ति णाणुज्जोएण सुट्ठु णाऊण।
तो परिहरंति धीरा सावज्जं जेत्तियं किंचि ॥ ८०१ ॥

जीवविभक्ति जीवविभेदान् सर्वपर्यायान्, अजीवविभक्ति पुद्गलधर्माधर्माकाशकालस्वरूपं सभेदं

आचारवृत्ति—मुक्त—सर्वसंग से रहित, निरपेक्ष—किंचित् भी इच्छा न रखते हुए वायु के समान स्वतन्त्र हुए नगर और खान से मण्डित इस पृथ्वीमण्डल पर विहार करते हैं।

विहार करते हुए मुनि के ईर्यापथजन्य कर्म का बन्ध क्यों नहीं होता ? ऐसी आशंका होने पर कहते है—

गाथार्थ—वसुधा पर विहार करते हुए भी कदाचित् किसी को भी पीड़ा नही पहुँचाते हैं। जीवा में दया भाव सहित हैं, जैसे कि पुत्र समह में माता दया रखती है। ॥ ८००॥

आचारवृत्ति—पृथ्वीतल पर विहार करते हुए भी ये मुनि किसी भी जीव विशेष को कभी भी पीड़ा नहीं पहुँचाते हैं, वे सदा जीव-दया में प्रवृत्त रहते हैं। जैसे जननी पुत्र-पुत्रियों पर दया करती है वैसे ही वे भी कभी भी किसी प्राणी को व्यथा नहीं उपजाते हैं, सर्वत्र दयालु रहते हैं।

नाना देशों में विहार करते हुए उनके सावद्य का परिहार कैसे होगा ? ऐसी आशंका होने पर बताते हैं—

गाथार्थ—जीव और अजीव के विभाग को ज्ञानप्रकाश से अच्छी तरह जानकर पुनः वे धीर मुनि जो कुछ भी सावद्य है उसका परिहार कर देते हैं। ॥ ८०१ ॥

आचारवृत्ति—जीवों के अनेक भेदों को और उनकी सर्व पर्यायों को, तथा अजीव के भेदों को अर्थात् पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल के स्वरूप को, उनके सर्व भेद और

---

१. 'जीवदयायामापन्नाः सर्वप्राणिदयापरा यतः यथा माता जननी पुत्रभांडेषु, जननी यथा पुत्रविषयेऽतीव हितमाचरति तथा तेऽपि साधवः सर्वजीवविषयदयायां प्रवृत्ताः, इति द० क० पुस्तके पाठः।

सपर्यायं ज्ञानोद्योतेन सुष्ठु ज्ञात्वाऽवबुध्य ततः परिहरंति परित्यजन्ति सावद्यं यत्किंचित्सर्वदोषजातं सर्वथा परिहरंतीति ॥८०१॥

सावद्यकारणमपि परिहरंतीत्याह—

सावज्जकरणजोग्गं सव्वं तिविहेण तियरणविसुद्धं ।
वज्जंति वज्जभीरू जावज्जीवाय णिग्गंथा ॥ ८०२ ॥

सावद्यानि सदोषानि यानि करणानीन्द्रियाणि परिणामाः क्रिया वा तैर्योगः संपर्कस्तं सावद्यकरण-योगं सर्वमपि त्रिविधेन त्रिप्रकारेण कृतकारितानुमतरूपेण त्रिकरणविशुद्धं यथा भवति मनोवचनकायक्रिया-शुद्धं यथा भवति तथा वर्जयंति परिहरंत्यवद्यभीरवः पापभीरवो यावज्जीवं यावन्मरणांतं निर्ग्रंथाः परिहरंतीति ॥८०२॥

किं तत्सावद्यं यन्न कुर्वन्तीत्याशंकायामाह—

तणरुक्खहरिदछेदणतयपत्तपवालकंदमूलाइं ।
फलपुप्फबीयघादं ण करेंति मुणी ण कारेंति ॥ ८०३ ॥

तृणच्छेदं, वृक्षच्छेदं, हरितच्छेदनं छिन्नछेदनं च न कुर्वंति न कारयंति मुनयः, तथा त्वक्पत्रप्रवाल-कन्दमूलानि न छिंदंति न छेदयंति, तथा फलपुष्पबीजघातनं न कुर्वंति न कारयंति मुनयः ॥८०३॥

पर्यायों को ज्ञान-उद्योत के द्वारा अच्छी तरह जानकर पुनः जो कुछ भी सावद्यरूप दोषों का समूह है उन सबका सर्वथा त्याग कर देते हैं।

सावद्य के कारणों का भी त्यागकर देते हैं, सो ही बताते हैं—

गाथार्थ—सावद्य इन्द्रियों के योग से त्रिविध त्रिकरणविशुद्ध सर्व का वे पापभीरू निर्ग्रंथ मुनि त्याग कर देते हैं। ॥ ८०२ ॥

आचारवृत्ति—सावद्य—सदोष जो करण—इन्द्रियाँ या परिणाम अथवा क्रिया उनका योग सम्पर्क 'सावद्यकरण योग' है। इन सर्व सदोष क्रिया आदि को जो कृत कारित अनुमोदना रूप से मन-वचन-काय की क्रिया से विशुद्ध जैसे हो वैसे छोड़ देते है। अर्थात् पापभीरू निर्ग्रंथ मुनि मन-वचन-काय और कृत-कारित-अनुमोदना पूर्वक सदोष क्रियाओं को जीवनपर्यंत के लिए छोड़ देते हैं।

वह सावद्य क्या है कि जिसको वे नहीं करते हैं ? सो ही बताते हैं—

गाथार्थ—तृण, वृक्ष, हरित वनस्पति का छेदन तथा छाल, पत्ते, कोंपल, कन्द-मूल तथा फल, पुष्प और बीज इनका घात मुनि न स्वयं करते हैं और न कराते हैं। ॥ ८०३ ॥

आचारवृत्ति—वे मुनि तृण का छेदन, वृक्ष का छेदन, हरित का छेदन और छिन्न-भिन्न हुई वनस्पति का छेदन न स्वयं ही करते हैं और न दूसरों से कराते हैं। तथा छाल, पत्ते, कोंपल, कन्द-मूल का भी छेदन न करते हैं न कराते हैं। उसी प्रकार से फल, पुष्प और बीज का घात भी न करते हैं, न ही कराते हैं।

तथा—

पुढवीय समारंभं जलपवणग्गीतसाणमारंभं ।
ण करेंति ण कारेंति य कारेंतं णाणुमोदंति ।। ८०४ ।।

पृथिव्याः समारंभं खननोत्कीर्णनचूर्णनादिकं न कुर्वंति न कारयंति कुर्वंतं नानुमन्यन्ते धीरास्तथा जलपवनाग्नित्रसानामारंभे सेचनोत्कर्षणबीजनज्वालनमर्दनत्रासनादिकं न कुर्वंति न कारयंति नानुमन्यंत इति ।।८०४।।

यतः—

णिक्खित्तसत्थदंडा समणा सम सव्वपाणभूदेसु ।
अप्पट्ठं चिंतंता हवंति अव्वावडा साहू ।। ८०५ ।।

निक्षिप्तशस्त्रदंडाः सर्वहिंसाकारणोपकरणमुक्ता यतः, श्रमणा यतश्च, सर्वप्राणभूतेषु समा. समानाः यतश्चात्मार्थं चिंतयंतो भवंत्यव्यापृता व्यापाररहितास्ततस्ते न कस्यचित्कदाचित्पीडां कर्वतीति ।।८०५।।

विहरंतः कथंभूतं परिणामं कुर्वंतीत्याशंकायामाह—

उवसंतादीणमणा उवक्खसीला हवंति मज्झत्था ।
णिहुदा अलोलमसठा अबिह्मिया कामभोगेसु ।।८०६।।

उपशांता अकषायोपयुक्ताः, अदीनमनसो दैन्यविरहिताः पथश्रमक्षुत्पिपासाज्वरादिपरीषहैरग्लान-

---

उसी प्रकार से और भी बताते हैं—

गाथार्थ—वे मुनि पृथ्वी का समारम्भ, जल, वायु, अग्नि और त्रसजीवों का आरम्भ न स्वयं करते हैं न कराते हैं और न करते हुए को अनुमोदना ही देते हैं । ।। ८०४ ।।

आचारवृत्ति—पृथ्वी का खोदना, उसमें कुछ उत्कीर्ण करना, उसका चूर्ण आदि करना सब समारम्भ कहलाता है। ऐसे ही जल का सिंचन करना, फेंकना, हवा का बीजन करना अर्थात् पंखे से हवा करना, अग्नि को जलाना, त्रसजीवों का मर्दन करना—उन्हें त्रास आदि देना, इन क्रियाओं को धीर मुनि न करते हैं न कराते हैं और करते हुए को न अनुमति ही देते हैं ।

क्योंकि—

गाथार्थ—वे श्रमण शस्त्र और दण्ड से रहित हैं, सर्व प्राणी और भूतों में समभावी हैं। आत्मा के हित का चिंतवन करते हुए वे साधु इन व्यापारों से रहित होते हैं ।।। ८०५ ।।

आचारवृत्ति—वे श्रमण सर्व हिंसा के कारणभूत उपकरणों से रहित हैं । सर्व प्राण और भूत अर्थात् द्वीन्द्रिय आदि जीव तथा पृथ्वी आदि भूतों में समान भाव रखने वाले हैं । अपनी आत्मा के व्यापार से रहित हैं । इसीलिए वे साधु कभी भी किसी को पीड़ा नहीं पहुंचाते हैं ।

वे विहार करते हुए किस प्रकार के परिणाम करते हैं ? सो ही बताते हैं ।

गाथार्थ—वे उपशान्त भावी दीन मन से रहित, उपेक्षा स्वभाववाले, जितेन्द्रिय, निर्लोभी, मूर्खता रहित और कामभोगों में विस्मय रहित होते हैं । ।।८०६।।

आचारवृत्ति—वे मुनि अकषाय भाव से युक्त रहते हैं, दैन्य वृत्ति से रहित होते हैं। मार्ग

चित्तवृत्तयः, उपेक्षाशीलाः सर्वोपसर्गसहनसमर्था भवन्ति, मध्यस्थाः समदर्शिनः, निभृताः संकुचितकरचरणाः कूर्मवत् अलोला निराकांक्षाः, अशठा मायाप्रपंचरहिताः, अविस्मिताः कामभोगेषु कामभोगविषये विस्मयरहिताः कृतानादरा इति ॥८०६॥

तथा—

जिणवयणमणुगणेंता संसारमहब्भयं हि चिंतंता ।
गब्भवसदीसु भीदा भीदा पुण जम्ममरणेसु ॥८०७॥

जिनवचनमनुगणयंतोऽर्हदागमरंजितमतयः, संसारान्महद्भयं चिन्तयंतः संत्रस्तमनसः, गर्भवसतिषु गर्भवासविषये भीताः सुष्ठु त्रस्ताः, पुनरपि जन्ममरणेषु भीता जातिजरामरणविषये च सम्यग्भीता इति ॥८०७॥

कथं कृत्वा गर्भवसतिषु भीता इत्याशंकायामाह—

घोरे णिरयसरिच्छे कुंभीपाए सुपच्चमाणाणं ।
रुहिरचलाविलपउरे वसिदव्वं गब्भवसदीसु ॥८०८॥

घोरे भयानके नरकसदृशे कुंभीपाके "व्यथां कृत्वा संदहन कुंभीपाकः" तस्मिन् सुपच्यमानानां सुष्ठु संतप्यमानानां "कर्तरि षष्ठी" तेन सुपच्यमानैरित्यर्थः, रुधिरचलाविलप्रचुरे रुधिरेण चले आविले बीभत्सेऽथवा बीभत्सेन प्रचुरे वस्तव्यं स्थातव्यं, उदरे गर्भे एवंविशिष्टे गर्भे या वसतयस्तासु वस्तव्यमस्माभिरहो इति ॥८०८॥

के श्रम से, क्षुधा-पिपासा, ज्वर आदि परीषहों से चित्त में खेद (खिन्नता) नहीं लाते हैं। सर्व उपसर्गों को सहन करने में समर्थ होते हैं। समदर्शी रहते हैं। कछुए के समान हाथ-पैरों को अथवा इन्द्रियों को संकुचित करके रहते हैं—अर्थात् इन्द्रियविजयी होते हैं। कांक्षा रहित होते हैं। माया प्रपंच से रहित होते हैं। तथा काम और भोगों में आश्चर्य नहीं करते हैं, अर्थात् उनमें अनादर भाव रखते हैं।

उसी प्रकार से—

गाथार्थ—वे जिन-वचनों का अनुचिंतन करते हुए तथा संसार के महान् भय का विचार करते हुए गर्भवास से भीत रहते हैं तथा जन्म और मरणों से भी भयभीत रहते हैं। ८०७॥

आचारवृत्ति—वे अर्हतदेव के आगम में अपनी बुद्धि को अनुरंजित करते हैं, संसार से सन्त्रस्त चित्त होते हुए गर्भवास में रहने से अतिशय भयभीत रहते हैं; पुनः जन्म, जरा और मरण से भी अतिशय भीत रहते है।

गर्भवास से क्यों भयभीत होते हैं ? सो ही बताते हैं -

गाथार्थ—नरक के समान भयंकर सन्तप्यमान कुम्भीपाक सदृश रुधिर के चलायमान कीचड़ से व्याप्त गर्भवास में रहना पड़ेगा। ॥८०८॥

आचारवृत्ति—घोर-भयानक, नरक के सदृश, कुम्भीपाक—व्यथा को देकर जलाना सो कुम्भीपाक है, उसमें खूब ही सन्तप्त होते हुए और रुधिर चल बीभत्स घृणित अर्थात् दुर्गंध की प्रचुरता से युक्त ऐसे माता के गर्भ में मुझे रहना पड़ेगा। अर्थात् उपर्युक्त निंद्य गर्भ में मुझे नव महीने निवास करना पड़ेगा। अहो ! बड़े खेद की बात है।

गर्भवसतिभ्यो भीताः संतः किमिच्छंतीति—

विट्ठपरमट्ठसारा विण्णाणवियक्खणाय बुद्धीए।
णाणकयदीवियाए अगब्भवसदी विमग्गंति ॥८०९॥

ते साधवो दृष्टपरमार्थसाराः संसारस्य शरीरस्य भोगानां च दृष्टं ज्ञातं सारं परमार्थरूपं यैस्ते तथाभूताः, विज्ञानेन विचक्षणया बुद्ध्या मतिज्ञानादिना सुष्ठु कुशलतया विज्ञानविचक्षणया बुद्ध्या ज्ञानकृत-दीपिकया श्रुतज्ञानदीपेन चागर्भवसतिं विशेषेण मृगयंते समीहंत इति ॥८०९॥

विहरंतः किं भावयंतीत्याह—

भावेंति भावणरदा वइरग्गं वीदरागाणं च।
णाणेण दंसणेण य चरित्तजोएण विरिएण ॥८१०॥

भावनायां रता वीतरागाणां ज्ञानदर्शनचरित्रयोगैर्वीर्येण च सह वैराग्यं भावयन्तीति ॥८१०॥

तथा—

देहे णिरावयक्खा अप्पाणं दमरुई दमेमाणा।
धिदिपग्गहपग्गहिदा छिंदंति भवस्स मूलाइं ॥८११॥

देहे देहविषये निरपेक्षा ममत्वरहिताः, दमरुचय इंद्रियनिग्रहतत्पराः, आत्मानं दमयंतः, धृतिप्रग्रह-प्रगृहीता धृतिबलसंयुक्ताः छिंदंति भवस्य मूलानीति ॥८११॥

गर्भवास से भीत होते वे मुनि क्या चाहते हैं?

गाथार्थ—परमार्थ के सार को जानने वाले वे मुनि विज्ञान से विचक्षण ज्ञान-दीपिका-रूप बुद्धि से गर्भरहित निवास का अन्वेषण करते हैं। ॥८०९॥

आचारवृत्ति—वे मुनि संसार, शरीर और भोगों के सार अर्थात् वास्तविक स्वरूप को जान चुके हैं। अतः वे मतिज्ञान आदि रूप अतिशय कुशल बुद्धि से और श्रुतज्ञानरूपी दीपक से गर्भवास—पुनर्जन्म रहित वसति की खोज करते हैं। अर्थात् मोक्ष को चाहते हैं।

विहार करते हुए वे क्या भावना करते हैं? सो ही बताते हैं—

गाथार्थ—भावना में रत हुए मुनि वीतरागों के ज्ञान, दर्शन, चारित्र और वीर्य के साथ वैराग्य की भावना करते हैं। ॥८१०॥

आचारवृत्ति—भावना में लीन में वे मुनि वीतराग तीर्थंकरों के ज्ञान, दर्शन, चारित्र तथा वीर्य की भावना करते हैं और उनके साथ-साथ वैराग्य की भावना करते हैं।

उसी प्रकार से—

गाथार्थ—शरीर से निरपेक्ष, इन्द्रियजयी, आत्मा का दमन करते हुए धैर्य की रस्सी का अवलम्बन लेते हुए संसार के मूल का छेदन कर देते हैं ॥८११॥

आचारवृत्ति—वे मुनि शरीर में ममत्व रहित होते हैं, इन्द्रियों के निग्रह में तत्पर रहते हैं, अपनी आत्मा का निग्रह करते हैं, और धैर्य के बल से संयुक्त होते हैं। वे ही संसार के कारणों का नाश कर देते हैं। यहाँ तक विहारशुद्धि का वर्णन हुआ।

विहारशुद्धि व्याख्याय भिक्षाशुद्धि प्रपंचयन्नाह—

छट्ठट्ठमभत्तेहिं पारेंति य परघरम्मि भिक्खाए ।
जमणट्ठं भुंजंति य ण वि य पयामं रसट्ठाए ।।८१२।।

षष्ठाष्टमभक्तैस्तथा दशमद्वादशादिचतुर्थैश्च पारयंति भुंजते परगृहे भिक्षया कृतकारितानुमति-रहितलाभालाभसमानबुद्ध्या, यमनार्थं चारित्रसाधनार्थं च क्षुदुपशमनार्थं च यात्रासाधनमात्रं भुंजते, नैवं प्रकामं न च प्रचुरं रसार्थाय, अथवा नैव त्यागं कुर्वंति सद्रसार्थं यावन्मात्रेणाहारेण स्वाध्यायादिकं प्रवर्तते तावन्मात्रं गृह्णंति नाजीर्णाय बह्वाहारं गृह्णंतीति ।।८१२।।

कया शुद्ध्या भुंजत इत्याशंकायामाह—

णवकोडीपरिसुद्धं दसदोसविवज्जियं मलविसुद्धं ।
भुंजंति पाणिपत्ते परेण[1] दत्तं परघरम्मि ।।८१३।।

नवकोटिपरिशुद्धं मनोवचनकायैः कृतकारितानुमतिरहितं शंकितादिदोषपरिवर्जितं नखरोमादि-चतुर्दशमलविशुद्धं भुंजते पाणिपात्रेण परेण दत्तं परगृहे, अनेन किमुक्तं भवति ? स्वयं गृहीत्वा न भोक्तव्यं, पात्रं च न ग्राह्यं, स्वगृहे ममत्वमधिष्ठिते न भोक्तव्यमिति ।।८१३।।

विहारशुद्धि का व्याख्यान करके अब भिक्षाशुद्धि का विस्तार करते हैं—

गाथार्थ—बेला, तेला आदि करके परगृह में भिक्षावृत्ति से पारणा करते हैं, संयम के लिए भोजन करते है; किन्तु प्रचुर रस के लिए नहीं ।।८१२।।

आचारवृत्ति—बेला, तेला, चौला, पाँच उपवास आदि तथा एक उपवास आदि करके परगृह में कृत-कारित-अनुमोदना से रहित तथा लाभ-अलाभ में समान बुद्धि रखते हुए भिक्षा विधि से पारणा करते है। चारित्र के साधन के लिए, क्षुधा का उपशमन करने के लिए तथा मोक्ष की यात्रा के साधन मात्र हेतु आहार लेते हैं। किन्तु प्रकाम इच्छानुसार या प्रचुर रस के लिए नहीं लेते हैं। अथवा अच्छे रस के हेतु त्याग नहीं करते हैं। जितने मात्र आहार से स्वाध्याय आदि में प्रवृत्ति होती है उतना मात्र ही लेते है; किन्तु अजीर्ण के लिए बहुत आहार नहीं लेते हैं।

किस शुद्धि से आहार लेते हैं? ऐसी आशंका होने पर कहते हैं—

गाथार्थ—मन, वचन, काय से गुणित कृत, कारित, अनुमोदना रूप नव कोटि से शुद्ध, दश दोष से रहित, चौदह मलदोष से विशुद्ध परगृह में पर के द्वारा दिये गये आहार को पाणिपात्र में ग्रहण करते हैं ।।८१३।।

आचारवृत्ति—मन-वचन-काय को कृत-कारित-अनुमोदना से गुणित करने पर नव हुए ऐसे नव प्रकार से रहित, शंकित, मुक्षित आदि अशन के दश दोषों से रहित और नख, रोम आदि चौदह मल दोषों से रहित ऐसे आहार को करपात्र से परगृह में पर के द्वारा दिये जाने पर ग्रहण करते हैं। इससे क्या अभिप्राय हुआ? मुनि को स्वयं लेकर नहीं खाना चाहिए और पात्र

---

1. क० दिग्गं

तथा—

उद्देसिय कीदयडं अण्णादं संकिदं अभिहडं च ।
सुत्तप्पडिकूडाणि य पडिसिद्धं तं विवज्जंति ।।८४१।।

औद्देशिक, क्रीत, अज्ञातमपरिज्ञातं, शंकितं संदेहस्थानगतं प्रासुकाप्रासुकभ्रान्त्या, अभिघटमित्येवमादि सूत्रप्रतिकूलं सूत्रप्रतिषिद्धमशुद्धं[1] च यत्तत्सर्वं विवर्जयंतीति ।।८१४।।

भिक्षाभ्रमणविधानमाह—

अण्णादमणुण्णादं भिक्खं णिच्चुच्चमज्झिमकुलेसु ।
घरपंतिहिं हिंडंति य मोणेण मुणी समादिंति ।।८१५।।

अज्ञातं[2] यत्र गृहस्थैः साधव आगमिष्यंति भिक्षार्थं नानुमतं स्वेन च तत्र मया गंतव्यमिति[3] नाभि-

---

भी ग्रहण नहीं करना चाहिए तथा ममत्व के आश्रयभूत स्वगृह में भी भोजन नहीं करना चाहिए ।

भावार्थ—मुनि स्वगृह छोड़कर ही दीक्षा लेते हैं; पुनः उनके परिणाम में 'यह मेरा गृह है' ऐसा ममत्व नहीं रहता है । यदि रहे तो वहाँ आहार न लेवें । दीक्षा के बाद स्वगृह में भी आहार की पद्धति रही है । उदाहरण के लिए रानी श्रीमती सहित राजा वज्रजंघ ने अपने युगलपुत्र को महामुनि के वेष में आहार दिया था तथा देवकी ने अपने तीन युगलों को-- युगल पुत्रों को तीन बार आहार दिया आदि । वर्तमान में भी साधु अपने घर में आहार लेते देखे जाते हैं । ऐसे साधुओं को स्वगृह का कोई ममत्व नहीं होता है । दाता का भी ऐसा भाव नहीं रहता कि ये मेरे हैं । अतः उनके द्वारा आहारदान का विरोध नहीं है । कदाचित् गृहस्थ को ऐसा ममत्व आ भी जाये, पर साधु को ऐसा कोई ममत्व नहीं होता ।

उसी प्रकार से और भी बताते हैं—

गाथार्थ—उद्देश अर्थात् दोष सहित, क्रीत, अज्ञात, शंकित, अभिघट दोष सहित, आगम के विरुद्ध आहार निषिद्ध है, ऐसा आहार मुनि छोड़ देते हैं ।।८१४।।

आचारवृत्ति—अपने उद्देश से बना हुआ आहार औद्देशिक है, उसी समय अपने हेतु खरीदकर लाया गया आहार क्रीत है, स्वयं को मालूम नहीं सो अज्ञात है, यह प्रासुक है या अप्रासुक ऐसे संदेह को प्राप्त हुआ आहार शंकित है, सात पंक्ति से अतिरिक्त आया हुआ अभिघट इत्यादि दोष युक्त, आगम के प्रतिकूल जो अशुद्ध आहार है उन सबका मुनि वर्जन कर देते हैं ।

आहार हेतु भ्रमण का विधान बताते हैं—

गाथार्थ—दरिद्र, धनी या मध्यम कुलों में गृहपंक्ति से मौनपूर्वक भ्रमण करते हैं और वे मुनि अज्ञात तथा अनुज्ञात भिक्षा को ग्रहण करते हैं ।।८१५।।

आचारवृत्ति—साधु भिक्षा के लिए मेरे यहाँ आयेंगे ऐसा जिन गृहस्थों को मालूम नहीं

---

१. ब सूत्रप्रतिसिद्धं च यत् । २. ब अज्ञाना ।
३. टिप्पणी में 'मया मन्तव्यं' ऐसा पाठ है ।

प्रेतं अनुज्ञातं[1] गृहस्थैर्येतय आगमिष्यंति भिक्षार्थं स्वेन चावग्रहादिरूपेण मया तत्र गंतव्यं नानुमतं, भिक्षां चतुर्विधाहारं, नीचोच्चमध्यमकुलेषु दरिद्रेश्वरसमानगृहिषु[3] गृहपंक्त्या हिंडंति पर्यटंति, मौनेन मुनयः समाददते भिक्षां गृह्णंतीति ॥८१५॥

तथा रसनेंद्रियजयमाह—

सीदलमसीदलं वा सुक्कं लुक्खं सिणिद्ध सुद्ध वा ।
लोणिदमलोणिदं वा भुंजंति मुणी अणासादं ॥८१६॥

शीतलं पूर्वाह्णवेलायां कृतं परित्यक्तोष्णभावं भोज्यं, अशीतलं तत्क्षणादेवावतीर्णमपरित्यक्तोष्णभावमोदनादिकं, रूक्षं घृततैलादिरहितं कोद्रवमकुष्टादिकं वा, शुष्कं दुग्धदधिव्यंजनादिरहितं, स्निग्धं घृतादिसहितं शाल्योदनादिकं, शुद्धं पिठरादवतीर्णरूपं न च मनागपि विकृतं, लवणयुक्तं अलवणं वा भुंजते मुनयोऽनास्वादं यथा भवति जिह्वास्वादरहितमिति ॥८१६॥

यमनार्थपदस्यार्थं निरूपयन्नाह—

है उनका आहार 'अज्ञात' है, तथा 'आज मुझे उसके यहाँ आहार हेतु जाना है' इस प्रकार से मुनि ने स्वयं उसे अनुमति नहीं दी है और न ऐसा उनका अभिप्राय है वह आहार 'अनुज्ञात' अथवा 'अननुज्ञात'[2] है। अर्थात् 'यति भिक्षा के लिए आयेंगे और मुझे अवग्रह-वृतपरिसंख्यान आदि के नियम से वहाँ जाना चाहिए' इस प्रकार से अनुमति नहीं दी है। ऐसा आहार मुनि मौनपूर्वक ग्रहण करते हैं। तथा आहार काल में दरिद्र या सम्पन्न में समान मान से, गृहपंक्ति से भ्रमण करते हैं और मौनपूर्वक निर्दोष आहार ग्रहण करते हैं।

रसना इन्द्रिय के जय को कहते हैं—

गाथार्थ—ठण्डा हो या गरम, सूखा हो या रूखा, चिकनाई सहित हो या रहित, लवण सहित हो या रहित—ऐसे स्वादरहित आहार को मुनि ग्रहण करते हैं ॥८१६॥

आचारवृत्ति—शीतल—पूर्वाण्ह बेला में बनाया गया होने से जो उष्णपने से रहित हो चुका है ऐसा भोज्य पदार्थ, अशीतल उसी क्षण ही उतारा हुआ होने से जो गरम-गरम है ऐसे भात आदि पदार्थ, रूक्ष—घी, तेल, आदि से रहित अथवा कोदों व मकुष्ट अन्न विशेष आदि पदार्थ, शुष्क—दूध, दही व्यंजन अर्थात् साग, चटनी आदि से रहित, स्निग्ध—घृत आदि सहित, शालिधान का भात आदि, शुद्ध—चूल्हे से उतारा गया, मात्र जिसमें किंचित् भी कुछ डाला नहीं गया है, नमक सहित भोजन या नमक रहित पदार्थ, ऐसे भोजन को मुनि जिह्वा का स्वाद न लेते हुए ग्रहण करते हैं। अर्थात् ठण्डे-गरम आदि प्रकार के आहार में राग-द्वेष न करते हुए समता भाव से स्वाद की तरफ लक्ष्य न देते हुए मुनि आहार लेते हैं।

'यमनार्थ' पद का अर्थ स्पष्ट करते हैं—

---

१. क अननुज्ञातं चानुमतं।

२. 'अननुज्ञातं' पाठ टिप्पणी में है। ये दोनों पाठ संगत प्रतीत होने से ऐसा अर्थ किया है।

३. क गृहेषु

अक्खोमक्खणमेत्तं भुंजंति मुणी पाणधारणणिमित्तं ।
पाणं धम्मणिमित्तं धम्मं पि चरंति मोक्खट्ठं ॥८१७॥

अक्षम्रक्षणमात्रं यथा शकटं धुरालेपनमंतरेण न वहत्येवं शरीरमप्यशनमात्रेण विना न संवहतीति मुनयः प्राणधारणनिमित्तं किंचिन्मात्रं भुंजते, प्राणधारणं च धर्मनिमित्तं कुर्वंति, धर्ममपि चरंति मोक्षार्थं मुक्तिनिमित्तमिति ॥८१७॥

लाभालाभविषये समत्वमाह—

लद्धेण होंति तुट्ठा ण वि य अलद्धेण दुम्मणा होंति ।
दुक्खे सुहे य मुणिणो मज्झत्थमणाउला होंति ॥८१८॥

भिक्षाया लाभे आहारादिसंप्राप्तौ न भवंति संतुष्टाः संतोषपरिगता[1] जिह्वेन्द्रियवशंगता अद्य[2] लब्धा भिक्षेति न हर्षं विदधति स्वचित्ते न चाप्यलब्धे भिक्षाया अलाभेऽसंप्राप्तौ सत्यां दुर्मनसो विमनस्का न भवंति 'अस्माभि राहारादिकमद्य न लब्धमिति दीनमनसो न भवंति' दुःखे संजाते सुखे च समुद्भूते मुनयो मध्यस्थाः समभावा अनाकुलाश्च भवंतीति ॥८१८॥

चर्यायां मुनीनां स्थैर्यं निरूपयन्नाह—

गाथार्थ—मुनि धुरे में ओंगन देने मात्र के सदृश, प्राणों के धारण हेतु आहार करते हैं—प्राणों को धर्म के लिए और धर्म को भी मोक्ष के लिए आचरते हैं ॥८१७॥

आचारवृत्ति—जैसे गाड़ी की धुरी में लेपन-ओंगन दिये बिना गाड़ी नहीं चलती है उसी प्रकार से यह शरीर भी अशनमात्र के बिना नहीं चल सकता है और मोक्षमार्ग में रत्नत्रय भार को नहीं ढो सकता है। इसलिए मुनि प्राणों को धारण करने के लिए किंचित् मात्र आहार ग्रहण करते हैं और धर्म के लिए आचरण करते हैं। इस प्रकार से मुनियों की आहार क्रिया अक्षम्रक्षणवृत्ति कहलाती है।

लाभ-अलाभ के विषय में समभाव को बताते हैं—

गाथार्थ—आहार आदि मिल जाने पर सन्तुष्ट नहीं होते हैं और नहीं मिलने पर भी उन्मनस्क नहीं होते हैं, वे मुनि दुःख और सुख में आकुलतारहित मध्यस्थ रहते हैं ॥८१८॥

आचारवृत्ति—आहार आदि की प्राप्ति हो जाने पर वे सन्तुष्ट नहीं होते हैं। अर्थात् जिह्वेन्द्रिय के वश में होकर 'आज मुझे आहार मिल गया' इस प्रकार से अपने मन में हर्षित नहीं होते हैं और आहार के नहीं मिलने पर खेदखिन्न नहीं होते है, अर्थात् 'मुझे आज आहार आदि नहीं मिला' ऐसा दीनमन नहीं करते हैं। दुःख के आ जाने पर अथवा सुख के उत्पन्न होने पर वे आकुलचित्त न होते हुए समभाव धारण करते हैं।

चर्या में मुनियों के स्थैर्य का निरूपण करते हैं—

---

१. क संतोषपराः । २. पुष्पिकान्तर्गतः पाठः 'द' 'क' प्रती नास्ति ।

ण वि ते अभित्थुणंति य पिंडत्थं ण वि य किंचि जायंति ।
मोणव्वदेण मुणिणो चरंति भिक्खं अभासंता ॥८१९॥

नापि ते मुनयोऽभिष्टुवन्ति नैवोपश्लोकादिभिः स्तुतिं कुर्वंति पिंडार्थं ग्रासनिमित्तं, नैवापि च किंचित् याचंते न चापि प्रार्थयंते द्रव्यादिकमाहाराय, मौनव्रतेन तोषमादाय मुनयश्चरंति भिक्षार्थमाहारार्थं पर्यटंति, अभाषयंतः खात्कारघंटिकादिसंज्ञां वा न कुर्वंतीति न पौनरुक्त्यमिति ॥८१९॥

तथा—

देहि त्ति दीणकलुसं भासं णेच्छंति एरिसं वोत्तुं ।
अवि णीदि अलाभेणं ण य मोणं भंजदे धीरा ॥८२०॥

देहीति मम ग्रासमात्रं दद्ध्वं यूयमिति दीनां करुणां च भाषां नेच्छंति । ईदृशीं वक्तुं सुष्ठु अहं बुभुक्षितो मम पंच सप्त वा दिनानि वर्तंते भोजनमंतरेणेति वचनं दीनं यदि मह्यं भोजनं[1] न प्रयच्छत तदा मृतोऽहं शरीरस्य मम सुष्ठु कृशता रोगादिभिर्ग्रस्तोऽहं नास्माकं किंचिद्विद्यते याचनादिपूर्वकं वचनं करुणोपेतमिति, अपि निवर्त्ततेऽलाभे वा लाभे संजाते निवर्त्तंते भिक्षागृहेषु न पुनः प्रविशंति न च मौनं भंजंति न किंचिदपि प्रार्थयंते भोजनाय धीराः सत्वसंपन्ना इति ॥८२०॥

गाथार्थ—भोजन के लिए किसी की स्तुति नहीं करते हैं और न कुछ भी याचना करते हैं । वे मुनि बिना बोले मौनव्रतपूर्वक भिक्षा ग्रहण करते हैं ॥८१९॥

आचारवृत्ति—ग्रास के निमित्त वे मुनि श्लोक आदि के द्वारा किसी की स्तुति नहीं करते हैं, और आहार के लिए वे किंचित् भी द्रव्य आदि की याचना भी नहीं करते हैं । वे सन्तोष से मौनपूर्वक आहार के लिए पर्यटन करते हैं । किन्तु मौन में खखार, हुंकार आदि संकेत को भी नहीं करते हैं । इस कथन से यहाँ मौनपूर्वक और 'नहीं बोलना' इन दो प्रकार के कथनों में पुनरुक्त दोष नहीं है । अर्थात् मौन व्रत से किसी से वार्तालाप नहीं करना—कुछ नहीं बोलना—ऐसा अभिप्राय है और 'अभाषयन्तः' से खखार, हुँ, हाँ, ताली बजाना आदि अव्यक्त शब्दों का संकेत वर्जित है । ऐसा समझना ।

उसी प्रकार से और भी कहते हैं—

गाथार्थ—'दे दो' इस प्रकार से दीनता से कलुषित ऐसा वचन नहीं बोलना चाहते हैं, आहार के न मिलने पर वापस आ जाते हैं; किन्तु वे धीर मौन का भंग नहीं करते हैं । ॥८२०॥

आचारवृत्ति—'तुम मुझे ग्रासमात्र भोजन दे दो' इस प्रकार से दीन और करुण वचन नहीं बोलते हैं । 'मैं बहुत ही भूखा हूँ, भोजन के बिना मुझे पाँच या सात दिन हो गये हैं', ऐसे वचन दीन कहलाते हैं । तथा 'यदि आप मुझे भोजन नहीं देंगे तो मैं मर जाऊँगा, मेरे शरीर में बहुत कमजोरी आ गई है, मैं रोगादि से पीड़ित हूँ, मेरे पास कुछ भी नहीं है', इत्यादि रूप याचना के वचन करुणा से सहित वचन हैं । मुनिराज ऐसे दीन व करुणार्द्र वचन नहीं बोलते हैं । भिक्षा का लाभ नहीं होने पर वे वापस आ जाते हैं । अथवा भिक्षा मिल जाने पर आहार ग्रहण कर वापस आ जाते हैं, पुनः भिक्षा के लिए घरों में प्रवेश नहीं करते हैं । न मौन भंग करते हैं और न वे भोजन के लिए कुछ भी प्रार्थना ही करते हैं । ऐसे साधु धीर—सत्त्वगुण सम्पन्न होते हैं ।

---

1. क० भोज्यमन्नं

यदि न याचंते किमात्मना किंचित् कुर्वंतीत्याशंकायामाह—

पयण व पायणं वा ण करेंति अ णेव ते करावेंति ।
पयणारंभणियत्ता संतुट्ठा भिक्खमेत्तेण ॥८२१॥

पचनं स्वेनौदनादिनिर्वर्त्तनं पाचनं स्वोपदेशेनान्येन निर्वर्तनं[1] न कुर्वंति नापि कारयंति मुनयः, पच-नारंभान्निवृत्ता दूरतः स्थिता संतुष्टाः, भिक्षामात्रेण —कायसंदर्शनमात्रेण भिक्षार्थं पर्यटंतीति ॥८२१॥

लब्धमपि संनिरीक्ष्य गृह्णंतीत्येवं निरूपयन्नाह—

असणं जदि वा पाणं खज्जं भोज्जं लिज्जं पेज्जं वा ।
पडिलेहिऊण सुद्धं भुंजंति पाणिपत्तेसु ॥८२२॥

अशनं भक्तादिकं, यदि वा पानं दुग्धजलादिकं, खाद्यं लड्डुकादिकं, भोज्यं भक्ष्यं मंडकादिकं, लेह्य-मास्वाद्यं, पेयं स्तोकभक्तसिक्थपानबहुलं, वा विकल्पवचनं, प्रतिलेख्य शुद्धं भुंजते पाणिपात्रेषु न भाजना-दिष्विति ॥८२२॥

अप्रासुकं परिहरन्नाह—

यदि याचना नहीं करते हैं तो क्या वे स्वयं कुछ करते हैं ? ऐसी आशंका होने पर कहते हैं—

गाथार्थ—वे भोजन पकाना या पकवाना भी नहीं करते हैं और न कराते हैं, वे पकाने के आरम्भ से निवृत्त हो चुके है, भिक्षा मात्र से ही सन्तुष्ट रहते हैं ।।८२१।।

आचारवृत्ति—पचन—स्वयं भात आदि पकाना, पाचन—आप उपदेश देकर अन्य से पकवाना । ये कार्य मुनि न करते हैं और न कराते है । भोजन बनाने आदि के आरम्भ से वे दूर ही रहते हैं । काय को दिखाने मात्र से वे भिक्षा के लिए पर्यटन करते हैं। अर्थात् आहार के लिए भ्रमण करने में वे केवल अपने शरीर मात्र को ही दिखाते हैं किन्तु कुछ संकेत या याचना आदि नहीं करते हैं । वे भिक्षावृत्ति से ही सन्तुष्ट रहते है ।

प्राप्त हुए भोजन को भी वे अच्छी तरह देखकर ग्रहण करते है, इस बात को बताते है—

गाथार्थ—अशन अथवा पान, खाद्य या भोज्य, लेह्य या पेय इन पदार्थों को देखकर शोधकर करपात्र में शुद्ध आहार को ग्रहण करते हैं । ।।८२२।।

आचारवृत्ति—अशन—भात आदि, पान—दूध जल आदि, खाद्य—लड्डू आदि, भोज्य—खानेयोग्य माण्डे आदि, लेह्य—चाटने योग्य पदार्थ, पेय—जिसमें भोजन वस्तु स्वल्प है और पतली वस्तु अधिक है ऐसे ठण्डाई आदि पदार्थ । ऐसी किसी भी चीज़ को अपने अंजलिपात्र में भलीभांति देखकर शुद्ध आहार ग्रहण करते है । वे मुनि बर्तन आदि में नहीं खाते हैं ।

अप्रासुक का परिहार करते हुए कहते हैं—

---

१. क० निर्वर्तनमशनस्य

जं होज्ज अविव्वण्णं पासुग[1] पसत्थं तु एसणासुद्धं ।
भुंजंति पाणिपत्ते लद्धूण य गोयरग्गम्मि ॥८२३॥

यद्भवत्यविवर्णरूपं प्रासुकं सम्मूर्छनादिरहितं निर्जीवं जंतुरहितं च, प्रशस्तं मनोहर, एषणासमिति-विशुद्धं, गोचराग्रे भिक्षावेलायां, लब्ध्वा पाणिपात्रेषु भुंजत इति ॥८२३॥

तथा—

जं होज्ज वेहिग्रं तेहिग्रं च वेवण्णजंतुसंसिट्ठं ।
अप्पासुगं तु णच्चा तं भिक्खं मुणी विवज्जंति ॥८२४॥

यद्भवति द्व्यहजातं त्र्यहजातं द्विदिनभवं त्रिदिनभव च, विवर्णरूपं स्वभावचलितं, जंतुसम्मिश्र-मागंतुकैः सम्मूर्छनजैश्च जीवैः सहितमप्रासुकमिति ज्ञात्वा तां भिक्षां मुनयो विवर्जयन्तीति ॥८२४॥

विवर्जनीयद्रव्यमाह—

जं पुप्फियं किण्णइदं बट्ठूणं पूप-पप्पडादीणि ।
वज्जंति वज्जणिज्जं भिक्खू अप्पासुयं जं तु ॥८२५॥

यत्पुष्पितं नीलकृष्णश्वेतपीतादिरूपजातं, क्लिन्नं कुथितं दृष्ट्वा अपूप-पर्पटादिकं वर्जनीयं, लब्धमपि

गाथार्थ— जो चलित रस रहित, प्रासुक, प्रशस्त और एषणा समिति से शुद्ध है उसे आहार के समय प्राप्त कर पाणिपात्र से आहार करते हैं। ॥८२३॥

आचारवृत्ति—जो विकृत—खराब नहीं हुआ है वह अविवर्ण है। संमूर्च्छन आदि रहित, निर्जीव, जन्तुरहित भोजन प्रासुक है, मनोहर भोजन प्रशस्त है। अर्थात् जो ग्लानि पैदा करने-वाला नहीं है। एषणा समिति के छयालीस दोष और बत्तीस अन्तरायों से रहित है। ऐसा भोजन आहार की बेला में प्राप्त करके वे मुनि अपने पाणिपात्र से ग्रहण करते हैं।

उसी प्रकार से और भी बताते हैं—

गाथार्थ—जो दो दिन का या तीन दिन का है, चलित स्वाद है, जन्तु से युक्त है, अप्रासुक है उसको जानकर मुनि उस आहार को छोड़ देते है। ॥८२४॥

आचारवृत्ति—जो भोजन दो दिन का हो गया है या तीन दिन का हो गया है, जो स्वभाव से चलित हो जाने से विवर्ण रूप हो गया है, जो आगतुक सम्मच्छंन जीवों से सहित है, अप्रासुक है ऐसा जानकर वे मुनि उस भिक्षा को छोड़ देते है।

छोड़ने योग्य पदार्थों को बताते हैं—

गाथार्थ—फफूंदी सहित, बिगड़े हुए पुआ, पापड़ आदि देखकर तथा जो अप्रासुक हैं, छोड़ने योग्य हैं, मुनि उन सबको छोड़ देते हैं। ॥८२५॥

आचारवृत्ति—जो खाद्य पदार्थ पुष्पित अर्थात् नीले, काले, सफेद या पीले आदि रंग के

---

1. क० ब० पासुय

यत्सर्वं यत्किंचिदप्रासुकं तददीनमनसो वर्जयंति परिहरंतीति ॥८२५॥

एवम्भूतं तु गृह्णंतीत्याह—

जं सुद्धमसंसत्तं खज्जं भोज्जं च लेज्ज पेज्जं वा ।
गिह्णंति मुणी भिक्खं सुत्तेण अणिंदयं जं तु ॥८२६॥

यच्छुद्धं विवर्णादिरूपं न भवति, जंतुभिः संसृष्टं च न भवति । खाद्यं भोज्यं लेह्यं पेयं च, सूत्रेणा-निन्दितं तद्‌भैक्ष्यं मुनयो गृह्णंतीति ॥८२६॥

आमपरिहारायाह—

फलकंदमूलबीयं अणग्गिपक्कं तु आमयं किंचि ।
णच्चा अणेसणीयं ण वि य पडिच्छंति ते धीरा ॥८२७॥

फलानि कंदमूलानि बीजानि चाग्निपक्वानि न भवंति यानि अन्यदप्यामकं यत्किंचित्तदनशनीयं ज्ञात्वा नैव प्रतीच्छन्ति नाभ्युपगच्छन्ति ते धीरा इति ॥८२७॥

हो गये हैं, बिगड़ गये हैं, ऐसे पुआ, पापड़ पदार्थ हैं, और भी जो अप्रासुक पदार्थ हैं, वे सब त्याग करने योग्य हैं। मुनि अदीनमन होते हुए इन सबको छोड़ देते हैं।

जिस तरह के पदार्थ ग्रहण करते हैं उनको बताते हैं—

गाथार्थ—जो शुद्ध है, जीवों से सम्बद्ध नहीं है, और जो आगम से वर्जित नहीं है ऐसे खाद्य, भोज्य, लेह्य और पेय को मुनि आहार में लेते हैं। ॥८२६॥

आचारवृत्ति—जो विवर्ण चलित आदि रूप नहीं हुआ है, जो जन्तुओं से सम्मिश्र नहीं है और जो भोजन आगम से निंदित नहीं है ऐसे खाद्य, भोज्य, लेह्य और पेय रूप चार प्रकार के आहार को मुनि ग्रहण करते हैं।

सचित्त वस्तु का परिहार करने के लिए कहते हैं—

गाथार्थ—अग्नि से नहीं पके हुए फल, कन्द, मूल और बीज तथा और भी कच्चे पदार्थ जो खाने योग्य नहीं है ऐसा जानकर वे धीर मुनि उनको स्वीकार नहीं करते हैं। ॥८२७॥

आचारवृत्ति—फल, कन्द, मूल और बीज जो अग्नि से नहीं पकाये गए हैं, तथा और भी जो कुछ कच्चे पदार्थ है वे खाने योग्य नहीं हैं, उन्हें जानकर वे मुनि उनको ग्रहण नहीं करते हैं।

भावार्थ—सचित्त वस्तु को प्रासुक करने के दश प्रकार भी बताये गये हैं। यथा—

सुक्कं पक्कं तत्तं अंबिल लवणेण मिस्सियं दव्वं ।
जं जंतेण य छिण्णं तं सव्वं फासुयं भणियं ॥[1]

अर्थ—जो द्रव्य सूखा हो, पका हो, तप्त हो, आम्लरस तथा लवणमिश्रित हो, कोल्हू, चरखी, चक्की, छुरी, चाकू आदि यन्त्रों से भिन्न-भिन्न किया हुआ तथा संशोधित हो, सो सब प्रासुक है।

---

१. यह गाथा स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा की संस्कृत टीका में तथा केशववर्णिकृत गोम्मटसार की संस्कृत टीका में भी सत्यवचन के भेदों में कही गई है।

यदशनीयं तदाह—

जं हवदि अणिव्वीयं णिवट्टिमं फासुयं कयं चेव।
णाऊण एसणीयं तं भिक्खं मुणी पडिच्छंति ॥८२८॥

यद्भवत्यबीजं निर्बीजं, निर्वर्त्तिमं निर्गतमध्यसारं, प्रासुकं कृतं चैव ज्ञात्वाऽशनीयं तद्भैक्ष्यं मुनयः प्रतीच्छंतीति ॥८२८॥

भुक्त्वा किं कुर्वंतीत्याशंकायामाह—

भोत्तूण गोयरग्गे तहेव मुणिणो पुणो वि पडिकंता।
परिमिदएयाहारा खमणेण पुणो वि पारेंति ॥८२९॥

गोचराग्रे भुक्त्वा भिक्षाचर्यामार्गे भुक्त्वा तथापि मुनयः पुनरपि प्रतिक्रामंति दोषनिर्हरणाय क्रिया-कलापं कुर्वन्ते, यद्यपि कृतकारितानुमतिरहिता भिक्षा लब्धा तथापि तदर्थं वा शुद्धिं कुर्वन्त्यतीव यतयः, परिमितैकाहाराः परिमित [1]एक एकवेलायामाहारो येषां ते परिमितैकाहाराः क्षमणेनोपवासेनैकस्थानेन वा पुनरपि पारयंति भुंजते इति ॥८२९॥

ज्ञानशुद्धिं निरूपयन्नाह—

ते लद्धणाणचक्खू णाणुज्जोएण दिट्ठपरमट्ठा।
णिस्संकिदणिव्विदिगिंछादबलपरक्कमा साहू ॥८३०॥

जा खाने योग्य हैं उनको बताते हैं—

गाथार्थ—जो बीज रहित है, पकाया हुआ है या प्रासुक किया हुआ है वह खाने योग्य है ऐसा जानकर उसको आहार में मुनि ग्रहण करते हैं। ॥८२८॥

आचारवृत्ति—जिसमें से बीज को निकाल दिया है, जिनको पका दिया गया है या जिनके मध्य का सार अंश निकल गया है, जो प्रासुक हैं वे पदार्थ भक्ष्य हैं, उन्हें ही मुनि आहार में ग्रहण करते हैं।

आहार करके क्या करते हैं? ऐसी आशंका होने पर कहते हैं—

गाथार्थ—उसी प्रकार से गोचरी बेला में आहार करके वे मुनि पुनः प्रतिक्रमण करके परिमित एक आहारी उपवास करके पुनः पारणा करते हैं। ॥८२९॥

आचारवृत्ति—गोचरीवृत्ति से चर्या करके वे मुनि आहार ग्रहण करते है, पुनः आकर प्रतिक्रमण करते है, अर्थात् दोष-परिहार के लिए क्रिया-कलाप करते हैं। यद्यपि कृत कारित अनु-मोदना से रहित आहार मिला है फिर भी उसके लिए वे यति अतीव शुद्धि करते हैं। वे दिन में एक बार ही आहार लेने से परिमित एक आहारो हैं। पुनः उपवास करके अथवा एकस्थान से पारणा करते हैं। यह भिक्षा-शुद्धि हुई।

अब ज्ञान-शुद्धि का निरूपण करते हैं—

गाथार्थ—वे ज्ञानचक्षु को प्राप्त हुए साधु ज्ञान-प्रकाश के द्वारा परमार्थ को देखने वाले निःशंकित निर्विचिकित्सा और आत्मबल पराक्रम से सहित होते हैं। ॥८३०॥

---

१. ब प्रतौ नास्ति।

ते मुनयो लब्धज्ञानचक्षुषो ज्ञानोद्योतेन दृष्टपरमार्था मतिज्ञानं श्रुतज्ञानं मनःपर्ययावधिज्ञानमुद्योतस्तेन ज्ञातसर्वलोकसाराः, शंकाया श्रुतज्ञानादिनिरूपितपदार्थविषयसंदेहान्निर्गता निःशंका, विचिकित्साया निर्गता निर्विचिकित्सा आत्मबलानुरूपः पराक्रमो येषां ते आत्मबल-पराक्रमा यथाशक्त्युत्साहसमन्विताः साधव इति ॥८३०॥

पुनरपि किंविशिष्टा इत्याशंकायामाह—

> अणुबद्धतवोकम्मा खवणवसगदा तवेण तणुअंगा।
> धीरा गुणगंभीरा अभग्गजोगा य दिढचरित्ता य ॥८३१॥

तथा—

> आलीणगंडमंसा पायडभिउडीमुहा अधियवच्छा।
> सवणा तवं चरंता उक्किण्णा धम्मलच्छीए ॥८३२॥

अनुबद्धं संततं तपःकर्म तपोऽनुष्ठानं येषां तेऽनुबद्धतपःकर्माणो द्वादशविधे तपस्युद्यताः, क्षमणवशंगताः, तपसा तनुशरीराः धीराः, गुणगंभीरा गुणसंपूर्णाः, अभग्नयोगाः दृढचरित्राश्च ॥८३१॥

आलीनगंडमांसाः क्षीणकपोलाः प्रकटभृकुटिमुखा अधिकाक्षास्तारकामात्रनयनाश्चर्मास्थिशेषाः श्रमणास्तपश्चरंत एवंभूता अपि सयुक्ता धर्मलक्ष्म्या ज्ञानभावनयोपेता यतो[1] न ज्ञानमात्रात्सिद्धिरिति ॥८३२॥

आचारवृत्ति—जिनको ज्ञानरूपी नेत्र प्राप्त हो चुका है, जिन्होंने मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मनःपर्यय ज्ञान के उद्योत से जगत् के सार—स्थिति को जान लिया है, जो श्रुत ज्ञान आदि से निरूपित पदार्थों के विषय में सन्देह रहित होने से निःशंक है एव विचिकित्सा अर्थात् ग्लानि से रहित होने से निर्विचिकित्सा सहित है वे अपने बल के अनुरूप पराक्रम से युक्त हैं अर्थात् वे साधु यथाशक्ति उत्साह से समन्वित है।

पुनः वे किन विशेषताओं से सहित हैं सो ही बताते है—

गाथार्थ—जो तप करने में तत्पर है, उपवास के वशीभूत हैं, तप से कृशशरीरी हैं, धीर हैं, गुणों से गम्भीर हैं, योग का भग नही करते है और दृढ़चारित्रधारी है। तथा—

जिनके कपोल का मांस सूख गया है, भृकुटी और मुख प्रकट हैं, आँख के तारे चमक रहे हैं, ऐसे श्रमण तपश्चर्या करते हुए धर्मलक्ष्मी से संयुक्त है। ॥८३१, ८३२॥

आचारवृत्ति—जो सतत बारह प्रकार के तप के अनुष्ठान में तत्पर हैं, उपवास में लगे हुए हैं, तपश्चरण से जिनका शरीर क्षीण हो चुका है, धीर है, गुणों से परिपूर्ण हैं, आतापन आदि योगों का कभी भंग नहीं करते हैं, चारित्र में दृढ़ है;

जिनके कपोल क्षीण हो गए हैं, जिनकी भ्रकुटियाँ प्रकट दिख रही हैं, जिनकी आँखें अन्दर घुस गई हैं मात्र पुतलियाँ चमक रही हैं, जिनके शरीर में चर्म और अस्थि ही शेष रह गयी हैं, इस प्रकार से तपश्चरण करते हुए भी वे श्रमण ज्ञान भावना से सहित रहते हैं। चूंकि ज्ञानमात्र से सिद्धि नहीं होती है अर्थात् ज्ञानमात्र से ही मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती है अतः कर्मों का नाश करने के लिए वे महामुनि घोर तपश्चरण करते हैं।

कथं ज्ञानभावनया संपन्ना इत्याशंकायामाह—

आगमकदविण्णाणा अट्ठंगविदू य बुद्धिसंपण्णा ।
अंगाणि दस य दोण्णि य चोद्दस य धरंति पुव्वाइं ॥८३३॥

न केवलं भिक्षादिशुद्धौ रताः किं तु ज्ञानशुद्धावपि रता यतः आगमेन कृतं विज्ञानं यैस्ते आगमकृत-विज्ञानाः श्रुतज्ञानदृष्टपरमार्थाः अष्टांगविदोऽगव्यंजनादिनिमित्तकुशलाश्चतुर्विधबुद्धिसंपन्नाश्च । कथमागमकृत-विज्ञाना इति चेदंगानि दश द्वे चाचारसूत्रकृतस्थानसमवायव्याख्याप्रज्ञप्तिज्ञातृकथोपासकाध्ययनांतःकृद्दशानुत्तर-दशप्रश्नव्याकरणविपाकसूत्रदृष्टिवादसंज्ञकानि द्वादशांगानि धारयंति तथा दृष्टिवादोद्भूतचतुर्दशपूर्वाण्युत्पा-दाग्रायणीवीर्यानुप्रवादास्तिनास्तिप्रवादज्ञानप्रवादसत्यप्रवादात्मप्रवादकर्मप्रवादप्रत्याख्यानप्रवादविद्यानुप्रवाद-कल्याणप्राणवायक्रियाविशाललोकबिन्दुसारसंज्ञकानि धरति जानति यतोऽत आगमकृतविज्ञाना इति ॥८३३॥

न केवलं तानि पठंति शृण्वंति, किं तु—[1]

धारणगहणसमत्था पदाणुसारीय बीयबुद्धीय ।
संभिण्णकोट्ठबुद्धी सुयसायरपारया धीरा ॥८३४॥

किस प्रकार से वे साधु ज्ञान भावना से सम्पन्न हैं ? ऐसी आशंका होने पर कहते हैं—

गाथार्थ—आगम के ज्ञानी, अष्टांग निमित्त के वेत्ता, बुद्धि ऋद्धि से सम्पन्न वे मुनि बारह अंग और चौदह पूर्वों को धारण करते है । ॥८३३॥

आचारवृत्ति—वे साधु केवल भिक्षा-शुद्धि आदि में ही रत हों, ऐसी बात नहीं है; किन्तु ज्ञानशुद्धि में भी रत है, क्योंकि वे श्रुतज्ञान से परमार्थ को देखने वाले हैं; अंग, व्यंजन, स्वर आदि निमित्त में कुशल हैं, एवं चार प्रकार की बुद्धि-ऋद्धि से भी सम्पन्न हैं । अर्थात् आचारांग, सूत्रकृतांग, स्थानांग, समवायाग, व्याख्याप्रज्ञप्ति अंग, ज्ञातृकथांग, उपासकाध्ययनांग, अंतःकृद्दशांग, अनुत्तरदशांग, प्रश्नव्याकरणांग, विपाकसूत्रांग और दृष्टिवादांग ये बारह अंग हैं । तथा दृष्टिवाद नामक अन्तिम अंग से उत्पन्न हुए चौदह पूर्व है जिनके उत्पादपूर्व, अग्रायणी-पूर्व, वार्यानुप्रवादपूर्व, अस्तिनास्तिप्रवादपूर्व, ज्ञानप्रवादपूर्व, सत्यप्रवाद, आत्म-प्रवादपूर्व, कर्मप्रवादपूर्व, प्रत्याख्यानप्रवादपूर्व, विद्यानुप्रवादपूर्व, कल्याणपूर्व, प्राणावायपूर्व, क्रिया-विशालपूर्व और लोकबिंदुसारपूर्व नाम हैं । इन बारह अंग और चौदह पूर्वों को वे जानते हैं इस-लिए वे आगम कृत विज्ञान से सहित हैं ।

भावार्थ—कोष्ठबुद्धि, बीजबुद्धि, पदानुसारि बुद्धि और सभिन्न श्रोतृ इन चार ऋद्धियों को बुद्धि ऋद्धि कहते हैं ।

वे केवल इन अंगपूर्वों को पढ़ते और सुनते ही हों, ऐसा नहीं है; किन्तु—

गाथार्थ—जो धारण और ग्रहण करने में समर्थ हैं, पदानुसारी, बीजबुद्धि, संभिन्न श्रोतृ बुद्धि और कोष्ठबुद्धि ऋद्धिवाले हैं, श्रुतसमुद्र के पारंगत हैं वे धीर, गुण सम्पन्न साधु हैं । ॥८३४॥

---

१. विशेष उच्यते स्वभावबुद्ध्यधिकास्तेषाम् इति क प्रतौ अधिकः पाठः ।

तेषामंगानां पूर्वाणां चार्थग्रहणसमर्था यथैवोपाध्याय: प्रतिपादयत्यर्थं तथैवाविनष्टं गृह्णंति प्रतिपद्यंते ग्रहणसमर्था:, गृहीतमर्थं कालांतरेण न विस्मरन्तीति धारणसमर्था: । चतुर्विधबुद्धिसंपन्ना इत्युक्ता: के ते इत्याशंकायामाह; पदानुसारिण:, बीजबुद्धय:, संभिन्नबुद्धय:, कोष्ठबुद्धयश्च । द्वादशांगचतुर्दशपूर्वमध्ये एकं पदं प्राप्य तदनुसारेण सर्वं श्रुतं बुध्यंते पादानुसारिण: । तथा सर्वश्रुतमध्ये एकं बीजं प्रधानाक्षरादिकं संप्राप्य सर्वमवबुध्यन्ते बीजबुद्धय: । तथा चक्रवर्तिस्कन्धावारमध्ये वद्वृत्तमार्याश्लोकमात्राद्विपददंडकादिकमनेकभेदभिन्नं सर्वै: पठितं गेयविशेषादिकं च स्वरादिकं च यच्छ्रुतं यस्मिन् यस्मिन् येन येन पठितं तत्सर्वं तस्मिन् तस्मिन्काले तस्य तस्याविनष्टं ये कथयंति ते संभिन्नबुद्धय: । तथा कोष्ठागारे संकरव्यतिकररहितानि नानाप्रकाराणि बीजानि बहुकालेनाऽपि न विनश्यंति न संकीर्यंते च यथा तथा येषां श्रुतानि पदवर्णवाक्यादीनि बहुकाले गते तेनैव प्रकारेणाविनष्टार्थान्यन्यूनाधिकानि संपूर्णानि संतिष्ठंते ते कोष्ठबुद्धय: । श्रुतसागरपारगा: सर्वश्रुतबुद्धपरमार्था अवधिमन:पर्ययज्ञानिन: सप्तर्द्धिसम्पन्ना धीरा इति ॥८३४॥

आचारवृत्ति—जो मुनि उन अंग और पूर्वों के अर्थ को ग्रहण करने में समर्थ हैं, अर्थात् उपाध्याय गुरु जिस प्रकार से अर्थ का प्रतिपादन करते हैं उसी प्रकार से जो पूर्णतया उस अर्थ को ग्रहण करते हैं --समझ लेते हैं वे मुनि अर्थ-ग्रहण समर्थ कहलाते हैं। उसी प्रकार से ग्रहण किए हुए अर्थ को जो कालान्तर में नहीं भूलते हैं, वे धारण-समर्थ हैं।

'चतुर्विधबुद्धि संपन्न', ऐसा पूर्व गाथा की टीका में कहा है तो वे कौन-कौन-सी बुद्धि से सम्पन्न हैं?

पदानुसारी बुद्धि से सम्पन्न हैं, बीजबुद्धि से सम्पन्न हैं, संभिन्न बुद्धि से सम्पन्न हैं और कोष्ठ बुद्धि से सम्पन्न हैं।

जो मुनि द्वादशांग या चतुर्दश पूर्व में से किसी एक पद को प्राप्त करके उसके अनुसार सर्व श्रुत का ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं इस तरह वे पदानुसारी ऋद्धि वाले कहलाते हैं।

तथा जो सर्वश्रुत में से एक बीजरूप प्रधान अक्षर आदि को प्राप्त करके सर्व श्रुत जान लेते हैं वे बीजबुद्धि ऋद्धिवाले हैं।

चक्रवर्ती के स्कन्धावार के मध्य जो वृत्त आर्या मात्रा द्विपद या दण्डक आदि नानाभेद प्रभेदों सहित पढ़ गये हों, गेय विशेष आदि रूप मे जो गाये गये हों और स्वर आदि जो भी वहाँ उत्पन्न हुए हों, अर्थात् उस चक्रवर्ती के कटक में अनेक मनुष्यों व तिर्यंचों के जो भी शब्द प्रकट हुए हों उन सभी के द्वारा उत्पन्न हुए शब्दों को मुनि ने सुना। पुन: जिस-जिस काल में जिस-जिस के द्वारा जो बोला गया है उस उस काल में उस उसके उन सर्व शब्दों को जो पूर्णरूप से कह देते वे सम्भिन्नबुद्धि ऋद्धिवाले हैं।

जिस प्रकार धान्य के कोठे —भण्डार में संकर व्यतिकर रहित अनेक प्रकार के बीज बहुत काल तक भी नष्ट नहीं होते हैं, न मिल जाते हैं। उसी तरह से जिनके श्रुत-पद-वाक्य आदि बहुत काल हो जाने पर भी उसी प्रकार से विनष्ट न होकर, न्यूनाधिक भी न होकर, सम्पूर्णरूप से ज्यों-के-त्यों बुद्धिरूपी कोठे में ठहरते हैं वे कोष्ठबुद्धि ऋद्धिवाले मुनि हैं।

जिन्होंने सर्वश्रुत के ज्ञान से परमार्थ को जान लिया है, अवधिमन:पर्ययज्ञानी हैं सप्तर्द्धियों से सम्पन्न हैं और धीर हैं ऐसे मुनि ही शास्त्रों के अर्थों को ग्रहण करने और धारण करने में समर्थ होते हैं यह अभिप्राय है।

तथा—

सुदरयणपुण्णकण्णा हेउणयविसारदा विउलबुद्धी ।
णिउणत्थसत्थकुसला परमपयवियाणया समणा ॥८३५॥

श्रुतमेव रत्नं पद्मरागादिकं तेन पूर्णौ समलंकृतौ कर्णौ येषां ते श्रुतरत्नपूर्णकर्णाः । हेतुर्द्विविधो बहिर्व्याप्तिलक्षणोऽन्तर्व्याप्तिलक्षणश्च, तत्र बहिर्व्याप्तिलक्षणस्त्रिविधः सपक्षे सत्वं विपक्षे चासत्वं पक्षधर्मत्वमिति । अन्तर्व्याप्तिलक्षण एकविधः, साध्याविनाभाव एकं लक्षणं यस्य स साध्याविनाभावैकलक्षणः । यदंतरेण यन्नोपपद्यते तत्साध्यं, इतरत्साधनं । अन्यथानुपपत्तिवैकल्यविशेषादसिद्धविरुद्धानैकान्तिका हेत्वाभासाः । तत्र साध्येऽनु-

---

इसी प्रकार से और भी बताते हैं—

गाथार्थ—जो श्रुतरूपी रत्न से कर्ण को भूषित करते हैं, हेतु और नय में विशारद हैं, विपुल बुद्धि के धारी हैं, शास्त्र के अर्थ में परिपूर्णतया कुशल हैं, ऐसे श्रमण परमपद के जानने वाले होते हैं। ॥८३५॥

आचारवृत्ति—श्रुत ही है रत्न अर्थात् पद्मराग आदि मणियाँ, उनसे पूर्ण अर्थात् अलंकृत हैं कर्ण जिनके वे मुनि श्रुतरत्नपूर्ण कर्ण हैं अर्थात् उपर्युक्त गुणविशिष्ट मुनियों के कर्ण श्रुतज्ञानरूपी रत्नों से विभूषित रहते हैं। ये मुनि हेतु और नय में कुशल होते हैं, विपुल बुद्धि अर्थात् महामतिशाली होते हैं अथवा ऋजुमति और विपुलमति मनःपर्ययज्ञान के धारी होते हैं। सम्पूर्ण अर्थ में कुशल होते हैं। सिद्धान्त, व्याकरण, तर्क, साहित्य, छन्द, अलंकार आदि शास्त्रों में कुशल होते हैं तथा मुक्ति के स्वरूप को जानने में परायण ऐसे श्रमण होते हैं।

यहाँ हेतु और नयों का किंचित् व्याख्यान करते हैं—

हेतु के दो भेद हैं—बहिर्व्याप्तिलक्षण और अन्तर्व्याप्तिलक्षण। बहिर्व्याप्तिलक्षण हेतु के तीन भेद हैं—सपक्षसत्त्व, विपक्ष में असत्त्व और पक्ष धर्मत्व। अन्तर्व्याप्तिलक्षण हेतु एक प्रकार का ही है। साध्याविनाभावी ऐसे एक लक्षणवाला होना अर्थात् साध्य के साथ अविनाभाव सम्बन्ध रखनेवाला हेतु अन्तर्व्याप्तिलक्षण कहलाता है। जिसके बिना जो उत्पन्न नहीं होता है वह साध्य है और इससे भिन्न साधन होता है। अर्थात् जैसे अग्नि के बिना धूम सम्भव नहीं है अतः अग्नि साध्य है और धूम साधन है। जिसमें अन्यथानुपपत्ति लक्षण अन्तर्व्याप्ति नहीं हो उसे हेत्वाभास कहते हैं। उसके तीन भेद हैं—असिद्ध, विरुद्ध और अनेकान्तिक।

असिद्ध हेत्वाभास के दो भेद हैं—साध्यानुपपत्तिरूप और अज्ञातासिद्ध। अर्थात् जो हेतु साध्य में नहीं रहता है वह आश्रयासिद्ध है। जैसे 'शब्द परिणामी है क्योंकि वह चक्षु इन्द्रिय से जाना जाता है, यहाँ चाक्षुषत्व हेतु शब्द में नहीं रहने से आश्रयासिद्ध है। जिसमें निश्चय नहीं होता वह अज्ञातासिद्ध है, जैसे मूढ़बुद्धि को धुआँ देखकर भी यहाँ अग्नि है ऐसा निर्णय नहीं होता चूंकि वह वाष्प आदि से धूम का पृथक् रूप से निर्णय नहीं कर पाता है। उससे विशेष—भिन्न हेतु अकिंचित्कर है। अर्थात् जो हेतु प्रमाणान्तर से साध्य के सिद्ध होने पर दिया है तथा प्रमाणान्तर से साध्य के बाधित होने पर दिया जाता है वह अकिंचित्कर है, जैसे शब्द कर्ण से सुना जाता है क्योंकि वह कर्णेन्द्रिय का विषय है। यह हेतु निष्प्रयोजन होने से अकिंचित्कर कहलाता है। जो हेतु

पपत्तिरज्ञातश्चासिद्धः, तद्विशेषोऽकिंचित्करः, अन्यथोपपन्नो विरुद्ध, अन्यथाप्युपपन्नोऽनैकांतिकः । श्रुतनिरूपितैकदेशाध्यवसायो नयः सप्त : ..... नैगमादिभेदेन, तत्र सामान्यविशेषादिपरस्परापेक्षानेकात्मकवस्तुनिगमनकुशलो नैगमः, यदस्ति न तद्द्वयमतिलघ्य वर्तत इति । स्व[1]जात्याविरोधेन नैकट्यमुपनीय पर्यायानाक्रान्तभेदान् समस्तसंग्रहणात्संग्रहः, यथा सर्वमेकं सदविशेषादिति । संग्रहनयाक्षिप्तानां पदार्थाना विधिपूर्वकं व्यवहरणं व्यवहारः, यथा पृथिव्यादयोऽनेकधा व्यवस्थितास्तत्त्व तत्र सव्यवहारदर्शनादिति । अतीतानागतकोटिविनिर्मुक्तं वस्तु समयमात्रं ऋजु सूत्रयतीति ऋजुसूत्र, यथा विश्व क्षणिक सत्त्वादिति । यथार्थप्रयोगसंशब्दनाच्छब्दोर्थभेदकृत्—कालकारकलिंगाना भेदादिति । प्रत्यर्थमेकैकसंज्ञाभिरोहणादिन्द्रशक्रपुरन्दरपर्यायशब्दभेदनात्समभिरुढ इति । तत्क्रियापरिणामकाल एव तदित्थभूतो यथा कुर्वत एव कारकत्वमिति । चत्वारोऽर्थनयास्त्रयः शब्दनयाः, पूर्वे त्रयो द्रव्यनयाः शेषा. पर्यायनया इत्येवभूते हेतौ नय च विशारदा निपुणा हेतुनयविशारदाः ।

अन्य प्रकार से भी उपपन्न है अर्थात् साध्य मे नही रहता है किन्तु उससे उल्टे मे रहता है वह विरुद्ध है; जैसे शब्द अपरिणामी है क्योंकि वह कृतक है। अन्य में भी रहनेवाला हेतु अनैकान्तिक है अर्थात् जो हेतु पक्ष-सपक्ष दोनों मे रहते हुए विपक्ष मे भी चला जाय वह अनैकान्तिक है; जैसे शब्द अनित्य है क्योंकि वह प्रमेय है; जैसे घट । यहाँ यह प्रमेयत्व हेतु अनित्य शब्द में व घट में रहते हुए नित्य आकाश में भी चला जाता है क्योंकि आकाश भी प्रमेय है।

श्रुत के द्वारा निरूपित वस्तु के एक अंश का निश्चय करानेवाला ज्ञान नय कहलाता है। उसके सात भेद हैं—नैगम, सग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत। सामान्य-विशेष आदि धर्मों से परस्पर मे अपेक्षा सहित ऐसी अनेकान्तात्मक वस्तु में निगमन—संकल्पमात्र को ग्रहण करने में कुशल जो नय है वह नैगमनय है, चूंकि जो सामान्य और विशेष धर्म हैं वे परस्पर में एक-दूसरे का उल्लघन करके नही रहते हैं। अनेक भेदों से सहित पर्यायों में स्व जाति के अविरोध से समीपता को करके अर्थात् एकत्व का अध्यारोप करके समस्त को ग्रहण करना संग्रहनय है। जैसे सभी जगत् एक है क्योंकि सत् सामान्य की अपेक्षा से उसमें भेद नही है। संग्रहनय से ग्रहण किए गए पदार्थों में विधिपूर्वक भेद करना व्यवहारनय है। जैसे तत्त्व पृथ्वी आदि अनेक प्रकार से व्यवस्थित हैं क्योंकि उनमे सम्यक् भेद देखा जाता है। अर्थात् जैसे संग्रह नय से सभी पदार्थों को सत् रूप से एक कहा है तो उसमे उस सत् के चेतन-अचेतन की अपेक्षा दो भेद हो जाते हैं। जब सर्व जीवराशि को जीवत्व की अपेक्षा से संग्रहनय एक रूप कहता है तब व्यवहार से उसमें ससारी और मुक्त ऐसे दो भद हो जाते हे इत्यादि। भूत और भविष्यत् की पर्यायों से रहित वस्तु की वर्तमान काल सम्बन्धी एक समय मात्र की ऋजु—सरल पर्याय को सूचित करनेवाला ऋजुसूत्र नय है। जैसे विश्व—सर्ववस्तु क्षणिक है क्योंकि सत् रूप हैं। यथार्थ प्रयोग का सम्यक् प्रकार से सूचित करके अर्थ मे भेद करनेवाला शब्द नय है क्योंकि काल, कारक और लिंग में भेद देखा जाता है। अर्थात् काल, कारक, लिग और उपसर्ग के भेद से अर्थ में भेद बतानेवाला शब्द नय है। प्रत्येक अर्थ के प्रति एक-एक संज्ञा को स्वीकार करनेवाला समभिरूढ नय है। जैसे इन्द्र, शक्र और पुरन्दर शचीपति के इन पर्यायवाची नामों से उनमें भेद हो जाता है। अर्थात् ऐश्वर्यशाली होने से इन्द्र, समर्थ होने से शक्र और पुरों का विभाजन करने

---

१. क० स्वजात्यविरोधेनैकट्यमुपनीय-

विपुलबुद्धयः महामतयः अथवा ऋजुमतयो विपुलमतयश्च मनःपर्ययज्ञानिन इत्यर्थः । निपुणार्थशास्त्रकुशला निरवशेषार्थकुशलाः सिद्धांतव्याकरणतर्कसाहित्यछन्दःशास्त्रादिकुशलाः, परमपदस्य विज्ञायका मुक्तिस्वरूपावबोधनपराः श्रमणा मुनय इति ॥८३५॥

ज्ञानमदनिराकरणायाह—

अवगदमाणत्थंभा अणुस्सिदा अगव्विदा अचंडा य ।
दंता मद्दवजुत्ता समयविदण्हू विणीदा य ॥८३६॥

उवलद्धपुण्णपावा जिणसासणगहिद मुणिदपज्जाला ।
करचरणसंवुडंगा झाणुवजुत्ता मुणी होंति ॥८३७॥

अपगतमानस्तंभा [1]ज्ञानगर्वेण मुक्तास्तथाऽगर्विता जात्यादिमदरहिताः, अनुत्सृता अनुत्सुका वा कापोतलेश्यारहिताः, अचंडाश्च क्रोधरहिताः, दांता इंद्रियजयसमेताः, मार्दवयुक्ताः, स्वसमयपरसमयविदः, विनीताश्च पंचविधविनयसंयुक्ता इति ॥८३६॥

तथा—

उपलब्धपुण्यपापाः पुण्यप्रकृतीनां पापप्रकृतीनां स्वरूपस्य वेदितारस्तथा पुण्यफलस्य पापफलस्य च ज्ञातारः, जिनशासनगृहीता जिनशासने[2] स्थिता इत्यर्थः, मुणिदपज्जाला—ज्ञाताशेषद्रव्यस्वरूपा अथवा विज्ञात-

---

से पुरन्दर ये तीनों नाम अलग-अलग कहे जाते हैं ऐसा ग्रहण करनेवाला समभिरूढ़ नय है। उस क्रिया से परिणत काल में ही इत्थंभूत नय होता है जैसे क्रिया करते हुए को कारक कहना।

इन सात नयों में प्रारम्भ के चार नय—नैगम, संग्रह, व्यवहार और ऋजुसूत्र ये अर्थनय हैं और शेष—शब्द, समभिरूढ़ तथा एवंभूत शब्दनय हैं। तथा पूर्व के तीन द्रव्यनय हैं, शेष चार पर्यायनय हैं। इन हेतु और नयों में जो विशारद—निपुण हैं वे मुनि हेतुनयविशारद कहलाते हैं।

ज्ञान मद का निकारण करने के लिए कहते हैं—

गाथार्थ—मानरूपी स्तम्भ से रहित, उत्सुकता रहित, गर्व रहित, क्रोध रहित, इन्द्रियजित्, मार्दव सहित, आगम के ज्ञानी, विनयगुण सहित, पुण्य-पाप के ज्ञाता, जिनशासन को स्वीकार करनेवाले, द्रव्य के स्वरूप को जाननेवाले, हाथ-पैर तथा शरीर को नियन्त्रित रखनेवाले, ध्यान से उपयुक्त ऐसे मुनि होते हैं ॥८३६, ८३७॥

आचारवृत्ति—जो ज्ञान के गर्व से रहित हैं, तथा जाति आदि के मद से रहित हैं (यहाँ मान रहित से ज्ञानगर्व रहित और अगर्वित से जाति गर्व से रहित ऐसा लिया गया है), जो उत्सुकता—उतावलीपन से रहित हैं अथवा कापोतलेश्या से रहित हैं, क्रोध रहित हैं, इन्द्रियों को जीतनेवाले हैं, मार्दव गुण से युक्त हैं, स्वसमय—स्वसिद्धान्त और परसमय—पर सिद्धान्त के ज्ञाता हैं, अथवा स्वसमय—आत्मस्वरूप और परसमय—कर्म या पुद्गल के स्वरूप के ज्ञाता हैं, पाँच प्रकार की विनय से संयुक्त हैं, पुण्य प्रकृतियों के और पापप्रकृतियों के स्वरूप को जाननेवाले हैं अथवा पुण्यफल और पापफल के जानकार हैं, जिनशासन में स्थित हैं, जो

---

१. क० मानगर्वेण। २. क० जिनशासन

रागस्वरूपा:, करणं त्रयोदशविधं चरणं चारित्रं त्रयोदशविधं ताभ्यां संवृतमंगं येषां ते करचरणसंवृतांगो अत्र प्राकृते णकारस्याभाव: कृत: । अथवा करौ हस्तौ चरणौ पादौ तै: संवृतमंगं तेऽवयवप्रावरणा यत्र तत्र निक्षेपण-मुक्ताश्च, ध्यानोद्यता भवंतीति ।।८३७।।

[1]उज्झनशुद्धिं निरूपयन्नाह—

ते छिण्णणेहबंधा णिण्णेहा अप्पणो सरीरम्मि ।
ण [2]करंति किंचि साहू परिसंठप्पं सरीरम्मि ।।८३८।।

उज्झनशुद्धिर्नाम शरीरसंस्कारपरित्यागो बंध्वादिपरिहारो वा सर्वसंगविनिर्मुक्तिर्वा रागाभावो वा तत्र बंधुविषये च रागाभावं तावदाचष्टे इति ते मुनय: छिन्नस्नेहबंधा: पुत्रकलत्रादिविषये स्नेहहीना:,न केवलमन्यत्र किंत्वात्मीयशरीरेऽपि नि:स्नेहा यत: स्वशरीरे किंचिदपि संस्कारं स्नानादिकं न कुर्वंति साधव इति ।।८३८।।

संस्कारस्वरूपभेदनिरूपणायाह—

मुहणयणदंतधोवणमुव्वट्टण पादधोयणं चेव ।
संवाहण परिमद्दण सरीरसंठावणं सव्वं ।।८३९।।

सर्व द्रव्यों के स्वरूप को जानने वाले हैं अथवा राग के स्वरूप को जिन्होंने जान लिया है, करण—तेरह प्रकार की क्रिया और चरण—तेरह प्रकार का चारित्र इनसे जिन्होंने अपने अंग को संवृत—संयुक्त कर लिया है; यहाँ पर प्राकृत में 'णकार' का लोप हो गया है अर्थात् गाथा में 'करचरणसंवुडंगा' पाठ है जिसको 'करणचरणसंवुडंगा' मानने से 'करण' के णकार का लोप हो गया है ऐसा समझकर उपर्युक्त अर्थ किया गया है। अथवा कर-हस्त, चरण-पाद, इन हस्त-पादों से जिन्होंने अपने अंग—शरीर को संवृत-संकुचित कर लिया है अर्थात् अपने हाथ-पैर आदि अवयवों को जहाँ-तहाँ क्षेपण नहीं करते है, उन्हें नियन्त्रित रखते हैं तथा जो हमेशा ध्यान में उद्युक्त रहते हैं ऐसे महामुनि होते हैं। यहाँ तक ज्ञानशुद्धि को कहा है।

उज्झन शुद्धि का निरूपण करते हैं—

गाथार्थ—स्नेहबन्ध का भेदन करनेवाले, अपने शरीर में भी ममता रहित वे साधु शरीर का किंचित् संस्कार नहीं करते हैं। ।।८३८।।

आचारवृत्ति—शरीर-संस्कार का त्याग या बन्धु आदि का त्याग, या सर्व संग का त्याग अथवा राग का अभाव इसका नाम उज्झनशुद्धि है। यहाँ पर बन्धुबांधव के विषय में राग का अभाव और शरीर के विषय में राग का अभाव इन दो को कहते हैं—वे मुनि पुत्र, कलत्र आदि सम्बन्धियों में स्नेह रहित रहते हैं, केवल इतना ही नहीं अपितु वे अपने शरीर में भी स्नेह रहित होते हैं। इसीलिए वे अपने शरीर का कुछ भी संस्कार—स्नान आदि नहीं करते हैं।

संस्कार के स्वरूप और भेदों को कहते हैं—

गाथार्थ—मुख, नेत्र और दाँतों का धोना, उबटन लगाना, पैर धोना, अंग दबवाना, मालिश कराना—ये सभी शरीरसंस्कार हैं।

---

१. क० ज्ञानशुद्धि निरूप्य २. क० करिंति

तथा—

धूवण वमण विरेयण अंजण अब्भंग लेवणं चेव ।
णत्थुय वत्थियकम्मं सिरवेज्झं अप्पणो सव्वं ॥८४०॥

मुखस्य नयनयोर्दंतानां च धावनं शोधनं प्रक्षालनं, उद्वर्तनं सुगंधद्रव्यादिभिः शरीरोद्वर्षणं, पादप्रक्षालनं कुंकुमादिरागेण पादयोर्निर्मलीकरणं, संवाहनमंगमर्दनं पुरुषेण शरीरोपरिस्थितेन मर्दनं परिमर्दनं करमुष्टिभिस्ताडनं काष्ठमययंत्रेण वा पीडनमित्येवं सर्वं शरीरसंस्थापनं शरीरसंस्कारं साधवो न कुर्वंतीति संबंधः ॥८३९॥

धूपनं शरीरावयवानामुपकरणानां च धूपेन संस्करणं, वमनं कंठशोधनाय स्वरनिमित्तं वा भुक्तस्य छर्दनं, विरेचनमौषधादिनाधोद्वारेण मलनिर्हरणं, अंजनं नयनयोः कज्जलप्रक्षेपणं, अभ्यंगनं सुगंधतैलेन शरीरसंस्करणं, लेपनं चंदनकस्तूरिकादिना शरीरस्य म्रक्षणं, नासिकाकर्म, वस्तिकर्म शलाकावर्तिकादिक्रिया, शिरावेधः शिराभ्यो रक्तापनयनं, इत्येवमादात्मनः सर्वं शरीरसंस्कारं न कुर्वंतीति ॥८४०॥

यद्येवं व्याध्युत्पत्तौ किं कुर्वन्तीत्याशंकायामाह—

उप्पण्णम्मि य वाही सिरवेयण कुक्खिवेयणं चेव ।
अधियासिंति सुधिदिया कायतिगिंछं ण इच्छंति ॥८४१॥

उत्पन्नेऽपि व्याधौ ज्वररोगादावुपस्थितेऽपि तथा शिरोवेदनायां कुक्षिवेदनायां चोपस्थितायामन्य-

---

धूप देना, वमन करना, विरेचन करना, अंजना लगाना, तैल लगाना, लेप करना, नस्य लेना, वस्ति कर्म करना, शिरावेध करना ये सब अपने शरीर के संस्कार हैं। ॥८३९-८४०॥

आचारवृत्ति—मुख धोना, नेत्रों का शोधन करना, दाँतों को स्वच्छ करना, सुगन्धित द्रव्य आदि चूर्णों से शरीर में उबटन करना, पैर धोना, कुंकुम केशर आदि से पैरों को निर्मल करना अथवा मेंहदी आदि से रंगना, पुरुषों से शरीर दबवाना, अन्य जनों द्वारा हाथ की मुट्ठी से या काठमययन्त्र से शरीर को मर्दित कराना अर्थात् पगचप्पी आदि प्रकारों से शरीर की सेवा करवाना, ये सभी शरीर के संस्कार साधु नहीं करते हैं। तथा शरीर के अवयवों को और उपकरणों को धूप से संस्कारित करना, कण्ठ की शुद्धि के लिए या सुन्दर स्वर के लिए वमन करना, औषधि आदि प्रयोग से विरेचन करना अर्थात् जुलाब लेना, नेत्रों में कज्जल या सुरमा डालना, सुगन्धित तेल से शरीर को सुन्दर बनाना, चन्दन कस्तूरी आदि वस्तुओं का शरीर पर लेप करना, नस्य लेना—सूंघनी सूंघना, शलाका तथा वत्ति के द्वारा मल निकालना वस्तिकर्म है। शिराओं में से रक्त निकालना इत्यादि रूप से अपने शरीर के सभी प्रकार के संस्कारों को साधु नहीं करते हैं।

यदि ऐसी बात है तो व्याधि के उत्पन्न होने पर वे क्या करते हैं ? ऐसी आशंका होने पर कहते हैं—

गाथार्थ—रोग के होने पर, सिर की या उदर की वेदना के होने पर, वे धैर्यशाली मुनि सहन करते हैं किन्तु शरीर की चिकित्सा नहीं चाहते हैं। ॥८४१॥

आचारवृत्ति—शरीर में ज्वर आदि रोगों के हो जाने पर अथवा शिर में पीड़ा अथवा

स्मिन् शरीरावयवे समुत्पन्ने वेदनायामप्रतीकाररूपायां अध्यासंते सहंते उपेक्षां कुर्वन्ति सुधृतयो दृढचारित्रपरिणामाः कायचिकित्सां नेच्छन्ति शरीरोत्पन्नव्याधिप्रतीकारं न समीहन्ते ज्ञानदर्शनभावनयोपेता इति ॥८४१॥

नाप्यार्त्तध्यानं कुर्वन्तीत्यावेदयन्नाह—

ण य दुम्मणा ण विहला अणाउला होंति चेय सप्पुरिसा ।
णिप्पडियम्मसरीरा देंति उरं वाहिरोगाणं ॥८४२॥

नाऽपि दुर्मनसो विमनस्का नैव भवंति, न विकला नापि हिताहितविवेकशून्याः, अनाकुलाः किंकर्तव्यतामोहरहिताः, सत्पुरुषाः प्रेक्षापूर्वकारिणः, निष्प्रतीकारशरीराः शरीरविषये प्रतीकाररहिताः, ददते प्रयच्छंति उरो हृदयं, व्याधिरोगेभ्यः सर्वव्याधिरोगान् समुपस्थितान् धैर्योपेताः संतः सहन्ते ॥८४२॥

किं सर्वौषधं विरेचनादिकं च नेच्छंति नैतत् कथमिदं इच्छंति यत आह—

जिणवयणमोसहमिणं विसयसुहविरेयणं अमिदभूदं ।
जरामरणवाहिवेयण खयकरणं सव्वदुक्खाणं ॥८४३॥

जिनवचनमेवौषधमिदं, विषयसुखविरेचनमिन्द्रियद्वारागतस्य सुखस्य निर्हरणं, अमृतभूतं सर्वांगसंतर्पणकारण, जरामरणव्याधिवेदनानां क्षयकरणमसमर्थ, सर्वदुःखानां च क्षयकरणं, सर्वाणि ज्वरादीनि कार-

---

उदर में पीड़ा के हो जाने पर, अथवा अन्य भी शरीर के किसी भी अवयव में वेदना हो जाने पर उसका प्रतीकार नहीं करते किन्तु उसे सहन करते हैं अर्थात् उसकी उपेक्षा कर देते हैं। वे दृढ़ चारित्रधारी साधु ज्ञान, दर्शन की भावना से सहित रहते हैं अतः शरीर में उत्पन्न हुई व्याधि का प्रतीकार नहीं चाहते हैं।

वे मुनि उससे आर्तध्यान भी नहीं करते हैं, सो ही बताते हैं—

गाथार्थ—वे सज्जन साधु विमनस्क नहीं होते है और विकल नहीं होते हैं तथा आकुलता रहित होते हैं। शरीर की प्रतिकार क्रिया नहीं करते हैं किन्तु व्याधि और रोगों से टक्कर लेते हैं। ॥८४२॥

आचारवृत्ति—वे साधु दुर्मनस्क नहीं होते हैं तथा हित-अहित के विवेक से शून्य भी नहीं होते हैं। वे अनाकुल रहते है अर्थात् किंकर्तव्यविमूढ़ नहीं होते हैं, 'अब मैं इस रोग का क्या इलाज करूँ? कैसे करूँ? कहाँ जाऊँ?' इत्यादि प्रकार से घबराते नही है। वे साधु विवेकशील रहते हुए शरीर के रोग के प्रतीकार से रहित होते है। प्रत्युत सभी प्रकार की व्याधियों के हो जाने पर भी धैर्यपूर्वक सहन करते हैं।

क्या वे सर्व औषधि विरेचन आदि नहीं चाहते हैं अथवा कुछ चाहते भी हैं? सो ही बताते हैं—

गाथार्थ—यह जिनवचन औषधि ही है जो कि विषयसुखों का विरेचन करती है, अमृतस्वरूप है, जरा, मरण और रोगों का तथा सर्व दुःखों का क्षय करती है। ॥८४३॥

आचारवृत्ति—यह जिन वचन ही एक औषधि है जो इन्द्रियों द्वारा प्राप्त सुखों का त्याग करानेवाली है, सर्वांग में सन्तर्पण का कारण होने से अमृतरूप है, ज्वर आदि सर्व रोगों को

णानि दुःखादीनि च कार्याणि सर्वस्य कृत्स्नस्य कार्यकारणरूपस्य कर्मणो विनाशे समर्थमिति ॥८४३॥

पुनरपि क्रियां कुर्वन्तीत्याह—

जिणवयणणिच्छिदमदीअ-विरमणं अब्भुवेंतिसप्पुरिसा ।
ण य इच्छंति अकिरियं जिणवयणवदिक्कमं कादुं ॥८४४॥

जिनवचने निश्चितमतयः सम्यक्त्वार्थरुचयः, विरमणं चारित्रं "अपि मरणमिति" पाठान्तरं, अभितिष्ठति सम्यगभ्युपगच्छंति सत्पुरुषाः सत्वसंपन्नाः, न चैवेच्छंति नैव समीहंते जिनवचनव्यतिक्रमं कृत्वाऽक्रियां शरीरव्याध्यादिप्रतीकाराय जिनागमं व्यतिक्रम्याप्रासुकसेवनं मनागपि प्राणत्यागेऽपि नेच्छंतीति ॥८४४॥

अन्यच्चेत्थंभूते शरीरे कथमस्माभिः प्रतीकारः क्रियत इत्याशंकायामाह—

रोगाणं आयदणं वाधि[1]सदसमुच्छिदं सरीरघरं ।
धीरा खणमवि रागं ण करेंति मुणी सरीरम्मि ॥८४५॥

इदं शरीर रोगाणामायतनं निलयः, व्याधिशतैः सम्मूच्छितं निर्मितं, वातपित्तश्लेष्मादयो रोगास्तज्जनिता ज्वरादयो व्याधयोऽतो न पौनरुक्त्यं शरीरगृहं यत एवं भूतमिदं शरीरमतो धीरा मुनयः क्षणमपि राग स्नेहानुबंधं न कुर्वंति शरीरविषय इति ॥८४५॥

तथा उनसे उत्पन्न हुए दुःखों को नष्ट करनेवाली है। अर्थात् रोगादि कारण हैं और दुःख आदि कार्य हैं, ऐसे कार्य-कारण रूप सम्पूर्ण कर्मों को नष्ट करने में समर्थ है ऐसा अभिप्राय है।

पुनरपि क्या क्रिया करते हैं? सो ही बताते हैं—

गाथार्थ—जिन-वचन में निश्चित बुद्धि रखनेवाले वे साधु विरतिभाव को धारण करते हैं किन्तु जिन-वचनों का उल्लंघन करके वे विरुद्ध क्रिया करना नहीं चाहते हैं। ॥८४४॥

आचारवृत्ति—सम्यक्त्व के विषयभूत पदार्थों में रुचि रखनेवाले वे धैर्यशाली साधु चारित्र का दृढ़ता से पालन करते हैं अथवा 'अपि मरणं' ऐसा पाठांतर है जिसका अर्थ यह है कि वे मरण भी स्वीकार कर लेते हैं किन्तु शास्त्र के प्रतिकूल आचरण नहीं करते हैं। अर्थात् शरीर में उत्पन्न हुई व्याधि को दूर करने के लिए जिनागम का उल्लंघन करके किंचित् मात्र भी अप्रासुक वस्तु का सेवन नहीं करते हैं, भले ही प्राण चले जावें किन्तु आगम विरुद्ध क्रिया नहीं करते हैं।

इस प्रकार के शरीर के होने पर हमारे द्वारा प्रतीकार कैसे हो? ऐसी आशंका होने पर कहते हैं—

गाथार्थ—सैकड़ों व्याधियों से व्याप्त शरीररूपी घर रोगों का स्थान है। वे धीर मुनि इस शरीर में क्षण मात्र के लिए राग नहीं करते हैं। ॥८४५॥

आचारवृत्ति—यह शरीर रोगों का स्थान है, सैकड़ों व्याधियों से निर्मित है। वात, पित्त, कफ आदि रोग हैं उनसे उत्पन्न हुए ज्वर व्याधि कहलाते हैं। इसलिए रोग और व्याधि इन दो शब्दों के कहने से पुनरुक्त दोष नहीं आता है। जिस कारण यह ऐसा शरीररूपी घर है इसीलिए धीर मुनि इस शरीर से स्नेह नहीं रखते हैं।

---

1. वाहि

पुनरपि शरीरस्याशुचित्वं प्रतिपादयन्नाह—

एवं सरीरमसुई णिच्चं कलिकलुसभायणमचोक्खं।
अंतोछाइद डिड्ढिस खिब्भिसभरिदं अमेज्झघरं ॥८४६॥

शरीरमिदमशुचि यतो नित्यं कलिकलुषभाजनं रागद्वेषपात्रं, अचोक्षमशुभं शुभलेश्ययापि परिहीनं, छादितं चर्मणा संवृतमन्तरभ्यन्तरं यस्य तदन्तश्छादितं, अन्तःशब्दस्य पूर्वनिपातो ज्ञापकात्, अथवान्त्रैर्मांसरज्जुभिश्छादितं परिवेष्टितं, डिड्ढिसं कर्पाससमानं रुधिराहितमभ्यन्तरस्थं मांसवसाविशेषरूपं, खिब्भिसं किल्बिषं शुक्रशोणिताशुचिकालेज्जकादिकं तैर्भृतं पूर्णं, अमेध्यगृहं मूत्रपुरीषाद्यवस्थानमिति ॥८४६॥

किल्विषस्वरूपमाह—

वसमज्जमंससोणियपुप्फसकालेज्जसिंभसीहाणं।
सिरजालअट्ठिसंकड चम्मेण णद्धं सरीरघरं ॥८४७॥

बीभच्छं विच्छुइयं थूहायसुसाणवच्चमुत्ताणं।
अंसुयपूयलसियं पयलियलालाउलमचोक्खं ॥८४८॥

वसा मांसगतस्निग्धत्वं तैलरूपं, मज्जाऽस्थिगतसारः, मांसं रुधिरकार्यं, शोणितं रुधिरं रसकार्यं फुप्फुसं फेनरूपं निःसारं, कालेज्जकमतीवकृष्णमांसखंडरूपं, श्लेष्मसिंहानकं, शिराजालमस्थीन्येतैः संकीर्णं संपूर्णं, चर्मणा नद्धं त्वक्प्रच्छादितं शरीरगृहमशुचीति संबंधः ॥८४७॥ तथा—

पुनरपि शरीर की अशुचिता को बतलाते हैं—

गाथार्थ—यह शरीर अपवित्र है, नित्य ही कलि कलुष का पात्र है, अशुभ है, इसका अन्तर्भाग ढका हुआ है, कपास के ढेर के समान है, घृणित पदार्थों से भरा हुआ है और विष्ठा का घर है। ॥८४६॥

आचारवृत्ति—यह शरीर सदा ही अपवित्र है, राग-द्वेष का भाजन है, शुभ लेश्या—वर्ण से हीन होने से अशुभ है, इसका भीतरी भाग चर्म से ढका हुआ है। यहाँ पर 'अन्तः' शब्द का पूर्ण निपात हो गया है अथवा यह आंतों से, मांस के रज्जु से वेष्ठित है, डिड्ढस अर्थात् कपास के समान है, अभ्यन्तर में जिसके रुधिर चल रहा है ऐसे मांस और वसा का विशेषरूप है, रज-वीर्य कलेजा आदि घृणित पदार्थों से भरा हुआ है तथा मल-मूत्र आदि का स्थान है।

किल्विष का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—वसा, मज्जा, मांस, खून, फुप्फुस, कलेजा, कफ, नाकमल, शिराजाल और हड्डी इनसे व्याप्त यह शरीररूपी गृह चर्म से ढका हुआ है। घृणित, थूक, नाकमल, विष्ठा, मूत्र इनसे पवित्रता रहित तथा अश्रु, पीव, चक्षुमल से युक्त, टपकती हुई लार से व्याप्त यह शरीर अशुभ है ॥ ८४७-८४८॥

आचारवृत्ति—वसा—मांस की चिकनाई जो कि तेल के समान होती है, मज्जा—हड्डियों में होनेवाला सार, मांस-रुधिर का कार्य, शोणित—खून जो कि रस का कार्य है, फुफुस—फेनरूप निःसारपदार्थ, कलेजा—अतीव काले मांस का खण्डरूप, श्लेष्म—कफ, सिंहाणक—नाक का मल, शिराओं का समूह और हड्डियां, यह शरीर इन सबसे भरा हुआ है, और चर्म से आच्छादित

बीभत्सं द्रष्टुमशक्यं कुथितव्रणवत्, विच्छुद्दयं—अनित्यं शाश्वतरूपं न भवति अथवा विशौचं सर्वाशुचिद्रव्यैर्घटितत्वात्, थूहाय—कंठागतश्लेष्मा[1] अथवा नगरमध्यस्थकचवरोत्कूटसदृशं, सुसाण—नासिकागूथं अथवा श्मशानसदृशं, वर्चोऽशुचि, मूत्रं प्रस्रवणमेतैर्बीभत्सं, न केवलं बीभत्समनित्यं चेति । अंसूय—अश्रूणि नयनप्रच्युतोदकं, पूय—पूयं पक्वव्रणक्लेदरूपं, लसियं—नयनगूथं, प्रगलितलालाकुलं मुखोद्भवकुथितप्रतिलालाकुलमेतैः सर्वैराकुलं बीभत्समचोक्षमदर्शनीयं सर्वाशुचिसमूहवत् श्मशानवद्वेति ॥८४८॥

पुनरपि शरीरस्याशुचित्वमाह—

कायमलमत्थुलिंगं दंतमल चिक्किकणं गलिदसेदं ।
किमिजंतुदोसभरिदं संदणियाकद्दमसरिच्छं ॥८४९॥

कायमलं मूत्रपुरीषादिकं, मस्तुलिंगं मस्तकस्थं शुक्लद्रव्यरूपं क्लेदान्तरं, दन्तमलं दन्तस्थं दुर्गन्धंमलं, चिक्किकणं चिक्किक्यं चक्षुषो मलं, गलितस्वेदं प्रस्रवत्स्वेदं, कृमिजंतुभिर्दोषैश्च भृतं संपूर्णं, स्यंदणियाकद्दमसरिच्छं—स्यन्दनीकर्दमसदृशं रजकवस्त्रप्रक्षालननिमित्तगर्तकुथितकर्दमसमानं, अथवा कायमलमस्तुलिंगदन्तमलैश्चिक्किक्यमदर्शनीयं कृमिजंतु[2]दोषपूर्णं स्यंदनीकर्दमसदृशं शरीरमिति संबंधः ॥८४९॥

पुनरपि वृत्तद्वयेन शरीराशुचित्वमाह—

है अतः अत्यन्त अपवित्र है। तथा बीभत्स—सड़े हुए घाव के समान इसका देखना बड़ा कठिन है, 'विच्छुरित'—अनित्य है अथवा 'विशौच' सभी अपवित्र वस्तुओं से ही निर्मित है, थूत्कार—कण्ठ गत कफ अर्थात् थूक अथवा नगर के मध्य में पड़े हुए कचरे के ढेर के समान है, सुसाण—नाक का मल, अथवा यह शरीर श्मशान के सदृश है, मल-मूत्र से सहित है। अश्रु—नेत्रों से गिरता हुआ जल, पीव—पके हुए फोड़े का गाढ़ा खून, लसिय—आँख का कीचड़, लाला—मुख से उत्पन्न हुई लार, इन सभी पदार्थों से भरा हुआ होने से यह शरीर अत्यन्त घृणित है। इतना ही नहीं, यह अनित्य भी है तथा देखने योग्य भी नहीं है क्योंकि यह सम्पूर्ण अशुचि पदार्थों के समूह के समान है अथवा श्मशान भूमि के समान है।

पुनरपि शरीर की अपवित्रता को बताते हैं—

गाथार्थ—काय का मल, सिर का मल, दाँत का मल, चक्षु का मल, झरता हुआ पसीना—इनसे युक्त, कृमि जन्तुओं से भरित, गड्ढे की कीचड़ के समान यह शरीर है ॥८४९॥

आचारवृत्ति—कायमल—विष्ठामूत्र आदि, मस्तुलिंग—सिर में स्थित सफेद द्रव्यरूप शुक्ल पदार्थ (खोसा), दन्तमल—दाँतों का दुर्गंधित मैल, चिक्किक्य—आँख का मैल, गलितस्वेद—शरीर से निकलनेवाला पसीना, ऐसे अपवित्र पदार्थ उस शरीर में हैं। यह कृमियों से और छोटे-छोटे जन्तुओं से भरा हुआ है। धोबी वस्त्र को धोता है उसका जल जिस गड्ढे में संचित होकर सड़ता रहता है उस गड्ढे की सड़ी हुई कीचड़ के सदृश यह शरीर है।

पुनरपि दो छन्दों से शरीर की अशुचिता का वर्णन करते हैं—

---

1. क० कण्ठादागत श्लेष्मा
2. क० कृमिजन्तुपूर्णं

अट्ठिं च चम्मं च तहेव मंसं, पित्तं च सिंभं तह सोणिदं च ।
अमेज्झसंघायमिणं सरीरं, पस्संति णिव्वेवगुणाणुपेहि ॥८५०॥

अट्ठिणिछण्णं णालिणिबद्धं, कलिमलभरिदं किमिउलपुण्णं ।
मंसविलित्तं तयपडिछण्णं, सरीरघरं तं सददमचोक्खं ॥८५१॥

अस्थीनि च चर्माणि च तथैव तेनैव प्रकारेण मांसं पित्तं श्लेष्मा तथा शोणितमित्येवंप्रकारैरमेध्य-संघातभूतमिद शरीरं पश्यन्ति निर्वेदगुणानुप्रेक्षिणः, ये मुनयो देहसंसारभोगनिर्वेदमापन्ना शरीरमेवंभूतं[1] पश्यन्तीति ॥८५०॥ तथा—

पूर्वग्रन्थेनोपकरणं प्रतिपादितं यत्तच्छरीरं नियोजयन्नाह अस्थिभिर्निच्छादितं संवृतं, नालिकाभिः शिराभिर्निबद्धं संघटितं, कलिमलभृत सर्वाशुचिद्रव्यपूर्णं, कृमिकुलनिचित, मांसविलिप्तं मांसेनोपचितं, त्वक्प्रच्छादितं दर्शनीयपथं नीत, शरीरगृहं तत्सततं सर्वकालमचोक्ष्यमशुचि, नात्र पौनरुक्त्यदोष आशंकनीयः पर्यायार्थिकशिष्यानुग्रहणादथवाऽमेध्यगृहं पूर्वं सामान्येन प्रतिपादितं तस्य वार्त्तिकरूपेणेदं तदाऽशुचित्वं सामान्येनोक्तं तस्य च प्रपंचनार्थं वैराग्यातिशयप्रदर्शनार्थं च यत इति ॥८५१॥

ईदृग्भूते शरीरे मुनयः किं कुर्वन्तीत्याशंकायामाह—

गाथार्थ—वैराग्यगुण का चिन्तवन करनेवाले मुनि इस शरीर को हड्डी, चर्म, मांस, पित्त, कफ, रुधिर तथा विष्ठा इनके समूहरूप ही देखते हैं। हड्डियों से मढ़ा हुआ, नसों से बँधा हुआ, कलिमलपदार्थों से भरा हुआ, कृमिसमूह से पूरित, मांस से पुष्ट, चर्म से प्रच्छादित यह शरीर हमेशा ही अपवित्र है। ॥८५०-८५१॥

आचारवृत्ति—हड्डी, चर्म, मांस, पित्त, कफ तथा रुधिर इन अपवित्र वस्तुओं का समूह यह शरीर है। जो मुनि संसार शरीर, और भोगों से वैराग्य को प्राप्त हुए हैं वे इस शरीर को उपर्युक्त प्रकार से अपवित्र पदार्थों के समूह रूप ही देखते हैं। इस गाथा से शरीर के उप-करणों का वर्णन किया है। अब अगली गाथा मे उनको इस शरीर में घटित करते हुए दिखाते हैं—यह शरीर हड्डियों से मढ़ा हुआ है। शिराजालों से बँधा हुआ है, सर्व मलिन पदार्थों से भरा हुआ है, कृमि समूहों से व्याप्त है, मांस से लिप्त है। ऐसा होकर भी यह चर्म से प्रच्छादित है इसी लिए देखने योग्य हो रहा है किन्तु फिर भी यह शरीर सतत ही अशुचिरूप है।

यहाँ पर पुनरुक्त दोष की आशंका नहीं करना, क्योंकि पर्यायार्थिक नयग्राही शिष्यों के अनुग्रह हेतु विशेष स्पष्टीकरण है। अथवा पूर्वगाथा में, यह शरीर अपवित्र पदार्थों का घर है ऐसा सामान्य कथन किया गया है उसी का वार्तिकरूप से यह विस्तार है। अर्थात् वहाँ पर अपवित्रपने को सामान्य से कहा है, उसी का विस्तार करने के लिए एवं अति-शय वैराग्य को प्रदर्शित करने के लिए यहाँ गाथा में कथन किया गया है।

इस प्रकार के शरीर में मुनि क्या करते हैं? ऐसी आशंका होने पर कहते हैं—

---

१. क० मेवं पश्यन्तीति

एवारिसे सरीरे दुग्गंधे कुणिमपूवियमचोक्खे।
सडणपडणे असारे रागं ण करिंति सप्पुरिसा ॥८५२॥

एतादृशे शरीरे ईदृग्भूते देहे दुर्गन्धे कुणपपूतिके कश्मलेन कुथिते शुचित्वेन विवर्जिते शुचिविवर्जिते शतनपतनेऽसारे रागं स्नेहं न कुर्वते सत्पुरुषाः साधव इति ॥८५२॥

उज्झनशुद्धिमुपसंहरन्नाह—

जं वंतं गिहवासे विसयसुहं इंदियत्थपरिभोए।
तं खु ण कदाइभूदो भुंजंति पुणो वि सप्पुरिसा ॥८५३॥

यत्किंचिद्वांतं त्यक्तं गृहवासे विषयसुखं गार्हस्थ्यं रूपरसगन्धस्पर्शद्वारोद्भूतं जीवसंतर्पणकारणमिन्द्रियार्थैमिन्द्रियकारणेन जनितं परिभोगाश्च ये च स्त्र्यादिका वान्ताः परिभोगनिमित्तं वा तत्सुखं तानिन्द्रियार्थान् तांश्च परिभोगान् खलु स्फुटं कदाचिदपि भूदो—भूतं समुपस्थितं केनचित्कारणान्तरेण न भुंजते न परिभोगयन्ति सत्पुरुषाः साधवः, यद्वान्तं विषयसुखं तदेव केनचित्कारणान्तरेण समुपस्थितं यदि [1]भवेत्तदापि सत्पुरुषा न भुंजते न सेवन्त इति ॥८५३॥ तथा—

पुव्वरदिकेलिदाइं जा इड्ढी भोगभोयणविहिं च।
ण वि ते कहंति कस्स वि ण वि ते मणसा विचिंतंति ॥८५४॥

गाथार्थ— दुर्गन्धित, मुर्दा के समान घृणित, अपवित्र, पतन-गलन रूप, असार ऐसे शरीर में सत्पुरुष राग नहीं करते हैं ॥८५२॥

आचारवृत्ति—दुर्गन्धयुक्त, मुर्दे के समान व सड़ा हुआ, पवित्रता से रहित, गलन-पतन, रूप, असारभूत ऐसे इस शरीर में साधुजन स्नेह नहीं करते हैं।

उज्झनशुद्धि का उपसंहार करते हुए कहते हैं--

गाथार्थ—गृहवास में जो इन्द्रियों द्वारा पदार्थों के अनुभव से विषय-सुख थे उनको छोड़ दिया है वे यदि कदाचित् प्राप्त भी हुए तो भी साधु उनका सेवन नहीं करते हैं ॥८५३॥

आचारवृत्ति—गृहस्थावस्था में रूप, रस, गन्ध और स्पर्श द्वारा उत्पन्न हुए, जीव को सन्तर्पित करनेवाले, इन्द्रियों के विषयभूत ऐसे विषयसुख जो कुछ भी भोगे थे अर्थात् स्त्री से माला आदि जो भी भोगोपभोग सामग्री गार्हस्थ्य जीवन में अनुभव की थी उसको वमन कर दिया। पुनः यदि वे इन्द्रिय-सुख और भोग-सामग्री उपलब्ध भी हो जावें तो भी किसी भी कारण विशेष से पुनः वे साधु उसका उपभोग नहीं करते हैं। जिन विषय-सुखों को उच्छिष्टवत् समझ कर छोड़ दिया है पुनः वे उसका सेवन कैसे कर सकते हैं? अर्थात् वे विषय-सुखों से सर्वथा विरक्त ही रहते हैं।

उसी को और स्पष्ट करते हैं—

गाथार्थ—पूर्व में स्नेह पूर्वक भोगे गये जो वैभव, भोग और भोजन आदि हैं उनको वे मुनि न किसी के समक्ष कहते हैं और न वे मन से उनका चिन्तवन ही करते हैं ॥८५४॥

---

1. भवेत्पुनरपि न

पूर्वरत्या क्रीडितानि पूर्वकाले यान्युपभोगितानि स्त्रीवस्त्राभरणराज्यहस्त्यश्वरथादिकानि यानि[1] ऋद्धिर्विभूतिर्द्रव्यसुवर्णरूप्यादिसंपत्तिः सौभाग्यादिकं च भोगाः पुष्पचन्दनकुंकुमादिकानि भोजनविधिश्च घृतपूराशोकवर्तिशाल्योदनानि चतुर्विधाहारप्रकारस्तदेतत्सर्वं न ते मुनयः कस्यचिदपि कथयंति नापि मनसा विचिन्तयन्ति, तत्सर्वमुपभुक्तं न वचनेनान्यस्य प्रतिपादयन्ति नाऽपि चित्ते कुर्वन्तीति ॥८५४॥

उज्झनशुद्धि व्याख्याय वाक्यशुद्धि निरूपयन्नाह—

भासं विणयविहूणं धम्मविरोही विवज्जए वयणं।
पुच्छिदमपुच्छिदं वा ण वि ते भासंति सप्पुरिसा ॥८५५॥

भाषां वचनप्रवृत्तिमार्यां कर्णाटिकां गौडीं लाटीं विनयविहीनां खरपरुषादिसमन्वितां वर्जयन्ति, वचनं धर्मविरोधि रम्यमपि वचनं धर्मप्रतिकूलं वर्जयन्ति, अन्यदपि यद्विरुद्धं पृष्टाः संतोऽपृष्टाश्च परेण नियुक्ता अनियुक्ताश्च न ते सत्पुरुषा भाषंते न ब्रुवत इति ॥८५५॥

कथं तर्हि तिष्ठन्तीत्याशंकायामाह—

अच्छीहिंय पेच्छंता कण्णेहिंय बहुविहाइं सुणमाणा।
अत्थंति मूयभूया ण ते करेंति हु लोइयकहाओ ॥८५६॥

आचारवृत्ति—पूर्व काल में बड़े प्रेम से जिन स्त्री, वस्त्र, आभरण, राज्य, हाथी, घोड़े रथ आदि का उपभोग किया है, जो ऋद्धि—द्रव्य, सोना, चाँदी, सम्पत्ति आदि विभूति, सौभाग्य आदि तथा पुष्प, चन्दन, कुंकुम आदि भोगसामग्री; पुआ, अशोकवर्तिका, शालि का भात आदि चतु-र्विध आहार एवं ऐसे ही और भी जो नाना प्रकार के भोगोपभोग पदार्थ हैं—इन सबका जो गृहस्थाश्रम में अनुभव किया है इसे वे न तो वचनों द्वारा किसी से कहते हैं और न ही मन में उनका विचार ही लाते हैं।

अब उज्झनशुद्धि का व्याख्यान करके वाक्यशुद्धि का निरूपण करते हैं—

गाथार्थ—विनय से शून्य, भाषा और धर्म के विरोधी वचन को वे छोड़ देते हैं। वे साधु पूछने पर अथवा नहीं पूछने पर भी वैसा नहीं बोलते हैं।॥८५५॥

आचारवृत्ति—वचन की प्रवृत्ति का नाम भाषा है। उसके आर्य, कर्णाटक, गौड़, लाट आदि देशों की अपेक्षा नाना भेद होते हैं। वे मुनि ऐसी आर्य, कानड़ी, गौड़ी, लाटी आदि भाषा विनयरहित एवं खरपरुष—कठोर आदि वचनो से सहित नहीं बोलते हैं। तथा मनोहर भी वचन यदि धर्म के प्रतिकूल हैं तो वे मुनि नहीं बोलते हैं। ऐसे ही अन्य भी जो धर्मविरुद्ध वचन, भले ही किसी ने उनसे पूछा हो या नहीं पूछा हो, वे नहीं बोलते हैं। अर्थात् किसी भी देश की भाषा में वे कठोर आदि अथवा आगमविरुद्ध वचन नही बोलते हैं।

तब वे कैसे रहते हैं? ऐसी आशंका होने पर कहते हैं—

गाथार्थ—वे मुनि नेत्रों से देखते हुए और कानों से बहुत पुकार को सुनते हुए भी मूक के समान रहते हैं, किन्तु लौकिक कथाएं नहीं करते हैं। ८५६॥

---

१. क० या च

अक्षिभिर्नयनैः पश्यन्तो निरूपयन्तः सद्रूपमसद्रूपं वा योग्यमयोग्यं च वस्तुजातं निरूपयन्तोऽपि दृष्टिरहिता इव तिष्ठंति, कर्णैः श्रोत्रेन्द्रियैर्बहुविधानि श्रव्याणि युक्तान्ययुक्तानि च शृण्वन्तो नानाप्रकारशब्दान् कर्णशष्कुल्या गृह्णन्तोऽपि तिष्ठंति मूकभूता इव जिह्वानयनकर्णरहिता[1] इव, न ते मुनयो व्यक्तं कुर्वन्ति लौकिकीः कथा लोकव्यापारानिति ॥८५६॥

कास्ता लौकिक्यः कथा इत्याशंकायामाह—

इत्थिकहा अत्थकहा भत्तकहा खेडकव्वडाणं च ।
रायकहा चोरकहा जणवदणयरायरकहाओ ॥८५७॥

स्त्रीणां कथाः सुरूपास्ताः सौभाग्ययुक्ता मनोरमा उपचारप्रवणा कोमलालापा इत्येवमादिकथनं वनिताकथाः। अर्थस्य कथा अर्थार्जनोपायकथनप्रबंधाः सेवया वाणिज्येन लेखवृत्त्या कृषिकर्मणा समुद्रप्रवेशेन धातुवादेन मंत्रतंत्रप्रयोगेण वा इत्येवमाद्यर्थार्जननिमित्तवचनान्यर्थकथाः। भक्तस्य कथा रसनेन्द्रियलुब्धस्य चतुर्विधाहारप्रतिबद्धवचनानि तत्र शोभनं भक्ष्यं खाद्यं लेह्यं पेयं सुरसं मिष्टमतीवरसोत्कटं जानाति सा संस्कर्तुं बहूनि व्यंजनानि तस्या हस्तगतमशोभनमपि शोभनं भवेत्तस्य च गृहे सर्वमनिष्टं दुर्गन्धं सर्वं स्वादुरहितं विरसमित्येवमादिकथनं भक्तकथाः। खेटं नद्यद्रिवेष्टितं [2]नदीपर्वतैरवरुद्धः प्रदेशः, कर्वटं सर्वत्र पर्वतेन वेष्टितो देशः

आचारवृत्ति—वे मुनि नेत्रों से सत्‌रूप अथवा असत्‌रूप को, योग्य अथवा अयोग्य वस्तुओं को देखते हुए भी नेत्ररहित के समान रहते हैं। कानों से सुनने योग्य युक्त अथवा अयुक्त ऐसे नाना प्रकार के शब्दों को सुनते हुए भी, कर्ण-शष्कुली से उन्हें गृहण करते हुए भी, वे न सुनते हुए के समान ही रहते हैं। वे मूक पुरुष के सदृश—जिह्वा, नेत्र और कान से रहित हुए के समान ही तिष्ठते है। वे मुनिजन कुछ भी देखे-सुने हुए उचित-अनुचित को न व्यक्त ही करते हैं और न वे लौकिक कथाएँ ही करते हैं।

वे लौकिक कथा कौन-सी हैं? सो ही बताते हैं—

गाथार्थ—स्त्रीकथा, अर्थकथा, भोजनकथा, खेटकर्वटकथा, चोरकथा, जनपदकथा, नगरकथा और आकरकथा ये लौकिक कथाएँ हैं ॥८५७॥

आचारवृत्ति—वे स्त्रियाँ सुन्दर रूपवाली हैं, सौभाग्य सहित हैं, मनोरमा हैं उपचार में कुशल हें, कोमल वचन बोलनेवाली हैं इत्यादि रूप से स्त्रियों की कथा करना स्त्रीकथा है। धन उपार्जन के उपाय से सम्बन्धित कथा अर्थकथा है। सेवा, व्यापार, लेखनवृत्ति, खेती, समुद्रप्रवेश, धातुवाद—रसायनप्रयोग, मन्त्र-तन्त्रप्रयोग इत्यादि प्रकारों से धन के उपार्जन हेतु वचन बोलना अर्थकथा है। रसना इन्द्रिय से लुब्ध होकर चार प्रकार के आहार से सम्बन्धित वचन बोलना, जैसे वहाँ पर अच्छे-अच्छे खानेयोग्य—भक्ष्य, खाद्य, लेह्य, पेय, सुरस, मीठे, अतीव रसदार पदार्थ हैं, वह महिला बहुत प्रकार के व्यंजन पकवान बनाना जानती है, उसके हाथ में पहुँची वस्तु खराब भी अच्छी बन जाती है, किन्तु अमुक के घर में सर्व ही भोजन अनिष्ट, अप्रिय, दुर्गंधित है, सभी पदार्थ स्वाद रहित विरस हैं इत्यादि प्रकार से भोजन सम्बन्धी वचन बोलना भक्तकथा है। नदी और पर्वत से वेष्टित प्रदेश खेट है तथा सर्वत्र पर्वत से वेष्टित देश को कर्वट कहते

---

१. क० जिह्वाकर्णनयनरहिता। २. क० नद्या पर्वतेनावरुद्धः।

कथात्र सम्बध्यते कर्वटकथा: खेटकथास्तथा संवाहनद्रोणमुखादिकथाश्च, तानि शोभनानि निविष्टानि सुदुर्गाणि वीरपुरुषाधिष्ठितानि सुयंत्रितानि परचक्राभेद्यानि बहुधनधान्यार्थनिचितानि सर्वथायोध्यानि न तत्र प्रवेष्टुं कश्चिदपि शक्नोतीत्येवमादिवाक्प्रलापा: खेटादिकथा:। राज्ञां कथा: नानाप्रजापतिप्रतिबद्धवचनानि स राजा प्रचंड: शूरश्चाणक्यनिपुणश्चारकुशलो योगक्षेमोद्यतमतिश्चतुरंगबलो विजिताशेषवैरिनिवहो न तस्य पुरत: केनापि स्थीयते इत्येवमादिकं वचनं राजकथा:। चोराणां कथा:—स चोरो निपुण: खातकुशल: स च वर्त्मनि ग्रहणसमर्थ: पश्यतां गृहीत्वा गच्छति तेन सर्वं आक्रांता इत्येवमादिकथनं चोरकथा:। जनपदो देश:, नगरं प्राकाराद्युपलक्षितं, आकरो वज्रपद्मरागसुवर्णकुंकुममुक्ताफललवणचन्दनादीनामुत्पत्तिस्थानं तेषां कथास्तत्प्रतिबद्ध[1]कथार्जनानयनयानादिवाक्प्रबंधास्तत्र रत्नं सुलभं शोभनमनर्घं मुक्ताफलं तत्र जात्यमुत्पद्यते तत्र कुंकुमादिकं समहर्घमत्रानीतं बहुमूल्यं फलदं तन्नगरं सुरक्षितं प्रासादादिविराजमानं दिव्यवनिताजनाधिष्ठितं, स देशो रम्य: सुलभान्नपानो मनोहरवेष: प्रचुरगन्धमाल्यादिक: सर्वभाषाविदग्धमतिरित्येवमादिवचनप्रबंधो जन .द-नगराकरकथा:, तासु कथासु न रज्यति धीरा इत्युत्तरेण संबंध: ॥८५७॥

हैं। इन सम्बन्धी कथा करना खेटकथा, कार्वटकथा हैं। तथा संवाहन, द्रोणमुख आदि की कथाएँ भी ग्रहण कर लेनी चाहिए। जैसे कि ये खेट आदि देश बहुत ही सुन्दर बने हैं, किले सहित हैं, वीर पुरुषों से अधिष्ठित हैं, सब तरह से नियन्त्रित हैं, पर-चक्र से अभेद्य हैं, बहुत से धन-धान्य आदि पदार्थों से भरे हुए हैं, सब प्रकार से अजेय हैं, वहाँ पर कोई भी शत्रु प्रवेश नहीं कर सकते हैं इत्यादि रूप से वचन बोलना खेटादि कथाएँ हैं। नाना राजाओं से सम्बन्धित वचन बोलना राजकथा है। वह राजा बहुत ही प्रतापी है, शूर है, चाणक्य के समान निपुण है, चार—संचार में कुशल है, योग और क्षेम में अपनी बुद्धि को लगानेवाला है, चतुरंग सेना से सहित है, सर्व बैरियों को जीत चुका है, उसके सामने कोई भी खड़ा नहीं रह सकता है इत्यादि प्रकार के वचन बोलना राजकथा है। चोरों की कथा करना जैसे—वह चोर निपुण है, सेंध लगाने में प्रवीण है, वह तो मार्ग में ही लूटने में कुशल है, देखते-देखते लेकर भाग जाता है, उसने सभी को त्रस्त कर रखा है इत्यादि बातों का कथन करना चोरकथा है। जनपद - देश, नगर— जो परकोटे से घिरा हुआ है, आकर—हीरा, पन्ना, सोना, कुंकुम, मोती, नमक, चन्दन आदि इनकी उत्पत्ति के स्थानविशेष इनसे सम्बन्धित कथाएँ करना; रत्नों के अर्जन करने का, उनके लाने-ले जाने आदि की बातें करना, जैसे कि वहाँ पर रत्न सुलभ हैं, सुन्दर और मूल्यवान् हैं, उत्तम-उत्तम मोती मिलते हैं, वहाँ कुंकुम वगैरह वस्तुएँ बेशकीमती मिलती हैं यहाँ पर लाने से उनकी बहुत ही कीमत होगी, वे उत्तम फल देनेवाली वस्तुएँ हैं। वह नगर सुरक्षित है उसमें बड़े-बड़े महल आदि शोभित हो रहे हैं, वे दिव्य स्त्रियों से मनोहर हैं। वह देश रम्य है, वहाँ पर अन्न-पान सुलभ है, वहाँ के लोग मनोहर वेश धारण करते हैं, वहाँ पर प्रचुर मात्रा में गन्ध, माला आदि वस्तुएँ प्रयोग में लायी जाती हैं, वहाँ के लोग सभी भाषाओं में पण्डित हैं, इत्यादि रूप से बचन बोलना जनपद, नगर और आकर कथा कहलाती हैं। धीर मुनि इन कथाओं में राग नहीं करते हैं, ऐसा अगली गाथा से यहाँ पर सम्बन्ध कर लेना चाहिए।

---

१. क० प्रतिबद्धार्जन।

तथा—

णडभडमल्लकहाओ मायाकरजल्लमुट्ठियाणं च ।
अज्जउललंघियाणं कहासु ण वि रज्जए धीरा ।।८५८।।

नटा भरतपुत्रका रंगोपजीविनः, भटा युद्धसमर्थाः सहस्रादीनां जेतारः, मल्ला अंगयुद्धसमर्था अनेककच्छपबंधादिकरणसमर्थाः, मायां महेन्द्रजालादिकं प्रतारणं कुर्वन्तीति मायाकरा मायाकृतरंगोपजीविनः, जल्ला मत्स्यबधाः शाकुनिकाश्च खट्टिकाम्लेच्छादयश्च, मुष्टिका द्यूतकारा द्यूतव्यसनिनः[1], अज्जउला—आर्या कुलमाम्नायो दुर्गा येषां ते आर्याकुला हस्तपादशिरःशरीरावयवभेदेन कुशला दुर्गपुत्रिका जीवहिंसनरता अथवा अजाविकारक्षकाः सर्वपशुपालाश्च लंघिका[2] वरत्रावेणूपरिनृत्तकुशला इत्येवमादीनां याः कथास्तद्व्यापारकरणं सरागचेतसा स शोभनतरोऽशोभनतरो वा कुशलोऽकुशलो वेत्येवमादयस्तासु कथासु पूर्वोक्तासु नैव रज्यंति नैवानुरागं कुर्वन्ति धीरा वैराग्यपरा इति ।।८५८।।

न केवलं विकथा वचनेन वर्जयंति किं तु मनसाऽपि[3] न कुर्वन्तीत्याह—

विकहा विसोत्तियाणं खणमवि हिदएण ते ण चिंतंति ।
धम्मे लद्धमदीया विकहा तिविहेण वज्जंति ।।८५९।।

उन कथाओं के और भी भेद बताते हैं—

गाथार्थ—नटों की कथा, भटों की कथा, मल्लों की कथा, मायाकरों की कथा, धीवरों की कथा, जुआरिओं की कथा, दुर्गा आदि देवियों की कथा, बांस पर नाचनेवालों की कथा इत्यादि कथाओं में धीर मुनि अनुरक्त नहीं होते हैं ।।८५८।।

आचारवृत्ति—नट—भरतपुत्र अर्थात् नृत्य से उपजीविका करनेवाले, भट—युद्ध में समर्थ अर्थात् हज़ारों योद्धाओं को जीतनेवाले, मल्ल—कुश्ती खेलने में पहलवान अर्थात् अनेक प्रकार के कच्छप बन्ध आदि करने में समर्थ मल्ल, मायाकर—इन्द्रजाल आदि से प्रतारणा करने वाले अर्थात् जादूगर के खेल दिखाकर आजीविका करनेवाले; जल्ल—मछलीमार, पक्षीमार, खटीक, म्लेच्छ आदि लोग, मुष्टिक—जुआ खेलनेवाले, आर्याकुल—आर्या—दुर्गादेवी, शक्ति-देवता जिनका कुल—आम्नाय हैं ऐसे लोग आर्याकुल वाले हैं। वे हाथ, पैर, शिर के अवयवों को भेदने में कुशल होते हैं, दुर्गादेवी या उसके उपासक जीव-हिंसा में तत्पर लोग; अथवा बकरी-भेड़ के रक्षक, सर्व पशुओं के पालक, लंघिका—रस्सी और बांस पर नृत्य करने में कुशल, इत्यादि प्रकार के नट, भट आदि की कथा करना, उनके कार्यों में उपयोग लगाना, सरागचित्त होकर चर्चा करना कि वह बहुत सुन्दर है, वह असुन्दर है, अथवा वह कुशल है या अकुशल है इत्यादि रूप से इन उपर्युक्त कथाओं में वैराग्यशील मुनि अनुराग नहीं करते हैं।

इन कथाओं को केवल वचन से ही वर्जित नहीं करते हैं किन्तु मन से भी इनका चिंतवन नहीं करते हैं, सो ही बताते हैं—

गाथार्थ—वे मुनि मन से क्षण मात्र भी विकथा और कुशास्त्रों का चिन्तवन नहीं करते हैं। धर्म में बुद्धि लगानेवाले वे मुनि मन-वचन-काय से विकथाओं का त्याग कर देते हैं ।।८५९।।

---

१. क० द्यूतेन व्यसनिनः। २. क० लंघाका। ३. क० हृदयेनापि।

इत्येवमादिविकथाः स्त्रीभक्तचोरराजकथाः विश्रुतिकथाश्च सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रतपसां प्रतिकूलवचनानि तत्प्रतिबद्धपरिणामांश्च क्षणमपि नयनोन्मेषमात्रमपि हृदयेन चेतसा न ते मुनयश्चिन्तयंति न व्यवस्थापयंति धर्मे धर्मविषये लब्धमतयो यतो [1]विकथास्त्रिप्रकारेण मनोवाक्कायैर्वर्जयन्तीति ॥८५९॥

तथा—

कुक्कुय कंदप्पाइय हासं उल्लावणं च खेडं च ।
मददप्पहत्थवट्टिं ण करेंति मुणी ण कारेंति ॥८६०॥

कुक्कुय—कौत्कुच्यं हृदयकंठाभ्यामव्यक्तशब्दकरणं, कंदप्पाइय—कंदर्पायितं कामोत्पादकवचनान्यथवा रागोद्रेकात्प्रहाससंमिश्राशिष्टवाक्यप्रयोगः कंदर्पः, हासं—हास्यमुपहास्यवचनानि, उल्लावणं—अनेकवैदग्ध्ययुक्तरम्यवचनं, खेडं चोपप्लवचनं अदुष्टहृदयेन परप्रतारणं, मददर्पेण स्वहस्तेनान्यहस्तताडनं च मुनयो न कुर्वन्ति न कारयंति नाऽप्यनुमन्यन्ते च ॥८६०॥

यतः—

ते होंति णिव्वियारा थिमिदमदी पदिट्ठिदा जहा उदधी ।
णियमेसु दढव्वदिणो पारत्तविमग्गया समणा ॥८६१॥

आचारवृत्ति—उपर्युक्त कही हुई विकथाएँ, स्त्रीकथा, भक्तकथा, चोरकथा और राजकथा तथा विश्रुतिकथा अर्थात् सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप इनके प्रतिकूल वचन तथा इनसे सम्बन्धित परिणामों को भी वे मुनि नेत्र की पलक लगने के समय रूप निमेष मात्र काल के लिए भी मन से चिन्तवन नहीं करते हैं और न ही उनकी व्यवस्था करते हैं। धर्म में अपनी बुद्धि को एकाग्र करनेवाले वे महामुनि मन-वचन-काय पूर्वक इन कथाओं का त्याग कर देते हैं।

उसी प्रकार से और भी बताते हैं—

गाथार्थ—काय की कुचेष्टा, कामोत्पादक वचन, हँसी, वचनचातुर्य, परवंचना के वचन, मद व दर्प से करताड़न करना आदि चेष्टाएँ मुनि न करते हैं न कराते हैं ॥८६०॥

आचारवृत्ति—कौत्कुच्य—हृदय और कण्ठ से अव्यक्त शब्द करना, कंदर्पायित—कामोत्पादक वचन बोलना, अथवा राग के उद्रेक से हँसी मिश्रित अशिष्ट वचनों का प्रयोग करना, हास्य-उपहास के वचन बोलना, उल्लापन—अनेक चातुर्ययुक्त मनोहर वचन बोलना, खेड-उपप्लव नास्तिवाद के वचन या सरल हृदय से भी पर को प्रतारित करना, तथा मद के गर्व से अपने हाथ से दूसरों के हाथ को ताड़ित करना। ऐसे कार्य ये मुनि न स्वयं करते हैं, न कराते हैं और न अनुमति ही देते हैं।

क्यों नहीं करते हैं ? सो ही बताते हैं।

गाथार्थ—वे निर्विकार अनुद्धतमनवाले, समुद्र के समान गम्भीर, नियम अनुष्ठानों में दृढ़व्रती तथा परलोक के अन्वेषण में कुशल श्रमण होते हैं ॥८६१॥

---

१. क० वर्जिताः ।

यस्मात्ते साधवो भवंति निर्विकाराः कायिकवाचिकमानसिकविकारैर्वर्जिताः स्तिमितमतयोऽनुद्धत-चेष्टासंकल्पाः, प्रतिष्ठिता यथोदधिः समुद्र इवागाधा [1]अक्षोभाश्च, नियमेषु षडावश्यकादिक्रियासु दृढव्रतिनोऽभग्नगृहीतनानावग्रहविशेषाः, पारम्पर्यविमार्गकाः परलोकं प्रति सूद्यतसमस्तकार्या इहलोकं निरतिचारं परलोकं सम्यग्विधानेनात्मना परेषां च निरूपयंतीति ॥८६१॥

कथंभूतास्तर्हि कथाः कुर्वन्तीत्याशंकायामाह—

जिणवयणभासिदत्थं पत्थं च हिदं च धम्मसंजुत्तं ।
समओवयारजुत्तं पारत्तहिदं कधं करेंति ॥८६२॥

जिनवचनेन वीतरागागमेन भाषितः प्रतिपादितोऽर्थो विषयो यस्याः सा जिनवचनभाषितार्था रत्नत्रयप्रतिपादनसमर्था तां कथां कुर्वते । पुनरपि पथ्यां हितां च धर्मसंयुक्तां समयोपचारयुक्तामागमविनयसहितां परलोकं प्रति हितां कुर्वते । यद्यपि विषयसुखविवर्जनेन कापुरुषाणामनिष्टा तथापि विपाककाले पथ्यौषधवत् । तथा यद्यपि जीवप्रदेशसंतापकरणेन[2] न हिता तथापि सम्यगाचरणनिरता । तथा यद्यपि विनयतन्निष्ठा तथापि श्रुतज्ञानप्रतिकूला न भवति तर्कव्याकरणसिद्धान्तचरितपुराणादिप्रतिपादिका वा कथा तां कुर्वत इति ॥८६२॥

ये कथामेवंविधां[3] कुर्वन्ति ते किम्भूता इत्याशंकायामाह—

आचारवृत्ति—क्योंकि वे साधु कायिक, वाचिक तथा मानसिक विकारों से रहित होते हैं, उनकी चेष्टाएँ तथा संकल्प उद्धतपने से रहित होती हैं। वे समुद्र के समान प्रतिष्ठित अगाध और क्षोभरहित होते हैं। छह आवश्यक आदि क्रियाओं में दृढ़ रहते हैं अर्थात् जो नियम ग्रहण करते हैं उनको कभी भग्न नहीं करते हैं। परलोक के प्रति समस्त कार्यों को करने में उद्यमशील होते हैं। इहलोक में निरतिचार आचार पालते हैं और परलोक के प्रति उनका सम्यक् प्रकार से अपने लिए तथा अन्य जनों के लिए निरूपण करते हैं।

तो पुनः वे मुनि किस प्रकार की कथाएँ करते हैं ? ऐसी आशंका होने पर कहते हैं—

गाथार्थ—जिनागम में भाषित है अर्थ जिसका, जो पथ्य है, हितकर है, धर्म से संयुक्त है, आगमकथित उपचार-विनय से युक्त, परलोक के हितरूप—ऐसी कथाएँ वे मुनि करते हैं ॥८६२॥

आचारवृत्ति—वीतरागदेव के आगम से जिसका विषय प्रतिपादित किया गया है अर्थात् जो रत्नत्रय का प्रतिपादन करने में समर्थ है ऐसी कथा को वे मुनि करते है। यद्यपि विषय-सुखों को त्याग कराने वाली होने से कायर पुरुषों को अनिष्ट है फिर भी जो विपाक के काल में गुणकारी है, पथ्य औषधि के समान वह कथा पथ्य कहलाती है। यद्यपि जीव के प्रदेशों में संताप का कारण होने से यह हितरूप नहीं लगती है फिर भी समीचीन आचरण से सहित होने से हित कर ही है। धर्म से संयुक्त है तथा समयोपचार-आगमकथित विनय से सहित है तथा परलोक के लिए हितकर है। अर्थात् यद्यपि विनय में निष्ठ है तो भी श्रुतज्ञान के प्रतिकूल नहीं है अथवा तर्क, व्याकरण, सिद्धान्त, चरित, पुराण आदि की प्रतिपादक ऐसी कथा मुनिजन करते हैं।

जो ऐसी कथाएँ करते हैं वे मुनि कैसे होते हैं ? सो ही बताते हैं—

---

१. क० अक्षोभ्याश्च । २. क० कारणेन । ३. क० मेवंभूतां ।

सत्ताधिय सप्पुरिसा मग्गं मण्णंति वीदरागाणं।
अणयारभावणाए भावेंति य णिच्चमप्पाणं ॥८६३॥

सत्वाधिकाः सर्वोपसर्गैरप्यकंप्यभावाः, सत्पुरुषाः [1]यथोक्तचरितचारित्रा मार्गं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मन्यंतेऽभ्युपगच्छन्ति । केषां मार्गं ? वीतरागाणां निर्दग्धमोहनीयरजसामनगारभावनया च कथित-[2]स्वरूपया भावयंति चात्मानमिति ॥८६३॥

वाक्यशुद्धिं निरूप्य तपःशुद्धिं च निरूपयन्नाह—

णिच्चं च अप्पमत्ता संजमसमिदीसु झाणजोगेसु।
तवचरणकरणजुत्ता हवंति सवणा समिदपावा ॥८६४॥

नित्यं च सर्वकालमपि अप्रमत्ताः पंचदशप्रमादरहिताः संयमे प्राणरक्षण इन्द्रियनिग्रहे समितिषु ध्याने धर्मध्याने शुक्लध्याने च योगेषु नाना-विधावग्रहविशेषेषु द्वादशविधे चरणे करणे च त्रयोदशविधे शमितपापाः संतः श्रमणा उद्युक्ता भवंति । एवंविशिष्टे सम्यग्ज्ञानदर्शनचारित्रतपोविषये तदुपकरणे च सर्वपापक्रियानिवृत्ताः सन्तोऽभीक्ष्णमायुक्ता भवंतीति ॥८६४॥

गाथार्थ—वे शक्तिशाली साधु वीतरागदेवों के मार्ग को स्वीकार करते हैं और अनगार भावना के द्वारा नित्य ही आत्मा की भावना करते हैं ॥८६३॥

आचारवृत्ति—जो सभी प्रकार के उपसर्गों के आने पर भी चलायमान नहीं होते हैं व सत्त्वाधिक पुरुष हैं, जो आगम कथित उपर्युक्त आचरण को धारण करनेवाले हैं ऐसे दृढ़ चारित्रवान साधु मोहनीय और ज्ञानावरण, दर्शनावरण तथा अन्तराय इन कर्मों को नष्ट करने वाले ऐसे वीतरागदेव के सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्ररूप मार्ग को माननेवाले होते हैं। वे महामुनि इस कही जानेवाली अनगार भावना से निरन्तर अपनी आत्मा को भाते रहते हैं।

वाक्यशुद्धि का निरूपण करके अब तपशुद्धि को कहते हैं—

गाथार्थ—वे श्रमण संयम तथा समिति में ध्यान तथा योगों में नित्य ही प्रमादरहित होते हैं एवं तप, चारित्र तथा क्रियाओं में लगे रहते हैं अतः पापों का शमन करनेवाले होते हैं ॥८६४॥

आचारवृत्ति—वे साधु हमेशा ही पन्द्रह प्रकार के प्रमादों से रहित होते हैं। प्राणीरक्षण और इन्द्रियनिग्रह संयम में, पाँचों समितियों में, धर्मध्यान और शुक्लध्यान में नाना प्रकार के नियम रूप योगों के अनुष्ठान में, बारह प्रकार के तपश्चरण में, तेरह प्रकार के चारित्र में एवं तेरह प्रकार की क्रियाओं में सतत उद्यमशील रहते हुए पापों को समित करनेवाले होते हैं। इन गुण विशिष्ट सम्यग्ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और उनके उपकरण—साधनों में सर्वपाप क्रिया से निवृत्त होते हुए सतत उद्यमशील रहते हैं।

भावार्थ—पाँच महाव्रत, पाँच समिति और तीन गुप्ति ये तेरह विध चारित्र हैं। पंच परमेष्ठी को नमस्कार, छह आवश्यक-क्रिया तथा असही और निसही ये तेरह विध क्रियाएँ हैं।

---

१. क० यथोक्ताचरितं। २. क० कथितरूपया।

बाह्यतपसां मध्ये दुश्चरं तावत्कायक्लेशं तपः प्रतिपादयन्नाह—

हेमंते धिदिमंता सहंति ते हिमरयं परमघोरं ।
अंगेसु णिवडमाणं णलिणीवणविणासयं[1] सीयं ॥८६५॥

हेमंते हिमवत्काले परमघोरे दग्धाशेषवनस्पतिविशेषे प्रचंडवातसमूहकंपिताशेषजंतुनिवहे धृतिमंतः परमधैर्यप्रावरणसंवृताः, सहन्ते ते मुनयो हिमरजः पतत्प्रालेयसमूहं परमघोरं सुष्ठु रौद्रमंगेषु निपतदाचरणाम् मस्तकं यावत्पतद्धिमं । किंविशिष्टं तद्धिमरजः ? नलिनीवनविनाशकं पद्मिनीखंडदहनसमर्थं, उपलक्षणमात्रमेतत् तेन सर्वभूतविनाशकरण[2]समर्थं सहन्त इति ॥८६५॥

अभ्रावकाशं व्याख्यायातापनस्वरूपमाह—

जल्लेण मइलिदंगा गिह्मे उण्णादवेण दड्ढंगा ।
चेट्ठंति णिसिट्ठंगा सूरस्स य अहिमुहा सूरा ॥८६६॥

जल्लं सर्वांगोद्भूतमलं तेन मलिनांगा वल्मीकसमाना निःप्रतीकारदेहाः; ग्रीष्मे प्रचंडमार्तंडगभस्तिहस्तशोषिताशेषार्द्रभावे दवदहनसमानतृष्णाक्रांतसमस्तजीवराशौ उष्णातपेन [3]दीप्यमानकिरणजालैर्दग्धांगा

बाह्य तपों में दुश्चर जो कायक्लेश तप है उसको बतलाते हैं—

गाथार्थ—हेमन्त ऋतु में कमलवन को नष्ट करनेवाली ठण्ड तथा शरीर पर गिरती हुई परमघोर बर्फ को धैर्यशाली मुनि सहन करते हैं ॥८६५॥

आचारवृत्ति—शीतकाल में परमघोर तुषार के गिरने से सम्पूर्ण वनस्पतियाँ जल जाती हैं, प्रचण्ड हवा—शीत लहर के चलने से सभी प्राणी समूह काँप उठते हैं, ऐसे समय में परमधैर्य रूप आवरण से अपने शरीर को ढकने वाले वे मुनिराज गिरते हुए हिमकणों को, तुषार को सहन कर लेते हैं। जो तुषार भयंकर है, पैर से मस्तक तक उन्हें व्याप्त कर रहा है, जो कि कमलिनी-वन को जलाने में समर्थ है अथवा यह कथन उपलक्षण मात्र है इससे यह समझना कि वह हिम सर्व प्राणीगण को नष्ट करने में समर्थ हैं ऐसे भयंकर तुषार को मुनिराज खुले स्थान में खड़े होकर धैर्यपूर्वक सहन कर लेते हैं। यह अभ्रावकाश योग का स्वरूप कहा गया है।

अभ्रावकाशयोग का व्याख्यान करके आतापन का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—पसीने से युक्त धूलि से मलिन अंगवाले, ग्रीष्मऋतु में उष्ण घाम से शुष्क-शरीरधारी, कायोत्सर्ग से स्थित शूर मुनि सूर्य की तरफ मुख करके खड़े हो जाते हैं ॥८६६॥

आचारवृत्ति—सर्वांग में उत्पन्न हुआ मल जल्ल कहलाता है, वे मुनि उस जल्ल से मलिन अंग धारण करते हैं अतः वामी के समान दिखते हैं, वे उस मल को दूर नहीं करते हैं। प्रचण्ड सूर्य की किरणों से सभी वस्तुओं का गीलापन जहाँ सूख चुका है, दावानल की अग्नि के समान तृष्णा से समस्त जीवराशि व्याकुल हो रही है ऐसी ग्रीष्म ऋतु में उष्ण घाम से जिनका शरीर दग्ध काठ के समान हो गया है, जो मुनि कायोत्सर्ग से स्थित होकर अपने शरीर के अव-

---

१. क० विणासणं। २. क० करणं। ३. क० दीप्यमानाः।

वग्धकाष्ठसमानशरीरास्तिष्ठंति । निसृष्टांगाः कायोत्सर्गेणाचलितशरीरावयवाः सूरस्य धगधगायमानादित्य-स्याभिमुखं शूरा मनागपि न संक्लेशमुद्वहंति शीतह्रदे प्रविष्टा इव संतिष्ठंत[1] इति ॥८६६॥

वृक्षमूलं निरूपयन्नाह—

धारंधयारगुविलं सहंति ते वादवाद्दलं चंडं ।
रत्तिदियं गलंतं सप्पुरिसा रुक्खमूलेसु ॥८६७॥

तथा प्रावृट्काले जलपूरिताशेषमार्गे गर्जत्पर्जन्यघोराशनिरवबधिरितदिगंते वृक्षमूलेऽनेकसर्पाकीर्णे चंडं रौद्रं वातं वार्द्दलं च प्रवर्षणशीलं मेघजालं च सहंते सम्यगध्यासते । किंविशिष्टं ? जलधारांधकारगहनं । पुनरपि किंविशिष्टं ? रात्रिदिवं च क्षरन्मुशलप्रमाणपतद्धाराभिर्वर्षद्वृक्षमूले वसंति सहंते च सत्पुरुषाः, न मनागपि चित्तक्षोभं कुर्वन्तीति ॥८६७॥

तत्र स्थिताः परीषहांश्च जयंतीत्याह—

वादं सीदं उण्हं तण्हं च छुधं च दंसमसयं च ।
सव्वं सहंति धीरा कम्माण खयं करेमाणा ॥८६८॥

यवों को अचल किये हुए हैं। वे महामुनि धगधगायमान अग्नि के गोले के सदृश ऐसे सूर्य की तरफ मुख करके खड़े हो जाते हैं। ऐसे शूरवीर साधु किंचित् मात्र भी खेद को प्राप्त नहीं होते हैं प्रत्युत शीतसरोवर में प्रविष्ट हुए के समान शान्त रहते हैं। यह आतापन योग का स्वरूप कहा गया है।

वृक्षमूल योग का निरूपण करते हैं—

गाथार्थ—जलधारा के गिरने से, अन्धकार से व्याप्त भयंकर वायु और बरसते मेघ से रात-दिन झरते हुए ऐसे वृक्षों के नीचे वे साधु वर्षा को सहन करते हैं ॥८६७॥

आचारवृत्ति—वर्षाकाल में सभी मार्ग जल से पूरित हो जाते हैं, गरजते हुए मेघ और घोर वज्र के शब्दों से दिशाओं के अन्तराल बहिरे हो जाते हैं। उस समय अनेक सर्पों से व्याप्त ऐसे वृक्ष के नीचे वे मुनि खड़े हो जाते हैं। वहाँ पर वायु के झकोरे से सहित सतत बरसते हुए मेघों की जलधारा को वे मुनि सहन करते हैं। जो जलधारा वन में गहन अन्धकार करने वाली है, रातदिन पड़ती हुई मूसल प्रमाण मोटी-मोटी धाराओं से वृक्ष भी सतत पानी की बूँदें गिरा रहे हैं। ऐसे समय में वे मुनिराज वृक्ष के नीचे ध्यान करते हैं और किंचित् मात्र भी चित्त में क्षोभ नहीं करते हैं। यह वृक्षमूल योग का स्वरूप कहा है।

वहाँ पर स्थित होकर वे साधु परीषहों को जीतते हैं—

गाथार्थ—कर्मों का क्षय करते हुए वे धीर मुनि वात, शीत, उष्ण, प्यास, भूख, दंश-मशक आदि सभी परीषहों को सहते हैं। ॥८६८॥

---

१. क० तिष्ठन्तीति

एवं त्रिकालयोगिनः संतो वातं विनाशिताशेषतरुसमूहं सहंते तथा शीतं सहंते तथोष्णं शोषिताशेषवनसरित्समुद्रं [1]सहंते तथा तृष्णां संतापिताशेषांगावयवां सहंते तथा क्षुधां महाप्रलयकालसमुत्थिताग्निस्वरूपां सहंते तथा दंशमशककृतोपद्रवं सहंते तथा सर्पवृश्चिकपिपीलिकावराहादिकृतोपद्रवं च सहंते, किं बहुना सर्वमप्युपसर्गजातं [2]कर्मणां क्षयं कुर्वाणाः सहंते न तंत्रमंत्रनिमित्तं नेह[3]लौकिकसुखनिमित्तं नापि परलोकभोगाकांक्षयेति ॥८६८॥

एवं कायभवं क्लेशसहनं निरूप्य वाग्भवं क्लेशसहनं निरूपयन्नाह—

दुज्जणवयण चडयणं सहंति अच्छोड सत्थपहरं च ।
ण य कुप्पंति महरिसी खमणगुणवियाणया साहू ॥८६९॥

दुष्टो जनो दुर्जनस्तस्य वचनं दुर्जनवचनं सर्वप्रकारेणापवादग्रहणशीलमिथ्यादृष्टिखरपरुषवचनं, चटचटत्तप्तलोहस्फुलिंगसमानं सर्वजीवप्रदेशतापकरं, सहंते न क्षोभं गच्छन्ति, अच्छोडं पैशुन्यवचनं असद्दोषोद्भावनप्रवणमथवा अछोडणं लोष्ठलगुडादिभिस्ताडनं, शस्त्रप्रहारं च खड्गादिभिर्घातं च सहंते, इति सर्वमेतत्

आचारवृत्ति—इस प्रकार अभ्रावकाश, आतापन एवं वृक्षमूल इन त्रिकाल योगों को धारण करनेवाले मुनीश्वर सम्पूर्ण वृक्षों को जोड़ से उखाड़नेवाली ऐसी वायु के कष्ट को सहन करते हैं। वनस्पति समूह को नष्ट करने में समर्थ ऐसी शीत को तथा वन की सभी नदियों को व समुद्रों को सुखाने में समर्थ ऐसी उष्णता को सहन करते हैं। जो शरीर के समस्त अवयवों को सन्तप्त करनेवाली है ऐसी तृष्णा प्यास की बाधा को तथा महाप्रलय काल में उत्पन्न हुई अग्नि के समान ऐसी जठराग्निस्वरूप भूख की बाधा को सहन करते हैं। उसी प्रकार डांस-मच्छरों से किये गये उपद्रवों को तथा साँप, विच्छू, चिंवटी, सूकर आदि वन-जन्तुओं द्वारा किए गये उपद्रवों को भी सहन करते हैं। अधिक कहने से क्या? वे मुनि कर्मों का क्षय करते हुए सभी उपसर्ग समूहों को सहन करते हैं। अर्थात् वे मुनि इन परीषह एवं उपसर्गों को तन्त्र-मन्त्रों के निमित्त नहीं सहते हैं, न इहलोक के सुखों के लिए ही सहते हैं और न परलोक में भोगों की आकांक्षा से ही सहन करते हैं, किन्तु कर्मों के क्षय के लिए ही सहन करते हैं ऐसा समझना।

इस प्रकार से काय से उत्पन्न हुए क्लेश-सहन का निरूपण करके अब वचन से होने वाले क्लेश सहने का निरूपण करते हैं—

गाथार्थ—दुर्जन के अत्यन्त तीक्ष्ण वचन, निन्दा के वचन, और शस्त्र के प्रहार को सहन करते हैं किन्तु वे क्षमागुण के ज्ञानी महर्षि मुनि क्रोध नहीं करते हैं ॥८६९॥

आचारवृत्ति—दुष्ट जन को दुर्जन कहते हैं, उनके वचन सब प्रकार से अपवाद ग्रहण करनेवाले होते हैं ऐसे मिथ्यादृष्टि जनों के तीक्ष्ण और कठोर वचन जो कि तप्त हुए लोहे के पीटने से निकलते हुए अग्नि के स्फुलिंगों के समान होने से जीव के सर्व आत्मप्रदेशों में सन्ताप को करनेवाले रहते हैं। ऐसे दुर्जन के वचनों को मुनि सहन कर लेते हैं किन्तु क्षोभ को प्राप्त नहीं होते हैं। पैशुन्य वचन—असत् दोषों को प्रगट करना या ढेले, डण्डे आदि से ताड़ित करना,

---

१. क० विसहन्ते। २. क० कर्मक्षयं कुर्वाणाः। ३. क० नेहलोकसुख।

सहंते न च तेभ्य उपद्रवकारिभ्यः कुप्यन्ति, महर्षयः क्षमागुणविज्ञानकाः श्रमणाः सर्वप्रकारैः सहनशीलाः क्रोधादिवशं न गच्छन्तीति ॥८६९॥

अन्यच्च—

जइ पंचिंदियदमओ होज्ज जणो रूसिदव्वय णियत्तो।
तो कदरेण कयंतो रूसिज्ज जए मणूयाणं ॥८७०॥

यदि पंचेन्द्रियदमकः पचेन्द्रियनिग्रहरतो भवेज्जनस्तदा स रोषादिभ्यो निवृत्तश्च जनो भवेत्ततः कतरेण कारणेन कृतांतो मृत्यू रुष्येत् कोपं कुर्याज्जगति मनुष्येभ्योऽथवा कृतांत आगमस्तत्साहचर्याद्यतिरपि कृतांत इत्युच्यते तत एवं संबंधः क्रियते यदि सामान्यजनोऽपि पंचेन्द्रियनिग्रहरतो भवेत्ततः रोषान्निवृत्तः क्रोधादिकं न करोति कृतांतो यतिः पुनः कतरेण कारणेन सूपद्रवकारिभ्यो मनुष्येभ्यो रुष्येत्कोपं कुर्यात्? तस्मात्क्षमागुणं जानता चारित्रं सम्यग्दर्शनं चाभ्युपगच्छता न रोषः कर्त्तव्यः ॥८७०॥

अन्यच्च—

जदि वि य करेंति पावं एदे जिणवयणबाहिरा पुरिसा।
तं सव्वं सहिदव्वं कम्माण खयं करंतेण ॥८७१॥

शस्त्र प्रहार—तलवार आदि से घात करना इत्यादि उपद्रवों को वे मुनि सहन कर लेते हैं किन्तु उन उपद्रव करनेवालों पर क्रोध नहीं करते हैं क्योंकि वे महर्षि क्षमागुण के ज्ञानी होने से सर्व प्रकार से सहनशील होते हैं अर्थात् ज्ञानी साधु क्रोध आदि कषायों के वशीभूत नहीं होते हैं।

और भी कहते हैं—

गाथार्थ—यदि मनुष्य पंचेन्द्रिय को दमन करनेवाला होवे तो वह क्रोध आदि से छूट जायेगा। पुनः इस जगत् में मनुष्यों पर किस कारण से यमराज रुष्ट होगा? अर्थात् रुष्ट नहीं होगा ॥८७०॥

आचारवृत्ति—यदि मुनि पंचेन्द्रियों के निग्रह में तत्पर हैं तो वे क्रोध आदि कषायों से निवृत्त हो जावेंगे। पुनः इस जगत् में मनुष्यों पर किस कारण से मृत्यु कुपित हो सकेगी? अर्थात् जो इन्द्रिय विजयी हैं वे कषायों से रहित हो जाते हैं और तब मृत्यु से भी छूट जाते हैं। अथवा कृतान्त[1] अर्थात् आगम जिसके साहचर्य से यति को भी 'कृतान्त' ऐसा कहा जाता है। पुनः ऐसा सम्बन्ध करना कि यति सामान्यजन भी पचेन्द्रियों के निग्रह में तत्पर होता है तो वह क्रोध आदि नहीं करता है, पुनः कृतान्त—यति भी उपद्रव करनेवाले मनुष्यों पर किस कारण क्रोध करेंगे? अर्थात् चारित्र तथा सम्यग्दर्शन को स्वीकार करते हुए क्षमागुण को जाननेवाले मुनियों को क्रोध नहीं करना चाहिए यह अभिप्राय है।

और भी स्पष्ट करते हैं—

गाथार्थ—जिन मत से बहिर्भूत कोई मनुष्य यद्यपि पाप करते हैं तो भी कर्मों का क्षय करते हुए मुनि को वह सब सहन करना चाहिए। ॥८७१॥

---

१. कृतान्तागमसिद्धान्त ग्रन्थाः शास्त्र मतः परं। धनं०।

यद्यपि च पूर्वकर्मोदयवशात्कुर्वन्ति पापं वधबन्धनादिकं रौद्रं कर्मैते जिनवचनबाह्याः पुरुषा मिथ्यात्वासंयमकषायाभिरताः सर्वमदगर्विताः; तत्सर्वमुपसर्गजातं सहनीयं सम्यग्विधानेनाध्यासितव्यमध्यासयेत् । कर्मणां क्षयं पूर्वार्जितकर्मफलक्षयं कुर्वताऽऽत्मना सह कर्मणां विश्लेषं कुर्वता सम्यग्दर्शनादिभिरात्मानं भावयतेति ॥८७१॥

पुनरपि कषायविजयमाह—

लद्धूण इमं सुदणिहिं ववसायविरज्जियं तह करेह ।
अह सुग्गइचोराणं ण उवेह वसं कसायाणं ॥८७२॥

लब्ध्वा सम्यगवाप्येमं श्रुतनिधिं द्वादशांगचतुर्दशपूर्वरत्ननिधानं व्यवसायेन चारित्रतपसोद्योगेन सह द्वितीयं तथा कुरुत तेन प्रकारेण यतध्वं, यथा सुगतिचौराणां मोक्ष[1]मार्गविनाशकानां कषायाणां वशं नोपेत तथा यतध्वं येषाञ्च रत्नत्रयविनाशकानां क्रोधादीनां वशं न गच्छन्तीति ॥८७२॥

तपःशुद्धिस्वामिनः प्रतिपादयन्नाह—

पंचमहव्वयधारी पंचसु समिदीसु संजदा धीरा ।
पंचिंदियत्थविरदा पंचमगइमग्गया सवणा ॥८७३॥

पंचमहाव्रतधारिणो जीवदयादिगुणकलिताः पंचसु समितिषु संयताः पंचसमितिसंयुक्तास्तासु वा

आचारवृत्ति—जो जिन मत से बहिर्भूत हैं वे पुरुष मिथ्यात्व, असंयम और कषाय में तत्पर सर्व मद से गर्वित रहते हैं। वे यद्यपि पूर्व कर्मोदय के निमित्त से पाप-बध-बन्धन आदि रौद्र कर्म करते हैं तो भी मुनिराज को चाहिए कि सभी उपसर्गों को सम्यक् प्रकार से सहन करें। अर्थात् वे मुनि पूर्व संचित कर्मों के फल का क्षय करते हुए—अपनी आत्मा से कर्मों को पृथक् करते हुए सम्यग्दर्शन आदि गुणों के द्वारा अपनी आत्मा की भावना करें।

पुनरपि कषायविजय को कहते हैं—

गाथार्थ—इस श्रुतरूपी निधि को प्राप्त करके वैसा व्यवसाय विशेष करो कि जिस से तुम सुगति के चुरानेवाले इन कषायों के वश में न हो जाओ। ॥८७२॥

आचारवृत्ति—द्वादशांग और चतुर्दश पूर्व श्रुतज्ञानरूपी रत्ननिधान को सम्यक् प्रकार से प्राप्त करके व्यवसाय—चारित्र और तप के उद्यम के साथ-साथ तुम ऐसा दूसरा प्रयत्न करो कि जिससे मोक्षमार्ग के विनाशक इन कषायों के वशीभूत न हो जाओ। अर्थात् ऐसा कोई प्रयत्न करो कि जिससे रत्नत्रय के घातक इन क्रोधादि काषायों के आधीन नहीं होना पड़े।

तपःशुद्धि के स्वामी का वर्णन करते हैं—

गाथार्थ—पंचमहाव्रत धारी, पाँच समितियों में संयत, धीर, पंचेन्द्रियों के विषयों से विरक्त और पंचमगति के अन्वेषक श्रमण होते हैं—तपःशुद्धि करते हैं ॥८७३॥

आचारवृत्ति—जो पाँचमहाव्रतों के धारक हैं, जीवदया आदि गुणों से संयुक्त हैं, पाँच समितियों से अपने को नियन्त्रित किए हुए हैं अथवा उनमें व्यवस्थित हैं, धीर—अकंपभाव को

---

[1] क० सिद्धिमार्ग-।

अवस्थिता धीरा अकंपभावमुपगताः पंचेन्द्रियार्थेभ्यो विरता जितेन्द्रियाः पंचमगतिं सिद्धगतिं मृगयमाणा अनन्तचतुष्टयेनात्मानं योजयन्तः श्रमणा इत्थंभूतास्तपःशुद्धेः कर्त्तारो भवन्तीति ॥८७३॥

तथा—

[1]ते इंदिएसु पंचसु ण कयाइ रागं पुणो वि बंधंति ॥
उण्हेण व हारिद्दं णस्सदि राओ सुविहिदाणं ॥८७४॥

ते पूर्वोक्ताः श्रमणा इन्द्रियेषु पंचसु रागं कदाचिदपि न पुनर्बध्नंति यतस्तेषां सुविहितानां शोभनानुष्ठानानां नश्यति रागो यथोष्णेन हारिद्रो रागः। किमुक्तं भवति ? यद्यपि कदाचिद्रागः स्यात्तथापि पुनरनुबन्धं न कुर्वन्ति पश्चात्तापेन तत्क्षणादेव विनाशमुपयाति हरिद्रारक्तवस्त्रस्य पीतप्रभा रविकिरणस्पृष्टेवेति ॥८७४॥

तपःशुद्धिं निरूप्य ध्यानशुद्धिं निरूपयंस्तावत्तदर्थमिन्द्रियजयमाह—

विसएसु पधावंता चवला चंडा तिदंडगुत्तेहिं ।
इंदियचोरा घोरा वसम्मि ठविदा ववसिदेहिं ॥८७५॥

विषयेषु रूपरसगन्धस्पर्शशब्देषु प्रधावंतः प्रसरन्तः, चपलाः स्थैर्यवर्जिताः, चंडाः कोपं गच्छन्तः,

---

प्राप्त हो चुके हैं, पंचेन्द्रियों के विषयों से विरत—जितेन्द्रिय हैं, सिद्ध गति को ढूंढ़ते हुए अर्थात् अनन्त चतुष्टय में अपनी आत्मा को लगाते हुए वे मुनि तपःशुद्धि के करनेवाले होते हैं।

उसी बात को स्पष्ट करते हैं—

गाथार्थ—वे मुनि पाँचों इन्द्रियों में कदाचित् भी पुनः राग नहीं करते हैं; क्योंकि सम्यक् अनुष्ठान करनेवालों का राग ताप से हल्दी के रंग के समान नष्ट हो जाता है ॥८७४॥

आचारवृत्ति—उपर्युक्त गुणों से सहित श्रमण पंचेंद्रियों के विषयों में कभी भी पुनः राग नहीं करते हैं क्योंकि शुभ अनुष्ठान करनेवाले उन मुनियों का राग वैसे ही नष्ट हो जाता है कि जैसे उष्णता से हल्दी का राग नष्ट हो जाता है। अभिप्राय यह हुआ कि यद्यपि मुनि के कदाचित् राग उत्पन्न हो जावे तो भी वे उसमें पुनः आसक्त नहीं होते हैं। पुनः पश्चात्ताप से वह राग क्षण मात्र में ही नष्ट हो जाता है। जैसे कि हल्दी से रंगा हुआ वस्त्र पीला हो जाता है और सूर्य की किरणों के स्पर्श से वह पीलापन नष्ट हो जाता है वैसे ही मुनि पहले तो राग को छोड़ ही चुके होते हैं फिर भी यदि कदाचित् हो भी जावे तो वे उसे शीघ्र ही दूर कर देते हैं।

तपःशुद्धि का निरूपण करके अब ध्यानशुद्धि को कहते हुए उसमें पहले ध्यानशुद्धि के लिए इन्द्रियजय को कहते हैं—

गाथार्थ—विषयों में दौड़ते हुए चंचल, उग्र और भयंकर इन इन्द्रियरूपी चोरों को चारित्र के उद्यमी मुनियों ने तीन दण्ड की गुप्तियों से वश में कर लिया है ॥८७५॥

आचारवृत्ति—रूप, रस, गंध, स्पर्श और शब्द इन पंचेंद्रियों के विषयों में दौड़ लगाने

---

1. द इंदिएसु पंचसु कयाइ रागं पुणो ण बंधंति।

इन्द्रियचौरास्त्रिदंडगुप्तैर्मनोवाक्कायसंयुतैः व्यवसितैश्चारित्रयोगतन्निष्ठैर्वशे व्यवस्थापिताः स्ववशं नीताः सुष्ठु घोरा यद्यपि तथापि प्रलयं प्रापिता मुनिभिरिति ॥८७५॥

दृष्टान्तद्वारेण मनोनिग्रहस्वरूपमाह—

जह चंडो वणहत्थी उद्दामो णयररायमग्गम्मि ।
तिक्खंकुसेण धरिदो णरेण दिढसत्तिजुत्तेण ॥८७६॥

तह चंडो मणहत्थी उद्दामो विसयराजमग्गम्मि ।
णाणंकुसेण धरिदो रुद्धो जह मत्तहत्थिव्व ॥८७७॥

यथा येन प्रकारेण चंडो गलत्त्रिगंडप्रजातप्रकोपो वनहस्ती उद्दामा शृंखलादिबंधनरहितो नगरराजमार्गे दृढशक्तियुक्तेन नरेण तीक्ष्णांकुशेन करणभूतेन धृत आत्मवशे स्थापित इति ॥८७६॥

तथा तेनव प्रकारेण चंडो नरकगत्यादिषु नराणां प्रक्षेपणपरो मनोहस्ती उद्दामा संयमादिशृंखलादिरहितो विषयराजमार्गे रूपादिविषयराजवर्त्मनि धावन् ज्ञानांकुशेन पूर्वापरविवेकविषयावबोधांकुशेन धृत आत्मवशं नीतः, यथा मत्तहस्ती रुद्धः सन्न किंचित्कर्तुं समर्थो यत्र नीयते हस्तिपकेन तत्रैव याति एवमेव

वाले, स्थिरता से रहित—चंचल, क्रोध को प्राप्त हुए जो ये इन्द्रियरूपी चोर हैं वे यद्यपि भयंकर हैं फिर भी चारित्र और योग के अनुष्ठान में लगे हुए मुनियों ने मन-वचन-काय के निग्रह से इन्हें अपने वश में कर लिया है अर्थात् इनका विनाश कर दिया है।

दृष्टान्त के द्वारा मन के निग्रह का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—जैसे नगर के राजमार्ग में उदंड होता हुआ क्रोधी वन-हाथी दृढ़ शक्तिशाली मनुष्य के द्वारा तीक्ष्ण अंकुश से वश में कर लिया जाता है वैसे ही विषयरूपी राजमार्ग में उद्दण्ड फिरता हुआ प्रचंड मनरूपी हस्ती ज्ञानरूपी अंकुश से वशीभूत किया जाता है जैसेकि मदोन्मत्त हाथी रोक लिया जाता है ॥८७६-८७७॥

आचारवृत्ति—जैसे जिसके गण्डस्थल से मद झर रहा है और जो अत्यन्त कुपित हो रहा है ऐसा वनहस्ती यदि सांकल आदि बंधन से रहित हो गया है और नगर के राजमार्गों में दौड़ रहा है तो दृढ शक्तिशाली मनुष्य तीक्ष्ण अंकुश के द्वारा उसे अपने वश में कर लेता है।

उसी प्रकार प्रचण्ड नरक आदि दुर्गतियों में मनुष्यों को डाल देने में तत्पर ऐसा मन-रूपी हाथी उद्दण्ड है—संयम आदि सांकलों से रहित है, और रूप, रस आदि पंचेंद्रियों के विषयरूपी राजमार्ग में दौड़ रहा है, उसको पूर्वापर विवेक के विषयभूत ज्ञानरूपी अंकुश के द्वारा मुनि अपने वश कर लेते हैं। जैसे मत्त हुआ हाथी वशीभूत हो जाने पर कुछ भी करने में समर्थ नहीं होता है जहाँ उसको महावत ले जाता है वहीं पर उसे जाना पड़ता है उसी प्रकार से मुनि भी अपने मन रूपी मत्त हाथी को जब बाँधकर रख लेते हैं तब उसे वे जहाँ

---

१. क० तव ।

'यतिना मनोहस्ती रुद्धः सन् यत्र व्यवस्थाप्यते तत्रैव' तिष्ठति वशीभूतः सन्निति ॥८७७॥

तथा—

ण च एदि विणिस्सरिदुं मणहत्थी झाणवारिबंधणिदो।
बद्धो तह य पयंडो विरायरज्जूहि धीरेहि ॥८७८॥

यथा रुद्धः सन् मत्तहस्ती वारिबंधेन न शक्नोति विनिःसतुं निर्गन्तुं न समर्थस्तथा मनोहस्ती ध्यानवारिबंधनं नीतः प्रापितोऽतिशयेन प्रचंडो विरागरज्जुभिर्बद्धो वैराग्यादिवरत्राभिर्धीरैः संयमितो निर्गन्तुं न शक्नोतीति ॥८७८॥

ध्यानार्थं नगरं प्राकारादिसमन्वितं रचयन्नाह—

धिदिधणिदणिच्छिदमदी चरित्त पायार गोउरं तुंगं।
खंतीसुकदकवाडं तवणयरं संजमारक्खं ॥८७९॥

धृतिः 'संतोषादिस्तस्यामत्यर्थं 'निश्चितं मतिज्ञानं धृत्यतिशयनिश्चितमतिर्धैर्योत्साहतत्त्वरुचि-समन्वितविवेकः चारित्रं त्रयोदशप्रकारपापक्रियानिवृत्तिः, प्राकारः पाषाणमय इष्टकामयो वा परिक्षेपः,

---

पर व्यवस्थित करते हैं वह वशीभूत होता हुआ वहीं पर ठहर जाता है। अर्थात् मुनि पंचें-द्रियों के विषयों से अपने मन को हटाकर, अपने आधीन रखकर उसे जिस क्रिया में या ध्यान में लगाते हैं उसी में वह एकाग्र हो जाता है, अपनी चंचलता नहीं करता है।

उसी प्रकार से और भी बताते हैं—

गाथार्थ—उसी प्रकार से धीर पुरुषों द्वारा वैराग्यरूपी रस्से से बाँधा गया, एवं ध्यानरूपी बन्धन को प्राप्त हुआ यह प्रचण्ड मनरूपी हाथी बाहर निकल नहीं पाता है ॥८७८॥

आचारवृत्ति—जैसे बाँधा हुआ मत्तहाथी अपने साँकल के बन्धन से निकलने में समर्थ नहीं होता है वैसे ही यह मनरूपी हाथी ध्यानरूपी साँकल के बन्धन को प्राप्त हुआ है अथवा ध्यानरूपी खम्भे से बँधा है। यह प्रचंड है तो भी वैराग्य आदि मोटे रस्सों से धीर साधुओं ने इसे नियन्त्रित किया हुआ है अतः यह उस बन्धन से निकलने में समर्थ नहीं हो पाता है।

अब ध्यान के लिए परकोटे से सहित नगर को रचते हुए कहते हैं—

गाथार्थ—धैर्य से अतिशय निश्चित विवेकरूपी परकोटा है, चारित्ररूपी ऊँचे गोपुर हैं, क्षमा और धर्म ये दो किवाड़ हैं और संयम जिसका कोतवाल है ऐसा यह तपरूपी नगर है ॥८७९॥

आचारवृत्ति—धैर्य, उत्साह और तत्त्वरुचि से समन्वित जो विवेक है वह तपरूपी नगर का परकोटा है। पापक्रिया से निवृत्तिरूप जो तेरह प्रकार का चारित्र है वही बहुत ऊँचे गोपुर—ऊँचे-ऊँचे कूट हैं। क्षमा और धर्म ये युगल फाटक हैं अथवा क्षमा ही सुयंत्रित फाटक हैं,

---

१. क० संयतेन। २. क० तत्र। ३. क० संतोषः। ४. क० निश्चिता मतिज्ञानं।

गोपुरं तुंगं नगरस्य महद्द्वारमुत्तुङ्गकूटं यथासंख्येन संबंधः। धृत्यतिशयितनिश्चितमतिरेव प्राकारो यत्र नगरे तत्तथाभूतं तथा चारित्रमेव गोपुरमुत्तुंगं यत्र तच्चारित्रगोपुरोत्तुंगं; क्षान्तिरुपशमः सुकृतं धर्मः, क्षान्ति-सुकृते कपाटे यस्य तत् क्षान्तिसुकृतकपाटमथवा क्षान्तिरेव सुयंत्रितकपाटं तत्र, तपोनगरं, संयमो द्विप्रकार आरक्षः कोट्टपालो यत्र तत्संयमारक्षं इन्द्रियसंयमप्राणसंयमाभ्यामारक्षकाभ्यां पाल्यमानमिति ॥८७९॥

कथं तद्रक्ष्यत इत्याशंकायामाह--

रागो दोसो मोहो इंदियचोरा य उज्जदा णिच्चं।
ण च यंति पहंसेदुं सप्पुरिससुरक्खियं णयरं ॥८८०॥

यद्यपि तन्नगरं प्रध्वंसयितुं विनाशयितुमुद्यताः सर्वकालं रागद्वेषमोहेन्द्रियचौरास्तथापि तत्तपोनगरं पूर्वोक्तविशेषणविशिष्टं न शक्नुवन्ति प्रध्वंसयितुं सत्पुरुषसुरक्षितनगरवत्, यथा महायोधः सुरक्षितं सुदुर्गं सुयंत्रितं नगरं विनाशयितुं समर्थं न परचक्रमेव तपोनगर रागादयो न विनाशयितुं समर्था इति ॥८८०॥

इदानीं ध्यानरथं प्रकटयन्नाह—

एदे इंदियतुरया पयडीदोसेण चोइया संता।
उम्मग्गं णिंति रहं करेह मणपग्गहं बलियं ॥८८१॥

एते इन्द्रियतुरगा इमानीन्द्रियाण्येवाश्वाः प्रकृत्या स्वभावेन दोषेण रागद्वेषाभ्यां च चोदिताः

इन्द्रिय संयम और प्राणिसंयम ये दो कोतवाल सदा इस नगर की रक्षा करते हैं ऐसा यह मुनियों का तपरूपी नगर है। अर्थात् उत्तम नगर में पाषाणमय अथवा ईंटों का बना हुआ जो चारों तरफ से नगर को घेरे हुए कोट रहता है उसको प्राकार या परकोटा कहते हैं, ऊँचे-ऊँचे कूट गोपुर कहलाते हैं। नगर से निकलने के द्वार में दो कपाट रहते हैं एव उसकी रक्षा करनेवाले कोतवाल रहते हैं तब वह नगर सुरक्षित रहता है। सो ही तपरूपी नगर में सारी चीजें घटित की गयी हैं।

उसकी रक्षा क्यों की जाती है, सो ही बताते हैं—

गाथार्थ—राग, द्वेष, मोह और उद्यत हुए इन्द्रियरूपी चोर हमेशा ही सत्पुरुषों से रक्षित तपरूपी नगर को नष्ट करने में कभी भी समर्थ नहीं होते हैं ॥८८०॥

आचारवृत्ति—यद्यपि ये राग, द्वेष, मोह और इन्द्रियरूपी चोर हमेशा ही इस तपरूपी नगर का विध्वंस करने के लिए उद्युक्त रहते हैं फिर भी वे पूर्वोक्त विशेषणों से विशिष्ट इस नगर को नष्ट कर नहीं कर सकते हैं। जैसे कि सत्पुरुषों द्वारा सुरक्षित नगर को कोई ध्वंस नहीं कर सकता है अर्थात् जैसे महायोद्धाओं से सुरक्षित, क़िले सहित, सुयंत्रित नगर को परचक्र अर्थात् शत्रुओं की सेना नष्ट नहीं कर सकती है उसी प्रकार से तपरूपी नगर को ये राग आदि शत्रु नष्ट करने में समर्थ नहीं हैं।

अब ध्यानरथ को बता रहे हैं—

गाथार्थ—ये इन्द्रियरूपी घोड़े स्वाभाविक दोष से प्रेरित होते हुए धर्मध्यानरूपी रथ को उन्मार्ग में ले जाते हैं अतः मनरूपी लगाम को मजबूत करो ॥८८१॥

आचारवृत्ति—ये इन्द्रियाँ ही चंचल घोड़े हैं जोकि प्रकृति से ही राग-द्वेषरूप दोषों से प्रेरित होते हुए इस धर्मध्यानरूपी रथ को विषयों से व्याप्त घोर अटवी में पहुँचा देते हैं।

प्रेरिताः संत उन्मार्गं विषयाकुलाटवीं नयन्ति प्रापयन्ति धर्मध्यानरथं, कुरुत मनःप्रग्रहं दृढम्। यथा रश्मि-भाऽश्वा नियन्त्र्यन्ते वशीक्रियन्ते तथेन्द्रियाणि वशं स्थापयतैकाग्रमनोनिरोधप्रग्रहेण येन ध्यानं मार्गस्थं भवतीति ॥८८१॥

रागद्वेषादीनां प्रतिपक्षभावनामाह—

रागो दोसो मोहो विदीय धीरेहि णिज्जदा सम्मं।
पंचेंदिया य दंता वदोववासप्पहारेहिं ॥८८२॥

धीरैः संयतैः रागद्वेषमोहाः प्रीत्यप्रीतिमिथ्यात्वानि वृत्या दृढरत्नत्रयभावनया निर्जिताः प्रहताः सम्यग्विधानेन पंचेन्द्रियाणि दान्तानि स्ववशं नीतानि व्रतोपवासप्रहारैरिति ॥

ततः किम्—

दंतेंदिया महरिसी रागं दोसं च ते खवेदूणं।
झाणोवजोगजुत्ता खवेंति कम्मं खविदमोहा ॥८८३॥

ततो दान्तेन्द्रियाः संतो महर्षयः शुद्धोपयोगयुक्ताः समीचीनध्यानोपगता रागं द्वेषं विकृतिं च क्षपयित्वा प्रलयं नीत्वा क्षपितमोहाः संतः कर्माणि क्षपयन्ति सर्वाणि यतः कषायमूलत्वात्सर्वेषामिति ॥८८३॥

तदेवमाचष्टेऽनया गाथया—

इसलिए हे मुने! तुम इन घोड़ों को सन्मार्ग में ले जाने के लिए मनरूपी लगाम को दृढ़ता से थामे रहो। अर्थात् जैसे रज्जु-लगाम से घोड़े वश में किए जाते हैं उसी तरह तुम एकाग्र मन के रोकने रूप रज्जु के द्वारा इन्द्रियों को वश में करो जिससे कि यह ध्यानरूपी रथ मोक्षमार्ग में स्थित बना रहे।

राग-द्वेषों की प्रतिपक्ष भावना को कहते हैं—

गाथार्थ—धीर साधुओं ने राग-द्वेष और मोह को चारित्र से अच्छी तरह जीत लिया है और पाँचों इन्द्रियों का व्रत-उपवासरूपी प्रहार से दमन किया है ॥८८२॥

आचारवृत्ति—धीर संयमी मुनियों ने राग—प्रीति, द्वेष—अप्रीति और मोह—मिथ्यात्व इन तीनों को दृढ़ रत्नत्रय की भावना से अच्छी तरह नष्ट कर दिया है, और पाँचों इन्द्रियों को व्रत-उपवासरूपी प्रहारों से अपने वश में कर लिया है।

इससे क्या होगा?

गाथार्थ—इन्द्रियों के विजेता वे महर्षि राग-द्वेष का क्षपण करके और ध्यान में उपयोग लगाते हुए मोह का नाश करके कर्मों का क्षय कर देते हैं ॥८८३॥

आचारवृत्ति—पुनः इन्द्रिय-विजयी होते हुए वे महर्षि शुद्धोपयोग से सहित अर्थात् समीचीन ध्यान को करनेवाले होते हुए राग-द्वेष रूप विकृति का क्षय करके क्षीणमोह होकर कर्मों का क्षय कर देते हैं, क्योंकि सभी कर्मों के लिए कषाय ही मूल कारण है।

उसी बात को इस गाथा द्वारा कहते हैं—

अट्ठविहकम्ममूलं खविदकसाया खमादिजुत्तेहिं।
उद्धदमूलो व दुमो ण जाइदव्वं पुणो अत्थि ॥८८४॥

अष्टविधस्य कर्मणो मूलं कारणं। किं ते[1]? कषायाः क्रोधादयस्तेषु सत्सु सर्वकर्मप्रकृतीनामवस्थानं ते च कषायाः क्षमादियुक्तैः क्षमामार्दवार्जवसंतोषपरैः क्षपिता विनाशिताः पुनस्तेषामुत्पत्तिर्नास्ति यथोद्धृतमूलस्य द्रुमस्य निर्मूलितस्य वृक्षस्येव जनितव्यं नास्ति, यथोद्धृतमूलो वृक्षो न जायते कारणाभावात्[2] तथा कर्मनिचयो न पुनरागच्छति कारणाभावादिति ॥८८४॥

तस्मात्—

अवहट्टु अट्ट रुद्दं धम्मं सुक्कं च झाणमोगाढं।
ण च[3] एदि पधंसेदुं अणियट्टी सुक्कलेस्साए ॥८८५॥

तस्मात्कषायनिर्मूलनायार्तध्यानं रौद्रध्यानं चापहृत्य परित्यज्य धर्मध्यानं शुक्लध्यानं च चिन्तयेति शेषः यतः समीचीनध्यानावगाढं शोभनध्याने निविष्टमानसं यतिं शुक्ललेश्यया सहितं शुद्धयोगवृत्या समन्वितं अनिवृत्तिगुणस्थानगतं कषाया न शक्नुवन्ति न किंचित्कुर्वन्ति प्रधर्षयितुं कदर्थयितुं। अथवा 'अणियट्टी' पदस्थाने 'परीसहा' इति पाठस्तेन परीषहा न शक्नुवन्ति प्रधर्षयितुं ध्यानप्रविष्टं मुनिमिति ॥८८५॥

गाथार्थ—आठ प्रकार के कर्म के लिए मूल कारण ऐसी कषाओं को जड़मूल से उखाड़ हुए वृक्ष की तरह क्षमादि से युक्त मुनियों के द्वारा नष्ट कर दिया गया है कि जिससे वे पुनः उत्पन्न ही न हो सकें ॥८८४॥

आचारवृत्ति—आठ प्रकार के कर्मों के लिए मूल कारण क्रोधादि कषायें हैं क्योंकि उन कषायों के होने पर ही सभी कर्म-प्रकृतियों का अवस्थान—स्थितिबन्ध होता है। क्षमा, मार्दव, आर्जव और सन्तोष में तत्पर हुए मुनियों ने इन कषाओं का विनाश कर दिया है। जड़ से नष्ट कर देने पर पुन. उनकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है जैसेकि वृक्ष को जड़मूल से उखाड़ देने पर वह पुनः उत्पन्न नहीं हो सकता है, क्योंकि उसकी उत्पत्ति का कारण समाप्त हो चुका है उसी प्रकार से कर्मसमूह पुनः नहीं आते हैं क्योंकि उनके कारणों का—कषायों का विनाश हो चुका होता है।

इसलिए क्या करना? सो ही बतलाते हैं—

गाथार्थ—आर्त-रौद्र दुर्ध्यान का परिहार करके धर्म—शुक्ल में लीन, शुक्ल लेश्या सहित मुनि को अनिवृत्तिगत कषायें कष्ट नहीं दे सकती हैं ॥८८५॥

आचारवृत्ति—इसलिए कषायों का निर्मूलन करने के लिए आर्तध्यान और रौद्रध्यान को छोड़कर धर्मध्यान और शुक्लध्यान का चिन्तवन करो ऐसी क्रिया का अध्याहार हो जाता है, क्योंकि शुक्ल लेश्या से सहित और समीचीन ध्यान में मन को तल्लीन करनेवाले एवं शुद्धोपयोग से समन्वित यतिराज को अनिवृत्तिकरण गुणस्थान में होनेवाली कषायें कुछ भी पीडा देने में समर्थ नहीं हो सकती हैं। अथवा 'अणियट्टी' पद के स्थान में 'परीसहा' ऐसा भी पाठ पाया जाता है जिसका अर्थ है कि ध्यान में प्रवेश करनेवाले मुनि को परीषह पीडित नहीं कर सकते हैं।

---

१. क० तत्। २. क० कारणाभावादेवं। ३. क० यंति।

पुनरपि ध्यानस्य[1] स्थैर्यमाह—

जह ण चलइ गिरिराजो अवरुत्तरपुव्वदक्खिणेवाए।
एवमचलिदो जोगी अभिक्खणं झायदे झाणं ॥८८६॥

यथा न चलति न स्थानाच्च्युतो भवति गिरिराजो मेरुः पूर्वपश्चिमदक्षिणोत्तरवातैः, एवमचलितो योगी सर्वोपसर्गादिभिरकंप्यभावोऽभीक्ष्णं निरन्तरं समयं समयं प्रत्यसंख्यातगुणश्रेणिकर्मनिर्जरां कुर्वन् ध्यायेत् ध्यानं समाधिमिति, यद्यप्येकवचनं जात्यपेक्षया तथापि बहुवचनं द्रष्टव्यं ध्यायन्ति ध्यानमिति ॥८८६॥

तत एवं ध्यानं प्रध्याय—

णिट्ठविदकरणचरणा कम्मं णिद्धुद्धदं धुणित्ताय।
जरमरणविप्पमुक्का उवेंति सिद्धिं धुदकिलेसा ॥८८७॥

ततो ध्यानं संचिंत्य निष्ठापितकरणचरणाः परमोत्कर्षं प्रापिताः पंचमहाव्रतपंचसमितित्रिगुप्ति-पंचनमस्कारषडावश्यकासिकानिषद्यका यैस्ते मुनयः कर्म निधत्तोद्धतं बद्धपुष्टं[2] बद्धनिकाचितं सुष्ठु स्निग्धं सुष्ठु दुःखदायकं निर्धूतं निर्मूलतः सम्यक् धूत्वा प्रक्षिप्य जातिजरामरणमुक्ताः सिद्धिमनन्तज्ञानदर्शनसुखवीर्यरूपाम-वस्थामुपयान्ति धुतक्लेशाः सन्त इति ॥८८७॥

पुनरपि ध्यान की स्थिरता को बताते हैं—

गाथार्थ—पश्चिम, उत्तर, पूर्व और दक्षिण दिशाओं की वायु से सुमेरु पर्वत चलाय-मान नहीं होता है इसी प्रकार से अचलित योगी सतत ही ध्यान किया करते हैं ॥८८६॥

आचारवृत्ति—जैसे पूर्व-पश्चिम, दक्षिण-उत्तर वायु से पर्वतराज सुमेरु अपने स्थान से च्युत नहीं होता है, उसी प्रकार से सर्व उपसर्ग आदि से अकम्प भाव को प्राप्त हुए योगी निरंतर समय-समय से असंख्यात गुणश्रेणी रूप से कर्मों की निर्जरा करते हुए समाधि—उत्तमध्यान को ध्याते हैं। यद्यपि यहाँ पर जाति की अपेक्षा से 'ध्यायति' यह एक वचन है तो भी ध्यायन्ति ध्यानं' ऐसा बहुवचन का ही अर्थ करना चाहिए।

इसलिए ऐसा ध्यान ध्याकर वे क्या फल पाते हैं ? सो ही बताते हैं—

गाथार्थ—तेरह क्रिया और तेरहविध चारित्र को पूर्ण करनेवाले मुनि बँधे हुए और पुष्ट कर्मों को नष्ट करके जरा और मरण से रहित होते हुए क्लेश से रहित होकर सिद्धि को प्राप्त कर लेते हैं ॥८८७॥

आचारवृत्ति—धर्म-शुक्ल ध्यान को ध्याकर और महाव्रत, पाँच समिति और तीन गुप्ति रूप तेरह विध चारित्र में एवं पंचपरमेष्ठी को नमस्कार, छह आवश्यक-क्रिया तथा आसिका-निषद्यका, इन तेरह क्रियाओं में परम उत्कर्ष अवस्था को पहुँचकर महामुनि बँधे हुए, पुष्ट हुए तथा निकाचित रूप ऐसे दुःखदायी कर्मों को निर्मूलसे नष्ट कर देते हैं। पुनः जन्म जरा और मरण से रहित होकर तथा क्लेश—संसार के सर्व दुःखों को समाप्त करके अनन्तज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य इन अनन्तचतुष्टय की अवस्था रूप सिद्धि को प्राप्त कर लेते हैं।

---

१. क० ध्यानस्थैर्यमाह। २. क० बद्धपुष्टनिधत्तनिकाचितं।

अनगाराणां पर्यायनामान्याह—

समणोत्ति संजदोत्ति य रिसि मुणि साधुत्ति वीदरागोत्ति ।
णामाणि सुविहिदाणं अणगार भदंत दंतोत्ति ॥८८८॥

[1]यत्किंचन्मुनयः क्वचिदृषय इत्येवमादिप्रतिपादितास्तेषां कथं पर्यायनामान्यत आह—श्रमण इति श्रमयंत्यात्मानं तपोभिरिति श्रमणाः, संयता इति संयमयन्तीन्द्रियाणि कषायांश्च संयताः, ऋषय इति चार्षयन्ति गमयन्ति सर्वपापानि ते ऋषयोऽथवार्षयन्ति प्राप्नुवन्ति सप्तर्द्धीरिति ऋषयः, मन्यन्ते बुध्यन्ते स्वपरार्थसिद्धिमिति मुनयोऽथवा मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलज्ञानैर्युक्ताः मुनयः, साधव इति सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि साधयन्तीति साधवः, वीतरागा इति वीतो विनष्टो रागो येषां ते वीतरागाः, नामान्येतानि संज्ञारूपाणि सुविहितानां सुचारित्राणां । अनगारा न विद्यतेऽगारादिकं येषां तेऽनगारा विमुक्तसर्वसंगाः, भदंताः सर्वकल्याणानि प्राप्त-

---

अब अनगारों के पर्यायवाची नामों को कहते हैं—

गाथार्थ—श्रमण, संयत, ऋषि, मुनि, साधु, वीतराग, अनगार, भदन्त, दान्त और यति ये सम्यक् आचरण करनेवाले मुनियों के नाम हैं ॥८८८॥

आचारवृत्ति—जो कहीं पर मुनि, कहीं पर ऋषि इत्यादि शब्दों से प्रतिपादित हुए हैं उनके पर्यायवाची नाम कौन-कौन हैं ? सो ही बताते हैं—

श्रमण—जो तपश्चरण द्वारा अपनी आत्मा को श्रान्त करते हैं वे श्रमण हैं।

संयत—जो पाँचों इन्द्रियों और कषायों को संयमित—नियन्त्रित करते हैं वे संयत हैं।

ऋषि—जो सर्व पापों को नष्ट करते हैं अथवा सात प्रकार की ऋद्धियों को प्राप्त करते हैं वे ऋषि कहलाते हैं।

मुनि—जो स्व-पर के अर्थ की सिद्धि को मानते हैं-जानते हैं वे मुनि हैं। अथवा मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल ज्ञान से युक्त मुनि कहलाते हैं।

साधु—सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र की जो साधना करते हैं वे साधु कहलाते हैं।

वीतराग—वीत—नष्ट हो गया है राग जिनका वे वीतराग कहलाते हैं।

अनगार—नहीं हैं अगार—गृह आदि जिनके वे सर्व परिग्रह से रहित मनुष्य अनगार कहलाते हैं।

भदन्त—सर्व कल्याणों को प्राप्त हुए भदन्त कहलाते हैं।

दान्त—पाँचों इन्द्रियों के निग्रह करनेवाले मुनि दान्त होते हैं।

यति—तेरह प्रकार के चारित्र में प्रयत्न करते हैं इसलिए यति कहलाते हैं, अथवा उपशमश्रेणी और क्षपक श्रेणी में आरोहण करने में तत्पर हुए यति नाम से कहे जाते हैं। सम्यक् चारित्र को धारण करनेवाले मुनियों के ये सब पर्यायवाची नाम कहे जाते हैं।

भावार्थ—इस अनगार भावना सूत्र में आचार्य देव ने दश शुद्धियों का वर्णन किया है

---

१. क० ये क्वचिन्मुनयः ।

बन्तः, दान्ताः पंचेन्द्रियाणां निग्रहपराः, त्रयोदशविधे चारित्रे यतन्त इति यतयोऽथवोपशमक्षपकश्रेण्यारोहणपरा यतयः। एवं प्रकाराणि यतीनां नामानीति ॥८८८॥

एवं दशसूत्राणि व्याख्यायेदानीमनगाराणां स्तवमाह—

अणयारा भयवंता अपरिमिवगुणा थुवा सुरिंदेहिं।
तिविहेणुत्तिण्णपारे परमगदिगदे पणिवदामि ॥८८६॥

एवमनगारान् भगवतोऽनन्तचतुष्टयं प्राप्तान् प्राप्तवतश्चापरिमितगुणान् सर्वगुणाधारान् सुरेन्द्रैः स्तुतान् परमगतिगतान परमशुद्धज्ञानदर्शनचारित्रपरिणतानुत्तीर्णपरान् संसारमहोदधिं समुल्लंघ्य स्थितांस्त्रि-प्रकारैर्मनोवचनकायैरहं प्रणिपतामि सम्यक् प्रणमामीति ॥८८६॥

अनगारभावनायाः[1] प्रयोजनमाह—

एवं चरियविहाणं जो काहदि संजदो ववसिदप्पा।
णाणगुणसंपजुत्तो सो गाहदि उत्तमं ठाणं ॥८६०॥

एवमनेन प्रकरेण चर्याविधानं दशसूत्रैः कथितं यः करोति व्रतादिसंपन्नो व्यवसितात्मा तपस्युद्योग-परो ज्ञानेन मूलगुणैश्च संप्रयुक्तः संयतो गच्छत्युत्तमं स्थानमिति ॥८६०॥

जिनके नाम क्रम से लिंगशुद्धि; व्रतशुद्धि, वसतिशुद्धि, विहारशुद्धि, भिक्षाशुद्धि, ज्ञानशुद्धि, उज्झनशुद्धि, वाक्यशुद्धि, तपशुद्धि और ध्यानशुद्धि हैं। यहाँ पर इन्हें दश अनगार भावना सूत्र कहा है सो अन्तिम ध्यानशुद्धि सूत्र का व्याख्यान करके आगे इन अनगारों की स्तुति कर रहे हैं।

इस प्रकार दश सूत्रों का व्याख्यान करके अब अनगारों का स्तवन करते हुए कहते हैं—

गाथार्थ—भगवान् अनगार सुरेन्द्रों के द्वारा स्तुति को प्राप्त हैं, अपरिमित गुणों से सहित हैं, तीर को प्राप्त हो चुके हैं और परमगति को प्राप्त हैं। ऐसे मुनियों को मन-वचन-कायपूर्वक मैं प्रणाम करता हूँ ॥८८६॥

आचारवृत्ति—जो अनगार अनन्त चतुष्टय को प्राप्त होने से भगवान् हैं, सर्वगुणों के आधार हैं, देवेन्द्रों से स्तुत हैं, परमशुद्ध ज्ञान दर्शन और चारित्र से परिणत होने से परमगति को प्राप्त हो चुके हैं, संसार समुद्र को पार करके स्थित हैं उनको मैं अच्छी तरह से मन-वचन-काय पूर्वक नमस्कार करता हूँ।

अनगार भावना का प्रयोजन कहते हैं—

गाथार्थ—इस प्रकार से जो उद्यमशील संयत मुनि इस प्रकार की चर्याविधान को करता है वह ज्ञानगुण से संयुक्त हुआ उत्तम स्थान को प्राप्त कर लेता है ॥८६०॥

आचारवृत्ति—जो व्रतादि से सम्पन्न, तप में उद्यमशील, ज्ञान से एवं मूलगुणों से संयुक्त हुआ मुनि दशसूत्रों के द्वारा कथित इस चर्याविधान को करता है वह उत्तम स्थान को प्राप्त कर लेता है।

---

1. द० क० अनगारभावनायां।

यः शृणोतीममनगाराणां स्तवं तस्यापि फलमाह—

भत्तीए मए कहियं अणयाराण त्थवं समासेण।
जो सुणदि पयदमणसो सो गच्छदि उत्तमं ठाणं ॥८९१॥[1]

भक्त्या मया कथितमिममनगारस्तवं संक्षेपेण यः शृणोति प्रयतमनाः संयतात्मा सन् स गच्छत्युत्तमं स्थानमिति ॥८९१॥

तथा च—

एवं संजमरासिं जो काहदि संजदो ववसिदप्पा।
दंसणणाणसमग्गो सो गाहदि उत्तमं ठाणं ॥८९२॥[2]

यः पुनरेवं संयमराशिं करोति संयतो व्यवसितात्मा दर्शनज्ञानसमग्रः स गच्छत्युत्तमं स्थानमित्यत्र किमत्राद्भुतमस्तीति ॥८९२॥

अनगारभावनां संक्षेपयन्मंगलं च कुर्वन्नाह—

एवं मए अभित्थुदा अणगारा गारवेहिं उम्मुक्का।
धरणिधरेहिं य महिया देंतु समाधिं च बोधिं च ॥८९३॥[3]

एवमनेन प्रकारेण मयाभिष्टुता अनगारा गौरवैरुन्मुक्ता धरणीधरैः पृथिवीपतिभिश्च महिताः

जो अनगारों के इस स्तव को सुनते हैं उनके भी फल को बताते हैं—

गाथार्थ—मैंने भक्ति से अनगारों का स्तव संक्षेप से कहा है। जो प्रयत्नचित्त हो इसे सुनता है वह उत्तम स्थान को प्राप्त कर लेता है ॥८९१॥

टीका सरल है।

उसी प्रकार से और भी कहते हैं—

गाथार्थ—जो उद्यमशील संयत इस प्रकार की संयमराशि को ग्रहण करता है वह दर्शन और ज्ञान से परिपूर्ण होता हुआ उत्तम स्थान प्राप्त कर लेता है ॥८९२॥

आचारवृत्ति जो उद्यम में तत्पर हुआ मुनि उपर्युक्त संयम समूह को ग्रहण करता है वह दर्शन और ज्ञान से परिपूर्ण होकर उत्तम—मोक्ष-स्थान प्राप्त कर लेता है, इसमें कोई आश्चर्य नहीं है।

अब अनगार भावना को संक्षिप्त करते हुए मंगल करते हैं—

गाथार्थ—मैंने इस प्रकार गौरवों से रहित और पृथ्वीपतियों से पूजित अनगारों की स्तुति की है। वे मुझे बोधि और समाधि प्रदान करें ॥८९३॥

आचारवृत्ति—इस प्रकार से मैंने गौरवों से रहित और चक्रवर्ती आदि राजाओं से

---

१. अन्तिम चरण बदला है यथा—"सो पावदि सव्वकल्लाणं।"

२. यह गाथा फलटन से प्रकाशित मूलाचार में नहीं है।

३. क० समाहिं च बोहिं च।

पूजिता ददतां प्रयच्छंतु समाधिं मरणकालेऽन्यस्मिंश्च काले संयमपूर्विकां भावपंचनमस्कारपरिणतिं बोधिं च दर्शनविशुद्धिं च नान्यत्किंचिदपि याचेऽहमिति ॥८९३॥[1]

इति श्री मद्वट्टकेराचार्यवर्यप्रणीते मूलाचारे वसुनन्द्याचार्य-प्रणीताचार-वृत्त्याख्यटीकासहिते नवमः परिच्छेदः ॥[2]

पूजित अनगार मुनियों की स्तुति की है। वे मुझे समाधि और बोधि दें। मरणकाल में काय और कषाय की कृशतारूप सल्लेखना का नाम समाधि है तथा अन्य काल में भी संयमपूर्वक पंचनमस्कार मन्त्र में जो भावपरिणति है उसका नाम भी समाधि है। दर्शनविशुद्धि का नाम बोधि है। वे महामुनि इस बोधि और समाधि को मुझे दें, बस यही मेरी एक याचना है और अन्य किंचित् मात्र भी मैं नहीं मांगता हूँ।

श्री वसुनन्दि आचार्य कृत 'आचारवृत्ति' नामक टीका से सहित वट्टकेराचार्यवर्य प्रणीत मूलाचार में नवम परिच्छेद पूर्ण हुआ।

---

१. इस गाथा के अनन्तर फलटन से प्रकाशित मूलाचार में तीन गाथाएं और हैं—

उवदो कालह्मि सदा तिगुत्तिगुत्ते पुणो पुरिससीहे।
जो थुणदि य अणुरत्तो सो लहदि लाहं तिरयणस्स॥

अर्थ—जो अनुरागी होकर नित्य ही त्रिगुप्ति से सहित पुरुषसिंह—महामुनियों की स्तुति करता है वह तीन रत्न प्राप्त कर लेता है।

एवं संजमरासिं करेंति जे संजदा ववसिदप्पा।
ते णाणदंसणधरा देंतु समाहिं च मे बोहिं॥

अर्थ—उत्तम तपश्चरण में तत्पर महाव्रत आदि संयम के भार से युक्त और दर्शन ज्ञान के धारक मुनीश्वर मुझे समाधि और बोधि प्रदान करें।

अणगार-भावनगुणा मए अभित्थुदा महाणुभावा।
अणगार-वीदरागा देंतु समाहिं च मे बोहिं॥

अर्थ—महाप्रभावशाली अनगार भावना के गुणों की मैंने स्तुति की है। वे वीतराग अनगार मुझे समाधि और बोधि प्रदान करें।

२. क० क० इत्याचार्यश्रीवसुनन्दिविरचितायां आचारवृत्तौ नवमः परिच्छेदः समाप्त इति।

समयसाराधिकारः

सर्वस्यागमस्य[1] स्वसमयपरसमयानां च सारभूतं समयसाराख्यमधिकारं प्रतिपादयंस्तावदादाविष्ट-देवतानमस्कारपूर्विकां प्रतिज्ञामाह—

वंदित्तु देवदेवं तिहुअणमहिदं च सव्वसिद्धाणं।
वोच्छामि समयसारं सुण संखेवं जहावुत्तं ॥८९४॥

वंदित्तु—वंदित्वा मनोवाक्कायैः प्रणम्य, देवानां देवो देवदेवस्तं[2] सुराधीश्वरं सर्वलोकनाथं, त्रिभुवनमहितं त्रिभुवनैर्भवनवासिवानव्यंतरज्योतिष्ककल्पवासिमर्त्यप्रधानैर्महितं तथा सर्वसिद्धांश्च सर्वकर्म-विमुक्तांश्च वंदित्वा प्रणम्य वक्ष्ये प्रवक्ष्यामि वक्तुं प्रारभे समयसारं द्वादशांगचतुर्दशपूर्वाणां सारं परमतत्त्वं

सर्व आगम के एवं स्वसमय और परसमय के सारभूत समयसार नामक अधिकार का प्रतिपादन करते हुए आचार्यदेव सबसे पहले इष्टदेवतानमस्कारपूर्वक प्रतिज्ञासूत्र कहते हैं—

गाथार्थ—त्रिभुवन से पूजित अरहंतदेव और सर्व सिद्धों की वन्दना करके मैं शास्त्र-कथित संक्षिप्त समयसार को कहूँगा, तुम सुनो। ॥८९४॥

आचारवृत्ति—भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क और कल्पवासी इन चार प्रकार के देवों में तथा मनुष्यों में प्रधान जो इन्द्र हैं उनसे पूजित होने से अरहन्तदेव त्रिभुवन-पूज्य हैं, देवों के देव सुरों के अधीश्वर अर्थात् सर्वलोक के नाथ अरहन्त देव को तथा सर्व कर्मों से रहित सम्पूर्ण सिद्धों को मन-वचन-काय से प्रणाम करके मैं समयसार को कहूँगा। वह समयसार परमतत्त्व है, बारह

---

१. क प्रती एतद्दशमपरिच्छेदारंभेऽधोलिखितं श्लोकद्वयमपि वर्तते, तच्च—

नरेन्द्रकीर्ते! मलधारिदेव! सदाननं पश्यति तावकं यः।
श्रियो विहीनोऽपि सविष्णुभार्यः कृती भवेत्स श्रमणप्रधानः ॥१॥

जनयति मुदमन्तर्भव्यपाथोरुहाणां,
हरति तिमिरराशिं या प्रभा भानवीव।
कृतनिखिलपदार्थद्योतना भारतीद्धा,
वितरतु धुतदोषा सार्हती भारती वः ॥२॥

एतच्छ्लोकद्वये द्वितीयः श्लोकस्तु सुभाषितरत्नसंदोहस्याद्यः श्लोकः।

२. क० तं देवदेवं सुराधीश्वरं।

मूलगुणोत्तरगुणानां च दर्शनज्ञानचारित्राणां शुद्धिविधानस्य च भिक्षाशुद्धेश्च सारभूतं स्तोकं वक्ष्येऽहमेकाग्रचित्तो भूत्वा शृण्ववधारय [1]*संक्षिप्तमर्थेन महान्तं ग्रन्थतोऽल्पं यथावृत्तं येन क्रमेणागतमथवा यथोक्तं* पूर्वशास्त्रेषु स्थितं यथा पूर्वाचार्यक्रमेणागतं तथा वक्ष्येऽहं न स्वेच्छया, अनेनात्मकर्तृत्वं निराकृत्यानात्मकर्तृत्वं[2] स्थापितं भवतीति ॥८९४॥

समयो नाम सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रतपांसि तेषाञ्च सारश्चारित्रं कुतो यस्मात्—

दव्वं खेत्तं कालं भावं च पडुच्च संघडणं।
जत्थ हि जददे समणो तत्थ हि सिद्धिं लहुं लहइ ॥८९५॥

द्रव्यं शरीरमाहारादिकं कर्मागमापगमकारणं च क्षेत्रं निवासो वसतिकादि स्त्रीपशुपाण्डकविवर्जितवैराग्यवर्द्धनकारणस्थानं कालोऽवसर्पिण्युत्सर्पिणीरूपश्चैकोऽपि षड्विधः सुषमासुषमादिभेदेन तथा शीतोष्णवर्षाकालादिभेदेन त्रिविधः, भावः परिणामः, चशब्दोऽनुक्तसमुच्चयार्थस्तेनान्यदपि कारणं शुद्धचारित्रस्य ग्राह्यं, पडुच्च—आश्रित्य स्वभावमनुबुध्य, संघडणं—संहननं अस्थिबंधबलोद्भूतशक्तिं वीर्यान्तरायक्षयोपशमं वा। यत्र ग्रामेऽरण्ये द्वीपे समुद्रे पर्वते भोगभूमिकर्मभूमिक्षेत्रे वा ज्ञाने दर्शने तपसि वा यतते सम्यगाचरति सम्यक्-

---

अंग और चौदह पूर्वों का सार है, मूलगुण-उत्तरगुणों का, दर्शन-ज्ञान-चारित्र का, शुद्धिविधान का और भिक्षाशुद्धि का सारभूत है। यह ग्रन्थ से—शब्दों में अल्प होते हुए भी अर्थ से महान् है अतः संक्षिप्त है, जिस क्रम से आया हुआ है अथवा जैसे पूर्वाचार्य परम्परा से आगत या पूर्व शास्त्रों में कथित है वैसा ही मैं कहूँगा, अपनी इच्छा से कुछ नहीं कहूँगा। इस कथन से आचार्य श्री ने 'अपने द्वारा किया गया है' इस आत्मकर्तृत्व का निराकरण करके इस ग्रन्थ को अनात्म कर्तृत्व अर्थात् सर्वकर्तृत्व स्थापित किया है, ऐसा समझना।

सम्यक्दर्शन ज्ञान चारित्र और तप का नाम समय है और इनका सार चारित्र है। क्यों ? सो ही बताते हैं—

गाथार्थ—श्रमण जहाँ पर भी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और संहनन की अपेक्षा करके उद्यम करते हैं वहाँ पर सिद्धि को शीघ्र ही प्राप्त कर लेते हैं। ॥८९५॥

आचारवृत्ति—द्रव्य—शरीर और आहार आदि जो कि कर्मों के आने और रोकने में कारण हैं। क्षेत्र—वसतिका आदि निवास, जोकि स्त्री, पशु, नपुंसक आदि से रहित एवं वैराग्य वर्द्धन के कारणभूत स्थान हैं। काल अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी रूप से एक होते हुए भी जो सुषमासुषमा आदि के भेद से छह प्रकार का हो जाता है तथा शीत, उष्ण और वर्षा आदि के भेद से तीन प्रकार का भी होता है। भाव-परिणाम। 'च' शब्द से अनुक्त का भी समुच्चय कर लेना, इसलिए शुद्ध चारित्र के लिए अन्य जो भी कारण हैं उन्हें यहाँ ग्रहण कर लेना चाहिए। संहनन—हड्डियों की बन्धन और बल से उत्पन्न हुई शक्ति, अथवा वीर्यान्तराय कर्म का क्षयोपशमविशेष।

समता, एकत्व भावना और वैराग्य आदि के आधारभूत श्रमण जिस किसी ग्राम, वन

---

१. क० संक्षेपं। २. क० निराकृत्याप्तकर्तृत्वं।

चारित्रं प्रतिपालयति समणा—श्रमणः समतैकतावैराग्याद्याधारस्तत्रैव सिद्धिं मोक्षं लघु शीघ्रं लभते प्राप्नोति, शरीरशुद्धिं भिक्षाशुद्धिं चाश्रित्य कालशुद्धिं राज्यादिगमनपरिहारं चाश्रित्य भावशुद्धिं चासंयमादिपरिणाम-परिहारं चाश्रित्य शरीरसंहननादिकं चाश्रित्य यश्चारित्रं यत्र वा तत्र वा स्थितो बहुश्रुतोऽल्पश्रुतो वा सम्यग्-विधानेन प्रतिपालयति स सिद्धिं लभते शीघ्रं यस्मात्तस्मात्समयसारश्चारित्रं द्रव्याद्याश्रितो यत्नेनोच्यत इति द्रव्यबलं क्षेत्रबलं कालबलं भावबलं चाश्रित्य तपः कर्त्तव्यं, यथा वातपित्तश्लेष्मादिकं क्षोभं नोपयाति तथा यत्नः कर्त्तव्यः सारस्य कथनमेतदिति ॥८९५॥

तथा वैराग्यमपि समयस्य सारो यतः—

धीरो वइरग्गपरो थोवं हि य सिक्खिदूण सिज्झदि हु ।
ण य सिज्झदि वेरग्गविहीणो पढिदूण सव्वसत्थाइं ॥८९६॥

धीरो धैर्योपेतः सर्वोपसर्गसहनसमर्थः वैराग्यपरो रागादिभिर्विनिर्मुक्तः शरीरसंस्कारभोगनिर्वेदपरो विषयविरक्तभावः स्तोकमपि सामायिकादिस्वरूपं हि स्फुटं शिक्षित्वा सम्यगवधार्य सिध्यति कर्मक्षयं करोति, न चैव हि सिध्यति वैराग्यहीनः पठित्वापि सर्वाण्यपि शास्त्राणि, हि यस्मात्तस्माद्वैराग्यपूर्वकं करोति चारित्रा-चरणं प्रधानमिमिति ॥८९६॥

द्वीप, समुद्र, भोगभूमि अथवा कर्मभूमि क्षेत्र में द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और संहनन शक्ति के स्वभाव को समझकर उसके अनुसार ज्ञान, दर्शन, चारित्र अथवा तपश्चरण में प्रयत्न करते हैं अर्थात् सम्यक्चारित्र का पालन करते हैं, वे वहीं पर शीघ्र ही मोक्ष को प्राप्त कर लेते हैं।

अर्थात् जिस किसी स्थान में भी मुनि यदि शरीरशुद्धि और आहारशुद्धि का आश्रय लेकर, रात्रि आदि में गमन नहीं करने रूप कालशुद्धि एवं असंयम आदि के परिहार रूप भाव-शुद्धि का आश्रय लेकर के तथा शरीर-सहनन आदि को भी समझकर चारित्र का अच्छी तरह पालन करते हैं तो वे चाहे बहुज्ञानी हों या अल्पज्ञानी, सिद्धि को शीघ्र ही प्राप्त कर लेते हैं। जिस कारण से ऐसी बात है उसी हेतु से यह समयसाररूप चारित्र द्रव्य, क्षेत्र आदि के आश्रय से सावधानीपूर्वक धारण किया जाता है।

इसलिए द्रव्यबल, क्षेत्रबल, कालबल और भावबल का आश्रय लेकर तपश्चरण करना चाहिए। तात्पर्य यही है कि जिस तरह से वात, पित्त कफ आदि कुपित नहीं हों, वैसा प्रयत्न करना चाहिए, यही सार —समयसार का कथन है। अथवा यही सारभूत कथन है।

उसी प्रकार से वैराग्य भी समय का सार है, क्योंकि—

गाथार्थ—धीर, वैराग्य में तत्पर मुनि निश्चित रूप से थोड़ी भी शिक्षा पाकर सिद्ध हो जाते है किन्तु वैराग्य से हीन मुनि सर्व शास्त्रों को पढ़कर भी सिद्ध नहीं हो पाते ॥८९६॥

आचारवृत्ति—धैर्य से सहित, सर्व उपसर्गों को सहन करने में समर्थ, रागादि से रहित, शरीर-संस्कार और भोगों से उदासमना एवं विषयों से विरक्त मुनि अल्प भी सामायिक आदि स्वरूप के प्रतिपादक शास्त्र को पढ़कर, उसका अच्छी तरह अवधारण करके कर्मों का क्षय कर देते हैं किन्तु वैराग्य से रहित मुनि सभी शास्त्रों को—ग्यारह अंग पर्यन्त शास्त्रों को पढ़कर भी सिद्धि प्राप्त नहीं कर पाते हैं। इसीलिए वैराग्यपूर्वक चारित्र का आचरण करना ही प्रधान है।

तथा सम्यक्चारित्राचरणायोपदेशमाह—

भिक्खं चर वस रण्णे थोवं जेमेहि मा बहू' जंप ।
दुःखं सह जिण णिद्दा मेत्तिं भावेहि सुट्ठु वेरग्गं ॥८९७॥

भिक्षां चर कृतकारितानुमतिरहितं पिण्ड गृहाण, वसारण्ये स्त्रीपशुपांडकादिवर्जितेषु[2] गिरिगुहा-कंदरादिषु प्रदेशेषु वस,[3] स्तोकं प्रमाणयुक्तं स्वाहारचतुर्थभागहीनं भुंक्ष्वाभ्यवहर, मा च बहु प्रलापयुक्तं जल्प—असारं[4] वचनं कदाचिदपि मा ब्रूयाः, दुःखं सहस्व केनचित्कारणान्तरेणोत्पन्नामप्रीतिं पीडारूपां सम्यगनुभव, निद्रां च जय—अकाले स्वापक्रियां वर्जय, मैत्रीं च भावय सर्वैः सत्त्वैः सह मैत्रीं भावय, परेषां दुःखानुत्पत्त्यभिलाषं कुरु, वैराग्यं च सुष्ठु भावय। यतः सर्वस्य प्रवचनस्य सारभूतमेतदिति ॥८९७॥

तथैवंभूतश्च भवेत्—

अव्ववहारी एक्को झाणे एयग्गमणो भवे णिरारंभो ।
चत्तकसायपरिग्गह पयत्तचेट्ठो असंगो य ॥८९८॥

व्यवहरतीति व्यवहारी न व्यवहार्यव्यवहारी लोकव्यवहाररहितो भवेत्तथैकोऽसहायो भवेज्ज्ञान-दर्शनादिकं मुक्त्वा ममान्यन्नास्तीत्येकत्वं भावयेत्तथा ध्याने धर्मध्याने शुक्लध्याने चैकाग्रमनास्तन्निष्ठचित्तो

उसी प्रकार से सम्यक्चारित्र के आचरण हेतु उपदेश देते हैं—

गाथार्थ—हे मुने ! तुम भिक्षावृत्ति से भोजन करो, वन में रहो, अल्प भोजन करो, बहुत मत बोलो, दुःख सहन करो, निद्रा को जीतो, एवं मैत्री तथा दृढ़ वैराग्य की भावना करो ॥८९७॥

आचारवृत्ति—हे साधो ! तुम कृत-कारित-अनुमोदना से रहित निर्दोष पिंड-आहार-ग्रहण करो। स्त्री, पशु, नपुंसक आदि वर्जित गिरि, गुफा की कन्दरा आदि में निवास करो। अपने भोजन (खुराक) में चतुर्थ भाग हीन ऐसा प्रमाणयुक्त भोजन करो। बहु—प्रलापयुक्त, अल्प—असारवचन कभी भी मत बोलो। किसी भी कारण से उत्पन्न हुई अप्रीति—पीड़ा को समताभाव से सहन करो। निद्रा पर विजय पाओ। अकाल में नींद मत ले लो। सभी प्राणियों के साथ मैत्री की भावना करो, अर्थात् दूसरों को दुःख की उत्पत्ति न हो ऐसी ही भावना भाओ एवं वैराग्य की भावना भाओ; क्योंकि सभी प्रवचन का सारभूत यही है।

तथैव इन गुणों से युक्त भी होना चाहिए—

गाथार्थ - लोकव्यवहार रहित एकाकी, ध्यान में एकाग्रचित्त, आरम्भ रहित, कषाय और बाह्य परिग्रह से रहित, प्रयत्नपूर्वक क्रिया करनेवाले और सगरहित होओ ॥८९८॥

आचारवृत्ति—हे साधो ! तुम लोकव्यवहार से रहित होओ, ज्ञान दर्शन को छोड़कर अन्य कुछ भी मेरा नहीं है ऐसी एकत्व की भावना भाओ। धर्मध्यान और शुक्लध्यान में एकाग्र-

---

१. बहुं ब० क० २. वर्जित गिरि क० ३. तिष्ठ ब० ४. मा चासारं कदाचिदपि वचनं भवान् ब्रूयात् इति ब० क०

भवेत्तथा निरारम्भ आरंभान्निर्गतः स्यात्तथा त्यक्तकषायः क्रोधमानमायालोभादिरहितस्तथा त्यक्तपरिग्रहोऽथवा त्यक्तः कषायः परिग्रहो येनासौ त्यक्तकषायपरिग्रहो भवेत्तथा प्रयत्नचेष्टः सर्वथा प्रयत्नपरो भवेत्तथाऽसंगः संगं केनाऽपि मा कुर्यात्सर्वथा संगविवर्जितो भवेदिति ॥८९८॥

पुनरपि मुख्यरूपेण चारित्रस्य प्राधान्यं न श्रुतस्य यतः—

थोवह्मि सिक्खिदे जिणइ बहुसुदं जो चरित्तसंपुण्णो ।
जो पुण चरित्तहीणो किं तस्स सुदेण बहुएण ॥८९९॥

स्तोकेऽहि शिक्षिते पचनमस्कारमात्रेऽपि परिज्ञाते तस्य स्मरणे सति जयति बहुश्रुतं दशपूर्वधरमपि करोत्यधः यश्चारित्रसपन्नो यो यथोक्तचारित्रेण युक्तः, यः पुनश्चारित्रहीनः किं तस्य श्रुतेन बहुना । यतः स्तोकमात्रेण श्रतेन सपन्नः सन् बहुश्रुतं जयति तपश्चारित्रं प्रधानमत्र ज्ञानस्य दर्शनस्य तपसोपि यतो हेयोपादेयविवेकमन्तरेण श्रद्धानमन्तरेण च सम्यक्चारित्रं न युज्यते ततः सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग इत्यनेन सह न विरोध इति ॥८९९॥

चित्त होओ । सर्व आरम्भ से रहित होओ । क्रोध, मान, माया, लोभ आदि से तथा परिग्रह से रहित होओ अर्थात् अन्तरंग और बहिरंग परिग्रह को छोड़ो, अथवा कषायरूपी परिग्रह से रहित होओ । सर्वथा सावधानीपूर्वक क्रियाएँ करो तथा किसी के साथ भी संगति मत करो ।

पुनरपि यह बताते हैं कि मुख्य रूप से चारित्र ही प्रधान है न कि श्रुतज्ञान, क्योंकि—

गाथार्थ—जो चारित्र से परिपूर्ण है वह थोड़ा शिक्षित होने पर भी बहुश्रुतधारी को जीत लेता है किन्तु जो चारित्र से रहित है उसके बहुत से श्रुत से भी क्या प्रयोजन ? ॥८९९ ।

आचारवृत्ति—जो यथोक्त चारित्र से सम्पन्न मुनिराज हैं वे थोड़ा भी शिक्षित होकर अर्थात् पचनमस्कार मन्त्र मात्र का भी ज्ञान रखने और उस मन्त्र का स्मरण करने से ही दशपूर्वधारी मुनि को भी नीचे कर देते हैं । किन्तु जो चारित्र से हीन हैं उन्हें अधिक श्रुत से भी क्या लाभ ? अर्थात् उन्हें मोक्ष-प्राप्ति नही हो सकती है । जिस हेतु ये अल्पमात्र भी श्रुत से सम्पन्न होकर बहुश्रुतधारी मुनि को जीत लेते हैं उसी हेतु यहाँ ज्ञान, दर्शन और तप में भी चारित्र ही प्रधान है । क्योंकि हेयोपादेय विवेक के बिना और श्रद्धान के बिना सम्यक्चारित्र होता ही नहीं है । इसलिए "सम्यक् दर्शन, ज्ञान और चारित्र मोक्ष के मार्ग हैं" इस सूत्र के साथ विरोध नहीं आता है ।

भावार्थ—यहाँ पर ऐसा कथन था कि चारित्रधारी मुनि भले ही णमोकार मन्त्र मात्र के ही जानकार हों किन्तु वे मोक्षप्राप्ति के अधिकारी हैं तो प्रश्न यह उठता है कि पुनः रत्नत्रय से मोक्ष मानना कहाँ रहा ? सो ही उत्तर दिया गया है कि श्रद्धान के बिना चारित्र सम्यक्चारित्र नहीं कहलाता है और उस श्रद्धान के साथ जितना भी ज्ञान का अंश है वह सम्यक्ज्ञान ही है अतः रत्नत्रय से ही मोक्ष की व्यवस्था है, अन्यथा नहीं है, ऐसा समझना ।

---

१. क० मा कुथाः ।

तथैव प्रतिपादयन्नाह—

णिज्जावगो य णाणं वादो झाणं चरित्त णावा हि।
भवसागरं तु भविया तरंति तिहिसण्णिपायेण ॥९००॥

नौचारित्रयो रूपकालंकारमाह संसारसमुद्रतरणे—ननु समुद्रतरणे पोतेन भवितव्यं निर्यापकेन वातेन च तत्कथमत्रेत्याशंकायामाह—निर्यापको यः पोते सर्वमुपसर्गजालं पश्यति स निर्यापको ज्ञानं, वातो ध्यानं, चारित्रं नौः पोतः, भवः संसारः सागरः समुद्रो जलधिः, तु एवकारार्थः। भव्या रत्नत्रयोपेतमनुजास्तरन्ति समतिक्रामन्ति त्रिसंनिपातेन त्रयाणां सयोगेन। यथा निर्यापकवातनौसंयोगेन वणिजः समुद्रं तरन्ति एवं ज्ञान-ध्यानचारित्रसंयोगेन संसारं तरंत्येव भव्या इति ॥९००॥

किमिति कृत्वा त्रयाणां संयोगे मोक्ष इत्याशंकायामाह—

णाणं पयासओ तओ सोधओ संजमो य गुत्तियरो।
तिण्हं पि य संपजोगे होदि हु जिणसासणे मोक्खो ॥९०१॥

यतो ज्ञानं प्रकाशकं द्रव्यस्वरूपप्रदर्शकं हेयोपादेयविवेककारण, तपः शोधकं शोधयति कर्माणीति शोधकं सर्वकर्मणामपायकारणमात्रं, तपःशब्देन ध्यानं परिगृह्यते तस्य प्रस्तुतत्वादथवा सर्वस्य वा ग्रहणं

उसी बात को बतलाते हैं—

गाथार्थ—खेवटिया ज्ञान है, वायु ध्यान है और नौका चारित्र है। इन तीनों के संयोग से ही भव्य जीव भवसागर को तिर जाते हैं ॥९००॥

आचारवृत्ति—यहाँ सागर से तिरने के लिए नौका और चारित्र इन दोनों में रूपकालंकार को दिखाते हुए कहते हैं—

शंका—समुद्र को पार करने के लिए जहाज, खेवटिया और हवा होना चाहिए। सो यहाँ पर कैसे पार होंगे?

समाधान—जो जहाज में सर्व उपद्रव समूह को देखता है वह कर्णधार ज्ञान है, हवा ध्यान है और चारित्र नाव है और यह संसार सागर है। गाथा में 'तु' शब्द एवकार अर्थ में है। अतः रत्नत्रय संयुक्त भव्य जीव ही इन तीनों के मिलने से संसार-सागर को पार कर लेते हैं। जैसे कर्णधार वायु और नौका के संयोग से व्यापारी समुद्र से पार हो जाते हैं वैसे ही ज्ञान, ध्यान और चारित्र के संयोग से भव्यजीव संसार से तिर ही जाते है।

किस कारण इन तीनों के सयोग से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है? ऐसी आशंका होने पर कहते हैं—

गाथार्थ—ज्ञान प्रकाशक है, तप शोधक है, और संयम रक्षक है। इन तीनों के मिलने पर ही जिन-शासन में मोक्ष-प्राप्ति होती है ॥९०१॥

आचारवृत्ति—ज्ञान प्रकाशक है क्योंकि वह द्रव्यों के स्वरूप को प्रदर्शित करनेवाला है और हेयोपादेय विवेक का कारण है। तप कर्मों को शुद्ध करता है अतः शोधक है अर्थात् सर्व कर्मों के नाश का कारण है। यहाँ पर तप शब्द से ध्यान को ग्रहण किया है क्योंकि यहाँ

तन्मध्यपतितत्वाद् ध्यानस्य, संयमश्च गुप्तिकरः इन्द्रियनिग्रहो जीवदया च कर्मागमप्रतिबन्धकारणमतो ज्ञानेन प्रकाशिते संयमः परिहारो युक्तः परिहारे च ध्यानं निर्विघ्नतया प्रवर्ततेऽतस्त्रयाणामपि संयोगे भवति स्फुटं जिनशासने मोक्षो न पूर्वेण विरोधो द्रव्यार्थिकनयाश्रयणादिति ॥६०१॥

यदि पुनरेतै रहितानि ज्ञानलिंगतपांसि करोति तदा किं स्यात्—

णाणं करणविहीणं लिंगग्गहणं च संजमविहूणं ।
दंसणरहिदो य तवो जो कुणइ णिरत्थयं कुणइ ॥६०२॥

ज्ञानं करणविहीनं करणशब्देनात्र षडावश्यकादिक्रियाचारित्रं परिगृह्यते, लिंगं जिनरूपमचेलकत्वादियुक्तता, लिंगस्य ग्रहणमुपादानं तत्संयमविहीनं संयमेन विना, दर्शनं सम्यक्त्वं तेन रहितं च तपो यः करोति स पुरुषः निरर्थकं कर्मनिर्जरारहितं करोति। ज्ञानं चारित्रविमुक्तं लिंगोपादानं चेन्द्रियजयरहितं दयारहितं च यः करोति सोऽपि न किंचित्करोतीति तस्मात्सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि युक्तान्येवेति ॥६०२॥

सम्यग्ज्ञानादियुक्तस्य तपसो ध्यानस्य च माहात्म्यमाह—

तवेण धीरा विधुणंति पावं अज्झप्पजोगेण खवंति मोहं ।
संखीणमोहा धुदरागदोसा ते उत्तमा सिद्धिगदिं पयंति ॥६०३॥

वही प्रकरण में है। अथवा सभी बारहों तपों को भी ग्रहण करना चाहिए क्योंकि ध्यान तो उनमें है ही। इन्द्रियनिग्रह और जीवदया रूप संयम कर्मों के आगमन में प्रतिबन्ध लगाने वाला है। इसलिए ज्ञान के द्वारा मार्ग के प्रकाशित होने पर संयम-त्याग युक्त ही है और त्याग के होने पर ध्यान निर्विघ्न रूप से प्रवृत्त होता है। अतः इन तीनों के मिलने पर ही स्पष्ट रूप से जिन शासन में मोक्ष-प्राप्ति होती है। पूर्व की गाथाओं के कथन से इसमें विरोध नहीं है क्योंकि वहाँ पर द्रव्यार्थिकनय का आश्रय लेकर कथन किया गया है।

भावार्थ—पहले गाथा ८६६ में जो चारित्र से ही मोक्ष का कथन है सो द्रव्यार्थिकनय की प्रधानता से है और इन दो गाथाओं में जो तीनों के संयोग की बात है सो पर्यायार्थिकनय की प्रधानता से है।

यदि पुनः इनसे रहित कोई मुनि ज्ञान, लिंग अथवा तप इनमें से एक-एक को करते हैं तो क्या फल मिलेगा?

गाथार्थ—क्रिया रहित ज्ञान, संयम रहित वेषधारण और सम्यक्त्व रहित तप को जो करते हैं सो व्यर्थ ही करते हैं ॥६०२॥

आचारवृत्ति—षड्-आवश्यक क्रिया आदि तेरह क्रियारूप चारित्र ग्रहण करना करण है। अचेलकत्व आदि से युक्त जिनमुद्रा धारण करना लिंग है। अर्थात् तेरह प्रकार की क्रियाओं से रहित ज्ञान, इंद्रियजय और प्राणिदयारूप संयम से रहित निर्ग्रंथ वेष, और सम्यक्त्व रहित तप जो धारण करता है, वह निर्जरा रहित (निरर्थक) कर्म ही करता है। इसलिए सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र युक्त ही मोक्षमार्ग है।

सम्यग्ज्ञान आदि से युक्त तप और ध्यान का माहात्म्य कहते हैं—

गाथार्थ—धीर मुनि तप से पाप नष्ट करते हैं, अध्यात्मयोग से मोह का क्षय करते हैं। पुनः, वे उत्तम पुरुष मोह रहित और रागद्वेष रहित होते हुए सिद्धगति प्राप्तकर लेते हैं ॥६०३॥

ततो ज्ञानादियुक्तेन तपसा धीरा: सर्वसत्त्वसंपन्ना विधुन्वन्ति विनाशयन्ति पापं चारित्रमोहं कर्माण्यप्यशुभानि, अध्यात्मयोगेन परमध्यानेन क्षपयन्ति प्रलयं नयन्ति मोहं[1] मिथ्यात्वादिकं ततः क्षीणमोहा धृतरागद्वेषा विनष्टज्ञानावरणदर्शनावरणान्तराया [2]निर्मूलिताशेषकर्माणश्च, ते संतस्ते साधव उत्तमाः सर्वप्रकृष्टगुणशीलोपेताः सिद्धि गतिमनन्तचतुष्टयं प्रयान्ति प्राप्नुवन्ति लोकाग्रमिति ।।६०३।।

पुनरपि ध्यानस्य माहात्म्यमाह—

लेस्साझाणतवेण य चरियविसेसेण सुग्गई होइ ।
तह्मा इदराभावे झाणं संभावए धीरो ।।६०४।।

विशेषशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते । लेश्याविशेषेण तेजःपद्मशुक्ललेश्याभिः ध्यानविशेषेण धर्मध्यानशुक्लध्यानाभ्यां, तपोविशेषेण चारित्रानुकूलकायक्लेशादिभिः, चारित्रविशेषेण च सामायिकशुद्धिपरिहारच्छेदोपस्थापनसूक्ष्मसाम्पराययथाख्यातचारित्रैः सुगतिर्भवति शोभना गतिः शुद्धदेवगतिः सिद्धिगतिर्मनुष्यगतिश्च दर्शनादियोग्या । यद्यपि विशेषशब्दश्चारित्रेण सह संगतस्तथापि सर्वैः सह संबध्यत इत्यर्थविशेषदर्शनादथवा[3] न चारित्रेण संबन्धः समासकरणाभावात्तस्मात्सर्वैः सह संबन्धः करणीयः[4], मध्ये च विभक्तिश्रवणं यत्तत्प्राकृतबलेन कृतं न तत्त्र । अथवा सुगतिर्मोक्षगतिरेवाभिसंबध्यते यत एवं तस्मादितरेषामभावेऽपि लेश्यातपश्चारि-

---

आचारवृत्ति—वे सर्वशक्ति सम्पन्न मुनि ज्ञान आदि से युक्त तप के द्वारा पाप—चारित्रमोह और अशुभ कर्मप्रकृतियों का नाश कर देते है। अध्यात्म योग रूप परम ध्यान के द्वारा मिथ्यात्व आदि सर्व मोह को समाप्त कर देते हैं। पुनः वे ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय और अशेष कर्मों को नष्ट करके तथा सर्व उत्तम—उत्तम गुणशीलों से युक्त होकर अनन्त-चतुष्टय रूप सिद्धगति को प्राप्त कर लेते हैं अर्थात् लोक के अग्रभाग में विराजमान हो जाते हैं।

पुनरपि ध्यान के माहात्म्य को कहते हैं—

गाथार्थ—लेश्या, ध्यान और तप के द्वारा एवं चर्या विशेष के द्वारा सुगति की प्राप्ति होती है इसलिए अन्य के अभाव में धीर मुनि ध्यान की भावना करें। ।।६०४।।

आचारवृत्ति—गाथा का 'विशेष' शब्द प्रत्येक के साथ लगा लेना चाहिए। अतः लेश्याविशेष—तेज, पद्म और शुक्ल लेश्या। ध्यानविशेष—धर्म-शुक्ल ध्यान। तपविशेष—चारित्र के अनुकूल कायक्लेश आदि। चारित्रविशेष—सामायिक छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्म सांपराय और यथाख्यात। इनके द्वारा सुगति-शोभनगति, अर्थात् शुद्ध देवगति, सिद्धिगति और मनुष्यगति जो कि सम्यग्दर्शन आदि के योग्य हैं अथवा सुगति से मोक्षगति समझना चाहिए। इतर के अभाव में भी अर्थात् लेश्या, तप और चारित्र के अभाव में भी धीर अच्छी तरह समीचीन ध्यान का प्रयोग करे क्योंकि ये सब ध्यान में अन्तर्भूत हैं। तात्पर्य यही है कि यद्यपि सभी के द्वारा सुगति होती है फिर भी ध्यान प्रधान है क्योंकि वह सम्यग्दर्शन का अविनाभावी है।

---

१. क० दर्शनमोहं मिथ्यात्वादिकं। २. क० निर्मूलित-शेषकर्माणश्च। ३. क० इत्यर्थो।
४. क० धर्मध्यानशुक्लध्यान-तपोविशेषेण।

भाणाद्यभावेऽपि ध्यानं संभावयेद्धीरः सम्यग्ध्यानं प्रयोजयेद्यतः सर्वाण्येतानि ध्यानेऽन्तर्भूतानि। सर्वैर्यद्यपि सुगति-र्भवति तथापि ध्यानं प्रधानं यतः सम्यग्दर्शनाविनाभावि ॥१०४॥

सम्यग्दर्शनस्य माहात्म्यमाह—

सम्मत्तादो णाणं णाणादो सव्वभावउवलद्धी।
उवलद्धपयत्थो पुण सेयासेयं वियाणादि ॥१०५॥

सम्यक्त्वाज्जिनवचनरुचेर्ज्ञानं स्यात्सम्यक्त्वेन ज्ञानस्य शुद्धिर्यतः क्रियतेऽतः सम्यग्ज्ञानं सम्यक्त्वाद् भवति, सम्यग्ज्ञानाच्च सर्वभावोपलब्धिर्भवति यतः सर्वेषां द्रव्याणां पदार्थानामस्तिकायानां सभेदानां सपर्यायाणां च सम्यग्ज्ञानेन परिच्छित्तिः क्रियते। दर्शनस्य विषयो विविक्तो[1] न भवति ज्ञानात् कथं तर्हि तत्पूर्वकं ज्ञानं, नैष दोषो विपरीतानध्यवसायाकिंचित्करत्वादीनि स्वरूपाणि ज्ञानस्य सम्यक्त्वेनापनीयन्ते। उपलब्धपदार्थश्च पुनः श्रेयः पुण्यं कर्मापायकारणं चाश्रेयः पापं कर्मबन्धकारणं च विजानाति सम्यगवबुध्यत इति ॥१०५॥

तथा—

गाथा में यद्यपि विशेष शब्द चारित्र के साथ लगा हुआ है फिर भी सभी के साथ सम्बन्धित कर लिया गया है। इस कथन से अर्थविशेष देखा जाता है। अथवा चारित्र के साथ सम्बन्धित नहीं है, क्योंकि उसमें समास नहीं हुआ है इसीलिए सभी के साथ सम्बन्ध किया गया है। मध्य में जो विभक्ति नहीं दिख रही है अर्थात् 'चरिय विसेसेण' ऐसा पाठ है सो वह प्राकृत व्याकरण के अनुसार है, ऐसा समझना।

सम्यग्दर्शन का माहात्म्य बतलाते हैं—

गाथार्थ—सम्यक्त्व से ज्ञान होता है, ज्ञान से सभी पदार्थों का बोध होता है और सभी पदार्थों को जानकर पुरुष हित-अहित जान लेते हैं। ॥१०५॥

आचारवृत्ति—जिनवचनों की श्रद्धा का नाम सम्यक्त्व है। उससे ज्ञान होता है अर्थात् उस सम्यक्त्व से ज्ञान की शुद्धि होती है। अतः सम्यक्त्व से ही सम्यग्ज्ञान होता है और सम्यग्ज्ञान से भेद-प्रभेद सहित, पर्यायों सहित सर्वद्रव्यों का, पदार्थों का और अस्तिकायों का बोध होता है।

शंका—सम्यग्दर्शन का विषय ज्ञान से भिन्न नहीं है तो फिर तत्पूर्वक ज्ञान कैसे हुआ?

समाधान—ऐसा दोष आप नहीं दे सकते हैं, क्योंकि ज्ञान के विपरीत अनध्यवसाय और अकिंचित्कर आदि स्वरूप सम्यक्त्व से ही दूर किये जाते हैं।

पुनः पदार्थों के ज्ञानी मनुष्य श्रेय—पुण्य अर्थात् कर्मों को दूर करने के कारण और अश्रेय—पाप अर्थात् कर्मबन्ध के कारण अच्छी तरह से जान लेते हैं।

उसी को और कहते हैं—

---

१. क० विविक्तो भवति।

सेयासेयविदण्हू उद्धुददुस्सील सीलवं होदि।
सीलफलेणब्भुदयं तत्तो पुण लहदि णिव्वाणं ॥९०६॥

ततः श्रेयसोऽश्रेयसश्च विद् वेत्ता श्रेयोऽश्रेयोवित्सन् उद्धूतदुःशीलः सन् शीलवानष्टादशशीलसहस्राधारः स्यात्ततः शीलफलेनाभ्युदयः संपूर्णचारित्रं अथवोद्धूतदुःशीलो निवृत्तपापक्रियः स्यात्ततश्चारित्रसमन्वितः स्यात्तच्च शीलं तस्माच्चाभ्युदयः स्वर्गादिसुखाद्यनुभवनं ततश्च लभते पुनर्निर्वाणं सर्वकर्मापायोत्पन्नसुखानुभवनमिति ततः सर्वेण[1] पूर्वग्रन्थेन चारित्रस्य माहात्म्यं दत्तम् ॥९०६॥

यतश्च सम्यक्चारित्रात्सुगतिस्ततः —

सव्वं पि हु सुदणाणं सुट्ठु सुगुणिदं पि सुट्ठु पढिदं पि।
समणं भट्ठचरित्तं ण हु सक्को सुग्गइं णेदुं ॥९०७॥

चारित्रस्य प्राधान्यं यतः सर्वमपि श्रुतज्ञानं सुष्ठु कालादिशुद्ध्या शोभनविधानेन परिणामशुद्ध्या गुणितं परिवर्तितं सुष्ठु पठितं च शोभनविधानेन श्रुतं व्याख्यातमवधारितं च सत्, श्रमणं यतिं भ्रष्टचारित्रं चारित्रहीनं नैव खलु स्फुटं शक्तं समर्थं सुगतिं नेतुं प्रापयितुमथवा न शक्नोति परमगतिं नेतुमित्यतश्चारित्रं प्रधानमिति ॥९०७॥

इममेवार्थं दृष्टान्तेन पोषयन्नाह—

गाथार्थ—श्रेय और अश्रेय के ज्ञाता दुःशील का नाश करके शीलवान् होते हैं, पुनः उस शील के फल से अभ्युदय तथा निर्वाण पद को प्राप्त कर लेते हैं ॥९०६॥

आचारवृत्ति—श्रेय और उसके कारणों के तथा अश्रेय और उसके कारणों के वेत्ता मुनि दुःशील—पाप क्रिया से निवृत्त होकर चारित्र से समन्वित होते हुए अठारह हजार शील के आधार हो जाते हैं। उसके प्रसाद से स्वर्गादि सुखों का अनुभवरूप अभ्युदय प्राप्त कर अन्त में सर्व कर्मों के अपाय से उत्पन्न हुए सुखों के अनुभवरूप निर्वाण को प्राप्त कर लेते हैं। इसीलिए सभी पूर्व ग्रन्थों से चारित्र का माहात्म्य कहा गया है।

जिस कारण से सम्यक्चारित्र से सुगति होती है वही कहते हैं

गाथार्थ—अच्छी तरह पढ़ा हुआ भी और अच्छी तरह गुना हुआ भी सारा श्रुतज्ञान निश्चित रूप से भ्रष्टचारित्र श्रमण को सुगति प्राप्त कराने में समर्थ नहीं है ॥९०७॥

आचारवृत्ति—सभी श्रुतज्ञान, अच्छी तरह—काल आदि की शुद्धिरूप शोभन-विधान से पढ़ा हुआ और परिणाम की शुद्धि से गुना—परिवर्तित किया हुआ तथा अच्छी तरह से सुना—अवधारण किया हुआ हो तो भी वह (श्रुतज्ञान) चारित्रहीन मुनि को स्पष्ट रूप से परमगति को प्राप्त कराने में समर्थ नहीं है। इसलिए चारित्र की प्रधानता है।

यही अर्थ दृष्टान्त से पुष्ट करते हैं—

---

१. क० सर्वग्रन्थेन।

जदि पडदि दीवहत्थो अवडे किं कुणदि तस्स सो दीवो।
जदि सिक्खिऊण अणयं करेदि किं तस्स सिक्खफलं ॥१०८॥

ननु शिक्षाफलेन भवितव्यमित्याशंकायामाह—यदि प्रदीपहस्तोऽप्यवटे कूपे पतति तत. किं करोति तस्यासौ प्रदीपः। प्रदीपो हि गृह्यते चक्षुरिन्द्रियसहकारित्वेन हेयोपादेयनिरूपणाय च तद्यदि न कुर्यात्तर्हि तद्ग्रहणं न किंचित्प्रयोजनं एवं यदि [1]श्रुतज्ञानं शिक्षित्वा सम्यगवधार्यानिय चारित्रभंगं करोति किं तस्य शिक्षाफलं यावता हि न किंचित्। श्रुतावधारणस्यैतत्फलं चारित्रानुष्ठानं तद्यदि न भवेच्छ्रुतमप्यश्रुतकल्पमर्थक्रियाऽभावादिति ॥१०८॥

एवं चारित्रस्य प्राधान्यमुपन्यस्य शुद्धिकारणमाह—

पिंडं सेज्जं उवधिं उग्गमउप्पायणेसणादीहिं।
चारित्तरक्खणट्ठं सोधणयं होदि सुचरित्तं ॥१०९॥

पिंडं भिक्षां, शय्यां वसत्यादिकं, उपधिं ज्ञानोपकरणं शौचोपकरणं चेति उद्गमोत्पादनैषणादिभ्यो दोषेभ्यः शोधयंश्चारित्ररक्षणार्थं सुचरित्रो भवति। अथवा चारित्ररक्षणार्थं पिंडमुपधिं शय्यां च शोधयतः

गाथार्थ—यदि दीपक हाथ में लिये हुए मनुष्य गर्त में गिरता है तो उसके लिए भी दीपक क्या कर सकता है? यदि कोई शिक्षित होकर भी अन्याय करता है तो उसके लिए शिक्षा का फल क्या हो सकता है? ॥१०८॥

आचारवृत्ति—शिक्षा का फल होना ही चाहिए सो ही कहते हैं--दीपक चक्षु इन्द्रिय का सहकारी होने से उसे हेय तथा उपादेय दिखलाने के लिए लिया जाता है। यदि कोई उस दीपक से वह कार्य न करे तो उस दीपक के ग्रहण से कुछ भी प्रयोजन नहीं है। उसी प्रकार से यदि कोई श्रुतज्ञान को पढ़कर, अच्छी तरह उसका अवधारण करके भी चारित्र को भंग कर देता है तो फिर उसकी शिक्षा का फल क्या है? अर्थात् कुछ भी नहीं है। तात्पर्य यही है कि श्रुत के शिक्षण का फल है चारित्र का अनुष्ठान करना। यदि वह नही है तो वह श्रुत भी अश्रुत के सदृश है क्योंकि वह अपने कार्य को नहीं कर रहा है।

इस प्रकार से चारित्र की प्रधानता को कहकर अब शुद्धि के कारणों को कहते हैं—

गाथार्थ—चारित्र की रक्षा के लिए उद्गम, उत्पादन और एषणा आदि के द्वारा आहार, वसतिका और उपकरण का शोधन करता हुआ सुचारित्र सहित होता है ॥१०९॥

आचारवृत्ति—पिण्ड—आहार, शय्या—वसतिका आदि, उपधि—ज्ञानोपकरण-शास्त्र और शौचोपकरण-कमण्डलु हैं। इनका उद्गम, उत्पादन और एषणा आदि दोषों से शोधन करते हुए मुनि चारित्र की रक्षा के लिए सुचारित्रधारी होते हैं। अथवा चारित्र रक्षा हेतु आहार, उपकरण और वसतिका का शोधन करते हुए मुनि के ही सुचारित्र होता है। इनमें उद्गम, उत्पादन

---

१. क० पुनर्ज्ञानं।

सुचरित्रं भवति शुद्धिश्च तेषामुद्गमोत्पादनैषणादोषाणामभाव इति। अथवा पिंडादीनामुद्गमादिदोषेभ्यो शोधनं यच्चारित्ररक्षणार्थं तत्सुचरित्रं भवतीति ॥९०९॥

येन लिंगेन तच्चारित्रमनुष्ठीयते तस्य लिंगस्य भेदं स्वरूपं च निरूपयन्नाह—

अच्चेलक्कं लोचो वोसट्टसरीरदा य पडिलिहणं।
एसो हु लिंगकप्पो चदुव्विधो होदि णायव्वो ॥९१०॥

अचेलकत्वं चेलशब्देन सर्वोऽपि वस्त्रादिपरिग्रह उच्यते, यथा तालशब्देन सर्वोऽपि वनस्पतिः, तालफलं न भक्ष्यं इत्युक्ते सर्वं वनस्पतिफलं न भक्षयिष्यामीति ज्ञायते, एव चेलपरिहारेण सर्वस्य परिग्रहस्य परिहारः, न चेलकत्वमचेलकत्वं सर्वपरिग्रहपरिहरणोपायः, एतदप्यचेलकत्वमुपलक्षणपरं तेनाचेलकत्वौद्देशिकादयः सर्वेऽपि गृह्यन्त इति। लोचः स्वहस्तपरहस्तैर्मस्तककूर्चगतकेशापनयनं। व्युत्सृष्टशरीरता च स्नानाभ्यंजनांजनपरिमर्दनादि-संस्काराभावः। प्रतिलेखनं मयूरपिच्छग्रहणम्[1]। अचेलकत्वं नैःसंग्यचिह्नं, सद्भावनायाश्चिह्नं लोचः, व्युत्सृष्टदेहत्वमपरागतायाश्चिह्नं, दयाप्रतिपालनस्य लिंगं 'मयूरपिच्छिकाग्रहणमिति, एष एवं लिंगकल्पो लिंगविकल्पश्चतुर्विधो भवति ज्ञातव्यश्चारित्रोपकारकत्वादिति ॥९१०॥

अथ के तेऽचेलकत्वादय इत्याशंकायामाह—

और अशन दोषों का न होना ही शुद्धि है। तात्पर्य यही है कि चारित्र की रक्षा हेतु आहार आदि का उद्गम आदि दोषों से जो शोधन करना है वही सुचारित्र होता है।

जिस लिंग से वह चारित्र अनुष्ठित किया जाता है, उस लिंग का भेद और स्वरूप बतलाते हैं—

गाथार्थ—नग्नत्व, लोच, शरीरसंस्कारहीनता और पिच्छिका यह चार प्रकार का लिंगभेद जानना चाहिए ॥९१०॥

आचारवृत्ति—अचेलकत्व में 'चेल' शब्द से सभी वस्त्रादि परिग्रह कहे जाते हैं। जैसे तालशब्द से सभी वनस्पतियाँ कही जाती हैं। ताल का फल नहीं खाना चाहिए, ऐसा कहने पर 'सभी वनस्पतियों के फल नहीं खाऊँगा' ऐसा जाना जाता है। इसी तरह 'चेल' के त्याग से सभी परिग्रह का त्याग होता है 'न चेलकपना-अचेलकपना' अर्थात् सर्व परिग्रह के त्याग का उपाय। यहाँ पर यह 'अचेलकत्व' उपलक्षण मात्र है। अतः उससे अचेलकत्व, औद्देशिक आदि सभी गुणों का ग्रहण हो जाता है। लोच अर्थात् स्वहस्त अथवा परहस्तों से शिर और मूछ दाढ़ी के केशों को उखाड़ना। शरीरसंस्कारहीनता—स्नान, उबटन, अंजन, तैलपरिमर्दन आदि से संस्कार का नहीं करना। प्रतिलेखन—मयूरपिच्छिका ग्रहण करना। तात्पर्य यह है कि अचेलकत्व का चिह्न निःसंगता है, केश लोच सद्भावना का चिह्न है, शरीरसंस्कारहीनता वीतरागता का चिह्न है, मयूरपिच्छिका का ग्रहण दयाप्रतिपालन का चिह्न है। इस प्रकार से यह चार तरह का लिंग जानना चाहिए जो कि चारित्र का उपकारक है।

वे अचेलकत्व आदि कौन-कौन हैं? ऐसी आशंका होने पर कहते हैं—

---

१. क० मयूरपिच्छग्रहणं।

अच्चेलक्कुद्देसियसेज्जाहररायपिंड किदियम्मं।
वद जेट्ठ पडिक्कमणं मासं पज्जो समणकप्पो ॥९११॥

अचेलकत्वं वस्त्राद्यभावः, अत्र यो नञ् स उत्तरत्राभिसंबन्धनीयः, यथा चेलकस्याभावस्तथौद्देशिकस्याभावस्तथा शय्यागृहस्याभावस्तथा राजपिंडस्याभावः। उद्दिश्य न भुंक्ते, उद्देशे भवस्य दोषस्य परिहारोऽनौद्देशिको मदीयायां वसतिकायां यस्तिष्ठति तस्य दानादिकं ददामि नान्यस्येत्येवमभिप्रेतस्य दानस्य परिहारः, शय्यागृहपरिहारो [1]मठगृहमपि शय्यागृहमित्युच्यते तस्यापि परिहारः, राजपिंडस्य परित्यागो वृष्यान्नस्येन्द्रियप्रवर्धनकारिण आहारस्य परित्यागोऽथवा स्वार्थं दानशालाया ग्रहणं यत्तस्य परित्यागः, कृतिकर्म स्वेन वंदनादिकरणे उद्योगः, व्रतान्यहिंसादीनि तैरात्मभावनं तैः सह संयोगः संवासस्तद्व्रतं, ज्येष्ठो ज्येष्ठत्वं मिथ्यादृष्टिसासादनसम्यङ्मिथ्यादृष्ट्यासंयतसम्यग्दृष्टिसंयतासंयतानां ज्येष्ठः सर्वेषां पूज्यो बहुकालप्रव्रजिताया अप्यार्यिकाया अद्य प्रव्रजितोऽपि महांस्तथेन्द्रचक्रधरादीनामपि महान् यतोऽतो ज्येष्ठ इति, प्रतिक्रमण सप्तप्रतिक्रमणैरात्मभावनं दैवसिकादिप्रतिक्रमणानुष्ठाने;[2] मासो योगग्रहणात्प्राङ्मासमात्रमव-

---

गाथार्थ—अचेलकत्व, औद्देशिक त्याग, शय्यागृह त्याग, राजपिण्ड त्याग, कृतिकर्म, व्रत, ज्येष्ठ, प्रतिक्रमण, मास, और पर्या ये दश श्रमण कल्प हैं। ॥९११॥

आचारवृत्ति—अचेलकत्व अर्थात् वस्त्रादि का अभाव। यहाँ अचेलकत्व में जो 'नञ्' समास है उसका आगे के शब्दों स भी सम्बन्ध कर लेना चाहिए। जैसे, चेलक का अभाव-अचेलकत्व। ऐसे ही औद्देशिक का अभाव, शय्यागृह का अभाव और राजपिण्ड का अभाव। औद्देशिक-त्याग —उद्देश्य करके भोजन न करे, अर्थात् उद्देश से होने वाले दोष का परिहार करना अनौद्देशिक है। शय्यागृहत्याग—मेरी वसतिका मे जो ठहरे है उन्हें मैं आहार-दान आदि दूंगा अन्य को नहीं इस प्रकार के अभिप्राय से दिये हुए दान को न लेना शय्यागृहत्याग है। मठगृह को भी शय्यागृह कहते हैं, उसका परिहार करना। राजपिण्डत्याग —राजा के यहाँ आहार का त्याग करना अर्थात् गरिष्ठ, इन्द्रियों में उत्तेजना उत्पन्न करने वाले आहार का त्याग करना अथवा स्वार्थ—दानशाला के आहार-ग्रहण का त्याग करना। कृतिकर्म— वन्दना आदि क्रियाओं के करने में उद्यम करना।

व्रत—अहिंसा आदि व्रत कहलाते हैं। उन व्रतों से आत्मा की भावना करना अर्थात् उन व्रतों के साथ संवास करना।

ज्येष्ठ—बड़प्पन। मिथ्यादृष्टि, सासादन सम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, असंयत सम्यग्दृष्टि और संयतासंयत इनमें ज्येष्ठ होना— सभी का पूज्य होना। जिस हेतु से बहुत काल से दीक्षित भी आर्यिका से आज का दीक्षित भी मुनि महान् है, उसी प्रकार इन्द्र, चक्रवर्ती आदि से भी महान् है, उसी हेतु से वह ज्येष्ठ कहलाते हैं।

प्रतिक्रमण—सात प्रकार के प्रतिक्रमणों द्वारा आत्म भावना करना अर्थात् दैवसिक आदि प्रतिक्रमण के अनुष्ठान में तत्पर रहना।

मास—वर्षायोग ग्रहण से पहले एकमास पर्यन्त रहकर वर्षाकाल में वर्षायोग ग्रहण

---

१. एषा पंक्ति: 'क' प्रतौ नास्ति। २. क० नुष्ठानं।

स्थानं कृत्वा वर्षाकाले योगो ग्राह्यस्तथा योगं समाप्य[1] मासमात्रमवस्थानं कर्त्तव्यम्। लोकस्थितिज्ञापनार्थम-हिंसादिव्रतपरिपालनार्थं च योगात्प्राङ् मासमात्रावस्थानस्य पश्चाच्च मासमात्रावस्थानं श्रावकलोकादिसंक्लेशपरिहरणायाथवा ऋतौ ऋतौ मासमासमात्रं स्थातव्यं मासमात्रं च विहरणं कर्त्तव्यमिति मासः श्रमणकल्पोऽथवा वर्षाकाले योगग्रहणं चतुर्षु चतुर्षु मासेषु नन्दीश्वरकरणं च मासश्रमणकल्पः। पज्जो—पर्या पर्युपासनं निषद्यकायाः पंचकल्याणस्थानानां च सेवनं पर्येत्युच्यते, श्रमणस्य श्रामण्यस्य वा कल्पो विकल्पः अनेन प्रकारेण दशप्रकारः श्रमणकल्पो वेदितव्य इति ॥९११॥

लोचो मूलगुणे व्याख्यातस्तथा व्युत्सृष्टशरीरत्वं चास्नानमूलगुणे व्याख्यातमतो न तयोरिह प्रपंच-स्ततः प्रतिलेखनस्वरूपमाह—

रजसेदाणमगहणं मद्दव सुकुमालदा लहुत्तं च।
जत्थेदे पंचगुणा तं पडिलिहणं पसंसंति ॥९१२॥

रजःस्वेदयोर्यत्राग्रहणं रजसा पांस्वादिना प्रस्वेदेन च यन्मलिनं न भवति। रजसोऽग्रहणमेकः गुणः, स्वेदस्य चाग्रहणं द्वितीयो गुणः, मार्दवं मृदुत्वं चक्षुषि प्रक्षिप्तमपि न व्यथयति यतः स तृतीयो गुणः, सुकुमारता सौकुमार्यं दर्शनीयरूपं चतुर्थो गुणः, लघुत्वं च गुरुत्वस्याभावः प्रमाणस्थानमुत्क्षेपणादौ योग्यता पंचमो गुणः,

---

करना तथा वर्षायोग को समाप्त करके पुनः एक मास तक अवस्थान करना चाहिए। लोकस्थिति को बतलाने के लिए और अहिंसा आदि व्रतों का पालन करने के लिए वर्षायोग के पहले एक मास रहने का और अनन्तर भी एक मास तक रहने का विधान है सो यह श्रावक आदिकों के संक्लेश का परिहार करने के लिए है। अथवा ऋतु-ऋतु में (दो माह की एक ऋतु) अर्थात् प्रत्येक ऋतु में एक-एक मास तक रहना चाहिए और एक-एक मास तक विहार करना चाहिए। ऐसा यह 'मास' नाम का श्रमण कल्प है। अथवा वर्षाकाल में वर्षा योग ग्रहण करना और चार-चार महिनों में नन्दीश्वर करना सो यह मास श्रमणकल्प है।

पर्या—पर्युपासन को पर्या कहते हैं। निषद्यका स्थान और पंचकल्याणक स्थानों की उपासना करना पर्या है।

ये श्रमण के दश भेद हैं अथवा मुनि के योग्य दश विकल्प हैं, ऐसा समझना।

लोच का तो मूलगुणों में वर्णन कर दिया है तथा शरीरसंस्कारहीनता का अस्नान मूलगुण में व्याख्यान हो गया है अतः इन दोनों का यहाँ पर वर्णन नहीं करेंगे। अब यहाँ पर प्रति-लेखन का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—धूलि और पसीना को ग्रहण नहीं करना, मृदु होना, सुकुमार होना और लघु होना, जिसमें ये पांच गुण है उस प्रतिलेखन की गणधरदेव प्रशंसा करते हैं ॥ ९१२ ॥

आचारवृत्ति—मयूरपंखों की पिच्छिका का नाम प्रतिलेखन है। धूलि को ग्रहण नहीं करना एक गुण है, पसीना को ग्रहण नहीं करना दूसरा गुण है, चक्षु में फिराने पर भी पीड़ा नहीं करना अर्थात् मृदुता तीसरा गुण है, सुकुमारता चौथा गुण है अर्थात् यह देखने योग्य, सुन्दर ओर कोमल है, तथा उठाने में या किसी वस्तु को परिमार्जित करने आदि में

---

१. क० समापयित्वा।

यत्रैते पंचगुणा द्रव्ये सन्ति तत्प्रतिलेखनं मयूरपिच्छग्रहणं प्रशंसन्त्यभ्युपगच्छन्त्याचार्या गणधरदेवादय इति ॥९१२॥

ननु चक्षुषैव प्रमार्जनं क्रियते किमर्थं प्रतिलेखनधारणं, नैष दोषो न हि चक्षुः सर्वत्र प्रवर्त्तते यतः—

सुहुमा हु संति पाणा दुप्पेक्खा [1]अक्खिणो अगेज्झा हु ।
तह्मा जीवदयाए पडिलिहणं धारए भिक्खू ॥९१३॥

सूक्ष्माः सुष्ठु क्षुद्राः, हु—स्फुटं, सन्ति विद्यन्ते, प्राणा द्वीन्द्रियादय[2] एकेन्द्रियाश्च, दुःप्रेक्ष्या दुःखेन दृश्या मांसचक्षुषा चाग्राह्या मांसमयेक्षणेन ग्रहीतु न शक्या यत एव तस्मात्तेषां जीवानां दयानिमित्तं प्राणसंयम-प्रतिपालनार्थं प्रतिलेखनं धारयेन्मयूरपिच्छिकां[3] गृह्णीयाद्भिक्षुः साधुरिति ॥९१३॥

प्रतिलेखनमन्तरेण न साधुः —

उच्चारं पस्सवणं णिसि सुत्तो उट्ठिदो हु काऊण ।
अप्पडिलिहिय सुवंतो जीववहं कुणदि णियदं तु ॥९१४॥

उच्चारं पुरीषोत्सर्गं प्रस्रवणं मूत्रश्लेष्मादिकं च कृत्वा निशि रात्रौ प्रसुप्तो निद्राक्रान्त उत्थितश्चेतय-मानोऽपि चक्षुषोऽप्रसरेऽप्रतिलेख्य प्रतिलेखनमंतरेण पुनःस्वपन् गच्छन्नुद्वर्तनपरावर्तनानि च कुर्वन् जीववधं जीवानां वधं जीवघातनं परितापनादिकं च नियतं निश्चितं निश्चयेन करोति। निशि सुप्तः पुनरुत्थित उच्चारं प्रस्रवणं

हल्की है अतः इसमें लघुत्व है जो पाँचवाँ गुण है। जिस प्रतिलेखन में ये पाँच गुण पाये जाते हैं उस मयूरपंखों के प्रतिलेखन—पिच्छिका के ग्रहण करने की ही गणधरदेव आदि आचार्यगण प्रशंसा करते हैं और ऐसा प्रतिलेखन ही वे स्वीकार करते हैं।

चक्षु से भी तो प्रमार्जित किया जा सकता है तब पिच्छिका धारण करना किसलिए अनिवार्य है ? ऐसा नहीं कहना क्योंकि चक्षु सर्वत्र प्रवृत्ति नहीं करती है, सो ही बताते हैं—

गाथार्थ—बहुत से प्राणी सूक्ष्म होने से दिखते नहीं हैं क्योंकि वे चक्षु से भी ग्रहण नहीं किये जा सकते हैं। इसलिए जीवदया के लिए प्रतिलेखन धारण करे॥ ९१३ ॥

आचारवृत्ति—बहुत से द्वीन्द्रिय आदि जीव तथा एकेन्द्रिय जीव अत्यन्त सूक्ष्म होने से दिखाई नहीं देते हैं, चर्म चक्षु से ग्रहण नहीं किये जा सकते हैं। उन जीवों की दया हेतु व प्राणी संयम के पालन हेतु मुनिराज मयूरपंखों की पिच्छिका ग्रहण करें।

पिच्छिका के बिना वे साधु नहीं होते हैं—

गाथार्थ—जो रात में सोते से और उठकर मल-मूत्र विसर्जन करके प्रतिलेखन किये बिना सो जाता है वह साधु निश्चित ही जीववध करता है॥ ९१४ ॥

आचारवृत्ति—जो साधु रात्रि में सोते से जाग कर अँधेरे में पिच्छिका के अभाव में परिमार्जन किये बिना मल-मूत्र कफ आदि विसर्जन करके या करवट आदि बदलकर पुनः सो जाता है वह निश्चित ही जीवों को परितापन आदि पीड़ा पहुँचा देता है। अर्थात् रात्रि में

---

१. क० मंस चक्खुणोऽगेज्झा। २. क० द्वीन्द्रिया। ३. क० मयूरपिच्छं।

च कृत्वा पुनः स्वपन् प्रतिलेखनमंतरेण निश्चयेन जीवविघातादिकं च कुर्यादिति ॥९१४॥

ननु प्रतिलेखनेनाऽपि जीवानां पीडा भवतीति ततः किमुच्यते प्रतिलेखनधारणामित्याशंक्य प्रतिलेखनस्य कस्यापि सौकुमार्यमाह—

ण य होदि णयणपीडा अच्छि पि भमाडिदे दु पडिलेहे।
तो सुहुमादी लहुओ पडिलेहो होदि कायव्वो ॥९१५॥

न च भवति नयनपीडा चक्षुषो व्यथा अक्षिण नयनेऽपि भ्रामिते प्रवेशिते प्रतिलेखे मयूरपिच्छे, यतस्ततः सूक्ष्मत्वादियुक्तो लघुप्रमाणस्थः प्रतिलेखो भवति कर्तव्यो जीवदयानिमित्तमिति ॥९१५॥

प्रतिलेखनास्थानान्याह—

ठाणे चंकमणादाणे णिक्खेवे सयणआसण पयत्ते।
पडिलेहणेण पडिलेहिज्जइ लिंगं च होइ सपक्खे ॥९१६॥

स्थाने कायोत्सर्गे चंक्रमणे गमने आदाने कुंडिकादिग्रहणे निक्षेपे पुस्तकादीनां निक्षेपणे शयने आसने [1]उद्वर्तनपरावर्तनादौ संस्तरग्रहणे भुक्तोच्छिष्टप्रमार्जने च यत्नेन प्रतिलेखनेन प्रतिलिख्यते प्रमार्ज्यंते जीवानां रक्षा क्रियते यतो लिंगं च चिह्नं च स्वपक्षे भवति यतोऽयं वाताधिको न भवति संयतोऽयमिति लिंगं भवति

सोकर पुनः उठकर मल-मूत्रादि करके पुनः सोते हुए, पिच्छिका के बिना निश्चय से जीव का घात आदि होता है अतः साधु को पिच्छिका अवश्य ग्रहण करना चाहिए।

यदि प्रतिलेखन से भी जीवों को पीड़ा होती है तो प्रतिलेखन धारण करना क्यों कहा? ऐसी आशंका होने पर कौन-सा प्रतिलेखन सुकुमार होता है, सो ही बताते हैं—

गाथार्थ—प्रतिलेखन को नेत्र में फिराने पर भी नेत्रों में पीडा नहीं होती है। इसलिए सूक्ष्म आदि और हल्की पिच्छिका ग्रहण करना चाहिए ॥ ९१५ ॥

आचारवृत्ति—मयूर पिच्छ के प्रतिलेखन को आँखों में डालकर फिराने पर भी व्यथा नहीं होती है। इसलिए सूक्ष्मत्व आदि से युक्त लघु प्रमाण वाली ही पिच्छिका जीव-दया के लिए लेनी चाहिए।

प्रतिलेखन के स्थान को कहते हैं—

गाथार्थ—ठहरने में, चलने में, ग्रहण करने में, रखने में, सोने में, बैठने में साधु प्रतिलेखन से प्रयत्नपूर्वक परिमार्जन करते हैं क्योंकि यह उनके अपने (मुनि) पक्ष का चिह्न है ॥९१६॥

आचारवृत्ति—कायोत्सर्ग में, गमन करने में, कमंडलु आदि के ग्रहण करने में, पुस्तक आदि के रखने में, सोते समय संस्तर-चटाई, पाटा आदि के ग्रहण करने में, हाथ-पैर सिकोड़ने, या फैलाने में, करवट बदलने में, बैठने में, तथा आहार के अनन्तर उच्छिष्ट के परिमार्जन में, इत्यादि प्रसंगों में साधु पिच्छिका से सावधानी पूर्वक परिमार्जन करते हैं अर्थात् जीवों की रक्षा करते हैं क्योंकि यह अपने (दिगम्बर) आम्नाय का चिह्न है। इस मनुष्य को वातरोग नहीं है अर्थात् यह पागल नहीं है प्रत्युत संयत मुनि है, ऐसी पहचान इस पिच्छिका से होती है। इसलिए

---

१. क० उद्वर्तनपरावर्तने।

ततः प्रतिलेखनधारणं साधूक्तं युक्त्यागमाविरोधि[1] चेति। न च प्राणिघातयोगात्तेषामुत्पत्तिः कार्तिकमासे स्वत एव पतनात्, यथाहारस्य शुद्धिः क्रियते एवमुपकरणादिकस्यापि कार्येति ॥९१६॥

अनेन लिंगेन युक्तस्याचरणफलमाह—

पोसह उवहोपक्खे तह साहू जो करेदि णावाए।
णावाए कल्लाणं चादुम्मासेण णियमेण ॥९१७॥[2]

अनेन लिंगेन युक्तः सन् साधुर्यः करोति प्रोषधमुपवासमुभयपक्षयोः कृष्णचतुर्दश्यां शुक्लचतुर्दश्यां च, णावाए—नापाये तयोरविनाशे सति, णावाए—नयते प्राप्नोति, कल्याणं परमसुखं, चातुर्मासेन चातुर्मासिक-प्रतिक्रमणेन, नियमेन सांवत्सरिकप्रतिक्रमणेन च सह, नियमेन निश्चयेन वा। चातुर्मासिकोपवासेन सांवत्सरि-कोपवासेन च सह यः साधु कृष्णचतुर्दश्यां शुक्लचतुर्दश्यां चोपवासं करोति निन्तरममुंचन् स प्राप्नोति कल्याणं निश्चयेन। अथवा कृष्णपक्षे शुक्लपक्षे चोपवासं यः करोति साधुरपायमंतरेण स साधुश्चातुर्मासिकेन नियमेन कल्याणं प्रायश्चित्तं तथापि प्राप्नोत्यथवा न प्राप्नोतीति संबन्ध इति ॥९१७॥

पिच्छिका ग्रहण करना ठीक ही कहा गया है। यह युक्ति और आगम से अविरुद्ध चिह्न है।

इसकी उत्पत्ति प्राणियों के घात के योग से नहीं होती है, कार्तिक मास में स्वतः ही ये पंख गिर जाते हैं। अर्थात् कार्तिक मास में मोर के पंख स्वयं झड़ जाते हैं, वे जीवघात करके नहीं लाये जाते अत ये पंख सर्वथा निर्दोष हैं और अत्यन्त कोमल हैं। जिस प्रकार से आहार की शुद्धि की जाती है अर्थात् उद्गम, उत्पादन आदि दोषों से रहित आहार लिया जाता है उसी प्रकार से उपकरण आदि की भी शुद्धि करनी चाहिए।

इस चिह्न से युक्त मुनि के आचरण का फल कहते हैं—

गाथार्थ—जो साधु बिना अपाय-दोष के जैसे होवे वैसे दोनों पक्ष में प्रोषध करता है वह चातुर्मासिक प्रतिक्रमण के साथ कल्याण को प्राप्त कर लेता है ॥९१७॥

आचारवृत्ति—जो साधु इस पिच्छिका आदि लिंग से सहित होते हुए कृष्ण चतुर्दशी और शुक्ल चतुर्दशी में बिना व्यवधान के उपवास करते हैं और चातुर्मासिक तथा वार्षिक प्रतिक्रमण करते हैं अथवा निश्चय से चातुर्मास करते हैं वे परमसुख को प्राप्त कर लेते हैं। अर्थात् जो साधु चातुर्मासिक उपवास और सांवत्सरिक उपवास के साथ कृष्ण चतुर्दशी तथा शुक्ल चतुर्दशी को हमेशा उपवास करते हैं वे कल्याणरूप परमसुख के भागी होते हैं। अथवा जो साधु बिना बाधा के कृष्णपक्ष और शुक्ल पक्ष में उपवास करते हैं फिर भी वे चातुर्मासिक नियम से 'कल्याण' नामक प्रायश्चित को प्राप्त होते हैं अथवा नहीं भी प्राप्त होते हैं, ऐसा सम्बन्ध करना।

---

१. क० युक्त्यागमाविरोधाच्च।

२. फलटन से प्रकाशित मूलाचार में इसके पहले निम्नलिखित एक गाथा और मिलती है—

ठाणणिसिज्जागमणे जीवाणं हंति अप्पणो देहं।
दसकत्तरिठाणगदं णिपिच्छे णत्थि णिव्वाणं ॥"

अर्थात् जो मुनि अपने पास पिच्छिका नहीं रखता वह कायोत्सर्ग के समय, बैठने के समय, आने-जाने के समय अपनी देह की क्रिया से जीवों का घात करता है अतः उसे मुक्ति नहीं मिलती। (यहाँ 'दश कर्तरि' शब्द का अर्थ विचारणीय है। वैसे शास्त्र में मुनि के लिए बिना पिच्छिका के दश पग से अधिक गमन करने पर प्रायश्चित्त का विधान है।)

एवं पिंडादिकं शोधयतः सुचरित्रं भवति, यः पुनर्न शोधयेत्तस्य फलमाह—

पिंडोवधिसेज्जाओ अविसोधिय जो य भुंजदे समणो।
मूलट्ठाणं पत्तो भुवणेसु हवे समणपोल्लो ॥६१८॥

पिंडमुपधिं शय्यां चाहारोपकरणावासादिकमविशोध्य च शुद्धिमकृत्वा यो भुंक्ते सेवते श्रमणः स मूलस्थानं प्राप्तो गृहस्थः संजातः भुवने लोकमध्ये चासौ श्रामण्यतुच्छो यतित्वहीनो भवेदिति ॥६१८॥

तथा—

तस्स ण सुज्झइ चरियं तवसंजमणिच्चकालपरिहीणं।
आवासयं ण सुज्झइ चिरपव्वइयो वि जइ होइ ॥६१९॥

पिंडादिशुद्धिमन्तरेण यस्तपः करोति तस्य न शुध्यति चारित्रं तपःसंयमाभ्यां नित्यकालं परिहीणो यत आवश्यकक्रिया न तस्य शुद्धा। यद्यपि चिरप्रव्रजितो भवति तथापि किं तस्य चारित्रादिकं भवति यदि पिंडादिशुद्धिं न कुर्यादिति ॥६१९॥

पुनरपि चारित्रस्य प्राधान्यमाह—

मूलं छित्ता समणो जो[1] गिण्हादी य बाहिरं जोगं।
बाहिरजोगा सव्वे मूलविहूणस्स किं करिस्संति ॥६२०॥

इस प्रकार आहार, आदि की शुद्धि रखते हुए साधु सुचरित्रवान् होते हैं किन्तु जो शोधन नहीं करते हैं उन्हें मिलने वाले फल को बताते हैं—

गाथार्थ—जो श्रमण आहार, उपकरण और वसतिका को बिना शोधन किये ही ग्रहण करते हैं वे मूलस्थान प्रायश्चित को प्राप्त होते हैं और संसार में मुनिपने से हीन होते हैं ॥६१८॥

आचारवृत्ति—जो मुनि आहार, उपकरण, वसतिका आदि को बिना शोधन किये अर्थात् उद्गम-उत्पादन आदि दोषों से रहित न करके सेवन करते हैं वे मूलस्थान को प्राप्त करते हैं अर्थात् गृहस्थ हो जाते हैं और लोक में यतिपने से हीन माने जाते हैं।

उसी को और बताते हैं—

गाथार्थ—उनके तप और संयम से निरन्तर हीन चारित्र शुद्ध नहीं होता है इसलिए चिरकाल से दीक्षित हों तो भी उनके आवश्यक तक शुद्ध नहीं होते हैं ॥ ६१९ ॥

आचारवृत्ति—आहार आदि की शुद्धि के बिना जो तप करता है उसके चारित्र की शुद्धि नहीं होती है। चूंकि वह हमेशा ही तप और संयम से हीन है अतः उसके आवश्यक क्रियाएँ भी शुद्ध नहीं होतीं। चिरकाल से दीक्षित होने पर यदि पिण्ड आदि की भी शुद्धि न करे तो क्या उसके चारित्र आदि हो सकते हैं? अर्थात् नहीं हो सकते हैं।

पुनरपि चारित्र की प्रधानता को कहते हैं—

गाथार्थ—जो श्रमण मूल का घात करके बाह्य योग को ग्रहण करता है उस मूल गुणों से हीन के वे सभी बाह्य योग क्या करेंगे? ॥ ६२० ॥

---

१. क० गेण्हदि य।

मूलगुणानहिंसादिव्रतानि छित्वा विनाश्य श्रमणः साधुर्यो गृह्णाति च बाह्यं योगं वृक्षमूलादिकं तस्य साधोर्बाह्या योगाः सर्वे मूलविहीनस्य मूलगुणरहितस्य किं करिष्यन्ति यावता हि न किंचिदपि कुर्वन्ति नापि कर्मक्षयं करिष्यन्तीति ॥९२०॥

तावदहिंसादिव्रतं विनाश्य यः करोत्युत्तरगुणं तस्य दोषमाह—

हंतूण य बहुपाणं अप्पाणं जो करेदि सप्पाणं।
अप्पासुअसुहकंखी मोक्खकंखी ण सो समणो ॥९२१॥

बहुप्राणान् हत्वा बहून् जीवान् त्रसस्थावरादीन् हत्वाऽधःकर्मादिभिरात्मानं यः करोति सप्राणं सावद्याहारं भुक्त्वाऽऽत्मनो बलोपचयं यः कुर्यात्सः साधुरप्रासुकसुखकांक्षी येन सुखेन नरकादीन् भ्रमति तदीहतेऽसौ मोक्षकांक्षी नासौ श्रमणः—सर्वकर्मक्षयविमुक्ति नेच्छतीति ॥९२१॥

दृष्टान्तेन दोषमाह—

एक्को वावि तयो वा सीहो वग्घो मयो व खाविज्जो।
जदि खादेज्ज स णीचो जीवयरासिं णिहंतूण ॥९२२॥

एक्को वावि—एकं वाऽपि मृगं शशकं वा, तयो वा—त्रीन् वा, द्वौ चतुरो वा मृगान् सिंहो मृगारिव्याघ्रः शार्दूलो वा समुच्चयार्थः तेनान्योऽपि गृह्यते शरभादिः। खादेज्ज—खादयेद् यदि भक्षयेत् स नीचोऽधमः पापिष्ठो जीवराशिं निहत्य। यदि एकं द्वौ त्रीन् वा जीवान् सिंहो व्याघ्रो वा खादयेत् स नीच इत्युच्यते

आचारवृत्ति—जो साधु अहिंसा आदि व्रतरूप मूलगुणों की हानि करके वृक्षमूल, आतापन आदि बाह्य योगों को धारण करता है, मूलगुण रहित उस साधु के वे सभी बाह्य योगों के अनुष्ठान क्या कर सकेंगे? अर्थात् वे कुछ भी नहीं कर सकते हैं। तात्पर्य यही है कि मूलगुण की हानि करने वाले साधु के वे उत्तरगुण कर्मक्षय नहीं कर सकते हैं।

जो अहिंसाव्रत का विनाश करके उत्तरगुण पालता है पहले उसके दोष बतलाते हैं—

गाथार्थ—जो बहुत से प्राणियों का घात करके अपने प्राणों की रक्षा करता है, अप्रासुक में सुख का इच्छुक वह श्रमण मोक्ष सुख का इच्छुक नहीं है ॥ ९२१ ॥

आचारवृत्ति—जो अधःकर्म आदि के द्वारा बहुत से त्रस-स्थावर आदि जीवों का घात करके अपने शारीरिक बल के लिए सावद्य आहार को ग्रहण करते हैं वे साधु अप्रासुक सुख अर्थात् जिस सुख से नरक आदि गतियों में भ्रमण करना पड़ता है ऐसे सावद्य सुख की इच्छा करते हैं अतः वे श्रमण सर्वकर्मक्षयरूप मोक्ष को नहीं चाहते हैं, ऐसा समझना।

दृष्टान्त द्वारा उसके दोष बताते हैं—

गाथार्थ—सिंह अथवा व्याघ्र एक, दो या तीन मृग को खावे तो हिंस्र है और यदि साधु जीव राशि का घात करके आहार लेवे तो वह नीच है ॥ ९२२ ॥

आचारवृत्ति—कोई सिंह अथवा व्याघ्र या अन्य कोई हिंस्र प्राणी एक अथवा दो या तीन अथवा चार मृगों का भक्षण करते हैं तो वे हिंस्र पापी कहलाते हैं। तब फिर जो

यः पुनरधःकर्मणो जीवराशिं निहत्य खादयेत् स कथं न नीचः किन्तु नीच एवेति भावार्थः ॥९२२॥

येन प्राणिवधः कृतस्तेनात्मवधः कृत इति प्रतिपादयन्नाह—

आरंभे पाणिवहो पाणिवहे होदि अप्पणो हु वहो ।
अप्पा ण हु हंतव्वो पाणिवहो तेण मोत्तव्वो ॥९२३॥

आरंभे पचनादिकर्मणि सति प्राणिवधः स्यात्प्राणिवधश्च भवत्यात्मवधः स्फुटं नरकतिर्यग्गति-दुःखानुभवनं, आत्मा च न हंतव्यो यतोऽतः प्राणिवधस्तेन मोक्तव्यस्त्याज्य इति ॥९२३॥

पुनरप्यधःकर्मणि दोषमाहोत्तरेण ग्रन्थप्रबन्धेन—

जो ठाणमोणवीरासणेहिं अत्थदि चउत्थछट्ठेहिं ।
भुंजदि आधाकम्मं सव्वे वि णिरत्थया जोगा ॥९२४॥

यः पुनः स्थानमौनवीरासनैश्चतुर्थषष्ठादिभिश्चास्ते अधःकर्मपरिणतं च भुंक्ते तस्य सर्वेऽपि निरर्थका योगा उत्तरगुणा इति ॥९२४॥

तथा—

अधःकर्म के द्वारा तमाम जीव समूह को नष्ट करके आहार लेते हैं वे नीच—अधम क्यों नहीं हैं ? अर्थात् नीच ही हैं।

जिसने प्राणियों का वध किया है उसने अपना ही वध किया है। ऐसा प्रतिपादन करते हैं—

गाथार्थ—आरम्भ में प्राणियों का घात है और प्राणियों के घात में निश्चय से आत्मा का घात होता है। आत्मा का घात नही करना चाहिए इसलिए प्राणियों की हिंसा छोड़ देना चाहिए ॥ ९२३ ॥

आचारवृत्ति—पकाने आदि क्रियाओं के आरम्भ में जीवों का घात होता है और उस से आत्मा का घात होता है अर्थात् निश्चित ही नरक-तिर्यंच गति के दुख भोगना पड़ते हैं। और, आत्मा का घात करना ठीक नहीं है अतएव प्राणियों की हिंसा का त्याग कर देना चाहिए।

पुनरपि इस गाथा से अधःकर्म में दोष बताते हैं—

गाथार्थ—जो कायोत्सर्ग मे, मौन से, वीरासन से उपवास और बेला आदि से रहते हैं तथा अधःकर्म से बना आहार लेते हैं उनके सभी योग निरर्थक हैं ॥ ९२४ ॥

आचारवृत्ति—जो मुनि कायोत्सर्ग करते हैं, मौन धारण करते हैं, वीरासन आदि नाना प्रकार के आसन से कायक्लेश करते हैं, उपवास बेला, तेला आदि करते हैं किन्तु अधः-कर्म से निर्मित आहार ग्रहण कर लेते हैं उनके वे सभी योग अनुष्ठान और उत्तरगुण व्यर्थ ही हैं।

उसी प्रकार से और भी बताते है—

किं काहदि वणवासो सुण्णागारो य रुक्खमूलो वा।
भुंजदि आधाकम्मं सव्वे वि णिरत्थया जोगा ॥९२५॥

तथा—

किं तस्स ठाणमोणं किं काहदि अब्भोवगासमादावो।
मेत्तिविहूणो समणो सिज्झदि ण हु सिद्धिकंखो वि ॥९२६॥

किं करिष्यति तस्य वनवासः किं वा शून्यागारवासो वृक्षमूलवासो वा भुंक्ते चेदधःकर्म तत्र सर्वेऽपि निरर्थका योगा इति ।॥९२५॥

किं तस्य स्थानं कायोत्सर्गः मौनं वा किं तस्य करिष्यति अभ्रावकाश आतापो वा यो मैत्रीभाव-रहितः श्रमणः सिद्धिकांक्षोऽपि नैव स्फुटं सिध्यतीति ॥९२६॥

तथा—

जह वोसरित्तु कत्तिं विसं ण वोसरदि दारुणो सप्पो।
तह को वि मंदसमणो पंच दु सूणा ण वोसरदि ॥९२७॥

यथा सर्पो रौद्रः कृत्तिं कंचुकं व्युत्सृज्य विषं न त्यजति तथा कश्चिन्मंदः श्रमणः चारित्रालसः पंच-शूना न व्युत्सृजति भोजनादिलोभेनेति ॥९२७॥

कास्ताः पंचशूना इत्याशंकायामाह—

गाथार्थ—जो अधःकर्म युक्त आहार लेते हैं उनका वन में रहना, शून्य स्थान में रहना, अथवा वृक्ष के नीचे ध्यान करना क्या करेगा ? उनके सभी योग निरर्थक हैं ॥९२५॥

उसके कायोत्सर्ग और मौन क्या करेंगे ? क्योंकि मैत्रीभाव से रहित वह श्रमण मुक्ति का इच्छुक होते हुए भी मुक्त नहीं होगा ॥९२६॥

आचारवृत्ति—जो साधु अधःकर्म से बने हुए आहार ले लेते हैं उनका वन में निवास, शून्य मकानों में आवास अथवा वृक्ष के मूल में निवास क्या करेगा ? अर्थात् उनके सभी योग व्यर्थ ही हैं। उनका कायोत्सर्ग, अथवा मौन क्या करेगा ? अभ्रावकाश योग अथवा आतापन योग भी क्या करेगा ? जो श्रमण मैत्रीभाव-प्राणिदया से रहित हैं वे सिद्धि के इच्छुक होते हुए भी सिद्ध नहीं हो सकते, यह अभिप्राय है ।

उसी बात को और बताते हैं—

गाथार्थ—जिस प्रकार क्रूर सर्प कांचली को छोड़कर के भी विष को नहीं त्यागता है, उसी प्रकार मन्द चारित्रवाला श्रमण पंचसूना को नहीं छोड़ता है ॥९२७॥

आचारवृत्ति—जैसे रौद्र सर्प कांचली को छोड़कर भी विष नही त्यागता है वैसे ही चारित्र में आलसी श्रमण भोजन आदि के लोभ से पंचसूना को नहीं छोड़ता है ।

वे पंचसूना क्या हैं, ऐसी आशंका होने पर कहते हैं—

कंडणी पीसणी चुल्ली उदकुंभं पमज्जणी।
बीहेदव्वं णिच्चं ताहिं जीवरासी से मरदि ॥९२८॥

यवादयः कंड्यंतेऽनया कंडनी उदूखलः, पिष्यंते यवादयोऽनया पेषणी यंत्रकं, चुल्ली अग्न्यधिकरणं, उदकुंभः वृहद्गलिजरादिकं, प्रमार्ज्यतेऽनया प्रमार्जिनी अपस्करनिराकरिणी। एताभ्यो भेतव्यं नित्यं जीवराशिर्यतस्ताभ्यो म्रियते ॥९२८॥

पुनरपि विशेषतोऽधःकर्मणि दोषमाह—

जो भुंजदि आधाकम्मं छज्जीवाणं घायणं किच्चा।
अबुहो लोल सजिब्भो ण वि समणो सावओ होज्ज ॥९२९॥

यो भुंक्तेऽधःकर्म षड्जीवानां घातनं कृत्वा अबुधोऽसौ लोलो लंपटः सजिह्वो जिह्वावशं गतः नापि श्रमणः किं तु श्रावकः स्यात्। अथवा न श्रमणो नापि श्रावकः स्यात् उभयधर्मरहितत्वादिति ॥९२९॥

तथा—

पयणं व पायणं वा अणुमणचित्तो ण तत्थ बीहेदि।
जेमंतो वि सघादी ण वि समणो दिट्ठिसंपण्णो ॥९३०॥

ण हु तस्स इमो लोओ ण वि परलोओ उत्तमट्ठभट्ठस्स।
लिंगग्गहणं तस्स दु णिरत्थयं संजमेण हीणस्स ॥९३१॥

गाथार्थ—खंडनी, चक्की, चूल्हा, पानी भरना, और बुहारी ये पाँच सूना हैं। हमेशा ही इनसे डरना चाहिए क्योंकि इनसे जीवसमूह मरते हैं ॥९२८॥

आचारवृत्ति—जिससे जौ आदि कूटे जाते हैं वह खंडनी अर्थात् मूसल है। जिससे जौ आदि पीसे जाते हैं वह पेषणी अर्थात् चक्की कही जाती है, जो अग्नि का आधार है वह चूल्हा कहा जाता है। जिसमें पानी रखते है ऐसे मटके, कलश आदि उदकुम्भ कहलाते हैं और जिसके द्वारा बुहारा जाता है वह कचरे को दूर करने वाली प्रमार्जनी-बुहारी कहलाती है। इनसे हमेशा जीवसमूह का घात होता है अतः इनसे बचना चाहिए।

पुनरपि विशेष रीति से अधःकर्म के दोष बताते हैं—

गाथार्थ—जो षट्काय के जीवों का घात करके अधःकर्म से बना आहार लेता है वह अज्ञानी लोभी जिह्वेन्द्रिय का वशीभूत श्रमण नहीं रह जाता, वह तो श्रावक हो जाता है ॥९२९॥

आचारवृत्ति—जो छह जीव निकायों का घात करके अधःकर्म से बने हुए आहार को लेता है वह अज्ञानी लंपट जिह्वा के वशीभूत है। वह श्रमण नहीं रहता है बल्कि श्रावक हो जाता है। अथवा, वह न श्रमण है न ही श्रावक है, वह उभय के धर्म से रहित होता है।

और भी बताते हैं—

गाथार्थ—जो पकाने या पकवाने में अथवा अनुमोदना में अपने मन को लगाता है उनसे डरता नहीं है वह आहार करते हुए भी स्वघाती है, सम्यक्त्व सहित श्रमण नहीं है। उस उत्तमार्थ से भ्रष्ट के यह लोक भी नहीं है और परलोक भी नहीं है। संयम से हीन उस का मुनि वेष ग्रहण करना व्यर्थ है ॥ ९३०-९३१ ॥

पचने वा पाचने[1] वाऽनुमननमचित्तः कंडन्याद्युपकरणेनाधःकर्मणि प्रवृत्तोऽनुमतिकुशलश्च न च तस्मात्पचनादिकाद्बिभेति भुंजानोऽपि स्वघाती नापि श्रमणो न च दृष्टिसंपन्नो विपरीताचरणादिति ॥६३०॥

तथा—

नैव तस्येह लोको नाऽपि परलोक उत्तमार्थाच्चारित्राद् भ्रष्टस्य, लिंगग्रहणं तु तस्य निरर्थकं संयमेन हीनस्येति ॥६३१॥

तथा—

पायच्छित्तं आलोयणं च काऊण गुरुसयासह्मि।
तं चेव पुणो भुंजदि आधाकम्मं असुहकम्मं ॥६३२॥

जो जत्थ जहा लद्धं गेण्हदि आहारमुवधिमादीयं।
समणगुणमुक्कजोगी संसारपवड्ढओ होइ ॥६३३॥

पयणं पायणमणुमणणं सेवंतो ण वि संजदो होदि।
जेमंतो वि य जह्मा ण वि समणो संजमो णत्थि ॥६३४॥

कश्चित्साधुः प्रायश्चित्तं दोषनिर्हरणं आलोचनं च दोषप्रकटनं च कृत्वा गुरुसकाशे गुरुसमीपे पुनरपि तदेव भुंक्तेऽधःकर्माशुभकर्म। यदर्थं प्रायश्चित्तादिकं कृतं तदेव भुंक्ते यस्तस्यापि नेह लोको नापि

आचारवृत्ति—जो कूटन्य पीसना आदि क्रियाओंद्वारा अधःकर्म में प्रवृत्त होकर भोजन स्वयं बनाता है या बनवाता है अथवा अनुमति देता है, तथा भोजन पकाना आदि क्रियाओं से भयभीत नहीं होता है वह उस आहार को लेता हुआ आत्मघाती है। वह न तो श्रमण है और न सम्यक्त्व सहित ही है बल्कि विपरीत आचरण करनेवाला है। वह उत्तम चारित्र से भ्रष्ट है अतः उसके न इहलोक है और न परलोक ही है किन्तु संयम से च्युत हुए उस मुनि का निर्ग्रन्थ लिंग ग्रहण करना व्यर्थ ही है।

उसी बात को और स्पष्ट करते हैं—

गाथार्थ—जो गुरु के पास आलोचना और प्रायश्चित्त करके पुनः वही अशुभ क्रिया-रूप अधःकर्म युक्त आहार करता है उसका इहलोक और परलोक नहीं है।

जो जहाँ जैसा भी मिला वहाँ वैसा ही आहार, उपकरण आदि ग्रहण कर लेता है वह मुनि के गुणों से रहित हुआ संसार को बढ़ाने वाला है।

पकाना, पकवाना, और अनुमति देना—ऐसा करता हुआ वह संयत नहीं है। वैसा आहार लेता हुआ भी उस कारण से वह श्रमण नहीं है और न संयमी ही है॥ ६३२, ६३३-६३४॥

आचारवृत्ति—कोई साधु अपने दोषों को प्रकट करने रूप आलोचना को और दोषों को दूर करने रूप प्रायश्चित्त को भी गुरु के पास में ग्रहण करके पुनः यदि उस अधःकर्म रूप

---

१. क० पचने पाचने वा।

परलोक इति ॥९३२॥

तथा—

यः साधुर्यत्र देशे शुद्धेऽशुद्धे वा यथालब्धं शुद्धमशुद्धं वा गृह्णाति आहारमुपधिकादिकं च यः श्रमण-गुणमुक्तयोगी स तु संसारप्रवर्धको भवतीति ॥९३३॥

तथा—

पचनं पाचनमनुमननं च सेवमानो न संयतो भवति, तस्माद्भुञ्जानोऽपि च पुनर्न श्रमणो नापि संयमस्तत्रेति ॥९३४॥

बहुश्रुतमपि चारित्रहीनस्य निरर्थकमिति प्रतिपादयन्नाह—

बहुगं पि सुदमधीदं किं काहदि अजाणमाणस्स ।
दीवविसेसो अंधे णाणविसेसो वि तह तस्स ॥९३५॥

बह्वपि श्रुतमधीतं किं करिष्यत्यजानतश्चारित्रमनाचरत उपयोगरहितस्य। यथा प्रदीपविशेषोऽन्धे लोचनरहिते न किंचित्करोति तथा ज्ञानविशेषोऽपि चारित्ररहितस्य न किंचित्करोतीति ॥९३५॥

परिणामवशेन [1]शुद्धिमाह—

आधाकम्मपरिणदो फासुगदव्वे वि बंधगो भणिदो ।
सुद्धं गवेसमाणो आधाकम्मे वि सो सुद्धो ॥९३६॥

अशुभ आहार को लेता है अर्थात् जिसके लिए प्रायश्चित्त आदि किया है उसी दोष को पुनः करता है तो उसके इहलोक और परलोक दोनों ही नष्ट हो जाते हैं।

जो साधु किसी भी शुद्ध अथवा अशुद्ध देश में जैसा भी शुद्ध या अशुद्ध आहार मिला या जैसे भी निर्दोष अथवा सदोष उपकरण आदि मिलें उन्हें ग्रहण कर लेता है वह श्रमण के गुणों से रहित होने से संसार को बढ़ानेवाला ही होता है।

जो भोजन बनाने, बनवाने और अनुमोदना करनेरूप कृत-कारित-अनुमति से युक्त है वह संयत नहीं है। वैसा आहार करने से वह श्रमण नहीं कहला सकता है, क्योंकि उसमें संयम नहीं है।

चारित्र से हीन मुनि का बहुत श्रुतज्ञान भी निरर्थक है, ऐसा कहते हैं—

गाथार्थ—आचरण हीन का बहुत भी पढ़ा हुआ श्रुत क्या करेगा? जैसे अन्धे के लिए दीपक विशेष है वैसे ही उसके लिए ज्ञान विशेष है अर्थात् व्यर्थ ही है ॥ ९३५ ॥

आचारवृत्ति—चारित्र का आचरण नहीं करनेवाले उपयोग से रहित मुनि का पढ़ा गया बहुत-सा श्रुत भी क्या करेगा? जैसे नेत्रहीन मनुष्य के लिए दीपक कुछ भी नहीं करता है वैसे ही चारित्र से हीन मुनि के लिए ज्ञान विशेष भी कुछ नहीं कर सकता है।

परिणाम के निमित्त से शुद्धि होती है ऐसा कहते हैं—

गाथार्थ—अधःकर्म से परिणत हुआ साधु प्रासुकद्रव्य के ग्रहण करने पर भी बन्धक कहा गया है और शुद्ध को खोजनेवाला मुनि अधःकर्म से युक्त आहार के लेने पर भी शुद्ध है ॥९३६॥

---

1. क० शुद्धिमशुद्धिं चाह क।

प्रासुकद्रव्ये [1]सत्यपि योऽधःकर्मपरिणतः स बंधको भणित आगमे। यदि पुनः शुद्धं मृगयमाणोऽधःकर्मण्यप्यसौ शुद्धः परिणामशुद्धेरिति ।।६३६।।

तथा—

भावुग्गमो य दुविहो पसत्थपरिणाम अप्पसत्थोत्ति।
सुद्धे असुद्धभावो होदि [2]उवट्ठावणं पायच्छित्तं ।।६३७।।

भावोद्गमश्च भावदोषश्च द्विप्रकारः प्रशस्तपरिणाम अप्रशस्तपरिणामश्च, तत्र शुद्धे वस्तुनि यद्यशुद्धभावं करोति तत्रोपस्थापनप्रायश्चित्त भवतीति ।।६३७।।

तस्मात्—

फासुगदाणं फासुगउवधिं तह दो वि अत्तसोधीए।
जो देदि जो य गिण्हदि दोण्हं पि महप्फलं होई ।।६३८।।

यत एवं विशुद्धभावेन कर्मक्षयस्ततः प्रासुकदानं निरवद्यभैक्ष्यं प्रासुकोपधिं हिंसादिदोषरहितोपकरणं च द्वयमपि तथात्मशुद्ध्या विशुद्धपरिणामेन यो ददाति यश्च गृह्णाति तयोर्द्वयोरपि महत्फलं भवति, यत्किंचिद्-

---

आचारवृत्ति—प्रासुक द्रव्य के होने पर भी जो साधु अधःकर्म के भाव से परिणत है वह बन्ध को करने वाला हो जाता है, ऐसा आगम में कहा है। यदि पुनः शुद्ध आहार का अन्वेषण करते-करते भी अधःकर्म से युक्त आहार मिल गया तो भी वह शुद्ध है क्योंकि उसके परिणाम शुद्ध हैं। अर्थात् उद्गम आदि दोषों से रहित आहार की खोज में भी मिला अधःकर्म से युक्त सदोष आहार, यदि उसे मालूम नहीं है तो निर्दोष है। और यदि आहार निर्दोष है तथापि उसने उसे उद्गम आदि दोषों से युक्त सदोष समझकर ग्रहण किया है तो वह कर्म बन्ध को करने वाला ही है।

उसी बात को स्पष्ट करते हैं—

गाथार्थ—भावदोष दो प्रकार के हैं, एक प्रशस्त परिणाम रूप और दूसरा अप्रशस्त परिणाम रूप। शुद्ध में अशुद्धभाव करता हुआ उपस्थापन प्रायश्चित्त प्राप्त होता है ।।६३७।।

आचारवृत्ति—भावोद्गम—भावदोष के दो भेद हैं—प्रशस्त परिणाम और अप्रशस्त परिणाम। उनमें से यदि शुद्ध वस्तु में अशुद्ध भाव करता है तो उसे उपस्थापन नाम का प्रायश्चित्त होता है।

इसलिए कहते हैं—

गाथार्थ—जो प्रासुक दान या प्रासुक उपकरण या दोनों को भी आत्म शुद्धि से देता है और ग्रहण करता है उन दोनों को ही महाफल होता है ।।६३८।।

आचारवृत्ति—इस तरह विशुद्ध भावों से कर्मों का क्षय होता है इसलिए जो निर्दोष आहार या हिंसादिदोष रहित—निर्दोष उपकरण या दोनों भी विशुद्ध परिणामों से मुनि को देता है और जो मुनि ऐसे निर्दोष आहार, उपकरण आदि ग्रहण करता है उन दोनों को ही

---

१. क० प्रासुके द्रव्येऽपि क। २. क० उपट्ठाण-।

आहारादिकं शोभनं निरवद्यं वातपित्तश्लेष्मोपशमनकारणं सर्वरसोपेतं तन्मया प्रतिग्रहादिपूर्वकं श्रद्धादिगुण-समन्वितं दातव्यमिति तद्दातृत्वशुद्धिः, मया सर्वोऽप्याहारादिविधिस्त्याज्यः किमनेन शोभनाहारेण गृहीतेन यत्किंचित्प्रासुकं गृहीत्वा कुक्षिपूरणं कर्त्तव्यमिति परिणामः पात्रस्यात्मशुद्धिरिति ॥८३८॥

किमर्थं चर्याशुद्धिः प्रपंचेनाख्यायत इत्याशंकायामाह—

जोगेसु मूलजोगं भिक्खाचरियं च वण्णियं सुत्ते।
अण्णे य पुणो जोगा विण्णाणविहीणएहिं कया ॥९३९॥

सर्वेषु मूलगुणेषूत्तरगुणेषु मध्ये मूलयोगः प्रधानव्रतं भिक्षाचर्या कृतकारितानुमतिरहितं प्रासुकं काले प्राप्तं भोजनं वर्णिता व्याख्याता सूत्रे प्रवचने, तस्मात्तां भिक्षाशुद्धिं परित्यज्यान्यान् योगानुपवासत्रि-कालयोगादिकान् ये कुर्वन्ति तैस्तेऽन्ये योगा विज्ञानविरहितैस्तैश्चारित्रविहीनैः पुनः कृता न परमार्थं जानद्भि-रिति चर्याशुद्ध्या स्तोकमपि क्रियते यत्तपस्तच्छोभनमिति ॥९३९॥

तथा—

कल्लं कल्लं पि वरं आहारो परिमिदो पसत्थो य।
ण य खमण पारणाओ बहवो बहुसो बहुविधो य ॥९४०॥

महान् फल मिलता है। जो कुछ भी, आहार आदि प्रशस्त और निर्दोष हैं, वात, पित्त, कफ आदि दोषों को शान्त करनेवाले हैं, सर्वरसों से युक्त हैं ऐसे आहार आदि गुरुओं को पड़गाहन आदि करके नवधा भक्तिपूर्वक, श्रद्धा आदि सात गुणों से युक्त होकर मेरे द्वारा दिये जाने चाहिए, यह दाता की शुद्धि है। तथा सभी आहारादि विधि त्याज्य ही है, मुझे इस शोभन आहार के ग्रहण करने से क्या प्रयोजन है? यत् किंचित्मात्र भी प्रासुक आहार ग्रहण करके उदर भरना चाहिए ऐसा परिणाम होना, पात्र की आत्मशुद्धि है।

आपने चर्याशुद्धि का विस्तार से व्याख्यान क्यों किया है, ऐसी आशंका होने पर कहते हैं—

गाथार्थ—आगम में योगों में मूलयोग भिक्षा चर्या ही कही गयी है किन्तु इससे अन्य योगों को विज्ञान से हीन मुनियों ने ही किया है ॥९३९॥

आचारवृत्ति—सम्पूर्ण मूल गुणों में और उत्तर गुणों में मूलयोग—प्रधानव्रत भिक्षाशुद्धि है जिसका वर्णन कृत-कारित-अनुमोदना रहित प्रासुक भोजन की समय पर उपलब्धि के रूप में जिन प्रवचन में किया गया है। अतः भिक्षाशुद्धि को छोड़कर उपवास, त्रिकाल योग अनुष्ठान आदि अन्य योगों को वे ही करते हैं जो विज्ञान अर्थात् चारित्र से रहित हैं और परमार्थ को नहीं जानते हैं। तात्पर्य यही है कि आहार की शुद्धिपूर्वक जो थोड़ा भी तप किया जाता है वह शोभन है।

उसी बात को और भी कहते हैं—

गाथार्थ—परिमित और प्रशस्त आहार प्रतिदिन भी लेना श्रेष्ठ है किन्तु चर्या-शुद्धि रहित अनेक उपवास करके अनेक प्रकार की पारणाएँ श्रेष्ठ नहीं हैं ॥ ९४० ॥

कल्लं कल्लं श्वस्तनदिने दिने वरं श्रेष्ठमाहारो भोजनं परिमितः प्रमाणस्थः वातपित्तश्लेष्मविकाराहेतुकः प्रशस्तोऽधःकर्मादिदोषरहितः न च क्षमणादीनि उपवासाः पारणा भोजनदिनानि बहूव्यः षष्ठाष्टमदशमद्वादशमासार्द्धमासादिदिनानि बहुशो बहुवारान् बहुविधश्च बहुप्रकारश्च बहुसावद्ययोगयुक्तो महारंभनिष्पन्नो दातृजनसंक्लेशोत्पादको य आहारस्तेन यदि महत्तपः क्रियते न तत्तपो महद् भवति बह्वारंभादिति ॥६४०॥

कस्तर्हि शुद्धयोग इत्याशंकायामाह—

मरणभयभीरुआणं अभयं जो देदि सव्वजीवाणं।
तं दाणाण वि दाणं तं पुण जोगेसु मूलजोगं पि ॥६४१॥

मरणाद्यद्भयं तस्माद्भीतेभ्योऽभयं यो ददाति सर्वसत्त्वेभ्यस्तद्दानानामपि दानं सर्वेषां दानानां मध्ये तद्दानं तत्पुनर्योगेषु अपि मूलयोगः प्रधानानुष्ठानं यदभयदानमिति ॥६४१॥

गुणस्थानापेक्षया चारित्रस्य माहात्म्यमाह—

सम्मादिट्ठिस्स वि अविरदस्स ण तवो महागुणो होदि।
होदि हु हत्थिण्हाणं चुंदच्छिदकम्म तं तस्स ॥६४२॥

तिष्ठतु तावन्मिथ्यादृष्टिः सम्यग्दृष्टेरप्यविरतस्यासंयतस्य न तपो महागुणः। अयं गुणशब्दोऽनेकार्थे

आचारवृत्ति—प्रमाण सहित, वात-पित्त-कफ आदि विकार में अहेतुक और अधःकर्म आदि दोषों से रहित प्रशस्त आहार अगले-अगले दिन—प्रतिदिन भी लेना श्रेष्ठ है किन्तु बेला, तेला, चार उपवास, पाँच उपवास, एक मास या पन्द्रह दिन आदि के उपवास करके पारणा के दिन बहुत सावद्ययोग से युक्त, महान् आरम्भ से निष्पन्न और दाता को संक्लेश उत्पन्न करने वाला आहार लेना युक्त नहीं है। ऐसी सदोषी पारणा करके यदि महान् तप किया जाता है तो वह तप श्रेष्ठ नहीं कहलाता है क्योंकि उसमें बहुत-सा आरम्भ किया जाता है।

तो फिर शुद्धयोग क्या है ? ऐसी आशंका होने पर कहते हैं—

गाथार्थ—जो मुनि मरण के भय से भीरु सभी जीवों को अभयदान देता है उसका अभयदान सर्वदानों में श्रेष्ठ है और सभी योगों में प्रधान योग है ॥६४१॥

आचारवृत्ति—मरण का भय सबसे बड़ा भय है। जो मुनिराज मरण के भय से भीत सभी जीवों को अभयदान देता है अर्थात् सब जीवों की रक्षा करता है उसका दान सभी दानों में श्रेष्ठ है और सब योगों में प्रधान योग भी है। अर्थात् सर्व दानों में और सर्व अनुष्ठानों में अभयदान ही महान् है।

गुणस्थान की अपेक्षा से चारित्र का माहात्म्य कहते हैं—

गाथार्थ—व्रत रहित सम्यग्दृष्टि का भी तप महागुणकारी नहीं है क्योंकि वह हाथी के स्नान के समान और लकड़ी में छिद्र करनेवाले वर्मा के समान होता है ॥ ६४२ ॥

आचारवृत्ति—मिथ्यादृष्टि की तो बात ही छोड़िए, सम्यग्दृष्टि भी यदि संयम रहित है, असंयमी है तो उसका तप भी महागुणकारी नहीं होता। गुण शब्द के अनेक अर्थ हैं, इसके कुछ दृष्टान्त प्रस्तुत हैं :—

वर्त्तते, तद्यथा—रूपादयो गुणा रूपरसगंधस्पर्शसंख्यापृथक्त्वपरिणामादीनि गुणशब्देनोच्यन्ते, तथा गुणभूता वयमत्र नगरे इत्यत्राप्रधानवाची गुणशब्दस्तथा यस्य गुणस्य भावादिति विशेषणे वर्त्तते तथा गुणोऽनेन कृत इत्यत्रोपकारे वर्त्तते इहोपकारे वर्त्तमानो गृह्यते। तेन तपो महोपकारं भवति। कर्मनिर्मूलनं कर्त्तुमसमर्थं तपोऽसंयतस्य सम्यग्दर्शनान्वितस्यापि कुतो यस्माद् भवति हस्तिस्नानम्। हु शब्द एवकारार्थः स च हस्तिस्नानेनाभिसंबन्धनीयो हस्तिस्नानमेवेति। यथा हस्ती स्नातोऽपि न नैर्मल्यं वहति पुनरपि करेणार्जितपांशुपटलेनात्मानं मलिनयति तद्वत्तपसा निर्जीर्णेऽपि कर्मांशे बहुतरादानं कर्मणोऽसंयममुखेनेति। दृष्टान्तान्तरमप्याचष्टे—चुंदच्छिदकर्म चुंदं काष्ठं छिनत्तीति चुंदच्छिद्रज्जुस्तस्याः कर्म क्रिया, यथा चुंदच्छिद्रज्जोरुद्वेष्टनं वेष्टनं च भवति तद्वत्तस्यासंयतस्य तत्तपः अथवा चुंदच्छुदगं व—चुंदच्युतकमिव मंथनचर्मपालिकेव तत्संयमहीनं तपः। दृष्टान्तद्वयोपन्यासः किमर्थं इति चेन्नैष दोषः, अपगतात्मकर्मणो बहुतरोपादानमसंयमनिमित्तस्येति प्रदर्शनाय हस्तिस्नानोपन्यासः, आर्द्रतनुतया हि बहुतरमुपादत्ते रजः, बंधरहिता निर्जरा स्वास्थ्यं प्रापयति नेतरा बंधसह-

---

रुपादयो गुणाः इस सूत्र में रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, पृथक्त्व और परिमाण आदि गुण शब्द से कहे जाते हैं। 'गुणभूता वयमत्र नगरे' अर्थात् इस नगर में हम गौण हैं—यहाँ पर अप्रधानवाची गुण शब्द है। 'यस्य गुणस्य भावात्' यहाँ पर विशेषण अर्थ में गुण शब्द है। इसी प्रकार 'गुणोऽनेन कृतः' इसने उपकार किया है—यहाँ पर गुण शब्द उपकार अर्थ में है। इस गाथा में भी गुण शब्द को उपकार अर्थ में लेना चाहिए। अतः वह अविरत सम्यग्दृष्टि का तप महान् उपकार करनेवाला नहीं हैं ऐसा अर्थ लेना, क्योंकि सम्यक्त्व से सहित होते हुए भी असंयत का तप कर्मों के निर्मूलन में समर्थ नहीं है। वह तो हस्तिस्नान ही है। यहाँ पर 'हु' शब्द एवकारवाची है। जैसे हाथी स्नान करके भी स्वच्छता को धारण नहीं करता है किन्तु वह पुनः सूंड़ से धूली को लेकर अपने ऊपर डाल लेता है उसी प्रकार से तप के द्वारा कर्मों का अंश निर्जीर्ण हो जाने पर भी असंयत के असंयम के कारण बहुत से कर्मों का आस्रव होता रहता है।

एक दूसरा दृष्टान्त भी देते हुए कहते हैं—

चुंद—काष्ठ को छेदनेवाला चुंदच्छिद् अर्थात् रस्सी, उसका कर्म—क्रिया चुंदच्छित्-कर्म है। जैसे काष्ठ को छेदनेवाली रस्सी खुलती और वेष्टित होती रहती है, अर्थात् जैसे लकड़ी में छेदकरने वाले वर्मा की रस्सी उसमें छेद करते समय एक तरफ से खुलती और दूसरी तरफ से बँधती रहती है उसी प्रकार से असंयत जन का तपश्चरण एक तरफ से कर्मों को नष्ट करता और असंयम द्वारा दूसरी तरफ से कर्मों को बाँधता रहता है। अथवा 'चुंदच्युतकमिव' अर्थात् मंथन चर्मपालिका के समान वह तप सयमहीन तप होता है।

यहाँ पर दो दृष्टान्त क्यों दिये गये हैं?

इसमें कोई दोष नहीं है। तप द्वारा एक तरफ से कर्म के दूर होने पर भी असयम के निमित्त से बहुत से कर्मों का ग्रहण हो जाता है इस बात को दिखलाने के लिए हस्तिस्नान का दृष्टान्त दिया है कि हाथी स्नान से गीले शरीर पर फिर से बहुत-सी रज लपेट लेता है। तथा बन्ध से रहित निर्जरा ही स्वास्थ्य को प्राप्त कराती है, दूसरी निर्जरा नहीं क्योंकि वह बन्ध के साथ होनेवाली निर्जरा है। जैसे कि लकड़ी में छेद करनेवाला वर्मा एक तरफ से रस्सी

भाविनीति। किमिदं ? मुंदच्छिद: कर्मेव—एकत्र वेष्टयत्यन्यत्रोद्वेष्टयति तपसा निर्जरयति कर्मासंयमभावेन बहुतरं गृह्णाति कठिनं च करोतीति ॥९४२॥

सन्निपातेन शोभनक्रियाणां कर्मक्षयो भवतीति दृष्टान्तेन पोषयन्नाह—

वेज्जादुरभेसज्जापरिचारयसंपदा जहारोग्गं।
गुरुसिस्सरयणसाहणसंपत्तीए तहा मोक्खो ॥९४३॥

वैद्यो भिषक् आतुरो व्याधित: भैषज्यमौषधं परिचारका वैयावृत्यकरा एतेषां संपत्संयोगस्तया संपदा यथाऽरोग्यं व्याधितस्य रोगाभाव: संजायते तथा गुरुराचार्य: शिष्यो वैराग्यपरो विनेयो रत्नानि सम्यग्दर्शनादिसाधनानि पुस्तककुंडिकापिच्छिकादीन्येतेषां संपत्ति: संप्राप्ति: संयोगस्तया तेनैव[1] प्रकारेण मोक्षो भवतीति ॥९४३॥

दृष्टान्तं दार्ष्टान्तेन योजयन्नाह—

आइरिओ वि य वेज्जो सिस्सो रोगी दु भेसजं चरिया।
खेत्त बल काल पुरिसं णाऊण सणिं दढं कुज्जा ॥९४४॥

आचार्यो नाम वैद्य: शिष्यश्च रोगी भेषजं चर्या क्षेत्रं शीतमुष्णादिकं बलं शरीरसामर्थ्यादिकं काल: प्रावृडादिक: पुरुषो जघन्यमध्यमोत्कृष्टभेदभिन्न एतान् सर्वान् ज्ञात्वा शनैराकुलतामन्तरेण[2]

को वेष्टित करता और दूसरी तरफ से खोलता रहता है वैसे ही सम्यग्दृष्टि तप के द्वारा निर्जरा करता और असंयम के द्वारा अनेक विध कर्मों को ग्रहण करता रहता है और उन्हें दृढ़ भी कर लेता है। इसलिए दो दृष्टान्त दिये गये हैं।

शोभन क्रियाओं के संयोग से कर्मक्षय होता है, ऐसा दृष्टान्त से पोषित करते हैं—

गाथार्थ—जैसे वैद्य, रोगी, औषधि और परिचारक के संयोग से आरोग्य होता है वैसे ही गुरु, शिष्य, रत्नत्रय और साधन के संयोग से मोक्ष होता है ॥९४३॥

आचारवृत्ति—वैद्य, रोगी, औषधि और वैयावृत्य करनेवाले—इनके सम्पत् अर्थात् संयोग से रोगी के रोग का अभाव हो जाता है वैसे ही गुरु—आचार्य, वैराग्य में तत्पर शिष्य, अन्तरग साधन सम्यग्दर्शन आदि रत्नत्रय तथा बाह्य साधन पुस्तक, पिच्छिका, कमण्डलु आदि के संयोग से ही मोक्ष होता है।

अब दृष्टान्त को दार्ष्टान्त में घटित करते हैं—

गाथार्थ—आचार्य वैद्य हैं, शिष्य रोगी है, औषधि चर्या है। इन्हें तथा क्षेत्र, बल, काल और पुरुष को जानकर धीरे-धीरे इनमें दृढ़ करे ॥९४४॥

आचारवृत्ति—आचार्यदेव वैद्य हैं, शिष्य रोगी है, औषधि निर्दोष भिक्षा चर्या है; शीत, उष्ण आदि सहित प्रदेश क्षेत्र हैं, शरीर की सामर्थ्य आदि बल है, वर्षा आदि काल हैं एवं जघन्य, मध्यम तथा उत्कृष्ट भेद रूप पुरुष होते हैं। इन सभी को जानकर आकुलता के बिना आचार्य

---

१. क० येनैव। २. क० राकुलमन्तरेण।

शिष्यस्याचार्यश्च यथारोग्ययुक्तं कुर्यादिति चर्यौषधं कथनीयमिति ॥९४४॥

तत्कथमित्याह —

भिक्खं सरीरजोग्गं सुभत्तिजुत्तेण फासुयं दिण्णं ।
दव्वपमाणं खेत्तं कालं भावं च णादूण ॥९४५॥

णवकोडीपडिसुद्धं फासुय सत्थं च एसणासुद्धं ।
दसदोसविप्पमुक्कं चोद्दसमलवज्जियं भुंजे ॥९४६॥

सुभक्तियुक्तेन शरीरयोग्यं भैक्ष्यं प्रासुकं प्रदत्तं नवकोटिपरिशुद्धं प्रासुकं निरवद्यं प्रशस्तं कुत्सादिदोषरहितमेषणासमितिशुद्धं दशदोषविप्रमुक्तं चतुर्दशमलवर्जितं च द्रव्यप्रमाणं क्षेत्रं कालं भावं च ज्ञात्वा परिणाममन्तरेण भुंजीतेति ॥९४५-९४६॥

तथा—

आहारेदु तवस्सी विगदिंगालं विगदधूमं च ।
जत्तासाहणमेत्तं जवणाहारं विगदरागो ॥९४७॥

आहारं, किं विशिष्टं ? विगतांगारं विगतधूमं यात्रासाधनमात्रं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रप्रतिपालननिमित्तं यवनाहारं क्षुधोपशमनमात्रं विगतरागः सन्नाकांक्षारहितस्तपस्वी वैराग्यपर आहरेदभ्यवहरेदिति ॥९४७॥

शिष्य को चर्या रूपी औषधि का प्रयोग कराए ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार वैद्य रोगी को आरोग्य हेतु औषधि प्रयोग कराकर स्वस्थ कर देता है।

वह कैसे ? सो ही बताते हैं—

गाथार्थ—जो श्रेष्ठ भक्ति युक्त श्रावक के द्वारा दिया गया प्रासुक और शरीर के अनुकूल हो, द्रव्य-प्रमाण, क्षेत्र, काल और भाव को जानकर नव कोटि से विशुद्ध, निर्दोष, प्रशस्त, एषणा समिति से शुद्ध, दश दोष और चौदह मल-दोषों से रहित हो ऐसा आहार (मुनि) ग्रहण करे ॥९४५-९४६॥

आचारवृत्ति—सुभक्ति से युक्त श्रावक के द्वारा जो दिया गया है, अपने शरीर के योग्य है, प्रासुक है, नवकोटि से परिशुद्ध है, निर्दोष है, निन्दा आदि दोषों से रहित होने से प्रशस्त है, जो एषणा समिति से शुद्ध है, दश दोषों से वर्जित है एवं चौदह मलदोषों से रहित है ऐसे आहार को साधु द्रव्य-प्रमाण, क्षेत्र काल एवं भाव को जानकर परिणाम के बिना ही ग्रहण करे।

इसी को और भी कहते हैं—

गाथार्थ—अंगारदोष रहित, धूमदोष रहित, मोक्ष-यात्रा के लिए साधनमात्र और क्षुधा का उपशामक आहार वीतराग तपस्वी ग्रहण करे ॥९४७॥

आचारवृत्ति—अंगार दोष और धूमदोष रहित, सम्यग्दर्शन-ज्ञान चारित्र के पालन निमित्त क्षुधाव्याधि का उपशमन करनेवाला आहार वैराग्य में तत्पर, आकांक्षा रहित तपस्वी स्वीकार करे।

भावार्थ—गृद्धि—आसक्ति से युक्त आहार लेना अंगारदोष है और निन्दा करते हुए आहार लेना धूम दोष है। साधु इन दोषों से रहित आहार लेते हैं।

जुगुप्सापरिहारमाह—

ववहारसोहणाए परमट्ठाए तहा परिहरउ ।
दुविहा चावि दुगंछा लोइय लोगुत्तरा चेव ।।९४८।।

जुगुप्सा गर्हा द्विविधा द्विप्रकारा लौकिकी लोकोत्तरा च । लोकव्यवहारशोधनार्थं सूतकादिनिवारणाय लौकिकी जुगुप्सा परिहरणीया तथा [1]परमार्थार्थं रत्नत्रयशुद्ध्यर्थं लोकोत्तरा च [2]कार्येति ।।९४८।।

पुनरपि क्रियापदेन प्रकटयन्नाह—

परमट्ठियं विसोहिं सुट्ठु पयत्तेण कुणइ पव्वइओ ।
परमट्ठदुगंछा वि य सुट्ठु पयत्तेण परिहरउ ।।९४९।।

परमार्थिकां विशुद्धिं कर्मक्षयनिमित्तां रत्नत्रयशुद्धिं सुष्ठु प्रयत्नेन करोतु प्रव्रजितः साधुः परमार्थजुगुप्सामपि शंकादिकां सुष्ठु प्रयत्नेन परिहरतु त्यजत्विति ।।९४९।।

तथा—

संजममविराधंतो करेउ ववहारसोधणं भिक्खू ।
ववहारदुगंछावि य परिहरउ वदे अभंजंतो ।।९५०।।

जुगुप्सा-परिहार का उपदेश देते हैं—

गाथार्थ—साधु लौकिक और अलौकिक दोनों ही प्रकार की जुगुप्सा व्यवहार की शुद्धि के लिए तथा परमार्थ की सिद्धि के लिए त्याग दें ।।९४८।।

आचारवृत्ति—निन्दा के दो भेद हैं—लौकिक और अलौकिक । लोकव्यवहार की शुद्धि के लिए सूतक आदि के निवारण हेतु लौकिक निन्दा का परिहार करना चाहिए और परमार्थ के लिए—रत्नत्रय की शुद्धि के लिए लोकोत्तर जुगुप्सा नहीं करना चाहिए ।

विशेष—यहाँ 'च कार्या' के स्थान में 'न कार्या' ऐसा पाठान्तर है उसी का अर्थ प्रकरण से घटित होता है ।

पुनरपि क्रियापद से उसी को प्रगट करते हैं—

गाथार्थ—दीक्षित मुनि पारमार्थिक विशुद्धि को अच्छी तरह सावधानी पूर्वक करते हैं इसलिए परमार्थ निन्दा का भी भलीभाँति प्रयत्नपूर्वक परिहार करो ।।९४९।।

आचारवृत्ति—साधु कर्मक्षय-निमित्तक रत्नत्रय-शुद्धि को अच्छी तरह प्रयत्नपूर्वक करें तथा परमार्थ जुगुप्सा अर्थात् शंकादि दोषों का भी भलीभाँति प्रमाद रहित होकर त्याग करें ।

उसी को और कहते हैं—

गाथार्थ—साधु संयम की विराधना न करते हुए व्यवहार-शुद्धि करें एवं व्रतों को भंग न करते हुए व्यवहार निन्दा का भी परिहार करें ।।९५०।।

---

१. क० परमार्थशोधनार्थं । २. न कार्येति इति पाठान्तरम् ।

भिक्षुः संयमं चारित्रमविराधयन्नपीडयन् करोतु व्यवहारशोधनं लोकव्यवहारशोधनं प्रायश्चित्तं च व्यवहारजुगुप्सां च, येन कर्मणा लोके विशिष्टजनमध्ये कुत्सितो भवति तत्कर्म परिहरतु व्रतान्यहिंसादीनि च अभंजयन्नखंडयन् । किमुक्तं भवति—संयमं मा विराधयतु व्यवहारशुद्धिं च करोतु व्रतानि मा [1]भंजयतु व्यवहारजुगुप्सां च परिहरतु साधुरिति ॥६५०॥

द्रव्यशुद्धि विधाय क्षेत्रशुद्ध्यर्थमाह—

जत्थ कसायुप्पत्तिरभत्तिदियदारइत्थिजणबहुलं ।
दुक्खमुवसग्गबहुलं भिक्खू खेत्तं विवज्जेज्ज ॥६५१॥

यस्मिन् क्षेत्रे कषायाणामुत्पत्तिः प्रादुर्भावस्तथा यस्मिन् क्षेत्रेऽभक्तिरादराभावः शाठ्यबाहुल्यं, यत्र चेन्द्रियद्वारबाहुल्यमिन्द्रियद्वाराणां चक्षुरादीनां बाहुल्यं सुष्ठु रागकारणविषयप्राचुर्यं, स्त्रीजनबाहुल्यं च यत्र स्त्रीजनो बाहुल्येन शृंगाराकारविकार[2]विषयलीलाहावभावनृत्तगीतवादित्रहासापहासादिनिष्ठस्तथा दुःखं क्षेत्रं क्लेशप्रचुरं, उपसर्गबहुलं बाहुल्येनोपसर्गोपेतं च तदेतत्सर्वं क्षेत्रं भिक्षुः साधुर्विवर्जयतु सम्यग्दर्शनादिशुद्धिकरणायेति ॥६५१॥

इत्थंभूतं च क्षेत्रं सेवयत्विति कथयन्नाह—

गिरिकंदरं मसाणं सुण्णागारं च रुक्खमूलं वा ।
ठाणं विरागबहुलं धीरो भिक्खू णिसेवेऊ ॥६५२॥

आचारवृत्ति—साधु चारित्र की हानि न करते हुए लोक-व्यवहार के शोधनरूप प्रायश्चित्त करें और जिस कार्य से लोक में विशिष्ट जनों में निन्दा होती है वह कार्य छोड़ दें एवं अहिंसा आदि व्रतों को भंग न करें। तात्पर्य यह कि साधु संयम की विराधना नहीं करें, व्यवहार-शुद्धि का पालन करें, व्रतों में दोष नहीं लगाएँ और लोकनिन्दा का परिहार करें।

द्रव्यशुद्धि कहकर अब क्षेत्रशुद्धि कहते हैं—

गाथार्थ—जहाँ पर कषायों की उत्पत्ति हो, भक्ति न हो, इन्द्रियों के द्वार और स्त्री-जन की बहुलता हो, दुःख हो, उपसर्ग की बहुलता हो उस क्षेत्र को मुनि छोड़ दें ॥६५१॥

आचारवृत्ति—जिस क्षेत्र में कषायों की उत्पत्ति होती हो, जिस क्षेत्र में भक्ति—आदर का अभाव हो अर्थात् लोगों में शठता की बहुलता हो, जहाँ पर चक्षु आदि इन्द्रियों के लिए राग के कारणभूत विषयों की प्रचुरता हो, जहाँ पर शृंगार-आकार, विकार, विषय, लीला, हावभाव, नृत्य, गीत, वादित्र, हास्य, उपहास आदि में तत्पर स्त्रियों का बाहुल्य हो, जहाँ पर क्लेश अधिक हो एवं जिस क्षेत्र में बहुलता से उपसर्ग होता हो ऐसे क्षेत्र का मुनि सम्यग्दर्शन आदि की शुद्धि के लिए परिहार कर दे।

इस प्रकार के क्षेत्र का सेवन करें सो ही बताते हैं—

गाथार्थ—धीर मुनि पर्वत की कन्दरा, श्मशान, शून्य मकान और वृक्ष के मूल ऐसे वैराग्य की अधिकता युक्त स्थान का सेवन करें ॥६५२॥

---

१. क० भनक्तु । २. वेष ।

गिरिकंदरां श्मशानं शून्यागारं वृक्षमूलं च धीरो भिक्षुर्निषेवयतु भावयतु यत एतत्स्थानं वैराग्य-बहुलं चारित्रप्रवृत्तिहेतुकमिति ॥९५२॥

तथैतच्च क्षेत्रं वर्जयत्विति कथनायाह—

> णिवदिविहूणं खेत्तं णिवदी वा जत्थ दुट्ठओ होज्ज ।
> पव्वज्जा च ण लब्भइ संजमघादो य तं वज्जे ॥९५३॥

नृपतिविहीनं यत् क्षेत्रं यस्मिन् देशे नगरे ग्रामे गृहे वा प्रभुर्नास्ति स्वेच्छया प्रवर्त्तते सर्वो जनः, यत्र च क्षेत्रे नृपतिर्दुष्टः यस्मिश्च देशे नगरे ग्रामे गृहे वा स्वामी दुष्टः कदर्थनशीलो धर्मविराधनप्रवणः, यत्र[1] च प्रव्रज्या न लभ्यते न प्राप्यते, यत्र यस्मिश्च देशे शिष्याः श्रोतारोऽध्येतारो व्रतरक्षणतन्निष्ठा दीक्षाग्रहण-शीलाश्च न संभवंति, संयमाघातश्च यत्र बाहुल्येनातीचारबहुलं तदेतत्सर्वं क्षेत्रं च वर्जयेद यत्नेन परिहरतु साधुरित्युपदेशः ॥९५३॥

तथैतदपि वर्जयेत्—

> णो कप्पदि विरदाणं विरदीणमुवासयह्मि चेट्ठेदुं ।
> तत्थ णिसेज्जउवट्टणसज्झायाहारवोसरणे ॥९५४॥

विरतानां नो कल्प्यते न युज्यते विरतीनामार्यिकाणामुपाश्रये स्थातु कालांतरं धर्मकार्यमन्तरेण,

---

आचारवृत्ति—धीर मुनि पर्वतों की कन्दरा में, श्मशान में, शून्य मकानों में और वृक्षों के नीचे निवास करें, क्योंकि ये स्थान वैराग्य बहुल होने से चारित्र की प्रवृत्ति में निमित्त हैं।

उसी प्रकार से इन क्षेत्रों का त्याग करें, इसका कथन बताते हैं—

गाथार्थ—राज से हीन क्षेत्र अथवा जहाँ पर राजा दुष्ट हो, जहाँ पर दीक्षा न मिलती हो और जहाँ पर संयम का घात हो वह क्षेत्र छोड़ दें ॥९५३॥

आचारवृत्ति—जिस देश में, नगर में, ग्राम में या घर में स्वामी न हो—सभी लोग स्वेच्छा से प्रवृत्ति करते हों, अथवा जिस देश का राजा दुष्ट हो अर्थात् जिस देश, नगर, गाँव या घर का मालिक धर्म की विराधना में कुशल हो, कुत्सितस्वभावी हो, जहाँ पर दीक्षा न प्राप्त होती हो अर्थात् जिस देश में शिष्य, श्रोता, अध्ययन करनेवाले, व्रतों के रक्षण में तत्पर तथा दीक्षा को ग्रहण करनेवाले लोग सम्भव न हों, जहाँ पर संयम का घात होता हो अर्थात् व्रतों में बहुत अतीचार लगते हों, साधु ऐसे क्षेत्र का प्रयत्नपूर्वक परिहार कर दें—ऐसा आचार्यों का उपदेश है।

तथा इन स्थानों को भी छोड़ दें—

गाथार्थ—आर्यिकाओं के उपाश्रय में मुनियों का रहना उचित नहीं है। वहाँ पर बैठना, उद्वर्तन करना, स्वाध्याय, आहार और व्युत्सर्ग भी करना उचित नहीं है ॥९५४॥

आचारवृत्ति—आर्यिकाओं की वसतिका में मुनियों को धर्म कार्य के अतिरिक्त कार्य से रहना युक्त नहीं है। वहाँ पर सोना, बैठना, स्वाध्याय करना, आहार करना, शरीर सम्बन्धी

---

१. क० प्रव्रज्या च न लभ्यते यत्र ।

तत्र च शय्या निषद्या स्वाध्याय आहारः कायिकादिक्रिया प्रतिक्रमादिकं च न [1]कल्प्यते युक्ताचारस्य साधोरिति ॥९५४॥

कुतो यतः—

होदि दुगंछा दुविहा ववहारादो तधा य परमट्ठे ।
पयदेण य परमट्ठे ववहारेण य तहा पच्छा ॥९५५॥

तत्रार्यिकोपाश्रये वसतः साधोर्द्विप्रकारापि जुगुप्सा, व्यवहाररूपा तथा परमार्था च, लोकापवादो व्यवहाररूपा, व्रतभंगश्च परमार्थतः यत्नेन परमार्थरूपा जायते जुगुप्सा, व्यवहारतश्च[2] ततोऽथवा व्यवहारतो भवति पश्चात्परमार्थतश्चेति ॥९५५॥

तथा संसर्गजं दोषमाह—

वड्ढदि बोही संसग्गेण तह पुणो विणस्सेदि ।
संसग्गविसेसेण दु उप्पलगंधो जहा कुंभो ॥९५६॥

संसर्गेण संपर्केण बोधिः सम्यग्दर्शनादिशुद्धिर्वर्द्धते तथा पुनरपि विनश्यति च । सदाचारप्रसंगेन वर्द्धते कुत्सिताचारसंपर्केण विनश्यति, यथा संसर्गविशेषेणोत्पलगंधः जलकुंभ उत्पलादिसंपर्केण सुगंधः शीतल-

---

क्रिया—मल-मूत्र विसर्जन आदि करना तथा प्रतिक्रमण आदि क्रियाएँ करना भी युक्ताचारी साधु को ठीक नहीं है।

उचित क्यों नहीं है सो ही बताते हैं—

गाथार्थ—व्यवहार से तथा परमार्थ से दो प्रकार से निन्दा होती है। पहले व्यवहार से पश्चात् परमार्थ से निन्दा निश्चित ही होती है ॥९५५॥

आचारवृत्ति—आर्यिकाओं की वसतिका में रहनेवाले साधु की दो प्रकार की जुगुप्सा होती है—व्यवहाररूप और परमार्थरूप। लोकापवाद होना व्यवहार निन्दा है और व्रतभंग हो जाना परमार्थ जुगुप्सा है। यत्न से अर्थात् पारस्परिक आकर्षण बढ़ानेवाले प्रयास से निश्चित ही परमार्थ जुगुप्सा होती है। उसके बाद व्यवहार से होती। अथवा पहले व्यवहार में जुगुप्सा होती है पश्चात् परमार्थ से हानि होती है।

गाथार्थ—आर्यिकाओं के स्थान में आने-जाने से मुनियों की निन्दा होती है यह व्यवहार जुगुप्सा है यह तो होती ही है, पुनः व्रतों में हानि होना परमार्थ जुगुप्सा है सो भी सम्भव है। यह न भी हो तो भी व्यवहार में निन्दा तो होती ही है।

तथा संसर्ग से होनेवाले दोषों को कहते हैं—

गाथार्थ—संसर्ग से बोधि बढ़ती है तथा पुनः नष्ट भी हो जाती है। जैसे संसर्ग विशेष से जल का घड़ा कमल की सुगन्धयुक्त हो जाता है ॥ ९५६ ॥

आचारवृत्ति—सदाचार के सम्पर्क से सम्यग्दर्शन आदि की शुद्धि बढ़ जाती है, उसी प्रकार पुनः कुत्सित आचारवाले के सम्पर्क से नष्ट भी हो जाती है, जैसे कमल आदि के संसर्ग से

---

१. क० कल्पते। २. क० ततः पश्चात्परमार्थत श्चेति।

श्चाग्न्यादिसंयोगेनोष्णो विरसश्चेति ॥६५६॥

तथैतैश्च संसर्गं वर्जयेदिति प्रतिपादयन्नाह—

चंडो चवलो मंदो तह साहू पुट्ठिमंसपडिसेवी ।
गारवकसायबहुलो दुरासओ होदि सो समणो ॥६५७॥

चंडो रौद्रो मारणात्मको विषतरुरिव, चपलोऽस्थिरप्रकृतिर्वाचिकादिक्रियायां स्थैर्यहीनः, मंदश्चारित्रालसस्तथा साधुः पृष्ठमांसप्रतिसेवी पश्चाद्दोषकथनशीलः पैशुन्यतत्परः, गौरवबहुलः कषायबहुलश्च पदं पदं प्रतिरोषणशीलः, दुराश्रय एवंभूतः श्रमणो दुःसेव्यो भवति केनाप्युपकारेणात्मीयः कर्तुं न शक्यते यत एवंभूतं श्रमणं न सेवयेदिति संबन्धः ॥६५७॥

तथा—

वेज्जावच्चविहूणं विणयविहूणं च दुस्सुदिकुसीलं ।
समणं विरागहीणं [1]सुजमो साधू ण सेविज्ज ॥६५८॥

वैयावृत्यविहीनं ग्लानदुर्बलव्याधितादीनामुपकाररहितं, विनयविहीनं पंचप्रकारविनयरहितं[2], दुःश्रुतिं दुष्टश्रुतिसमन्वितं, कुशीलं कुत्सिताचरणशीलं, श्रमणं नाग्न्याद्युपेतमपि, विरागहीनं रागोत्कटं, पूर्वोक्तः

घड़े का जल सुगन्धमय और शीतल हो जाता है और अग्नि आदि के संयोग से उष्ण तथा विरस हो जाता है।

इनके साथ संसर्ग छोड़ दें, सो ही बताते हैं—

गाथार्थ—जो साधु क्रोधी, चंचल, आलसी, चुगलखोर है एवं गौरव और कषाय की बहुलतावाला है वह श्रमण आश्रय लेने योग्य नहीं है ॥ ६५७ ॥

आचारवृत्ति—जो साधु रौद्रस्वभावी है अर्थात् विषवृक्ष के समान मारनेवाला है, अस्थिर प्रकृति का है अर्थात् जिसकी वचन आदि क्रियाओं में स्थिरता नहीं है, जो चारित्र में आलसी है तथा पीठ पीछे दोषों को कहनेवाला है, चुगली करने में तत्पर है, गौरव की बहुलता युक्त है, और तीव्रकषाय वृत्तिवाला है अर्थात् पद-पद पर रोष करनेवाला है, ऐसा श्रमण दुःसेव्य है अर्थात् किसी भी उपकार से उसे आत्मीय करना शक्य नहीं है। ऐसे श्रमण का मुनि आश्रय नहीं लें—ऐसा सम्बन्ध लगा लेना चाहिए।

उसी को और स्पष्ट करते हैं—

गाथार्थ—सुचारित्रवान् साधु वैयावृत्य से हीन, विनय से हीन, खोटे शास्त्र से युक्त, कुशील और वैराग्य से हीन श्रमण का आश्रय न लेवें ॥ ६५८ ॥

आचारवृत्ति—जो ग्लान, दुर्बल और व्याधि से पीड़ित मुनियों का उपकार नहीं करता है, पाँच प्रकार के विनय से रहित है, खोटे शास्त्रों से सहित है, कुशील—कुत्सित आचरणवाला है और राग की उत्कटता से सहित है ऐसा श्रमण नग्नता आदि से सहित है तो भी सुचारित्र-

---

१. क० सुसंजदो साहू। २. क विनयविहीनं।

साधुः संयतो न सेवेत न कदाचिदप्याश्रयेद् दुष्टाश्रयत्वादिति ॥६५८॥

तथा—

दंभं परपरिवादं णिसुणत्तण पावसुत्तपडिसेवं।
चिरपव्वइदं पि मुणी आरंभजुदं ण सेविज्ज ॥६५९॥

दम्भं वंचनशीलं कुटिलभावं, परपरिवादिनं परोपतापिनं, पैशुन्योपपन्नं[1]दोषोद्भावनेन तत्परं, पापसूत्रप्रतिसेविनं मारणोच्चाटनवशीकरणमंत्रयंत्रतंत्रठकशास्त्रराजपुत्रकोकवात्स्यायनपितृपिंडविधायकं सूत्रं मांसादिविधायकवैद्यसावद्यज्योतिषशास्त्रादिरतमित्थंभूतं मुनिं चिरप्रव्रजितमपि आरंभयुतं च न कदाचिदपि सेवेत न तेन सह संगं कुर्यादिति ॥६५९॥

तथा—

चिरपव्वइदं पि मुणी अपुट्ठधम्मं असंपुडं णीचं।
लोइय लोगुत्तरियं अयाणमाणं विवज्जेज्ज ॥६६०॥

तथा चिरप्रव्रजितं बहुकालीनं श्रमणं, अपुष्टधर्मं मिथ्यात्वोपेतं असंवृतं स्वेच्छावचनवादिनं नीच नीचकर्मकरं[2] लौकिकं व्यापारं लोकोत्तरं च व्यापारं अजानन्तं लोकविराधनपरं परलोकनाशनपरं च श्रमणं

धारी साधु उसका आश्रय न ले, कदाचित् भी ऐसे मुनि की संगति न करे क्योंकि यह दुष्ट आश्रय वाला है।

उसी को और भी कहते हैं—

गाथार्थ—मायायुक्त, अन्य का निन्दक, पैशुन्यकारक, पापसूत्रों के अनुरूप प्रवृत्ति करनेवाला और आरम्भसहित श्रमण चिरकाल से दीक्षित क्यों न हो तो भी उसकी उपासना न करे॥ ६५९॥

आचारवृत्ति—दंभ-वचन के स्वभाववाला अर्थात् कुटिल परिणामी, पर की निन्दा करनेवाला, दूसरों के दोषों को प्रकट करने में तत्पर या चुगलखोर, मारण, उच्चाटन, वशीकरण, मन्त्र, यन्त्र, तन्त्र, ठगशास्त्र, राजपुत्रशास्त्र. कोकशास्त्र, वात्स्यायनशास्त्र, पितरों के लिए पिण्ड देने के कथन करनेवाले शास्त्र, मांसादि के गुणविधायक वैद्यकशास्त्र, सावद्यशास्त्र, ज्योतिषशास्त्र में रत हुए मुनि से, अर्थात् जो भले ही चिरकाल से दीक्षित है किन्तु उपर्युक्त दोषों से युक्त है तथा आरम्भ करनेवाला है उससे, कभी भी संसर्ग न करे।

उसी को और भी कहते हैं—

गाथार्थ—मिथ्यात्व युक्त, स्वेच्छाचारी, नीचकार्ययुक्त, लौकिक व्यापारयुक्त, लोकोत्तर व्यापार को नहीं जानते, चिरकाल से दीक्षित भी वाले मुनि को छोड़ देवे ॥६६०॥

आचारवृत्ति—जो साधु अपुष्टधर्म—मिथ्यात्व से सहित है, स्वेच्छापूर्वक वचन बोलनेवाला है, नीच कार्य करनेवाला है, लौकिक क्रियाओं में तत्पर है और लोकोत्तर व्यापार को

---

१. क० दोषाणां दोषाद्भावनेन तत्परं। ख० अदोषोद्भावेन। २. क० नीचकर्मरतं।

विवर्जयेत् परित्यजेन्न तेन सह संवासं कुर्यादिति ॥१६०॥

तथा पापश्रमणस्य लक्षणमाह—

आयरियकुलं मुच्चा विहरदि समणो य जो दु एगागी।
ण य गेण्हदि उवदेसं पावस्समणोत्ति वुच्चदि दु ॥१६१॥

आचार्यकुलं श्रमणसंघं मुक्त्वा यः स्वेच्छया विहरति गच्छति जल्पति चिन्तयति श्रमण एकाकी संघाटकरहितः, उपदेशं च दीयमानं यो न गृह्णाति शिक्षां नादत्ते स पापश्रमण इत्युच्यते ॥१६१॥

तथा—

आयरियत्तण तुरिओ पुव्वं सिस्सत्तणं अकाऊणं।
हिंडई ढुंढायरिओ णिरंकुसो मत्तहत्थिव्व ॥१६२॥*

आचार्यत्वं कर्तुं त्वरितः पूर्वं शिष्यत्वमकृत्वा यः स्वेच्छया हिंडत्याचरति भ्रमति च ढोंढाचार्यः पूर्वापरविवेकशून्यो यथा निरंकुशो मत्तहस्ती। सोऽपि पापश्रमण इत्यतस्तमपि न सेवेतेति ॥१६२॥

पुनरपि संसर्गजं दोषमाह दृष्टान्तेनेति—

नहीं जानता है अर्थात् लोकविराधना में तत्पर है, परलोक का नाश करनेवाला है ऐसे श्रमण के साथ वह चिरकाल से भी दीक्षित है तो भी संवास नहीं करना चाहिए।

उसी प्रकार से पापश्रमण का लक्षण कहते हैं—

गाथार्थ—जो श्रमण आचार्य संघ को छोड़कर एकाकी विहार करता है और उपदेश को ग्रहण नहीं करता है वह पापश्रमण कहलाता है ॥१६१॥

आचारवृत्ति—जो आचार्यसंघ को छोड़कर स्वेच्छा से विहार करता है, स्वेच्छापूर्वक बोलता है और स्वेच्छा से चिंतवन करता है, संघ से रहित अकेला रहता है, दिये गये उपदेश—शिक्षा को स्वीकार नहीं करता है वह पापश्रमण कहलाता है।

उसी को और कहते हैं—

गाथार्थ—जो पहले शिष्यत्व न करके आचार्य होने की जल्दी करता है वह ढोंढाचार्य है। वह मदोन्मत्त हाथी के समान निरंकुश भ्रमण करता ॥१६२॥

आचारवृत्ति—जो पहले शिष्य न बनकर आचार्य बनने को उत्सुक होता है और स्वेच्छापूर्वक आचरण करता है वह पूर्वापर विवेक से शून्य होता हुआ ढोंढाचार्य कहलाता है। जैसे अंकुश रहित मत्त हाथी भ्रमण करता है वैसे ही वह भी पापश्रमण कहलाता है इसलिए उसका आश्रय न ले।

पुनरपि दृष्टान्त से संसर्गजन्य दोष को कहते हैं—

---

* फलटन से प्रकाशित मूल में यह गाथा किंचित् बदली हुई है।

आयरियकुलं मुच्चा विहरदि एगाकिणो दु जो समणो।
अविगेण्हिय उवदेसं ण य सो समणो समणडोंबो ॥

अर्थ—जो आचार्य कुल को छोड़कर और उपदेश को न ग्रहणकर एकाकी विहार करता है वह श्रमण डोंब है।

अंबो णिबत्तणं पत्तो दुरासएण जहा तहा।
समणं मंदसंवेगं अपुट्ठधम्मं ण सेविज्ज ॥९६३॥

यथाऽम्रवृक्षो दुराश्रयेण निंबत्वं प्राप्तस्तथा श्रमणं मन्दसंवेगं धर्मानुरागालसं अपुष्टधर्मं समाचार-हीनं दुराश्रयेण संजातं न सेवेत नाश्रयेदात्मापि तदाश्रयेण तथाभूतः स्यादिति ॥९६३॥

तथा पार्श्वस्थान्नित्यं भेतव्यमिति प्रदर्शयन्नाह—

बिहेदव्वं णिच्चं दुज्जणवयणा पलोट्टजिब्भस्स।
वरणयरणिग्गमं पिव वयणकयारं वहंतस्स ॥९६४॥

दुर्जनवचनात्, किंविशिष्टात्। प्रलोटजिह्वात् पूर्वापरतामनपेक्ष्य वाचिनो वरनगरनिर्गमादिव वचनकचवरं वहतः नित्यं भेतव्यं न तत्समीपे स्थातव्यमिति ॥९६४॥

तथेत्थंभूतोऽपि यस्तस्मादपि भेतव्यमिति दर्शयन्नाह—

आयरियत्तणमुवणायइ जो मुणि आगमं ण याणंतो।
अप्पाणं पि विणासिय अण्णे वि पुणो विणासेई ॥९६५॥

आचार्यत्वमात्मानमुपनयति य आगममजानन् आत्मानं विनाश्य परमपि विनाशयति। आगमेन

गाथार्थ—जैसे आम खोटे संसर्ग से नीमपने को प्राप्त हो जाता है वैसे ही आचरण से हीन और धर्म में आलसी श्रमण का आश्रय न ले ॥९६३॥

आचारवृत्ति—आम का वृक्ष खोटी संगति से—नीम के संसर्ग से नीमपने को प्राप्त हो जाता है अर्थात् कटु स्वादवाला हो जाता है, उसी प्रकार जो श्रमण धर्म के अनुरागरूप संवेग में आलसी है, समीचीन से आचार से हीन है, खोटे आश्रय से संपन्न है उसका संसर्ग नहीं करो, क्योंकि आत्मा भी ऐसे के संसर्ग से ऐसा ही हो जाएगा।

उसी प्रकार से पार्श्वस्थ मुनि से हमेशा ही डरना चाहिए, ऐसा दिखलाते हैं—

गाथार्थ—दुर्जन के सदृश वचनवाले यद्वा तद्वा बोलनेवाले, नगर के नाले के कचरे को धारण करते हुए के समान मुनि से हमेशा डरना चाहिए ॥९६४॥

आचारवृत्ति—जो मुनि पूर्वापर का विचार न करके बोलनेवाले हैं, विशालनगर से निकले हुए वचनरूप कचरे को धारण करते है, दुर्जन के सदृश वचन बोलनेवाले हैं, उनसे हमेशा ही डरना चाहिए अर्थात् उनके समीप नहीं रहना चाहिए।

तथा जो इस प्रकार के भी हैं उनसे भी डरना चाहिए, इसे ही दिखाते हैं—

गाथार्थ—जो मुनि आगम को न जानते हुए आचार्यपने को प्राप्त हो जाता है वह अपने को नष्ट करके पुनः अन्यों को भी नष्ट कर देता है ॥९६५॥

आचारवृत्ति—जो मुनि आगम को न समझकर आचार्य बन जाता है अर्थात आगम के

विनाचरन्नात्मानं नरकादिषु गमयति तथा परान् कुत्सितोपदेशेन भावयन् तान्नरकादिषु प्रवेशयतीति ततस्त-स्मादपि भेतव्यमिति ॥६६५॥

अभ्यन्तरयोगैर्विना बाह्ययोगानामफलत्वं दर्शयन्नाह—

घोडयलद्दिसमाणस्स बाहिर बगणिहुदकरणचरणस्स।
अब्भंतरम्हि कुहिदस्स तस्स दु किं बज्झजोगेहिं ॥६६६॥

घोटकव्युत्सर्गसमानस्यांत.कुथितस्य बाह्येन बकस्येव निभृतकरचरणस्य तस्येत्थंभूतस्य मूलगुण-रहितस्य किं बाह्यैर्वृक्षमूलादिभिर्योगैर्न किंचिदपीत्यर्थस्तस्माच्चारित्रे यत्नः कार्य इति ॥६६६॥

बहुकालश्रमणोऽहमिति च मा गर्वं कृथा यतः—

मा होह वासगणणा ण तत्थ वासाणि परिगणिज्जंति।
बहवो तिरत्तवुत्था सिद्धा धीरा विरग्गपरा समणा ॥६६७॥

मा भवतु वर्षगणना मम प्रव्रजितस्य बहूनि वर्षाणि यतोऽयं लघुरद्य प्रव्रजित इत्येवं गर्वं मा कुरुध्वं, यतो न तत्र मुक्तिकारणे वर्षाणि गण्यन्ते। बहुकालश्रामण्येन मुक्तिर्भवति नैवं परिज्ञायते यस्माद्बहवस्त्रिरात्रि-मात्रोषितचरित्रा अन्तर्मुहूर्तवृत्तचरित्राश्च वैराग्यपरा धीराः सम्यग्दर्शनादौ निष्कम्पाः श्रमणाः सिद्धा

बिना आचरण करता है वह स्वयं को नरक आदि गतियों में पहुँचा देता है और अन्य जनों को भी कुत्सित उपदेश के द्वारा उन्हीं दुर्गतियों में प्रवेश करा देता है, इसलिए ऐसे आचार्य से भी डरना चाहिए।

अभ्यन्तर योगों के बिना बाह्य योगों की निष्फलता है, उसे ही कहते हैं—

गाथार्थ—घोड़े की लीद के समान अन्तरंग में निन्द्य और बाह्य से बगुले के सदृश हाथ-पैरों को निश्चल करनेवाले—साधु के बाह्ययोगों से क्या प्रयोजन? ॥६६६॥

आचारवृत्ति—जो घोड़े की लीद के समान अन्तरंग में कुथित—निन्द्य-भावना युक्त एवं बाह्य में बगुले के समान हाथ-पैरों को निश्चल करके खड़े हैं अर्थात् जो अन्तरंग में निन्द्य भाव सहित हैं, बाह्य क्रिया और चारित्र को कर रहे हैं तथा मूलगुण से रहित हैं ऐसे मुनि को बाह्य वृक्षमूल आदि योगों से क्या लाभ? अर्थात् कुछ भी लाभ नहीं है। इसलिए चारित्र में यत्न करना चाहिए, यह अभिप्राय है।

'मैं बहुतकाल का श्रमण हूँ' ऐसा गर्व मत करो क्योंकि—

गाथार्थ—वर्षों की गणना मत करो क्योंकि वहाँ वर्ष नहीं गिने जाते। बहुत से विरागी धीर श्रमण तीन रात्रिमात्र ही चारित्रधारी होकर सिद्ध हो गये हैं ॥६६७॥

आचारवृत्ति—वर्षों की गणना मत करो, 'मुझे दीक्षा लिये बहुत वर्ष हो गये हैं। मुझसे यह छोटा है, आज दीक्षित हुआ है' इस प्रकार से गर्व मत करो क्योंकि वहाँ मुक्ति के कारण में वर्षों की गिनती नहीं होती है। बहुतकाल के मुनिपन से मुक्ति होती हो ऐसा नहीं जाना जाता है क्योंकि बहुतों ने तीन रात्रि मात्र ही चारित्र धारण किया है! और तो और, किन्हीं ने अन्तर्मुहूर्त मात्र ही चारित्र का वर्तन किया है किन्तु वैराग्य में तत्पर धीर-सम्यग्दर्शन

निर्मूलितशेषकर्माण इति ॥६६७॥

बन्धं बन्धकारणं च प्रतिपादयन्नाह—

जोगणिमित्तं गहणं जोगो मणवयणकायसंभूदो।
भावणिमित्तो बंधो भावो रदिरागदोसमोहजुदो ॥६६८॥

कर्मणो ग्रहणं योगनिमित्तं योगहेतुकं, योगः प्रकृतिबन्धं प्रदेशबन्धं च करोतीति। अथ को योग इत्याशंकायामाह—योगश्च मनोवचनकायेभ्यः सम्भूतो मनःप्रदेशपरिस्पन्दो वाक्प्रदेशपरिस्पन्दः कायप्रदेशपरिस्पन्दः 'मनोवाक्कायकर्म योग' इति वचनात्। भावनिमित्तो भावहेतुको बन्धः संश्लेषः स्थित्यनुभागरूपः 'स्थित्यनुभागौ कषायत' इति वचनात्। अथ को भाव इति प्रश्ने भावो रतिरागद्वेषमोहयुक्तो मिथ्यात्वासंयमकषाया इत्यर्थः इति ॥६६८॥

कर्मणः परिणामो न तु जीवस्येति प्रतिपादयन्नाह—

जीवपरिणामहेदू कम्मत्तण पोग्गला परिणमंति।
ण दु णाणपरिणदो पुण जीवो कम्मं समादियदि ॥६६९॥

आदि में निष्कम्प होने से ऐसे श्रमण अतिशीघ्र ही अशेष कर्मों का निर्मूलन करके सिद्ध हो गये हैं।

अब बन्ध और बन्ध के कारणों को कहते हैं—

गाथार्थ—कर्मों का ग्रहण योग के निमित्त से होता है। वह योग मन वचन काय से उत्पन्न होता है। कर्मों का बन्ध भावों के निमित्त से होता है और भाव रति, राग, द्वेष एवं मोह सहित होता है ॥६६८॥

आचारवृत्ति—कर्मों का ग्रहण योग के कारण होता है। वह योग प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध करता है। वह योग क्या है? ऐसी आशंका होने पर कहते हैं—वह योग मन, वचन और काय से उत्पन्न होता है अर्थात् मन के निमित्त से आत्मप्रदेशों का परिस्पन्दन, वचनयोग से आत्मप्रदेशों का परिस्पन्दन और काययोग से आत्मप्रदेशों का परिस्पन्दन होना योग है। "मन-वचन-काय के कर्म का नाम योग है[1]" ऐसा सूत्रकार का वचन है। भाव के निमित्त से बन्ध अर्थात् आत्मा के साथ संश्लेष—सम्बन्ध होता है जो स्थिति और अनुभाग रूप है। "स्थिति और अनुभाग कषाय से होते हैं" ऐसा वचन है। भाव क्या है? रति, राग, द्वेष और मोह-युक्त परिणाम भाव कहलाते हैं अर्थात् मिथ्यात्व, असंयम और कषाय भाव स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध के कारण हैं।

कर्म के परिणाम होते हैं न कि जीव के ऐसा प्रतिपादन करते हैं—

गाथार्थ—जीव के परिणाम के निमित्त से पुद्गल कर्मरूप से परिणमन करते हैं। ज्ञान-परिणत हुआ जीव तो कर्म ग्रहण करता नहीं है ॥६६९॥

---

1. तत्त्वार्थसूत्र, अ. ६, सूत्र १।

जीवस्य परिणामहेतवो बालवृद्धयुवत्वाभावेन नरकतिर्यङ्मनुष्यदेवत्वभावेन च कर्मत्वेन कर्मस्वरूपेण पुद्गला रूपरसगन्धस्पर्शवन्तः परमाणवः परिणमन्ति पर्यायं गृह्णन्ति। जीवः पुनर्ज्ञानपरिणतो नैव कर्म समादत्ते नैव कर्मभावेन पुद्गलान् गृह्णातीति। यतोऽतश्चारित्रं ज्ञानदर्शनपूर्वकं भावनीयमिति ॥९६९॥

यस्मात्—

णाणविण्णाणसंपण्णो झाणज्झणतवेजुदो।
कसायगारवुम्मुक्को संसारं तरदे लहुं ॥९७०॥

ज्ञानं यथावस्थितवस्तुपरिच्छेदकं विज्ञानं चारित्रं ताभ्यां ज्ञानविशेषेण वा सम्पन्नः परिणतः ध्यानेनैकाग्रचिन्तानिरोधेनाध्ययनेन वाचनापृच्छनादिक्रियया तपसा च द्वादशप्रकारेण युक्तः परिणतः कषायगौरवोन्मुक्तश्च लघु शीघ्रं संसारं भवसमुद्रं तरति समुल्लंघयतीति ततो रत्नत्रयं सारभूतमिति ॥९७०॥

ननु स्वाध्यायभावनया कथं संसारस्तीर्यत इत्याशंकायामाह—

सज्झायं कुव्वंतो पंचिंदियसंपुडो तिगुत्तो य।
हवदि य एयग्गमणो विणएण समाहिओ भिक्खू ॥९७१॥

यतः स्वाध्यायं शोभनशास्त्राभ्यासवाचनादिकं कुर्वन् पंचेन्द्रियसंवृतस्त्रिगुप्तश्च भवति, एकाग्र-

---

आचारवृत्ति—रूप, रस, गन्ध और स्पर्शवाले पुद्गल परमाणु जीव के परिणाम का निमित्त पाकर बालक, वृद्ध, युवा भाव से तथा नारकी, तिर्यंच, मनुष्य और देवपने के भाव से कर्म रूप से परिणमन करते हैं अर्थात् ये पुद्गल जीव के परिणाम के निमित्त से कर्मरूप परिणत हो जाते हैं। किन्तु यदि जीव ज्ञानपरिणत हो रहा है तब तो वह कर्मभाव से पुद्गलों को ग्रहण नहीं करता है। इसलिए चारित्र को ज्ञान-दर्शन पूर्वक ही भावित करना चाहिए। अर्थात् चारित्रयुक्त ज्ञानी जीव को कर्मों का बन्ध नहीं होता है।

क्योंकि—

गाथार्थ—ज्ञान-विज्ञान से सम्पन्न एवं ध्यान, अध्ययन और तप से युक्त तथा कषाय और गौरव से रहित मुनि शीघ्र ही संसार को पार कर लेते हैं ॥९७०॥

आचारवृत्ति—यथावस्थित वस्तु को जाननेवाला ज्ञान है और चारित्र को विज्ञान कहा है। इन दोनों से समन्वित अथवा ज्ञान विशेष से परिणत हुए मुनि एकाग्र चिन्तानिरोधरूप ध्यान, वाचना, पृच्छना आदि क्रिया रूप अध्ययन एवं बारह प्रकार के तपों को करते हुए तथा कषाय और गौरव से रहित होकर शीघ्र ही भवसमुद्र से तिर जाते हैं। इसलिए रत्नत्रय ही सारभूत है।

स्वाध्याय की भावना से कैसे संसार तिरा जाता है, सो ही बताते हैं—

गाथार्थ—विनय से सहित मुनि स्वाध्याय करते हुए पंचेन्द्रियों को संकुचित कर तीनगुप्तियुक्त और एकाग्रमना हो जाते हैं ॥९७१॥

आचारवृत्ति—दर्शन, विनय आदि विनयों से संयुक्त मुनि उत्तम शास्त्रों का अभ्यास और वाचना आदि करते हुए पंचेन्द्रियों को संवृत कर लेते हैं एवं तीनगुप्ति सहित हो जाते हैं

मना ध्यानपरश्च भवति, विनयेन समाहितश्च दर्शनादिविनयोपेतश्च भिक्षुर्भवत्यतः प्रधानं चारित्रं स्वाध्यायस्ततश्च मुक्तिरिति ॥९७१॥

पुनरपि स्वाध्यायस्य माहात्म्यं तपस्यन्तर्भावं च प्रतिपादयन्नाह—

बारसविधह्मि य तवे सब्भंतरबाहिरे कुसलदिट्ठे ।
ण वि अत्थि ण वि य होहदि सज्झायसमं तवोकम्मं ॥९७२॥

द्वादशविधे तपसि साभ्यन्तरबाह्ये कुशलदृष्टे तीर्थकरगणधरादिप्रदर्शिते कृते च नैवास्ति न चापि भविष्यति स्वाध्यायसम स्वाध्यायसदृशं अन्यत्तपःकर्मातः स्वाध्यायः परमं तप इति कृत्वा निरन्तरं भावनीय इति ॥९७२॥

स्वाध्यायभावनया श्रुतभावना स्यात्तस्याश्च भावनायाः फलं प्रदर्शयन्नाह—

सूई जहा ससुत्ता ण णस्सदि दु पमाददोसेण ।
एवं ससुत्तपुरिसो ण णस्सदि तहा पमाददोसेण ॥९७३॥

यथा सूची लोहमयी शलाका सूक्ष्मापि ससूत्रा सूत्रमयरज्जुसमन्विता न नश्यति न चक्षुर्गोचरतामतिक्रामति प्रमाददोषेणापि अपस्कारादिमध्ये विस्मृतापि । तथैवं पुरुषोऽपि साधुरिति ससूत्रः श्रुतज्ञानसमन्वितो

तथा एकाग्रचित्त होकर ध्यान में तत्पर हो जाते है; इसलिए स्वाध्याय नाम का चारित्र प्रधान है क्योंकि उससे वे मुक्ति प्राप्त कर लेते है । अर्थात् विनयपूर्वक स्वाध्याय करते समय इन्द्रियों का और मन-वचन-काय का व्यापार रुक जाता है, अन्यत्र नही जाता है, उसी में तन्मय हो जाता है। अतः एकाग्रचिन्ता-निरोध रूप ध्यान का लक्षण घटित होने से यह स्वाध्याय मुक्ति का कारण है ।

पुनरपि स्वाध्याय का माहात्म्य और वह तप में अन्तर्भूत है ऐसा प्रतिपादन करते हैं—

गाथार्थ – गणधर देवादि प्रदर्शित, बाह्य-अन्तरंग से सहित बारह प्रकार के तपों में स्वाध्याय समान तपःकर्म न है और न होगा ही ॥९७२॥

आचारवृत्ति—तीर्थंकर, गणधर आदि देवों ने जिसका वर्णन किया है, जिसमें बाह्य और अभ्यन्तर छह छह भेद है ऐसे बारह प्रकार के तपो में स्वाध्याय के सदृश अन्य कोई तपःकर्म न है और न होगा ही । अतः स्वाध्याय परमतप है, ऐसा समझकर निरन्तर उसकी भावना करना चाहिए ।

स्वाध्याय की भावना से श्रुतभावना होती है अतः उस भावना का फल दिखलाते हैं—

गाथार्थ—जैसे धागे सहित सुई प्रमाद दोष से भी खोती नही है ऐसे ही सूत्र के ज्ञान से सहित पुरुष प्रमाद दोष से भी नष्ट नहीं होता है ॥९७३॥

आचारवृत्ति - जैसे लोहे से बनी सुई सूक्ष्म होती है फिर भी यदि वह सूत्र सहित अर्थात् धागे से पिरोई हुई है तो नष्ट नहीं होती है अर्थात् प्रमाद के निमित्त से यदि वह कूड़े-कचरे में गिर भी गयी है तो भी आँखों से दिख जाती है, मिल जाती है । उसी प्रकार से सूत्र सहित अर्थात् श्रुतज्ञान से समन्वित साधु भी नष्ट नहीं होता है, वह प्रमाद के दोष से भी संसार

न नश्यति नैव संसारगर्त्ते पतति प्रमाददोषेणापि परमं तपः कर्तुं न समर्थस्तथापि शाठ्यरहितः स्वाध्यायं यदि निरन्तरं करोति तथापि कर्मक्षयं करोतीति भावः ॥९७३॥

चारित्रस्य प्रधानमंगं ध्यानं तदुपकारभूतं निद्राजयमाह—

णिद्दं जिणेहि णिच्चं णिद्दा खलु णरमचेदणं कुणदि ।
वट्टेज्ज हू पसुत्तो समणो सव्वेसु दोसेसु ॥९७४॥

निद्रां दर्शनावरणकर्मोदयमोहभावं जय तस्या वशं मा गच्छ यतः सा निद्रा नरं खलु स्फुटमचेतनं पूर्वापरविवेकहीनं करोति यतश्च प्रसुप्तः श्रमणो वर्तेत सर्वेषु दोषेषु यस्मान्निद्रयाक्रान्तचित्तः सर्वैरपि प्रमादैः सहितो भवति संयतोऽप्यतो निद्राजयं कुर्विति ॥९७४॥

निद्रां जित्वैकाग्रचिन्तानिरोधं कुर्वीतेति प्रतिपादयन्नाह—

जह उसुगारो उसुमुज्जु करई संपिंडियेहिं णयणेहिं ।
तह साहू भावेज्जो चित्तं एयग्गभावेण ॥९७५॥

यथेषुकारः काण्डकार इषुं काण्डं उज्जु करई - ऋजुं करोति प्रगुणं करोति सम्यक्पिंडिताभ्यां संमीलिताभ्यां नयनाभ्यां निरुद्धचक्षुरादिप्रसरेण तथा साधुः शुभध्यानार्थं स्वचित्तं मनोव्यापारमेकाग्रभावेन मनोवाक्कायस्थैर्यवृत्त्या पंचेंद्रियनिरोधेन च भावयेदभिरमयेदिति ॥९७५॥

गर्त में नहीं पड़ता है। अभिप्राय यह है कि यद्यपि कोई साधु परमतप करने में समर्थ नहीं है लेकिन यदि वह शठता रहित निरन्तर स्वाध्याय करता है तो वह कर्मों का क्षय कर देता है।

चारित्र का प्रधान अंग ध्यान है और उसके लिए उपकारभूत निद्राजय है, उसे ही बताते हैं—

गाथार्थ—हे मुनि ! निद्रा को जीतो। निश्चित ही, निद्रा नर को अचेतन कर देती है। क्योंकि सोया हुआ श्रमण सभी दोषों में प्रवर्तन करता है ॥९७४॥

आचारवृत्ति—दर्शनावरण कर्म के उदय से हुआ मोह भावनिद्रा है। हे साधो ! तुम निद्रा को जीतो, उसके वश में मत होओ क्योंकि वह निद्रा निश्चित ही मनुष्य को अचेतन अर्थात् पूर्वापर विवेकहीन बना देती है। चूंकि निद्रा से व्याप्त चित्तवाला श्रमण सब प्रकार के प्रमादों से युक्त होता है अतः हे संयत ! तुम निद्रा को जीतो।

साधु निद्रा को जीतकर एकाग्रचिन्तानिरोध ध्यान करे ऐसा प्रतिपादन करते हैं—

गाथार्थ- जैसे बाणकारक मनुष्य किंचित् बन्द हुए नेत्रों से बाण को सीधा-सरल बनाता है वैसे ही साधु एकाग्रभाव से मन को रोके ॥९७५॥

आचारवृत्ति—जैसे बाण बनानेवाला मनुष्य सम्मीलित नेत्रों से जरा-सी आँख मींचकर बाण देखकर उसे सरल बनाता है अर्थात् इधर-उधर न देखते हुए एकटक उसी पर दृष्टि केन्द्रित करके उसे सीधा करता है। वैसे ही साधु शुभध्यान के लिए मन-वचन-काय की स्थिरवृत्तिरूप और पंचेन्द्रिय के निरोधरूप एकाग्रभाव द्वारा अपने मन के व्यापार को रोके अर्थात् अपने मन को किसी एक विषय में रमावे। अथवा जैसे धनुर्धर अपने लक्ष्य पर एकटक दृष्टि रखकर बाण सीधा उसी पर छोड़ता है वैसे ही साधु मन को एकाग्र कर आत्मतत्त्व का चिन्तवन करे।

ध्यानं प्रपंचयन्नाह—

कम्मस्स बंधमोक्खो जीवाजीवे य दव्वपज्जाए।
संसारसरीराणि य भोगविरत्तो सया झाहि ॥९७६॥

कर्मणो ज्ञानावरणादेर्बन्धं जीवकर्मप्रदेशसंश्लेषं तथा मोक्षं सर्वथा कर्मापायं तथा जीवान् द्रव्यभाव-प्राणधारणसमर्थानजीवान् पुद्गलधर्माधर्माकाशकालान् द्रव्याणि सामान्यरूपाणि पर्यायान् विशेषरूपान् संसारं चतुर्गतिभ्रमणं शरीराणि चौदारिकवैक्रियिकाहारकतैजसकार्मणानि च भोगविरक्तो रागकारणेभ्यो विरक्तः सन् सदा सर्वकालं ध्याय सम्यग्भावयेति ॥९७६॥

संसारविकल्पं भावयन्नाह—

दव्वे खेत्ते काले भावे य भवे य होंति पंचेव।
परिवट्टणाणि बहुसो अणादिकाले य चिंतेज्जो ॥९७७॥

द्रव्यपरिवर्तनानि कर्मनोकर्मतत्स्वरूपग्रहणपरित्यजनानि, क्षेत्रपरिवर्तनानि सर्वप्रदेशेषूत्पत्तिमरणानि, कालपरिवर्तनानि उत्सर्पिण्यवसर्पिणीसमयेषूत्पत्तिमरणानि, भावपरिवर्त्तनानि जघन्यमध्यमोत्कृष्टबन्धस्थितिबन्धरूपाणि, भवपरिवर्तनानि सर्वायुर्विकल्पेषूत्पत्तिमरणानि, एवं पंचपरिवर्तनानि अनादिकालेऽतीतकाले

ध्यान का वर्णन करते हैं—

गाथार्थ—हे मुने! तुम भोगों से विरक्त होकर कर्म का, बन्ध-मोक्ष का, जीव-अजीव का, द्रव्य-पर्यायों का तथा संसार और शरीर का हमेशा ध्यान करो ॥९७६॥

आचारवृत्ति—साधु भोगों और राग के कारणों से विरक्त होते हुए हमेशा अच्छी तरह से चिन्तवन करे। किन-किन का? वही बताते हैं—ज्ञानावरणादि कर्मों के बन्ध का, जो कि जीव और कर्म-प्रदेशों का आपस में संश्लेषरूप होता है, तथा सर्वथा कर्मों का नष्ट हो जाना मोक्ष है। द्रव्य और भाव प्राणों को धारण करने में जो समर्थ हैं वे जीव हैं। चेतना लक्षण रूप प्राणों से रहित का नाम अजीव है। पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल अजीव हैं। इनका सामान्य स्वरूप द्रव्य है। इनकी विशेष अवस्थाओं को पर्याय कहते हैं। चतुर्गति के भ्रमण का नाम संसार है। औदारिक वैक्रियिक, आहारक, तैजस और कार्मण ये शरीर हैं। इन बन्ध-मोक्ष, जीव-अजीव, द्रव्य-पर्याय तथा संसार और शरीर के स्वरूप का मुनि हमेशा चिन्तवन करे।

संसार के भेदों को कहते हैं—

गाथार्थ—द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और भव ये पाँच संसार होते हैं। अनादिकाल से ये परिवर्तन अनेक बार किये हैं ऐसा चिन्तवन करे ॥९७७॥

आचारवृत्ति—कर्म और नोकर्मस्वरूप पुद्गल-वर्गणाओं को ग्रहण करना और छोड़ना द्रव्य-परिवर्तन है। सर्व आकाशप्रदेशों में जन्म मरण करना क्षेत्र-परिवर्तन है। उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी के सर्व समयों में जन्म-मरण ग्रहण करना काल-परिवर्तन है। जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट बन्धरूप स्थितिबन्ध होना भाव-परिवर्तन है और सम्पूर्ण आयु के विकल्पों में जन्म-मरण

परिवर्तितानि बहुशोऽनेकवारमनेन जीवेनेत्थं चिन्तयेद् ध्यायेदिति ॥६७७॥

तथैतदपि ध्यायेदित्याह—

मोहग्गिणा महंतेण डज्झमाणे महाजगे धीरा ।
समणा विसयविरत्ता झायंति अणंतसंसारं ॥६७८॥

मोहाग्निना महता दह्यमानं महाजगत् सर्वलोकं धीरा विषयविरक्ता ध्यायन्त्यनन्तसंसारं चतुर्गति-भ्रमणोपेतमिति ॥६७८॥

ध्यानं नाम तपस्तदारम्भं न सहत इति प्रतिपादयन्नाह—

आरंभं च कसायं च ण सहदि तवो तहा लोए ।
अच्छी लवणसमुद्दो य कयारं खलु जहा दिट्ठं ६७६॥

यथाऽक्षि[1] चक्षुर्लवणसमुद्रश्च 'कचारं तृणादिकमन्तस्थं पतितं न सहते स्फुटं करोतीति दृष्टं तथा तपश्चारित्रमारम्भं परिग्रहोपार्जनं कषायांश्च न सहते न क्षमते बहिष्करोतीति ॥६७६॥

पंच परिवर्तनानि जीवेन किं तेनैवाहोस्विदन्येन तेनैव नान्येन कथमित्याशंकायामाह—

ग्रहण करना भव-परिवर्तन है। इस प्रकार इन पाँचों परिवर्तनों को इस जीव ने अनादिकाल से कई बार किया है ऐसा चिन्तवन करना चाहिए।

तथा और भी ध्यान करें—

गाथार्थ—यह महाजगत् महान् मोहरूपी अग्नि से जल रहा है। धीर तथा विषयों से विरक्त श्रमण इस अनन्त संसार का चिन्तवन करते हैं ॥६७८॥

आचारवृत्ति—धीर तथा विषयों से विरक्त मुनि इस चतुर्गति भ्रमण रूप अनन्त संसार का ऐसा चिन्तवन करते हैं कि यह सर्वलोक महान् मोहरूपी अग्नि से जल रहा है। अर्थात् मोह ही इस अनन्त संसार में भ्रमण कराने का मूल कारण है ऐसा चिन्तन किया करते हैं।

ध्यान एक तप है, वह आरम्भ को नहीं सहन करता है, यह बताते हैं—

गाथार्थ—यह ध्यान-तप आरम्भ और कषायों को उसी प्रकार से सहन नहीं करता जिस प्रकार से नेत्र और लवणसमुद्र निश्चित ही कचरे को नहीं सहन करते हैं ऐसा इस जगत् में देखा जाता है ॥६७६॥

आचारवृत्ति—जैसे नेत्र और लवण समुद्र अपने अन्दर पड़े हुए तृण आदि को नहीं सहन करते, स्पष्टतया किनारे कर देते हैं ऐसा देखा जाता है, उसी प्रकार से यह तपरूप चारित्र आरम्भ—परिग्रह का उपार्जन और कषायों को नहीं सहन करता है, इन्हें बाहर कर देता है। अर्थात् आरम्भ और कषायों के रहते हुए चारित्र तथा ध्यान असम्भव हैं।

इन पंच परिवर्तनों को क्या उसी जीव ने किया है अथवा अन्य जीव ने? यदि उसी

---

१. क० यथा चक्षुः। २. क० यथा कचारं।

जह कोइ सट्ठिवरिसो तीसदिवरिसे णराहिवो जाओ ।
उभयत्थ जम्मसद्दो वासविभागं विसेसेइ ॥६८०॥

यथा कश्चित्पुरुष: षष्टिवर्ष: षष्टिसंवत्सरप्रमाणायुस्त्रिंशद्भिर्वर्षैर्गतैर्नराधिप: संजातो राजाऽभूदत उभयत्र पर्याये राज्यपर्याये तदभावे च जन्मशब्दो वर्षविभागं संवत्सरक्रमं विशेषयति राज्यपर्याये तदभावपर्याये च वर्तन्ते न तत्र सर्वथा भेदं करोति सामान्यविशेषात्मकत्वात्सर्वपदार्थानां यत: सर्वथा नित्यक्षणिके चार्थक्रियाया अभावादर्थक्रियायाश्चाभावे सर्वेषामभाव: स्यादभावस्य च न [1]ग्राहक: प्रमाणाभावादिति ॥६८०॥

दृष्टान्तं दार्ष्टान्तेन योजयन्नाह—

एवं तु जीवदव्वं अणाइणिहणं विसेसियं णियमा ।
रायसरिसो दु केवलपज्जाओ तस्स दु विसेसो ॥६८१॥

यथा जन्मशब्दो राज्ययुक्तकाले राज्याभावकाले च, एवमेव जीवद्रव्यमनादिनिधनं सर्वकालम-

---

जीव ने किया है, अन्य ने नहीं, तो क्यों ? ऐसी आशंका होने पर कहते हैं—

गाथार्थ—जैसे कोई साठ वर्ष का मनुष्य तीस वर्ष की आयु में राजा हो गया। दोनों अवस्थाओं में होनेवाला जन्म शब्द वर्ष के विभाग की विशेषता प्रकट करता है॥ ६८०॥

आचारवृत्ति—जैसे किसी मनुष्य की आयु साठ वर्ष की है और वह तीस वर्ष की उम्र में राजा हो गया, उसकी उन दोनों पर्यायों में, अर्थात् राज्य की अवस्था में और उसके पहले की अवस्था में, जो यह जन्म शब्द है वह केवल वर्षों के क्रम को पृथक् करता है अर्थात् वह जन्म शब्द दोनों अवस्थाओं में विद्यमान है, वह वहाँ पर भेद नहीं करता है क्योंकि सभी पदार्थ सामान्य-विशेषात्मक हैं। सर्वथा नित्य अथवा सर्वथा क्षणिक पदार्थ में अर्थक्रिया का अभाव है और उनमें अर्थक्रिया के न हो सकने से उन सभी का ही अभाव हो जाता है तथा अभाव को ग्रहण करनेवाला कोई प्रमाण नहीं है क्योंकि वैसे प्रमाण का अभाव है।

भावार्थ—जिसका जन्म हुआ है वही राजा हुआ है अत: उसके राजा होने के पहले और अनन्तर—दोनों अवस्थाओं में 'जन्म' शब्द का प्रयोग होता है। यद्यपि ये दोनों अवस्थाएँ भिन्न हैं किन्तु जिसकी हैं वह अभिन्न है। इससे प्रत्येक वस्तु द्रव्यरूप से एक है तथा नाना पर्यायों में भिन्न-भिन्न है ऐसा समझना। वैसे ही एक जीव इन परिवर्तनों को करता रहता है उसकी नाना पर्यायों में भेद होने पर भी जीव में भेद नहीं रहता है।

दृष्टान्त को दार्ष्टान्त में घटित करते हुए कहते हैं—

गाथार्थ—इसी प्रकार से जीवद्रव्य अनादि-निधन है। वह नियम से विशेष्य है। किन्तु उसकी पर्याय केवल विशेष है जो कि राजा के सदृश है ॥६८१॥

आचारवृत्ति—जैसे जन्म शब्द राज्य से युक्त काल में और राज्य के अभावकाल में,

---

१. क० च ग्राहकप्रमाणाभावात् ।

चरित्वं विशेष्यमनेकप्रकाराधारतया निर्दिष्टं केवलं तु तस्य पर्यायो नारकमनुष्यादिरूपो राज्यपर्यायः स दृष्टो विशेषो, विशेषणं न सर्वथा भेदं करोति सर्वास्ववस्थासु यत इति ॥६८१॥

द्रव्यार्थिकनयापेक्षयैकत्वं प्रतिपाद्य पर्यायार्थिकनयापेक्षया भेदं प्रतिपादयन्नाह—

जीवो अणाइणिहणो जीवोत्ति य णियमदो ण वत्तव्वो।
जं पुरिसाउगजीवो देवाउगजीवविवविसिट्ठो ॥६८२॥

जीवोऽनादिनिधन आदिवर्जितो निधनवर्जितश्च जीव इति च निश्चयेन सर्वथा गुणादिरूपेणापि नियमतो न वक्तव्यो न वाच्यो यतः पुरुषायुष्को जीवो देवायुष्काद्विशिष्टो, न हि य एव देवः स एव मनुष्यः, यश्च मनुष्यो नासौ तिर्यग्, यश्च तिर्यग् नासौ नारकः पर्यायभेदेन भेदाविति ॥६८२॥

जीवपर्यायान् प्रतिपादयन्नाह—

संखेज्जमसंखेज्जमणंतकप्पं च केवलं णाणं।
तह रायदोसमोहा अण्णे वि य जीवपज्जाया ॥६८३॥

संख्यातविषयत्वात्संख्यातं मतिज्ञानं श्रुतज्ञानं च तथाऽसंख्यातविषयत्वादसंख्यातमवधिज्ञानं मनः-

---

दोनों अवस्थाओं में विद्यमान है, ऐसे ही जीवद्रव्य सर्वकाल में अवस्थित रहने से अनादि-निधन है, विशेष्य है। अर्थात् अनेक प्रकार के आधार रूप से कहा गया केवल एक है। उसकी पर्यायें नारक, मनुष्य आदि रूप हैं जो कि राज्य पर्याय के सदृश हैं। ये पर्यायें विशेषण रूप होते हुए भी उस द्रव्य की सभी अवस्थाओं में सर्वथा भेद नहीं करती हैं।

भावार्थ—जीव द्रव्य एक है। उसकी नाना पर्यायें भेदरूप होते हुए भी उसे अनेक नहीं कर पाती हैं। यहाँ पर द्रव्यार्थिक नय की प्रधानता है।

द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से एकत्व का प्रतिपादन करके पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से भेद का प्रतिपादत करते हैं—

गाथार्थ—जीव अनादिनिधन है, वह जीव ही है ऐसा एकान्त से नहीं कहना चाहिए क्योंकि मनुष्यायु से युक्त जीव देवायु से युक्त जीव से भिन्न है ॥६८२॥

आचारवृत्ति—जीव आदि और अन्त से रहित है; वह जीव है ऐसा निश्चय से अर्थात् सर्वथा एकान्त से नहीं कह सकते हैं, क्योंकि गुण और पर्यायों की अपेक्षा से उसका आदि-अन्त और उसमें भेद देखा जाता है, जैसे मनुष्यायु से युक्त जीव की अपेक्षा देवायु से युक्त जीव में भेद है। जो देव है वही मनुष्य नहीं है और जो मनुष्य है वह तिर्यंच नहीं है और जो तिर्यंच है वही नारको नहीं है। अर्थात् पर्यायों के भेद से जीव में भी भेद पाया जाता है चूंकि प्रत्येक पर्याय कथंचित् पृथक्-पृथक् है।

जीव की पर्यायों का वर्णन करते हैं—

गाथार्थ—संख्यात को जाननेवाला असंख्यात को जाननेवाला तथा अनन्त को जाननेवाला केवलज्ञान है उसी प्रकार से राग, द्वेष, मोह एवं अन्य भी जीव की पर्यायें हैं ॥६८३॥

आचारवृत्ति—संख्यात को विषय करनेवाले होने से मतिज्ञान और श्रुतज्ञान संख्येय

पर्ययज्ञानं चानन्तविषयत्वादनन्तकल्पं केवलज्ञानमथवा संख्यातासंख्यातानन्तवस्तुपरिच्छेदकत्वात्संख्यातासंख्या-तानन्तकल्पं केवलज्ञानमनन्तविकल्पं चैते सर्वे पर्यायास्तथा रागद्वेषमोहपर्यायास्तथाऽन्येपि जीवस्य पर्याया नारकत्वादयो बालयुवस्थविरत्वादयश्चेति ॥१८३॥

तथैवाह—

अकसायं तु चरित्तं कसायवसिओ असंजदो होदि।
उवसमदि जह्मि काले तक्काले संजदो होदि ॥१८४॥*

चारित्रं नामाकषायत्वं यतः कषायवशगोऽसंयतः, मिथ्यात्वकषायादियुक्तो न संयतः स्याद् यस्मिन् काले उपशाम्यति व्रतस्थो भवति। यस्मात्स एव पुरुषो मिथ्यात्वादियुक्तो मिथ्यादृष्टिरसंयतः सम्यक्त्वा-दियुक्तः सन् स एव पुनः सम्यग्दृष्टिः संयतश्च, पुरुषत्वसामान्येन पुनरभेदस्तस्मात्सर्वोऽपि भेदाभेदात्मक इति ॥१८४॥

हैं। असंख्यात के विषय करनेवाले होने से अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान असंख्येय—असंख्यात कहलाते हैं। अनन्त को विषय करनेवाला होने से केवलज्ञान अनन्तकल्प कहलाता है। अथवा संख्यात, असंख्यात और अनन्त वस्तुओं को जाननेवाला होने से संख्यात, असंख्यात और अनन्त-रूप केवलज्ञान है। ये सभी पर्यायें अनन्त भेद रूप हैं इसलिए केवलज्ञान भी अनन्त विकल्प-रूप है। उसी प्रकार से जीव की राग, द्वेष और मोह पर्यायें हैं। अन्य भी नारक, तिर्यंच आदि तथा बाल, युवा, वृद्धत्व आदि पर्यायें होती हैं।

उसी प्रकार से कहते हैं—

गाथार्थ—कषायरहित होना चारित्र है। कषाय के वश में हुआ जीव असंयत होता है। जिस काल में उपशमभाव को प्राप्त होता है उस काल में यह संयत होता है ॥१८४॥

आचारवृत्ति—अकषायपना ही चारित्र है, क्योंकि कषाय के वशीभूत हुआ जीव असंयत है। मिथ्यात्व, कषाय आदि से युक्त जीव संयत नहीं कहलाता है। जिस काल में व्रतों में स्थित होता हुआ कषायों को नहीं करता है उस काल में चारित्र में स्थित हुआ संयत होता है। जिस हेतु से वही पुरुष मिथ्यात्व आदि से युक्त हो मिथ्यादृष्टि-असंयत कहलाता है और सम्यक्त्व आदि से युक्त होकर वही पुनः सम्यग्दृष्टि व संयत कहलाता है, पुरुष सामान्य की दृष्टि से उन सभी अवस्थाओं में अभेद है उसी हेतु से सभी पदार्थ भेदाभेदात्मक हैं, ऐसा समझना।

भावार्थ—यहाँ पर जीव आदि सभी पदार्थ सामान्य की अपेक्षा अर्थात् द्रव्य दृष्टि से एकरूप हैं एवं विशेष की अपेक्षा अर्थात् नाना पर्यायों की दृष्टि से भेदरूप हैं। इसलिए सभी

---

* फलटण से प्रकाशित मूलाचार में यह गाथा अधिक है—

आदा णाणपमाणं णाणं णेयप्पमाणमुद्दिट्ठं।
णेयं लोयालोयं तह्मा णाणं तु सव्वगदं॥

अर्थात् आत्मा ज्ञान प्रमाण है और ज्ञान ज्ञेय प्रमाण है। ज्ञेय लोकालोक प्रमाण है इसलिए ज्ञान सर्वगत माना गया है।

यतः कषायवशगोऽसंयतो भवतीति ततः—

वरं गणपवेसादो विवाहस्स पवेसणं ।
विवाहे रागउप्पत्ती गणो दोसाणमागरो ।।६८५।।

यतेरन्तकाले गणप्रवेशाच्छिष्यादिमोहनिबन्धनकुलमोहकारणात्पंचपार्श्वस्थसम्पर्काद्वरं श्रेष्ठं विवाहे प्रवेशनं वरं गृहप्रवेशो यतो विवाहे दारादिग्रहणे रागोत्पत्तिर्गणः पुनः सर्वदोषाणामाकरः सर्वेऽपि मिथ्यात्वासंयमकषायरागद्वेषादयो भवन्तीति ।।६८५।।

कारणाभावेन दोषाणामभाव इति प्रतिपादयन्नाह—

पच्चयभूदा दोसा पच्चयभावेण णत्थि उप्पत्ती ।
पच्चयभावे दोसा णस्संति णिरासया जहा बीयं ।।६८६।।

वस्तुएँ कथंचित् भेदरूप एवं कथंचित् अभेदरूप होने से भेदाभेदात्मक हैं।

जिस हेतु से कषाय के वशीभूत जीव असंयत होता है उसे स्पष्ट करते हैं —

गाथार्थ—अन्त समय गण में प्रवेश करने की अपेक्षा विवाह कर लेना अच्छा है, क्योंकि विवाह में राग की उत्पत्ति है और गण भी दोषों की उत्पत्ति का स्थान है ।।६८५।।

आचारवृत्ति—मुनि यदि अन्त समय में गण में प्रवेश करते हैं अर्थात् अपने संघ को छोड़कर अन्यत्र नहीं जाते हैं तो उनके लिए वह संघ शिष्य आदि के प्रति मोह उत्पन्न कराने से मोह का कारण है एवं पाँच प्रकार के पार्श्वस्थ मुनियों से सम्पर्क कराता है । अतः उस सदोष संघ में रहने की अपेक्षा विवाह करके घर में प्रवेश कर लेना अच्छा है; क्योंकि स्त्री आदि के ग्रहण में राग की उत्पत्ति होती है, सदोष गण भी सर्वदोषों का स्थान है । अन्त समय ऐसे गण में रहने से मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और राग-द्वेष आदि सारे दोष हो जाया करते हैं।

भावार्थ—आचार्य अन्त समय निर्विघ्नतया सल्लेखना की सिद्धि के लिए अपने संघ को छोड़कर अन्य संघ में चले जायें और यदि उत्तम संहननधारी हैं तो एकाकी निर्जन वन में कायोत्सर्ग से स्थित होकर शरीर का त्याग कर दें ऐसी आगम की आज्ञा है । उसी प्रकरण को लेकर यहाँ पर कहा गया है कि संघ में प्रवेश की अपेक्षा विवाह कर लेना अच्छा है । यह बात टीकाकार ने 'यतेरन्तकाले' पद से स्पष्ट कर दी है । उसका ऐसा अर्थ नहीं कि साधु किसी सघ में न रहकर एकाकी विचरण करें, क्योंकि स्वयं ग्रन्थकार ने (गाथा १५० में) हीन संहननवाले मुनियों को एकाकी विहार करने का सर्वथा निषेध किया है, बल्कि यहाँ तक कह दिया है कि स्वच्छन्द गमनागमन आदि करनेवाला ऐसा मेरा शत्रु मुनि भी एकाकी विहार न करे । अतः यहाँ पर अन्त समय में स्वसंघ छोड़कर परसंघ में जाकर सल्लेखना ग्रहण करने का आचार्य ने सकेत किया है ।

कारण के अभाव में दोषों का अभाव हो जाता है ऐसा प्रतिपादन करते हैं—

गाथार्थ—कारण से दोष होते हैं, कारण के अभाव में उनकी उत्पत्ति नहीं होती है । प्रत्यय के अभाव से निराश्रय दोष नष्ट हो जाते हैं जैसे कि बीजरूप कारण के बिना अंकुर की उत्पत्ति नहीं होती ।।६८६।।

प्रत्ययात्कर्मबन्धात् शिष्यादिमोहनिबन्धनकुलमोहकारणाद्भूताः संजाता[1] दोषा रागद्वेषादयः कलुष-जीवपरिणामाः, प्रत्ययाभावाच्च रागद्वेषादिकारणभूतकर्माभावाच्च नास्त्युत्पत्तिर्नैव प्रादुर्भावस्तेषां दोषाणां यतश्चोत्पत्तिर्नास्ति ततः प्रत्ययाभावात्कारणाभावाद्दोषा मिथ्यात्वासंयमकषाययोगनिर्वर्तितजीवपरिणामा नश्यन्ति निर्मूलं क्षयमुपव्रजन्ति निराश्रयाः सन्तः स्वकीयप्रादुर्भावकारणमन्तरेण, यथा प्रत्ययाभावाद्बीजमंकुरं जनयति बीजस्यांकुरोत्पत्तिनिमित्तं क्षितिजलपवनादित्यरश्मयस्तेषामभावे विपरीते पतितं बीजं यथा नश्यति। न येषां कारणानां सद्भावे ये दोषा उत्पद्यन्ते तेषां कारणानामभावे तत्फलभूतदोषाणामनुत्पत्तिर्यथा स्वप्रत्यया-भावात्स्वकारणाभावाद्बीजस्यानुत्पत्तिरंकुरत्वेन तत उत्पत्त्यभावान्निराश्रया रागद्वेषाद्यो दोषा नश्यन्ति यथा *बीजमुत्पत्तिमंतरेण पश्चान्नश्यतीति ॥९८६॥*

तथा—

हेदू पच्चयभूदा हेदुविणासे विणासमुवयंति।
तह्मा हेदुविणासो कायव्वो सव्वसाहूहिं ॥९८७॥

आचारवृत्ति—प्रत्यय—कर्मबन्ध से शिष्य आदि में मोह निमित्त से और संघ में मोह के कारण जीव के कलुषित परिणाम रूप राग-द्वेष आदि दोष उत्पन्न हो जाते हैं। राग-द्वेष आदि के लिए कारणभूत कर्मों के अभाव से उन दोषों का प्रादुर्भाव नहीं होता है। कारण के न होने से मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योग से होनेवाले जीव के परिणाम निर्मूलतः क्षय को प्राप्त हो जाते हैं, क्योंकि वे अपने उत्पत्ति के कारण के बिना आश्रय-रहित हो जाते हैं। जैसे कारण के अभाव में बीज अंकुर उत्पन्न नहीं करता है। बीज के अंकुर की उत्पत्ति के लिए निमित्त पृथ्वी, जल, हवा और सूर्य की किरणें हैं। इनके अभाव में या विपरीत स्थान पर पड़ा हुआ बीज जैसे नष्ट हो जाता है वैसे ही उक्त विषय में समझना।

जिन कारणों के होने पर जो दोष उत्पन्न होते हैं उन कारणों के अभाव में उनके फल-भूत दोषों की उत्पत्ति नहीं होती है, जैसे अपने लिए कारणभूत सामग्री के अभाव में बीज की अंकुररूप से उत्पत्ति नहीं होती है। इसलिए उत्पत्ति के कारणों के न होने से आश्रय रहित राग-द्वेष आदि दोष नष्ट हो जाते हैं।

भावार्थ—अभिप्राय यही है कि शिष्यादि के निमित्त से मोह, राग-द्वेष उत्पन्न होते हैं और उनके नहीं होने से नहीं होते हैं अतः दोषों से बचने के लिए उन्हें छोड़ देना चाहिए। यह उन्हीं के लिए सम्भव है जो उत्तम संहननधारी हैं। चूंकि गाथा ९६१ में भी एकाकी विहारी को पाप श्रमण कहा है अथवा इसे भी अन्त समय सल्लेखना ग्रहण काल की अपेक्षा समझना चाहिए, क्योंकि उस समय स्वगण को छोड़कर परगण में प्रवेश कर समाधि साधने का उपदेश दिया गया है।

उसे ही और करते हैं—

गाथार्थ—प्रत्यय कारण हैं। उन कारणों के नष्ट हो जाने पर वे कार्य भी नष्ट हो जाते हैं, इसलिए सभी साधुओं को चाहिए कि वे कारण का विनाश करें ॥९८७॥

---

१. क सन्तः।

यतः[1] क्रोधमानमायालोभाः प्रत्ययभूताः, परिग्रहादयो लोभादिषु सत्सु जायन्ते ततस्तेषां लोभा-दीनां हेतूनां विनाशे प्रध्वंसे विनाशमुपयान्ति परिग्रहादयो यत एवं ततो हेतुविनाशः कर्तव्यः सर्वसाधुभिः प्रम-त्तादिक्षीणकषायान्तैर्लोभादीनामभावे परिग्रहेच्छा न जायते मूर्च्छादिपरिग्रहस्तदभावे प्रयत्नः कार्यः। पूर्वकारि-कया कारणाभावे कार्यस्याभावः प्रतिपादितोऽनया पुनः कार्यस्याभावो[2] निगदितः। अथवा पूर्वगाथोपसंहारार्थेयं गाथा तत एवमभिसम्बन्धः कार्यः, हेतवः कारणानि प्रत्ययभूतानि कार्याणि हेतुविनाशे तेषां सर्वेषां विनाशो यतः कारणाभावे कार्यस्य चाभावस्ततो हेतुविनाशे यत्नः [3]कार्य इति ॥६८७॥

दृष्टान्तं दार्ष्टान्तेन योजयन्नाह—

जं जं जे जे जीवा पज्जायं परिणमंति संसारे।
रायस्स य दोसस्स य मोहस्स वसा मुणेयव्वा ॥६८८॥

यं यं पर्यायविशेषं नारकत्वादिस्वरूपं परिणमन्ति गृह्णन्ति जीवाः संसारे ते पर्यायास्ते च जीवा

आचारवृत्ति—क्रोध, मान, माया, लोभ ये कषाय-हेतु हैं। इन लोभादिकों के होने पर ही परिग्रह आदि कार्य होते हैं। अतः इन हेतुओं के नष्ट हो जाने पर परिग्रह आदि (संज्ञाएँ) भी नष्ट हो जाती हैं। प्रमत्त नामक छठे गुणस्थान से लेकर क्षीणकषायपर्यन्त सभी साधुओं को इन हेतुओं का विनाश करना चाहिए, क्योंकि लोभ आदि कषायों के नहीं रहने पर परिग्रह की इच्छा नहीं होती है। ये मूर्च्छा आदि परिणाम ही परिग्रह हैं, इन्हें दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए।

पूर्व कारिका द्वारा कारण के अभाव में कार्य का अभाव प्रतिपादित किया गया है। पुनः इस गाथा द्वारा भी कार्य का अभाव कहा गया है।[4] अथवा पूर्व गाथा के उपसंहार के लिए यह गाथा कही गयी है, अतः ऐसा संबन्ध करना कि हेतु-कारण प्रत्यय हैं, परिग्रह आदि कार्य हैं। हेतु के नहीं रहने पर उन सब कार्यों का भी अभाव हो जाता है, क्योंकि कारण के अभाव में कार्य का अभाव अवश्यम्भावी है, इसलिए कारणों का नाश करने के लिए ही प्रयत्नशील होना चाहिए।

दृष्टान्त को दार्ष्टान्त में घटाते हुए कहते हैं—

गाथार्थ—संसार में जो-जो जीव जिस-जिस पर्याय से परिणाम करते हैं वे सब राग-द्वेष और मोह के वशीभूत होकर ही परिणमते हैं ऐसा जानना ॥६८८॥

आचारवृत्ति—संसार में जीव नारक, तिर्यंच आदि जिन जिन पर्यायों को ग्रहण करते

---

१. क हेतवः। २. क कार्यस्याभावेऽभावो निगदितः। ३. क करणीयः।

४. क० प्रति में 'कार्यस्याभावेऽभावो निगदितः' ऐसा पाठ है। उसके अनुसार यह अर्थ प्रकट होता है कि पूर्वकारिका द्वारा कारण के अभाव में कार्य का अभाव कहा गया है और इस कारिका के द्वारा कार्य के अभाव में कारण का अभाव कहा गया है। अर्थात् पहले कषाय को कारण और परिग्रह को कार्य कहा गया था, यहाँ परिग्रह को कारण और लोभोत्पत्ति को कार्य कहा है अतः परिग्रह छोड़ना चाहिए।

रागस्य द्वेषस्य मोहस्य च वशास्तदायत्ताः परिणमन्तीति ज्ञातव्याः कर्मायत्तत्वात्सर्वसांसारिकपर्यायाणामिति ॥९८८॥

रागद्वेषफलं प्रतिपादयन्नाह—

अत्थस्स जीवियस्स य जिब्भोवत्थाण कारणं जीवो।
मरदि य मारावेदि य अणंतसो सव्वकालं तु ॥९८९॥

अर्थस्य कारणं गृहपशुवस्त्रादिनिमित्तं जीवितस्य च कारणं आत्मरक्षार्थं च जिह्वायाः कारणं आहारस्य हेतोरुपस्थस्य कारणं कामनिमित्तं जीवो म्रियते स्वयं प्राणत्यागं करोति मारयति चान्यांश्च हिनस्ति प्राणविघातं च कारयति अनन्तशोऽनन्तवारान् सर्वकालमेवेति ॥९८९॥

तथा—

जिब्भोवत्थणिमित्तं जीवो दुक्खं अणादिसंसारे।
पत्तो अणंतसो तो जिब्भोवत्थे जयह दाणिं ॥९९०॥

रसनेन्द्रियनिमित्तं स्पर्शनेन्द्रियनिमित्तं चानादिसंसारे जीवो दुःखं प्राप्तोऽनन्तशोऽनन्तवारान् यतोऽतो जिह्वामुपस्थं च जय सर्वथा त्यजेदानी साम्प्रतमिति ॥९९०॥

चदुरंगुला च जिब्भा असुहा चदुरंगुलो उवत्थो वि।
अट्ठंगुलदोसेण दु जीवो दुक्खं खु पप्पोदि ॥९९१॥

हैं उन-उन को राग-द्वेष और मोह के अधीन हुए ही ग्रहण करते हैं; क्योंकि सभी सांसारिक पर्यायें कर्म के ही अधीन हैं।

राग-द्वेष का फल दिखलाते हैं—

गाथार्थ—यह जीव धन, जीवन, रसना-इन्द्रिय और कामेन्द्रिय के निमित्त हमेशा अनन्त बार स्वयं मरता है और अन्यों को भी मारता है ॥९८९॥

आचारवृत्ति—अर्थ अर्थात् गृह, पशु, वस्त्र, धन आदि के लिए तथा जीवन अर्थात् आत्मरक्षा के लिए, जिह्वा अर्थात् आहार के लिए और उपस्थ अर्थात् कामभोग के लिए यह जीव स्वयं सदा ही अनन्त बार प्राण-त्याग करता है और अनन्त बार अन्य जीवों का भी घात करता है।

उसी को और कहते हैं—

गाथार्थ—इस जीव ने इस अनादि संसार में जिह्वेन्द्रिय और स्पर्शनेन्द्रिय के वश में होकर अनन्त बार दुःख प्राप्त किया है, इसलिए हे मुने ! तुम इसी समय इस रसनेन्द्रिय और कामेन्द्रिय को जीतो ॥९९०॥

आचारवृत्ति—रसनेन्द्रिय के निमित्त और स्पर्शनेन्द्रिय के निमित्त से ही इस जीव ने इस अनादि-संसार में अनन्त बार दुःखों को प्राप्त किया है, इसलिए हे साधो ! तुम इसी समय उन दोनों के विषयों का त्याग करो।

उसी को और भी स्पष्ट करते हैं—

गाथार्थ—चार अंगुल की जिह्वा अशुभ है और चार अंगुल की कामेन्द्रिय भी अशुभ है। इन आठ अंगुलों के दोष से यह जीव निश्चितरूप से दुःख प्राप्त करता है ॥९९१॥

चतुरंगुलप्रमाणा जिह्वा अशुभा चतुरंगुलप्रमाणं चोपस्थं मैथुनक्रियानिमित्तं एतदष्टांगुलदोषेणैव जीवो दुःखं प्राप्नोति स्फुटं यतस्ततो जिह्वामुपस्थं च त्यज जयेति ॥९९१॥

स्पर्शनजयकारणमाह—

बीहेदव्वं णिच्चं कट्ठत्थस्स वि तहित्थिरूवस्स ।
हवदि य चित्तक्खोभो पच्चयभावेण जीवस्स ॥९९२॥

भेतव्यं नित्यं सर्वकालं त्रासः कर्त्तव्यः [1]काष्ठस्थादपि स्त्रीरूपात् काष्ठलेपचित्रादिकर्मणोऽपि स्त्रीरूपादुद्वेगः कर्त्तव्यो यतो भवति चित्तक्षोभः मनसश्चलनं प्रत्ययभावेन विश्वासात्कारणवशाज्जीवस्येति ॥९९२॥

तथा—

घिदभरिदघडसरित्थो पुरिसो इत्थी बलंतअग्गिसमा ।
तो महिलेयं ढुक्का णट्ठा पुरिसा सिवं गया इयरे ॥९९३॥

पुरुषो घृतभृतकुंभसदृशः स्त्री पुनर्ज्वलदनलसदृशी यथा प्रज्वलदग्निसमीपे स्थानघृतपूर्णघटः शीघ्रं प्रक्षरति तथा स्त्रीसमीपे मनुष्या यत एवं ततो महिलायाः समीपमुपस्थिता जल्पहासादिवशं गताः पुरुषा नष्टा, ये च न तत्र संगतास्ते शिवं गताः शिवगतिं प्राप्ता इति ॥९९३॥

आचारवृत्ति—चार अंगुल की यह जिह्वा अशुभ है और चार अंगुल का यह उपस्थ अर्थात् मैथुनक्रिया की निमित्त यह कामेन्द्रिय भी अशुभ है। इन आठ अंगुलों के दोष से ही जीव दुःख प्राप्त करता है। इसलिए हे मुने! तुम इन दोनों इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करो।

स्पर्शन-जय का कारण कहते हैं—

गाथार्थ—काठ में बने हुए भी स्त्रीरूप से हमेशा डरना चाहिए क्योंकि कारण के सद्भाव से जीव के मन में क्षोभ हो जाता है ॥९९२॥

आचारवृत्ति—काठ, लेप, चित्र आदि कलाकृति में बने हुए भी स्त्रीरूपसे हमेशा भयभीत रहना चाहिए क्योंकि कारण के वश से अथवा उन पर विश्वास कर लेने से जीव के मन में चंचलता हो जाती है।

तथा—

गाथार्थ—पुरुष घी से भरे हुए घट के सदृश है और स्त्री जलती हुई अग्नि के सदृश है। इन स्त्रियों के समीप हुए पुरुष नष्ट हो गये हैं तथा इनसे विरक्त पुरुष मोक्ष को प्राप्त हुए हैं ॥९९३॥

आचारवृत्ति—पुरुष घृत से भरे हुए घड़े के समान है और स्त्री जलती हुई अग्नि के समान है। जैसे जमे हुए घी का घड़ा अग्नि के समीप में शीघ्र ही पिघल जाता है, उसी प्रकार से स्त्री के समीप में पुरुष चंचलचित्त हो जाता है। इसीलिए स्त्रियों के साथ जल्प, हास्य आदि के वश में हुए पुरुष नष्ट हो गये हैं और जिन्होंने उनका संसर्ग नहीं किया है वे शिवगति को प्राप्त कर चुके हैं।

---

१. क काष्ठोत्थादपि ।

तथा—

मायाए वहिणीए धूआए मूइ वुड्ढ इत्थीए ।
बीहेदव्वं णिच्चं इत्थीरूवं णिरावेक्खं ॥६६४॥

मातुः स्त्रीरूपाद्भगिन्याश्च स्त्रीरूपाद् दुहितुश्च स्त्रीरूपाद् मूकाया वृद्धायाश्च स्त्रीरूपाद् भेतव्यं नित्यं निरपेक्षं यतः स्त्री तु पावकरूपमिव सर्वत्र दहतीति ॥६६४॥

तथा—

[1]हत्थपादपरिच्छिण्णं कण्णणासवियप्पियं ।
अविवास सदिं णारिं दूरदो परिवज्जए ॥६६५॥

हस्तच्छिन्ना पादच्छिन्ना च कर्णहीना नासिकाविहीना च सुष्ठु विरूपा यद्यपि भवति अविवस्त्रां सतीं नग्नामित्यर्थः, नारीं दूरतः परिवर्जयेत् यतः काममलिनस्तां वाञ्छेदिति ॥६६५॥

ब्रह्मचर्यभेदं प्रतिपादयन्नाह—

मण बंभचेर वचि बंभचेर तह काय बंभचेरं च ।
अहवा हु बंभचेरं दव्वं भावं ति दुवियप्पं ॥६६६॥

तथा—

गाथार्थ—माता, बहिन, पुत्री, मूक व वृद्ध स्त्रियों से भी नित्य ही डरना चाहिए क्योंकि स्त्रीरूप माता आदि के भेद से निरपेक्ष है ॥६६४॥

आचारवृत्ति—माता, बहिन, पुत्री अथवा गूँगी या वृद्धा, इन सभी स्त्रियों से डरना चाहिए। स्त्रीरूप की कभी भी अपेक्षा नहीं करना चाहिए, क्योंकि स्त्रियाँ अग्नि के समान सर्वत्र जलाती हैं।

भावार्थ—माता, बहिन आदि के भेद से स्त्रीरूप विशेषता रहित है अर्थात् स्त्री मात्र से भयभीत रहना चाहिए।

उसी को और भी कहते हैं—

गाथार्थ—हाथ-पैर से छिन्न, कान व नाक से हीन तथा वस्त्र-रहित स्त्रियों से भी दूर रहना चाहिए ॥६६५॥

आचारवृत्ति—जो हाथ-पैर या कान अथवा नाक से विकलांग हो, अर्थात् छिन्न-हस्त, छिन्न-पाद, कर्णहीन, नासिकाहीन होने से यद्यपि कुरूपा हो तथा वस्त्ररहित या नग्नप्राय हो उन्हें दूर से ही छोड़ देना चाहिए क्योंकि काम से मलिन हुए पुरुष इनकी भी इच्छा करने लगते हैं।

ब्रह्मचर्य के भेदों का प्रतिपादन करते हैं—

गाथार्थ—मन से ब्रह्मचर्य, वचन से ब्रह्मचर्य और काय से ब्रह्मचर्य, इस प्रकार ब्रह्मचर्य के तीन भेद हैं। अथवा द्रव्य और भाव की अपेक्षा दो प्रकार का ब्रह्मचर्य है ॥६८६॥

---

१. क हत्थपादविच्छिण्णं च ।

मनसि ब्रह्मचर्यं वचसि ब्रह्मचर्यं काये ब्रह्मचर्यमिति त्रिप्रकारं ब्रह्मचर्यमथवा स्फुटं ब्रह्मचर्यं द्रव्य-भावभेदेन द्विविधं तत्र भावब्रह्मचर्यं प्रधानमिति ॥९९६॥

यतः —

> भावविरदो दु विरदो ण दव्वविरदस्स सुग्गई होई।
> विसयवणरमणलोलो धरियव्वो तेण मणहत्थी ॥९९७॥

भावेन विरक्तोऽन्तरंगेण च यो विरक्तः स एव विरतः संयतो न [1]द्रव्येणाब्रह्मवृत्त्या विरतस्य तस्य सुगतिः शोभना गतिर्भवति यतोऽतो विषया रूपादयस्त एव वनमारामस्तस्मिन् रमणलोलः क्रीडालम्पटो धार-यितव्यो नियमितव्यस्तेन मनोहस्ती चित्तकुंजर इति ॥९९७॥

अब्रह्मकारणं द्रव्यमाह—

> पढमं विउलाहारं बिदियं कायसोहणं।
> तदियं गंधमल्लाइं चउत्थं गीयवाइयं ॥९९८॥
> तह सयणसोधणं पि य इत्थिसंसग्गं पि अत्थसंगहणं।
> पुव्वरदिसरणमिंदियविसयरदी पणिदरससेवा ॥९९९॥

प्रथममब्रह्मचर्यं[2] विपुलाहारः प्रचुरगृह्यान्नग्रहणं, द्वितीयमब्रह्म कायशोधनं स्नानाभ्यंगनोद्वर्तनादिभी

आचारवृत्ति—मन, वचन और काय की अपेक्षा से ब्रह्मचर्य तीन प्रकार का है। अथवा द्रव्य और भाव के भेद से वह दो प्रकार का है। इनमें भाव ब्रह्मचर्य प्रधान है।

क्योंकि—

गाथार्थ—भाव से विरत मनुष्य ही विरत है, क्योंकि द्रव्यविरत की मुक्ति नहीं होती है। इसलिए विषयरूपी वन में रमण करने में चंचल मनरूपी हाथी को बाँधकर रखना चाहिए ॥९९७॥

आचारवृत्ति—जो अन्तरंगभावों से विरक्त हैं वे ही संयत कहलाते हैं। द्रव्यरूप कुशील की विरति मात्र से विरक्त हुए की उत्तम गति नहीं होती है। इसलिए पंचेन्द्रियों के रूप-रस आदि विषयरूपी बगीचे में क्रीडा करते हुए इस चित्तरूपी हाथी को वश में करना चाहिए।

अब्रह्म के कारणभूत द्रव्यों को कहते हैं—

गाथार्थ—पहले विपुल आहार करना, दूसरे काय का शोधन करना, तीसरे गन्ध-माला आदि धारण करना, चौथे गीत और बाजे सुनना, तथा शयनस्थान का शोधन, स्त्रीसंसर्ग, धन-संग्रह, पूर्वरति-स्मरण, इन्द्रियजन्य विषयों में अनुराग और पौष्टिक रसों का सेवन—ये दश अब्रह्म के कारण हैं ॥९९८-९९९॥

आचारवृत्ति—अत्यधिक भोजन करना—अब्रह्मचर्य का यह प्रथम कारण है जो कि अब्रह्म कहलाता है। स्नान, तैलमर्दन, उबटन आदि राग के कारणों से शरीर का संस्कार करना

---

१. क द्रव्येण बाह्यवृत्त्या। २. क प्रथममब्रह्म।

रागकारणैः शरीरस्य संस्करणं, तृतीयमब्रह्म गन्धमाल्यानि यक्षकर्दमाद्रमहिषीधूपादिना [1]सुगन्धग्रहणं, चतुर्थम-ब्रह्म गीतवादित्रादि सप्तस्वरपंचातोद्यवंशवीणातन्त्रीप्रभृतिकमिति ।।९९८।।

तथा—

तथा शयनं तूलिकापर्यंकादिकं शोधनं क्रीडागृहं चित्रशालादिकं रहस्यस्थानं कामोद्रेककारणं पंचम-मब्रह्म । तथापि च स्त्रीसंसर्गः रागोत्कटवनिताभिः कटाक्षनिरीक्षणपराभिश्चपलस्वशीलाभिः सम्पर्कः क्रीडनं षष्ठमब्रह्म । तथार्थस्य सुवर्णादिकस्याभरणवस्त्रादिकस्य च ग्रहणं सप्तममब्रह्म । तथा पूर्वरतिस्मरणं पूर्वस्मिन् काले यत् क्रीडितं तस्यानुस्मरणं चिन्तनमष्टममब्रह्म । तथेन्द्रियविषयेषु रूपरसगन्धशब्दस्पर्शेषु कामिनेषु रतिः समीहा नवममब्रह्म । तथा प्रणीतरससेवा इष्टरसानामुपसेवनं दशममब्रह्म । अब्रह्मकारणत्वाद् अब्रह्मेति ।।९९९।।

तस्य दशप्रकारस्यापि परिहारमाह—

दसविहमब्बंभमिणं संसारमहादुहाणमावाहं ।
परिहरइ जो महप्पा सो दढबंभव्वदो होदि ।।१०००।।

एवं दशप्रकारमप्यब्रह्मेदं [2]संसारकारणानां महद्दुःखानामावाहमवस्थानं प्रधानहेतुभूतं परिहरति यो महात्मा संयतः स दृढब्रह्मव्रतो भवति । भावाब्रह्मकारणं द्रव्याब्रह्मकारणं च यः परित्यजति तस्योभयथापि

द्वितीय अब्रह्म है । केशर, कस्तूरी आदि सुगन्धित पदार्थ एवं पुष्पमाला, धूप आदि की सुगन्धि ग्रहण करना तृतीय अब्रह्म है । पंचम, धैवत आदि सात स्वरों का पाँच प्रकार के आतोद्य, बांसुरी, वीणा, तन्त्री आदि वाद्यों का सुनना चतुर्थ अब्रह्म है । तूलिका, पर्यंक अर्थात् कोमल-कोमल रुई के गद्दे, पलंग आदि का शोधन करना एवं कामोद्रेक के कारणभूत क्रीड़ास्थल, चित्रशाला आदि व एकान्त स्थान आदि में रहना—यह पाँचवा अब्रह्म है । राग से उत्कट भाव धारण करती हुई, कटाक्ष से अवलोकन करती हुई एवं चित्त में चचलता उत्पन्न करती हुई स्त्रियों के साथ सम्पर्क रखना, उनके साथ क्रीड़ा करना छठा अब्रह्म है। सुवर्ण, आभरण, वस्त्र, धन आदि का संग्रह करना सातवाँ अब्रह्म है । पूर्वकाल में भोगे हुए भोगों का स्मरण-चिन्तन करना आठवाँ अब्रह्म है। रूप, रस, गन्ध, शब्द और स्पर्श इन पाँचों इन्द्रियों के विषयों में रति करना नवम कारण है । तथा इष्ट रसों का सेवन करना दसवाँ अब्रह्म है । ये दश अब्रह्म के कारण होने से अब्रह्म कहलाते हैं ।

इन दश प्रकारों के परिहार के लिए कहते हैं—

गाथार्थ—जो महात्मा संसार के महादुःखों के लिए स्थानरूप इन दश प्रकार के अब्रह्म का परिहार करता है वह दृढ़ ब्रह्मचर्यव्रती होता है ।।१०००।।

आचारवृत्ति—ये दश प्रकार के अब्रह्म संसार के कारणभूत हैं तथा महादुःखों के प्रधान कारण हैं । जो संयमी महापुरुष इनका त्याग करते हैं वे अपने ब्रह्मचर्यव्रत को अतिशय दृढ़ कर लेते हैं । तात्पर्य यह है कि जो भाव-अब्रह्म के कारण और द्रव्य-अब्रह्म के कारण इन दोनों

---

१. क सुगन्धपुष्पग्रहणं । २. क संसारकारणं ।

ब्रह्मचर्यं सम्यक् तिष्ठतीति, स च चारित्रवानिति ॥१०००॥

परिग्रहपरित्यागे फलमाह—

कोहमदमायलोहेहिं परिग्गहे लयइ संसजइ जीवो ।
तेणुभयसंगचाओ कायव्वो सव्वसाहूहिं ॥१००१॥

यतः क्रोधमदमायालोभैः परिग्रहे लगति संसजति 'परिग्रहत्वाद् गृह्णाति जीवस्तेन कारणेनोभय-संगत्यागः कर्तव्यो बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहपरिहारः कार्यः । उभयाब्रह्म च परिहरणीयं येन सह क्रोधमानमाया-लोभाश्च यत्नतस्त्याज्याः सर्वसाधुभिरिति ॥१००१॥

ततः —

णिस्संगो णिरारंभो भिक्खाचरियाए सुद्धभावो य ।
एगागी झाणरदो सव्वगुणड्ढो हवे समणो ॥१००२॥

उभयपरिग्रहाभावैर्निःसंगो मूर्च्छारहितस्तश्च निरारम्भः पापक्रियादिभ्यो निवृत्तस्ततश्च भिक्षा-चर्यायां शुद्धभावो भवति ततश्चैकाकी ध्यानरतः संजायते ततश्च सर्वगुणाढ्यः सर्वगुणसम्पन्नो भवेत्' ॥१००२॥

पुनरपि श्रमणविकल्पमाह—

का त्याग कर देते हैं उनके दोनों प्रकार का ब्रह्मचर्य अच्छी तरह से रहता है और वही चारित्र-वान् होते हैं।

परिग्रह-परित्याग का फल कहते हैं—

गाथार्थ—क्रोध, मान, माया और लोभ के द्वारा यह जीव परिग्रह में आसक्त होता है। इसलिए सर्वसाधुओं को उभय परिग्रह का त्याग कर देना चाहिए ॥१००१॥

आचारवृत्ति—क्रोध, मान, माया, लोभरूप कषायों के द्वारा यह जीव परिग्रह में संसक्त होता है। इसलिए बाह्य और आभ्यन्तर इन दोनों प्रकार के परिग्रहों का त्याग कर देना चाहिए तथा दोनों प्रकार के अब्रह्म का भी त्याग कर देना चाहिए। इनके साथ-साथ क्रोधादि कषायों का तो सभी साधुओं को प्रयत्नपूर्वक त्याग कर ही देना चाहिए।

इससे क्या होता है ?

गाथार्थ—जो निःसंग, निरारम्भ, भिक्षाचर्या में शुद्धभाव, एकाकी, ध्यानलीन और सर्व-गुणों से युक्त हो वही श्रमण होता है ॥१००२॥

आचारवृत्ति—जो निसंग—अन्तरंग-बहिरंग परिग्रह के अभाव से मूर्च्छारहित, निरारम्भ—पापक्रियाओं से निवृत्त, आहार की चर्या में शुद्धभाव सहित, एकाकी, ध्यान में लीन होते हैं वे श्रमण सर्वगुणसम्पन्न कहलाते हैं।

श्रमण के भेद कहते हैं—

---

१. क परिग्रहान्वा। २. क भवेत् श्रमणः।

णामेण जहा समणो ठावणिए तह य दव्वभावेण ।
णिक्खेवो वीह तहा चदुव्विहो होइ णायव्वो ॥१००३॥

श्रमणगोचरं निक्षेपमाह—नाम्ना यथा श्रमणः स्थापनया तथैव तत्र द्रव्येण भावेन च तथैव द्रष्टव्यः। नामश्रमणमात्रं नामश्रमणः तदाकृतिर्लेपादिषु स्थापनाश्रमणो गुणरहितलिंगग्रहणं द्रव्यश्रमणो मूलगुणोत्तरगुणानुष्ठानप्रवणभावो भावश्रमणः। एवमिह निक्षेपस्तथैवागमप्रतिपादितक्रमेण चतुर्विधो भवति ज्ञातव्य इति ॥१००३॥

तेषां मध्ये भावश्रमणं प्रतिपादयन्नाह—

भावसमणा हु समणा ण सेससमणाण सुग्गई जम्हा ।
जहिऊण दुविहमुवहिं भावेण सुसंजदो होह ॥१००४॥

भावश्रमणा एव श्रमणा यतः शेषश्रमणानां नामस्थापनाद्रव्याणां न सुगतिर्यस्मात्तस्माद्द्विविधमुपधिं द्रव्यभावजं परित्यज्य भावेन सुसंयतो भवेदिति[1] ॥१००४॥

भिक्षाशुद्धिं च कुर्यादित्याह—

वदसीलगुणा जम्हा भिक्खाचरिया विसुद्धिए ठंति[2] ।
तम्हा भिक्खाचरियं सोहिय साहू सदा विहारिज्ज ॥१००५॥

गाथार्थ—जैसे नाम से श्रमण होते हैं वैसे ही स्थापना से, द्रव्य से तथा भाव से होते हैं। इस तरह इस लोक में निक्षेप भी चार प्रकार का जानना चाहिए ॥१००३॥

आचारवृत्ति—श्रमण में निक्षेप को कहते हैं- जैसे नाम से श्रमण होते हैं वैसे ही स्थापना से, द्रव्य से और भाव से भी जानना चाहिए। नाम-श्रमण मात्र को नामश्रमण कहते हैं। लेप आदि प्रतिमाओं में श्रमण की आकृति स्थापनाश्रमण है। गुणरहित वेष ग्रहण करनेवाले द्रव्यश्रमण हैं और मूलगुण-उत्तरगुणों के अनुष्ठान में कुशल भावयुक्त भावश्रमण होते हैं। इस तरह आगम में कहे गये विधान से चार प्रकार का निक्षेप यहाँ पर भी जानना चाहिए।

उनमें से भावश्रमण का प्रतिपादन करते हैं—

गाथार्थ—भावश्रमण ही श्रमण हैं क्योंकि शेष श्रमणों को मोक्ष नहीं है, इसलिए हे मुने! दो प्रकार के परिग्रह को छोड़कर भाव से सुसंयत होओ ॥१००४॥

आचारवृत्ति—भावश्रमण ही श्रमण होते हैं, क्योंकि नाम, स्थापना और द्रव्य श्रमणों को सुगति नहीं होती है। इसलिए द्रव्य-भाव रूप परिग्रह को छोड़कर भाव से श्रेष्ठ संयमी बनो।

भिक्षाशुद्धि करो! ऐसा कहते हैं—

गाथार्थ—क्योंकि भिक्षाचर्या की विशुद्धि के होने पर व्रत, शील और गुण ठहरते हैं, इसलिए साधु भिक्षाचर्या का शोधन करके हमेशा विहार करे ॥१००५॥

---

१. क भवेत्। २. क ठंति।

व्रतानि शीलानि गुणाश्च यस्माद्भिक्षाचर्यायां विशुद्ध्यां सत्यां तिष्ठन्ति तस्माद्भिक्षाचर्यां संशोध्य साधुः सदा विहरेत्। भिक्षाचर्याशुद्धिश्च प्रधानं चारित्रं सर्वशास्त्रसारभूतमिति ॥१००५॥

तथैतदपि विशोध्याचरेदित्याह—

भिक्खं वक्कं हिययं सोधिय जो चरदि णिच्च सो साहू।
एसो सुट्ठिद साहू भणिओ जिणसासणे भयवं ॥१००६॥

भिक्षां गोचरीशुद्धिं वाक्यं वचनशुद्धिं हृदयं मनःशुद्धिं विशोध्य यश्चरति चारित्रोद्योगं करोति साधुर्नित्यं स एव सुस्थितः सर्वगुणोपेतः साधुर्भणितो भगवान्, क्व ? जिनशासने सर्वज्ञागमे इति ॥१००६॥

तथैतदपि सुष्ठु ज्ञात्वा चरत्वित्याह—

दव्वं खेत्तं कालं भावं सत्तिं च सुट्ठु णाऊण।
झाणज्झयणं च तहा साहू चरणं समाचरऊ ॥१००७॥

द्रव्यमाहारशरीरादिकं क्षेत्रं जांगलरूपादिकं कालं सुषमासुषमादिकं शीतोष्णादिकं भावं परिणामं च सुष्ठु ज्ञात्वा ध्यानमध्ययनं तथा ज्ञात्वा साधुश्चरणं समाचरतु। एवं कथितप्रकारेण चारित्रशुद्धिर्भवतीति ॥१००७॥

तथोभयत्यागफलमाह—

आचारवृत्ति—आहारचर्या के निर्दोष होने पर ही व्रत, शील और गुण रहते हैं, इसलिए मुनि सदैव आहारचर्या को शुद्ध करके विचरण करे। अर्थात् आहार की शुद्धि ही प्रधान है, वही चारित्र है और सभी में सारभूत है।

इसी तरह इनका भी शोधन करके आचरण करे, सो ही कहते हैं—

गाथार्थ—जो आहार, वचन और हृदय का शोधन करके नित्य ही आचारण करते हैं वे ही साधु हैं। जिन शासन में ऐसे सुस्थित साधु भगवान् कहे गये हैं ॥१००६॥

आचारवृत्ति—आहारशुद्धि, वचनशुद्धि और मनःशुद्धि का शोधन करते हुए जो हमेशा चारित्र में उद्यमशील रहते हैं वे ही सर्वगुणों से समन्वित साधु जिनागम में भगवान् कहे जाते हैं।

तथा इन्हें भी अच्छी तरह जानकर आचरण करो, सो ही कहते हैं—

गाथार्थ—साधु द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और शक्ति को अच्छी तरह समझकर भलीप्रकार से ध्यान, अध्ययन और चारित्र का आचरण करे ॥१००७॥

आचारवृत्ति—द्रव्य—आहार, शरीर आदि; क्षेत्र—जांगल, रूप आदि; काल—सुषमा आदि व शीत, उष्ण आदि; भाव—परिणाम; शक्ति—स्वास्थ्य बल आदि; इन्हें अच्छी तरह जानकर तथा ध्यान और अध्ययन को जानकर साधु चारित्र का आचरण करे। इस प्रकार की कथित विधि से चारित्रशुद्धि होती है।

तथा उभयत्याग का फल कहते हैं—

चाओ य होइ दुविहो संगच्चाओ कलत्तचाओ य ।
उभयच्चायं किच्चा साहू सिद्धिं लहू लहदि ॥१००८॥

त्यागश्च भवति द्विविधः संगत्यागः कलत्रत्यागश्च तत उभयत्यागं कृत्वा साधुर्लघु शीघ्रं सिद्धिं लभते न तत्र सन्देह इति ॥१००८॥

चारित्रशुद्धिमसंयमप्रत्ययकषायप्रत्यययोगप्रत्ययस्वरूपशुद्धिं च प्रतिपाद्य दर्शनशुद्धिं मिथ्यात्वप्रत्ययशुद्धिं च प्रतिपादयन्नाह—

[1]पुढवीकायिगजीवा पुढवीए चावि अस्सिदा संति ।
तम्हा पुढवीए आरम्भे णिच्चं विराहणा तेसिं ॥१००९॥

पृथिवीकायिकजीवास्तद्वर्णगन्धरसाः सूक्ष्माः स्थूलाश्च तदाश्रिताश्चान्ये जीवास्त्रसाः शेषकायाश्च सन्ति तस्मात्तस्याः पृथिव्या विराधनादिके खननदहनादिके आरम्भ आरम्भसमारम्भसंरम्भादिके च कृते निश्चयेन तेषां जीवानां तदाश्रितानां प्राणव्यपरोपणं स्यादिति । एवमप्कायिकतेजःकायिकवायुकायिकवनस्पतिकायिकत्रसकायिकानां तदाश्रितानां च समारम्भे ध्रुवं विराधनादिकं भवतीति निश्चेतव्यम् ॥१००९॥

तम्हा पुढविसमारंभो दुविहो तिविहेण वि ।
[2]जिणमग्गाणुचारीणं जावज्जीवं ण कप्पई ॥१०१०॥

गाथार्थ—त्याग दो प्रकार का है—परिग्रहत्याग और स्त्रीत्याग, दोनों का त्याग करके साधु शीघ्र ही सिद्धि प्राप्त कर लेता है ॥१००८॥

टीका सरल है ।

आचारवृत्ति—चारित्रशुद्धि, असंयमप्रत्यय, कषायप्रत्यय, और योगप्रत्यय इनकी स्वरूपशुद्धि का प्रतिपादन करके अब दर्शनशुद्धि और मिथ्यात्वप्रत्ययशुद्धि का प्रतिपादन करते हैं—

गाथार्थ—पृथ्वीकायिक जीव और पृथ्वी के आश्रित जीव होते हैं । इसलिए पृथ्वी के आरम्भ में उन जीवों की सदा विराधना होती है ॥१००९॥

आचारवृत्ति—पृथ्वीकायिक जीव उसी पृथ्वी के वर्ण-गन्ध-रसवाले होते हैं । उनके सूक्ष्म और बादर ऐसे दो भेद हैं । इस पृथ्वी के आश्रित त्रसजीव तथा शेषकाय भी रहते हैं । इसलिए पृथ्वी के खोदने, जलाने आदि आरम्भ करने पर अर्थात् सरम्भ, समारम्भ और आरम्भ द्वारा निश्चय से उन पृथ्वीकायिक का और उसके आश्रित जीवों का घात होता है । इसी प्रकार जल आदि के आरम्भ में जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक और त्रसकायिक जीवों तथा इनके आश्रित जीवों की नियम से विराधना आदि होती ही है ।

गाथार्थ—इसलिए जिनमार्ग के अनुसार चलनेवालों को दोनों तरह का पृथ्वी का आरम्भ तीन प्रकार से यावज्जीवन नहीं करना चाहिए ॥१०१०॥

१. फलटन से प्रकाशित संस्करण में इस गाथा में कुछ अन्तर है—
पुढवि कायिगा जीवा पुढविं जे समासिदा ।
दिट्ठा पुढविसमारंभे धुवा तेसिं विराधणा ॥

२. क जिण मग्गाणु सारीणं ।

यतः पृथिवीकायिकादीनां तदाश्रितानां च समारम्भे ध्रुवाहिंसा तस्मात्पृथिवीसमारम्भः खननादिको द्विविधो द्विप्रकारो पृथिवीकायिकतदाश्रितोभयरूपोऽपि त्रिविधेन मनोवाक्कायरूपेण जिनमार्गानुचारिणां[1] यावज्जीवं न कल्प्यते न युज्यत इति। एवमप्तेजोवायुवनस्पतित्रसानां द्विप्रकारेऽपि समारम्भेऽवगाहनसेचनज्वालनतापनवीजनमुखवातकरणच्छेदनतक्षणादिकं न कल्प्यते जिनमार्गानुचारिण[2] इति ॥१०१०॥*

आचारवृत्ति—पृथ्वीकायिक आदि जीवों की और उनके आश्रित जीवों की उनके खनन आदि समारम्भ से निश्चित ही हिंसा होती है, इसलिए पृथ्वीकायिक का समारम्भ दो प्रकार का है —पृथ्वीकायिक का आरम्भ और उनके आश्रित जीवों का घातरूप आरम्भ। ये दोनों प्रकार भी मन-वचन-काय की अपेक्षा से तीन प्रकार के हो जाते हैं। जिनमार्ग के अनुकूल चलनेवाले मुनियों को यह आरम्भ जीवनपर्यन्त करना युक्त नहीं है। इसी प्रकार जल, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रस जीवों के दो प्रकार के भी आरम्भ में अर्थात् जल में अवगाहन करना, उसका सिंचन करना, अग्नि जलाना, उससे तपाना, हवा चलाना, मुख से फूँककर हवा करना, वनस्पति का छेदन करना, त्रस जीवों की हिंसा करना आदि आरम्भ साधु को करना उचित नहीं है।

---

१. क मार्गानुसारिणां। २. क मार्गानुसारिणः।

* फलटन से प्रकाशित प्रति में ये पाँच गाथाएँ और हैं—

आउकायिगा जीवा आऊं जे समस्सिदा।
दिट्ठा आउसमारंभे धुवा तेसिं विराधणा॥

अर्थ—जलकायिक जीव और उसके आश्रित रहनेवाले अन्य जो त्रसजीव हैं, जल के गर्म करने, छानने, गिराने आदि आरम्भ से निश्चित ही उनकी विराधना होती है।

तेउकायिगा जीवा तेउं ते समस्सिदा।
दिट्ठा तेउसमारंभे धुवा तेसिं विराधणा॥

अर्थ—अग्निकायिक जीव और अग्नि के आश्रित रहनेवाले जो जीव हैं उनकी अग्नि बुझाने आदि आरम्भ से निश्चित ही विराधना होती है।

वाउकायिगा जीवा वाउं ते समस्सिदा।
दिट्ठा वाउसमारंभे धुवा तेसिं विराधणा॥

अर्थ—वायुकायिक जीव और उनके आश्रित रहनेवाले जो त्रसजीव हैं, उनकी वायु के प्रतिबन्ध करने या पंखा करना आदि आरम्भ से निश्चित ही विराधना होती है।

वणप्फदिकाइगा जीवा वणप्फदिं जे समस्सिदा।
दिट्ठा वणप्फदिसमारंभे धुवा तेसिं विराधणा॥

अर्थ—वनस्पतिकायिक जीव और उनके आश्रित रहनेवाले जो जीव हैं, वनस्पति फल-पुष्प के तोड़ने, मसलने आदि आरम्भ से उनकी नियम से विराधना होती है।

जे तसकायिगा जीवा तसं जे समस्सिदा।
दिट्ठा तससमारंभे धुवा तेसिं विराधणा॥

अर्थ—जो त्रसकायिक जीव हैं और उनके आश्रित जो अन्य जीव हैं उन सब का घात, पीडन आदि करने से नियम से उन जीवों की विराधना होती है।

असंयमप्रत्ययं तद्विशुद्धिं च प्रतिपाद्य मिथ्यात्वप्रत्ययं तद्विशुद्धिं प्रतिपादयन्नाह—

जो पुढविकाइजीवे ण वि सद्दहदि जिणेहिं णिद्दिट्ठे ।
दूरत्थो जिणवयणे तस्स उवट्ठावणा णत्थि ॥१०११॥*

यः पृथिवीकायिकान् जीवान् न श्रद्दधाति नाभ्युपगच्छति जिनैः प्रज्ञप्तान् प्रतिपादितान् स जिन-वचनाद् दूरं स्थितो न तस्योपस्थापनाऽस्ति न तस्य सम्यग्दर्शनादिषु संस्थितिर्विद्यते मिथ्यादृष्टित्वादिति ।

असंयम प्रत्यय और उसकी विशुद्धि का प्रतिपादन करके अब मिथ्यात्व प्रत्यय और उसकी विशुद्धि को प्रतिपादित करते हैं—

गाथार्थ—जो जिनेन्द्रदेव द्वारा कथित पृथ्वीकायिक जीवों का श्रद्धान नहीं करता है वह जिन वचन से दूर स्थित है, उसे उपस्थापना नहीं है ॥१०११॥

आचारवृत्ति—जो जिनेन्द्रदेव द्वारा प्रतिपादित पृथ्वीकायिक जीवों को स्वीकार नहीं करता है वह जिन वचन से दूर ही रहता है, उसकी सम्यग्दर्शन आदि में स्थिति नहीं है क्योंकि वह मिथ्यादृष्टि हो जाता है। इसी प्रकार से जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, वनस्पति-

---

* फलटण से प्रकाशित मूलाचार में निम्नलिखित पाँच गाथाएँ अधिक हैं—

तम्हा आउसमारंभो दुविहो तिविहेण वि ।
जिणमग्गाणुचारीणं जावज्जीवं ण कप्पदि ॥
तम्हा तेउसमारंभो दुविहो तिविहेण वि ।
जिणमग्गाणुचारीणं जावज्जीवं ण कप्पदि ॥
तम्हा वाउसमारंभो दुविहो तिविहेण वि ।
जिणमग्गाणुचारीणं जावज्जीवं ण कप्पदि ॥
तम्हा वणप्फदिसमारंभो दुविहो तिविहेण वि ।
जिणमग्गाणुचारीणं जावज्जीवं ण कप्पदि ॥
तम्हा तससमारंभो दुविहो तिविहेण वि ।
जिणमग्गाणुचारीणं जावज्जीवं ण कप्पदि ॥

अर्थ—अतः जिन मार्गानुचारी साधुओं को दोनों प्रकार का जल के अर्थात् जलकायिक जीवों का और उसके आश्रित जीवों का आरम्भ मन-वचन-काय से यावज्जीवन नहीं करना चाहिए।

अतः जिनमार्गानुचारी साधुओं को दोनों प्रकार के अग्निजीव का आरम्भ मन-वचन-काय से जीवनपर्यंत करना युक्त नहीं है।

अतः जिनमार्ग के अनुकूल साधुओं को दोनों प्रकार के वायु जीवों का आरम्भ मन-वचन-काय से जीवनपर्यंत करना उचित नहीं है।

अतः जैन शासन के अनुकूल साधुओं को दो प्रकार के वनस्पति जीवों का आरम्भ मन-वचन-काय से जीवन भर करना उचित नहीं है।

अतः जिन मार्ग के अनुकूल प्रवृत्ति करनेवाले साधुओं को त्रसजीवों का दो प्रकार का यह आरम्भ अर्थात् घात मन-वचन-काय से यावज्जीवन नहीं करना चाहिए।

एवमप्कायिकान् वनस्पतिकायिकान् त्रसकायिकांश्च तदाश्रितांश्च यो नाभ्युपगच्छति तस्याप्युपस्थापना नास्ति सोऽपि मिथ्यादृष्टिरेव न कदाचिदपि मुक्तिमार्गे तस्य स्थितिर्यतो दर्शनाभावेन¹ चारित्रस्य ज्ञानस्य चाभाव एवद र्शनाविनाभावित्वात्तयोरिति ॥१०११॥

यः पुनः श्रद्दधाति स सद्दृष्टिरिति प्रतिपादयन्नाह—

जो पुढविकायजीवे अइसद्दहदे जिणेहिं पण्णत्ते ।
उवलद्धपुण्णपावस्स तस्सुवट्ठावणा अत्थि ॥१०१२॥*

यः पृथिवीकायिकजीवांस्तदाश्रितांश्चातिशयेन श्रद्दधाति मन्यते जिनैः प्रज्ञप्तान् तस्योपलब्धपुण्य-

---

कायिक और त्रसकायिक तथा उनके आश्रित जीवों को जो स्वीकार नहीं करता है उसके भी उपस्थापना नहीं होती है, वह भी मिथ्यादृष्टि ही है। उसकी मोक्षमार्ग में कदाचित् भी स्थिति नहीं है क्योंकि दर्शन के अभाव में चारित्र और ज्ञान का अभाव ही है। यह इसलिए कि ये दोनों सम्यक्त्व के साथ अविनाभावी हैं।

गाथार्थ—जो जिनदेवों द्वारा प्रज्ञप्त पृथ्वीकायिक जीवों के अस्तित्व का अतिशय श्रद्धान करता है, पुण्य पाप के ज्ञाता उस साधु की उपस्थापना होती है ॥१०१२॥

आचारवृत्ति—जो जिनेन्द्रदेव द्वारा प्रतिपादित पृथ्वीकायिक तथा उनके आश्रित जीवों का अतिशयरूप से श्रद्धान करता है और जिसने पुण्य-पाप का स्वरूप जान लिया है उसकी

१. दर्शनाभाव।

* फलटन से प्रकाशित मूलाचार में निम्नलिखित पांच गाथाएं अधिक हैं—

जो आउकाइगे जीवे णवि सद्दहदि जिणेहिं पण्णत्ते।
दूरत्थो जिनवयणे तस्सुवट्ठावणा णत्थि ॥
जो तेउकाइगे जीवे ण वि सद्दहदि जिणेहिं पण्णत्ते।
दूरत्थो जिणवयणे तस्सुवट्ठावणा णत्थि ॥
जो वाउकाइगे जीवे ण सद्दहदि जिणेहिं पण्णत्ते।
दूरत्थो जिणवयणे तस्सुवट्ठावणा णत्थि ॥
जो वणप्फदिकाइगे जीवेण विसद्दहदि जिणेहिं पण्णत्ते।
दूरत्थो जिणवयणे तस्सुवट्ठावणा णत्थि ॥
जो तसकाइगे जीवे ण वि सद्दहदि जिणेहिं पण्णत्ते।
दूरत्थो जिणवयणे तस्सुवट्ठावणा णत्थि ॥

अर्थ—जो जिनेन्द्रदेव द्वारा कथित जलकायिक जीवों का श्रद्धान नही करता है वह जिनवचन से दूर ही स्थित है, उसके उपस्थापना नही होती। जो जिनदेव द्वारा कथित अग्निकायिक जीवों का श्रद्धान नही करता है वह जिनवचन से दूर स्थित है उसके उपस्थापना नहीं है। जो जिनदेव द्वारा कथित वायुकायिक जीवों का श्रद्धान नहीं करता है वह जिनवचन से दूर ही स्थित है, उसके उपस्थापना नहीं है। जो जिनदेव कथित वनस्पति-कायिक जीवों का श्रद्धान नहीं करता है, वह जिनवचन से दूर स्थित है, उसके उपस्थापना नहीं है। जो जिनेन्द्रदेव द्वारा कथित त्रसकायिक जीवों का श्रद्धान नहीं करता है वह जिनवचन से दूर है, उसके उपस्थापना नहीं है।

पापस्योपस्थापना विद्यते मोक्षमार्गे तस्य संस्थितिरवश्यम्भाविनीति। एवमप्कायिकतेजःकायिकवायुकायिक-वनस्पतिकायिकत्रसकायिकांस्तदाश्रितांश्च यः श्रद्दधाति मन्यतेऽभ्युपगच्छति तस्योपलब्धपुण्यपापस्योपस्थापना विद्यत इति ॥१०१२॥

न पुनः श्रद्दधाति तस्य फलमाह—

ण सद्दहदि जो एदे जीवे पुढविदं गदे।
स गच्छे दिग्घमद्धाणं लिंगत्थो वि हु दुम्मदी ॥१०१३॥*

न श्रद्दधाति नाभ्युपगच्छति य एतान् जीवान् पृथिवीत्वं गतान् पृथिवीकायिकान् तदाश्रितांश्च स गच्छेद्दीर्घमध्वानं दीर्घसंसारं लिंगस्थोऽपि नाग्न्यादिलिंगसहितोऽपि दुर्मतिर्यत इति। एवमप्कायिकतेजःकायिक-वायुकायिकवनस्पतिकायिकत्रसकायिकान् तदाश्रितांश्च यो न श्रद्दधाति नाभ्युपगच्छति स लिंगस्थोऽपि

मोक्षमार्ग में स्थिति अवश्यभाविनी है। इसी प्रकार से जो जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक वनस्पतिकायिक और त्रसकायिक जीवों को तथा उनके आश्रित जीवों को स्वीकार करता है, पुण्यपाप के जानकार उस साधु को मोक्षमार्ग में स्थिति रहती है।

पुनः जो इन पर श्रद्धान नहीं करता है उसका फल बताते हैं—

गाथार्थ—जो पृथ्वी पर्याय को प्राप्त इन जीवों का श्रद्धान नहीं करता, मुनि वेष-धारी होकर भी वह दुर्मति दीर्घ संसार को पाता है ॥१०१३॥

आचारवृत्ति—जो पृथ्वीकायिक पर्याय को प्राप्त जीवों को और उनके आश्रित जीवों को स्वीकार नहीं करता है वह नग्नत्व आदि लिंग को धारण करते हुए भी दुर्मति है, अतः दीर्घ मार्ग—संसार को प्राप्त करता है। इसी प्रकार से जो जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक और त्रसकायिक जीवों को तथा उनके आश्रित जीवों को स्वीकार नहीं करता

---

* फलटण से प्रकाशित मूलाचार में निम्नलिखित पाँच गाथाएँ अधिक हैं।

जो आउकाइगे जीवे अइसद्दहदि जिणेहिं पण्णत्ते।
उवलद्धपुण्णपावस्स तस्सुवट्ठावणा अत्थि ॥
जो तेउकाइगे जीवे अइसद्दहदि जिणेहिं पण्णत्ते।
उवलद्धपुण्ण पावास्स तस्सुवट्ठावणा अत्थि ॥
जो वाउकाइगे जीवे अइसद्दहदि जिणेहिं पण्णत्ते।
उवलद्धपुण्णपावस्स तस्सुवट्ठावणा अत्थि ॥
जो वणप्फदिकाइगे जीवे अइद्दसद्दहदि जिणेहिं पण्णत्ते।
उवलद्धपुण्णपावस्स तस्सुवट्ठावणा अत्थि ॥
जो तसकाइगे जीवे अइसद्दहदि जिणेहिं पण्णत्ते।
उवलद्धपुण्णपावस्स तस्सुवट्ठावणा अत्थि ॥

अर्थात् जो जिनेन्द्रदेव द्वारा प्रतिपादित जलकायिक जीव, अग्निकायिक जीव, वायुकायिक जीव, वनस्पति-कायिक जीव एवं त्रसकायिक जीवों का तथा इनके आश्रित अन्य जीवों का अतिशयरूप से श्रद्धान करता है, पुण्य-पाप के स्वरूप को जानकार उस व्यक्ति को रत्नत्रय में अवस्थिति होती है।

दुर्मतिर्दीर्घसंसारं गच्छेदिति ॥१०१३॥

एवंभूतान् जीवान् पातुकामः श्रीगणधरदेवस्तीर्थंकरपरमदेवं पृष्टवानिति, तत्प्रश्नस्वरूपमाह—

कधं चरे कधं चिट्ठे कधमासे कधं सये ।
कधं भुंजेज्ज भासिज्ज कधं पावं ण बज्झदि ॥१०१४॥*

एवं प्रतिपादितक्रमेण जीवनिकायकुले[1] जगति साधुः कथं केन प्रकारेण चरेद्गच्छेदनुष्ठानं वा कुर्यात् कथं तिष्ठेत् कथमासीत कथं वा शयीत कथं भुंजीत कथं भाषेत कथं वदेत कथं पापं न बध्यते केन प्रकारेण पापागमो न स्यादिति ॥१०१४॥

है वह मुनिवेषधारी होकर भी दुर्मति है, अतः दीर्घ संसार में ही भ्रमण करता रहता है।

इन पर्यायगत जीवों की रक्षा करने के इच्छुक श्रीगणधर देव ने तीर्थंकर परमदेव से जो प्रश्न किये थे, उन्हीं को यहाँ कहते हैं—

गाथार्थ—हे भगवन्! कैसा आचरण करे, कैसे ठहरे, कैसे बैठे, कैसे सोवे, कैसे भोजन करे एवं किस प्रकार बोले कि जिससे पाप से नहीं बँधे ॥१०१४॥

आचारवृत्ति—उपर्युक्त प्रतिपादित क्रम से जीवसमूह से व्याप्त इस जगत् में साधु किस प्रकार से गमन करे अथवा अनुष्ठान करे? किस प्रकार से खड़ा हो? किस प्रकार से बैठे? किस प्रकार से शयन करे? किस प्रकार से आहार करे तथा किस प्रकार से बोले? जिस प्रकार से पाप का आगमन न हो सो बताइए!

---

१. क० जीवनिकाया कुले।

* फलटन से प्रकाशित कृति में ये गाथाएँ अधिक हैं—

ण सद्दहदि जो एदे जीवे आउतणवे ।
स गच्छे दिग्घमद्धाणं लिंगत्थो वि हु दुम्मदी ॥
ण सद्दहदि जो एदे जीवे तेउतणवे ।
स गच्छे दिग्घमद्धाणं लिंगत्थो वि हु दुम्मदी ॥
ण सद्दहदि जो एदे जीवे वाउतण्णवे ।
स गच्छे दिग्घमद्धाणं लिंगत्थो वि हु दुम्मदी ॥
ण सद्दहदि जो एदे जीवे वणप्फदितणवे ।
स गच्छे दिग्घमद्धाणं लिंगत्थो वि हु दुम्मदी ।
ण सद्दहदि जो एदे जीवे तसतण्णवे ।
स गच्छे दिग्घमद्धाणं लिंगत्थो वि हु दुम्मदी ॥

अर्थ—जो जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक और त्रसकायिक जीवों का तथा उनके आश्रित जीवों का श्रद्धान नहीं करता है वह दुर्मति मुनि वेषधारी होते हुए भी दीर्घ संसार को प्राप्त करता है।

प्रश्नमालाया उत्तरमाह—

जदं चरे जदं चिट्ठे जदमासे जदं सये ।
जदं भुंजेज्ज भासेज्ज एवं पावं ण बज्झइ ॥१०१५॥

यत्नेनेर्यापथसमितिशुद्ध्या चरेद् यत्नेन तिष्ठेद् महाव्रतादिसंपन्नो यत्नेनासीत प्रतिलिख्य जीवान-विराधयन् पर्यंकादिना यत्नेन शयीत प्रतिलिख्योद्वर्त्तनपरावर्त्तनादिकमकुर्वन् संकुचितात्मा रात्रौ शयनं कुर्याद् यत्नेन भुंजीत षट्चत्वारिंशद्दोषवर्जितां भिक्षां गृह्णीयाद्यत्नेन भाषेत भाषासमितिक्रमेण सत्यव्रतोपपन्नः, एवमनेन प्रकारेण पापं न बध्यते कर्मास्रवो न भवतीति ॥१०१५॥

यत्नेन चरतः फलमाह—

जदं तु चरमाणस्स [1]दयापेहुस्स भिक्खुणो ।
णवं ण बज्झदे कम्मं पोराणं च विधूयदि ॥१०१६॥

यत्नेनाचरतो भिक्षोर्दयाप्रेक्षकस्य दयाप्रेक्षिणो नवं न बध्यते कर्म चिरन्तनं च विधूयते निराक्रियते । एवं यत्नेन तिष्ठता यत्नेनासीनेन यत्नेन शयानेन भुंजानेन यत्नेन भाषमाणेन नवं कर्म न बध्यते चिरन्तनं च

इस प्रश्नमाला का उत्तर देते हैं—

गाथार्थ—यत्नपूर्वक गमन करे, यत्नपूर्वक खड़ा हो, यत्नपूर्वक बैठे, यत्नपूर्वक सोवे, यत्नपूर्वक आहार करे और यत्नपूर्वक बोले; इस तरह करने से पाप का बन्ध नहीं होगा ॥१०१५॥

आचारवृत्ति—सावधानीपूर्वक—ईर्यापथशुद्धि से गमन करे। सावधानीपूर्वक अर्थात् महाव्रत आदि व्रतों से सहित होकर रहे। सावधानीपूर्वक चक्षु से देखकर और पिच्छिका से परिमार्जन करके जीवों की विराधना न करते हुए पर्यंक आदि से बैठे। सावधानीपूर्वक पिच्छिका से प्रतिलेखन करके उद्वर्तन-परिवर्तन अर्थात् करवट बदलने आदि क्रियाएँ करते हुए संकुचित गात्र करके रात्रि में शयन करे। सावधानीपूर्वक छ्यालीस दोष वर्जित आहार ग्रहण करे, तथा सावधानीपूर्वक सत्यव्रत से सम्पन्न होकर भाषासमिति के क्रम से बोले। इस प्रकार से पाप का बन्ध नहीं होता है अर्थात् कर्मों का आस्रव रुक जाता है।

यत्नपूर्वक गमन करने का फल कहते हैं—

गाथार्थ—यत्नपूर्वक चलते हुए, दया से जीवों को देखनेवाले साधु के नूतन कर्म नहीं बँधते हैं और पुराने कर्म झड़ जाते हैं ॥१०१६॥

आचारवृत्ति—प्रयत्नपूर्वक आचरण करते हुए साधु को, जो कि दया से सर्वजीवों का अवलोकन करनेवाले हैं, नवीन कर्म नहीं बँधते हैं और पुराने बँधे हुए कर्म दूर हो जाते हैं। इसी प्रकार से सावधानीपूर्वक ठहरते हुए, सावधानीपूर्वक बैठते हुए, सावधानीपूर्वक सोते हुए, सावधानीपूर्वक आहार करते हुए और सावधानीपूर्वक बोलते हुए साधु के नवीन कर्मों का बन्ध

---

1. द दयापेहिस्स ।

क्षीयते ततः सर्वथा यत्नाचारेण भवितव्यमिति ॥१०१६॥

समयसारस्योपसंहारगाथेयं—

एवं विधाणचरियं जाणित्ता आचरिज्ज जो भिक्खू ।
णासेऊण दु कम्मं दुविहं पि य लहु लहइ सिद्धिं ॥१०१७॥*

एवमनेन प्रकारेण विधानचरितं क्रियानुष्ठानं ज्ञात्वा आचरति यो भिक्षुः स साधुर्नाशयित्वा कर्म द्विप्रकारमपि शुभाशुभरूपमपि द्रव्यरूपं भावरूपं वा शीघ्रं लभते सिद्धिं[1] यत एवं चारित्रान्मोक्षो भवति सर्वस्य

नहीं होता है और चिरन्तन बंधे हुए कर्म क्षय को प्राप्त हो जाते हैं, इसलिए सर्वथा—सब प्रकार से यत्नाचार होना चाहिए।

समयसार अधिकार की यह उपसंहार गाथा है—

गाथार्थ—जो साधु इस प्रकार से विधानरूप चारित्र को जानकर आचरण करते हैं वे दोनों प्रकार के कर्मों का नाश करके शीघ्र ही सिद्धि प्राप्त कर लेते हैं ॥१०१७॥

आचारवृत्ति—जो साधु इस प्रकार से क्रियाओं के अनुष्ठान को जानकर आचरण करते हैं वे शुभ और अशुभ रूप अथवा द्रव्यरूप और भावरूप इन दोनों प्रकार के कर्मों को नष्ट

---

१. क सिद्धिं मोक्षं ।

* फलटन से प्रकाशित मूलाचार में निम्नलिखित गाथाएं अधिक हैं—

जदं तु चिट्ठमाणस्स दयापेक्खिस्स भिक्खुणो ।
णवं ण बज्झदे कम्मं पोराणं च विधूयदि ॥
जदं तु आसमाणस्स दयापेक्खिस्स भिक्खुणो ।
णवं ण बज्झदे कम्मं पोराणं च विधूयदि ॥
जदं तु सयमाणस्स दयापेक्खिस्स भिक्खुणो ।
णवं ण बज्झदे कम्मं पोराणं च विधूयदि ॥
जदं तु भुंजमाणस्स दयापेक्खिस्स भिक्खुणो ।
णवं ण बज्झदे कम्मं पोराणं च विधूयदि ॥
जदं तु भासमाणस्स दयापेक्खिस्स भिक्खुणो ।
णवं ण बज्झदे कम्मं पोराणं च विधूयदि ॥
दव्वं खेत्तं कालं भावं च पडुच्च तह य संघडणं ।
चरणम्हि जो पवट्टइ कमेण सो णिरवहो होइ ॥

अर्थात् यत्नपूर्वक खड़े होनेवाले और दया का पालन करनेवाले साधु के नवीन कर्म नहीं बंधते हैं तथा पुराने कर्म निर्जीर्ण हो जाते हैं। ऐसे ही यत्नपूर्वक बैठने वाले, यत्नपूर्वक सोने वाले, यत्नपूर्वक आहार करनेवाले और यत्नपूर्वक बोलनेवाले तथा दया से सर्व जीवों का निरीक्षण करनेवाले साधु के नूतन कर्मों का बन्ध नहीं होता है तथा पुराने कर्म झड़ जाते हैं। इस तरह जो साधु द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और अपने शरीर संहनन का अनुसरण करके चारित्र में प्रवृत्ति करता है वह क्रम से बधरहित—अहिंसक हो जाता है।

सारभूतं चारित्रं तत इति दशमस्य समयसारसंज्ञकस्याचारस्य ॥१०१७॥

इति श्रीमद्वट्टकेर्याचार्यवर्यप्रणीते मूलाचारे श्रीवसुनन्द्याचार्यप्रणीताचारवृत्त्याख्यटीका-
सहिते दशमः समयसाराधिकारः ॥[1]

करके शीघ्र ही सिद्धि प्राप्त कर लेते हैं। जिस कारण चारित्र से ही मोक्ष होता है उसी कारण से सभी का सारभूत चारित्र है। इस प्रकार दशवें समयसार अधिकार नामक आचार शास्त्र में संक्षेप में सारभूत चारित्र को ही कहा गया है।[2]

इस प्रकार श्री वसुनन्दि-आचार्य प्रणीत 'आचारवृत्ति' नामक टीका सहित
श्रीमान् वट्टकेराचार्यवर्य प्रणीत इस मूलाचार ग्रन्थ में 'समयसार'
नामक दशवां अधिकार पूर्ण हुआ।

---

१. ख-ग-पुस्तकेऽस्य स्थानेऽयं पाठः।
इति वसुनन्दिविरचितायामाचारवृत्तौ दशमः परिच्छेदः।

२. फलटन से प्रकाशित प्रति में यह गाथा अधिक है।

तित्थयरकहियअत्थं गणधररचियं उदीहिं अणुचरियं।
णिव्वाणहेदुभूदं सुदमहमखिलं पणिवदामि॥

अर्थ—परम तीर्थंकर देव ने जिसका अर्थरूप से कथन किया है, गणधरदेव ने जिसे सूत्ररूप में रचा है और मतियो ने जिसका अभ्यास किया है, निर्वाण के लिए कारणभूत ऐसे सम्पूर्ण द्वादशांगश्रुत को मैं प्रणाम करता हूं।

शीलगुणाधिकारः[1]

सीलगुणालयभूदे कल्लाणविसेसपाडिहेरजुदे ।
वंदित्ता अरहंते सीलगुणे कित्तइस्सामि ॥१०१८॥

सील—शीलव्रतपरिरक्षणं शुभयोगवृत्तिरशुभयोगवृत्तिपरिहार आहारभयमैथुनपरिग्रहसंज्ञाविरति-पञ्चेन्द्रियनिरोधः कायसंयमविषयोद्भवदोषाभावः क्षान्त्यादियोगाश्च, गुणा—गुणाः संयमविकल्पाः पंचमहाव्रतादयः कषायाद्यभावोऽतिक्रमाद्यभावः षट्कायसविकल्पसंयमदशप्रकाराब्रह्माभाव आकंपितादिदोषविमुक्तिरालोचनादिप्रायश्चित्तकरणं। शीलानि च गुणाश्च शीलगुणास्तेषामालयभूताः सम्यगवस्थानं संजाताः शीलगुणालयभूतास्तान् शीलगुणालयभूतान् व्रतानां व्रतपरिरक्षणानां चाधारान्। कल्लाण—कल्याणानि स्वर्गावतरणजन्मनिष्क्रमणकेवलज्ञानोत्पत्तिनिर्वाणगमनानि, विसेस—विशेषा अतिशयविशेषाश्चतुस्त्रिंशत्, स्वाभाविका

गाथार्थ—पंचकल्याणक अतिशय और प्रतिहार्यों से युक्त, शील एवं गुणों के स्थान स्वरूप अर्हन्तों को नमस्कार करके मैं शील और गुणों का कीर्तन करूँगा ॥१०१८॥

आचारवृत्ति—जो व्रतों की रक्षा करते हैं उन्हें शील कहते हैं। शुभ मन-वचन-काय में वर्तन करना और अशुभ मन-वचन-काय की प्रवृत्ति का परिहार करना; आहार, भय, मैथुन और परिग्रह इन चार संज्ञाओं से विरत होना; पाँचों इन्द्रियों को अपने-अपने विषयों से रोकना; कायसंयम—प्राणिसंयम के विषय में उत्पन्न हुए दोषों को दूर करना और उत्तम क्षमा आदि को धारण करना ये सब शील के भेद हैं। सर्वशील अठारह हजार भेदरूप हैं जिनका वर्णन इस अधिकार में करेंगे।

जो आत्मा का उपकार करें वे गुण कहलाते है। यहाँ संयम के भेदों को गुण कहा है जो पाँच महाव्रत आदि रूप हैं। कषाय आदि का अभाव होना, अतिक्रम, व्यतिक्रम आदि का अभाव होना, षट्काय जीवों की दया पालनेरूप संयम का होना, दश प्रकार के अब्रह्म का अभाव होना, आकम्पित आदि दोषों से रहित आलोचना, प्रायश्चित्त आदि का करना ये सब गुण हैं। ये चौरासी लाख होते हैं, जिनका वर्णन इसमें करेंगे।

वे अरिहंतदेव शील और गुणों के आधारभूत हैं, स्वर्गावतरण, जन्माभिषेक, परिनिष्क्रमण, केवलज्ञान-उत्पत्ति और निर्वाणगमन इन पाँच कल्याणकों से सहित हैं, विशेष—अतिशयविशेष अर्थात् चौंतीस अतिशयों से युक्त हैं। भगवान् के जन्म से ही पसीना नहीं आना

1. फलटन से प्रकाशित मूलाचार में शील गुणाधिकार बारहवाँ है और पर्याप्ति अधिकार ग्यारहवाँ है।

दश निःस्वेदत्वादिकाः, घातिकर्मक्षयजा दश गव्यूतिशतचतुष्टयसुभिक्षत्वादिका, देवोपनीताश्चतुर्दश सर्वार्द्ध-मागधिकभाषादयः, पाडिहेर—प्रातिहार्याण्यष्टौ सिंहासनादीनि, जुदे—युक्तान् सहितान् कल्याणानि चाति-शयविशेषाश्च प्रातिहार्याणि च कल्याणविशेषप्रातिहार्याणि तैर्युक्तास्तान् कल्याणविशेषप्रातिहार्ययुक्तान् सर्वान् सर्वज्ञत्वचिह्नोपेतान् त्रिषष्टिकर्मक्षयजगुणसंयुक्तान्, वंदित्ता—वंदित्वा प्रणम्य, अरहंते—अर्हतः सर्वज्ञ-नाथान्, सीलगुणे—शीलगुणान् शीलानि गुणांश्च, कित्तइस्सामि—कीर्तयिष्यामि सम्यगनुवर्तयिष्यामि। अर्हतः शीलगुणालयभूतान् कल्याणविशेषप्रातिहार्ययुक्तान् वंदित्वा शीलगुणान् कीर्तयिष्यामीति सम्बन्धः ॥१०१८॥

शीलानां तावदुत्पत्तिक्रममाह—

जोए करणे सण्णा इंदिय भोम्मादि समणधम्मे य।
अण्णोण्णेहिं अभत्था अट्ठारहसीलसहस्साइं ॥१०१९॥

जोए—योग आत्मप्रदेशपरिस्पन्दः स निमित्तभेदात् त्रिधा भिद्यते काययोगो मनोयोगो वाग्योग इति। तद्यथा वीर्यान्तरायक्षयोपशमसद्भावे सत्यौदारिकादिसप्तकायवर्गणान्यतमालंबनापेक्ष आत्मप्रदेशपरि-स्पंदः काययोगः, शरीरनामकर्मोदयापादितवाग्वर्गणालम्बने सति वीर्यान्तरायमत्यक्षराद्यावरणक्षयोपशमादि-नाभ्यन्तरवाग्लब्धिसान्निध्ये वाक्परिणामाभिमुखस्यात्मनः प्रदेशपरिस्पन्दो वाग्योगः, अभ्यन्तरवीर्यान्तराय-नोइन्द्रियावरणक्षयोपशमात्मकमनोलब्धिसन्निधाने बाह्यनिमित्तमनोवर्गणालम्बने सति मनःपरिणामाभि-

---

आदि दश स्वाभाविक अतिशय होते हैं। चार सौ कोश तक सुभिक्ष का होना इत्यादि दश अतिशय घाति कर्म के क्षय से होते हैं। सर्वार्द्ध मागधी भाषा आदि रूप से चौदह अतिशय देवों द्वारा कृत होते हैं। ये चौंतीस अतिशय विशेष कहलाते हैं। सिंहासन, छत्रत्रय आदि आठ प्रतिहार्य होते हैं। अरिहंतदेव पाँच कल्याणक, चौंतीस अतिशय और आठ प्रतिहार्यों से युक्त होते हैं।

त्रेसठ कर्म प्रकृतियों के क्षय से उत्पन्न हुए गुण से संयुक्त, सर्वज्ञ के चिह्न से सहित, पंचकल्याणक, चौंतीस अतिशय और आठ प्रतिहार्यों से युक्त तथा शील और गुणों के आलय स्वरूप सर्वज्ञनाथ सम्पूर्ण अरिहंत परमेष्ठियों को नमस्कार करके मैं शील और गुणों का अच्छी से वर्णन करूंगा।

शील के भेद की उत्पत्ति का क्रम कहते हैं—

गाथार्थ—तीन योग, तीन करण, चार संज्ञाएँ, पाँच इन्द्रियाँ, पृथ्वी आदि षट्काय और दश श्रमण धर्म—इन्हें परस्पर में गुणा करने से शील के अठारह हजार भेद हो जाते हैं ॥१०१९॥

आचारवृत्ति—आत्मप्रदेशों का परिस्पंदन योग कहलाता है। वह निमित्त के भेद से तीन प्रकार हो जाता है—काययोग, वचनयोग और मनोयोग। उसी को कहते हैं—वीर्यान्तराय कर्म का क्षयोपशम होने पर औदारिक आदि सात प्रकार की कायवर्गणाओं में से किसी एक के अवलम्बन की अपेक्षा करके जो आत्मा के प्रदेशों में परिस्पन्दन होता है वह काययोग है। शरीर-नामकर्म के उदय से प्राप्त हुई वचनवर्गणाओं का अवलम्बन लेने पर तथा वीर्यान्तराय का क्षयो-पशम और मति अक्षरादि ज्ञानावरण के क्षयोपशम आदि से अभ्यन्तर में वचनलब्धि का सान्निध्य होने पर वचन परिणाम के अभिमुख हुए आत्मा के प्रदेशों का जो परिस्पन्दन होता है वह वचन-योग कहलाता है। अभ्यन्तर में वीर्यान्तराय और नो इन्द्रियावरण कर्म के क्षयोपशम रूप मनो-

मुखस्यात्मनः प्रदेशपरिस्पन्दो मनोयोगः, कायवाक्मनसां शुभक्रिया इत्यर्थः। करणे—करणानि कायवाक्मनसामशुभक्रियाः सावद्यकर्मादाननिमित्ताः। सण्णा—संज्ञा आहारभयमैथुनपरिग्रहाभिलाषाः। इंदिय—इन्द्रियाणि। भोम्मादि—भूः पृथिवी आदिर्येषां ते भ्वादयः पृथिवीकायादयः समणधम्मे य—श्रमणधर्माश्च संयताचरणविशेषाश्च। अण्णोण्णेहिं—अन्योन्यैरन्योन्यं परस्परं। अब्भत्था—अभ्यस्ताः समाहताः। त एते योगादयः श्रमणधर्मपर्यन्ताः परस्परं गुणिताः, अट्ठारह—अष्टादशशीलसहस्राणि। योगैः करणानि गुणितानि नव भवन्ति, पुनराहारादिसंज्ञाभिश्चतसृभिर्नव गुणितानि षट्त्रिंशद्भवन्ति शीलानि, पुनरिन्द्रियैः पंचभिर्गुणितानि षट्त्रिंशदशीत्यधिकं शतं, पुनः पृथिव्यादिभिर्दशभिः कायैरशीतिशतमष्टादशशतानि भवन्ति, पुनः श्रमणधर्मैर्दशभिरष्टादशशतानि गुणितानि अष्टादशशीलसहस्राणि भवन्तीति ॥१०१९॥

योगादीनां भेदपूर्वकं स्वरूपमाह—

तिण्हं सुहसंजोगो जोगो करणं च असुहसंजोगो।
आहारादी सण्णा फासादिय इंदिया णेया ॥१०२०॥

लब्धि के सन्निकट होने पर और बाह्यनिमित्त रूप मनोवर्गणा का अवलम्बन लेने पर मन:परिणाम के प्रति अभिमुख हुए आत्मा के प्रदेशों का जो परिस्पन्दन होता है उसे मनोयोग कहते हैं। काय, वचन और मन की शुभक्रिया रूपयोग यहाँ विवक्षित है अर्थात् शुभ मन के द्वारा, शुभ वचन के द्वारा और शुभ काय के द्वारा होनेवाली क्रिया का नाम शुभ काययोग, शुभ वचनयोग और शुभ मनोयोग है।

करण—काय, वचन और मन की अशुभ क्रिया जो कि सावद्य रूप से कर्मों के ग्रहण करने में निमित्त होती है—इन मन, वचन, काय को अशुभ क्रियाओं का परिहार करना।

संज्ञा—आहार, भय, मैथुन और परिग्रह की अभिलाषा का नाम संज्ञा है इनका परिहार करना।

इन्द्रियाँ—स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र इन पाँचों इन्द्रियों के विषयों का त्याग करना।

भूमि आदि—पृथिवीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय, प्रत्येकवनस्पति, साधारण वनस्पति, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीवों की दया पालना।

श्रमणधर्म—संयमियों का आचारण विशेष। अर्थात् उत्तम क्षमा आदि धर्म।

इन सबके परस्पर में गुणा करने से अठारह हजार शील के भेद हो जाते हैं। अर्थात् तीन योग को तीन करण से गुणा करने से नव होते हैं। पुनः नव को चार संज्ञा से गुणित करने पर छत्तीस होते हैं। छत्तीस को पाँच इन्द्रियों से गुणने पर एक सौ अस्सी होते हैं। इन्हें पृथ्वी आदि दश से गुणा करने पर अठारह सौ होते हैं। पुनः इन्हें दश श्रमण धर्म से गुणा करने पर शील के अठारह हजार (३ × ३ × ४ × ५ × १० × १० = १८०००) भेद हो जाते हैं।

योग आदि के भेद और स्वरूप को कहते हैं—

गाथार्थ—मन, वचन और काय इन तीनों का शुभ से संयोग होना योग है और इन तीनों का अशुभ से संयोग होना करण है। आहार आदि को संज्ञाएँ और स्पर्शन आदि को इन्द्रियाँ जानना चाहिए ॥१०२०॥

तिण्हं—त्रयाणां मनोवाक्कायानां, सुहसंजोगो—शुभेन संयोगः शुभसंयोगः पापक्रियापरिहारपूर्वक-शुभकर्मादाननिमित्तव्यापारः सर्वकर्मक्षयनिमि[1]त्तवाग्गुप्तिर्योग इत्युच्यते। करणं च—करणं क्रिया परिणामो वा तेषां मनोवाक्कायानां योऽयमशुभेन संयोगस्तत्करणं पापक्रियापरिणामः पापादाननिमित्तव्यापारव्याहारो च करणमित्युच्यते। आहारादी—आहारादय आहारभयमैथुनपरिग्रहाः, सण्णा—संज्ञा अभिलाषाः, चतुर्विधाशन-पानखाद्यस्वाद्यान्याहारः, भयकर्मोदयाच्छरीरवाङ्मनःसम्बन्धिजीवप्रदेशानामाकुलता भयं, स्त्रीपुंसयोश्चारित्र-मोहोदये सति रागपरिणामाविष्टयोः परस्परं संदर्शनं प्रतीच्छा मैथुनं, गोमहिषीमणिमौक्तिकादीनां चेतनाचेतनानां बाह्यानां आभ्यन्तराणां च रागादीनामुपधीनां संरक्षणार्जनसंस्कारादिलक्षणा व्यापृतिः परिग्रहः, आहारसंज्ञा भयसंज्ञा मैथुनसंज्ञा परिग्रहसंज्ञा चेति। फासादिय—स्पर्शनादीनीन्द्रियाणि ज्ञेयानि स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रो-त्राणीन्द्रियाणि ज्ञातव्यानीति ॥१०२०॥

पृथिव्यादीनां भेदं स्वरूपं च प्रतिपादयन्नाह—

पुढविदगागणिमारुदपत्तेयअणंतकायिया चेव।
विगतिगचदुपंचेंदिय भोम्मादि हवंति दस एदे ॥१०२१॥

पुढवि—पृथिवी। दग—आपो जलं। अगणि—अग्निः। मारुद—मारुतः वातः। पत्तेय—प्रत्येकं एकं जीवं प्रति कारणं शरीरहेतुपुद्गलप्रचयः प्रत्येकमसाधारणम्। अणंत—अनन्तः साधारणम्। कायिया चेव—

आचारवृत्ति—मन, वचन, काय इन तीनों का शुभ कार्यों से संयोग होना अर्थात् पाप-क्रिया के परिहारपूर्वक शुभकर्मों के ग्रहण निमित्तक व्यापार का होना योग है। अथवा सर्वकर्मों के क्षय हेतुक वचनगुप्ति का नाम योग है। क्रिया अथवा परिणाम का नाम करण है। इन मन, वचन और काय का जो अशुभ क्रिया या परिणाम के साथ संयोग है वह करण है जो कि पापक्रिया परि-णाम रूप है। अथवा पापकर्म के ग्रहण निमित्त जो व्यापार और वचन है वह करण है। अभिलाषा का नाम संज्ञा है। चार प्रकार के अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य आदि आहार कहलाते हैं। भय कर्म के उदय से शरीर, वचन और मन सम्बन्धी जीव के प्रदेशों में जो आकुलता होती है उसका नाम भय है। चारित्र मोहनीय के उदय से राग-भाव से सहित हुए स्त्री-पुरुष की जो परस्पर में स्पर्श की इच्छा होती है उसका नाम मैथुन है। गाय, भैंस, मणि, मोती आदि चेतन-अचेतन बाह्य वस्तुओं के संरक्षण, अर्जन, संस्कार आदि लक्षण-व्यापार का नाम बाह्य परिग्रह है तथा राग-द्वेष आदि परिणामों का होना अभ्यन्तर परिग्रह है। इनकी अभिलाषा होना ही आहारसंज्ञा, भयसंज्ञा मैथुनसंज्ञा और परिग्रहसंज्ञा कहलाती हैं। स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ये पाँच इन्द्रियाँ हैं।

पृथ्वी आदि के भेद और स्वरूप को कहते हैं—

गाथार्थ—पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, प्रत्येक वनस्पति और अनन्त वनस्पतिकायिक तथा द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय ये दश 'भू आदि' होते हैं ॥१०२१॥

आचारवृत्ति—पृथिवी ही जिनकी काय है उन्हें पृथिवीकायिक कहते हैं। जल ही जिन की काय है वे जलकायिक, अग्नि ही जिनकी काय है वे अग्निकायिक और वायु ही जिनका शरीर

---

1. क निमित्ता।

कायिकास्तथैव । पृथिवी कायो विद्यते येषां ते पृथिवीकायिकाः, आपः कायो विद्यते येषां ते अप्कायिकाः, तेजः कायो विद्यते येषां ते तेजःकायिकाः, मारुतः कायो विद्यते येषां ते मारुतकायिकाः, प्रत्येकः कायो विद्यते येषां ते प्रत्येककायिकाः पूगफलनालिकेरादयः, अनन्त कायो विद्यते येषां तेऽनन्तकायिका गुडूचीमूलकादयः, चशब्द उक्तसमुच्चयार्थः, एवकारोऽवधारणार्थः । पृथिवीकायिकादयः स्वभेदभिन्ना बादराः सूक्ष्माः पर्याप्ता अपर्याप्ताश्चेति । बितिचचपंचेंदिय—इन्द्रियशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते द्वीन्द्रियाः कृम्यादयः, त्रीन्द्रिया मत्कुणादयः, चतुरिन्द्रिया भ्रमरादयः, पञ्चेन्द्रिया मंडूकादयः । भोम्मादि—भूम्यादयः । हवंति—भवन्ति । दस—दश । एदे—एते पृथिवीकायिकादयः पञ्चेन्द्रियपर्यन्ता दशैव भवन्ति नान्य इति ॥१०२१॥

श्रमणधर्मस्य भेदं स्वरूपं च प्रतिपादयन्नाह—

खंती मद्दव अज्जव लाघव तव संजमो आकिंचणदा ।
तह होदि बंभचेरं सच्चं चागो य दस धम्मा ॥१०२२॥

खंती—उत्तमक्षमा शरीरस्थितिहेतुमार्गणार्थं परकुलान्युपयतस्तीर्थयात्राद्यर्थं वा पर्यटतो यतेर्दुष्टजनाक्रोशोत्प्रहसनावज्ञाताडनभर्त्सनशरीरव्यापादनादीनां सन्निधाने [1]स्वान्ते कालुष्यानुत्पत्तिः क्षान्तिः । मद्दव—मृदोर्भावो मार्दवं जात्यादिमदावेशादभिमानाभावः । अज्जव—ऋजोर्भाव आर्जवं मनोवाक्कायानामवक्रता

है वे वायुकायिक होते हैं। ऐसे ही प्रत्येक अर्थात् एक जीव के प्रति कारणभूत जो शरीर उस निमित्तक पुद्गलसमूह को प्रत्येक कहते हैं। प्रत्येकशरीर ही है जिनका वे प्रत्येकवनस्पतिकायिक हैं; जैसे सुपारीफल, नारियल आदि के वृक्ष। अनन्त हैं शरीर जिनके वे अनन्तकायिक वनस्पति हैं। जैसे गुरुच, मूली आदि। इन पृथिवीकायिक आदि में बादर और सूक्ष्म ऐसे दो-दो भेद हैं तथा एक-एक के पर्याप्त और अपर्याप्त भेद भी हो जाते हैं।

कृमि आदि द्वीन्द्रिय, खटमल आदि त्रीन्द्रिय, भ्रमर आदि चतुरिन्द्रिय और मेंढक आदि जीव पंचेन्द्रिय कहलाते हैं। इस तरह पृथिवीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, प्रत्येकवनस्पति, साधारणवनस्पति, द्वीन्द्रिय, तीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय ये दश हैं।

श्रमणधर्म के भेद और स्वरूप को कहते हैं—

गाथार्थ—क्षमा, मार्दव, आर्जव, लाघव, तप, संयम, आकिंचन्य, ब्रह्मचर्य, सत्य और त्याग ये दश धर्म हैं ॥१०२२॥

आचारवृत्ति—शान्ति—उत्तम क्षमा अर्थात् शरीर की स्थिति के कारणभूत आहार का अन्वेषण करने के लिए परगृह में जाते हुए अथवा तीर्थयात्रा आदि के लिए भ्रमण करते हुए मुनि को नग्न देखकर दुष्टजन अपशब्द कहें, उनकी हँसी करें, तिरस्कार करें, अथवा ताडना या भर्त्सना करें अथवा उनके शरीर को पीडा आदि पहुँचाएँ—इन सभी कारणों के मिलने पर भी मुनि के मन में कलुषता का न होना क्षमा है।

मार्दव—मृदु का भाव मार्दव है, अर्थात् जाति आदि मदों के आवेश से अभिमान नहीं करना।

---

१. म स्वान्तः ।

लाघव—लघोर्भावो लाघवं अनतिचारत्वं शौचं प्रकर्षप्राप्तो लोभनिवृत्तिः। तव—तपः कर्मक्षयार्थं तप्यन्ते शरीरेन्द्रियाणि तपस्तद्द्वादशविधं पूर्वोक्तमवसेयम्। संजमो—संयमो धर्मोपबृंहणार्थं समितिषु वर्तमानस्य प्राणीन्द्रियदयाकषायनिग्रहलक्षणः। आकिंचण्णं—नास्य किंचनास्त्यकिंचनोऽकिंचनस्य भाव आकिंचन्यमकिंचनता उपात्तेष्वपि शरीरादिषु संस्कारापोहाय ममेदमित्यभिसंबन्धनिवृत्तिः। तह होदि—तथा भवति तथा तेनैव प्रकारेण दशाब्रह्मपरिहारेण, बंभचेरं—ब्रह्मचर्यं अनुज्ञातांगनास्मरणकथाश्रवणस्त्रीसंसक्तशयनादिवर्जनं स्वतन्त्रवृत्तिनिवृत्त्यर्थो वा गुरुकुलवासो ब्रह्मचर्यम्। सच्चं—सत्यं परोपतापादिपरिवर्जितं कर्मादानकारणान्निवृत्तं साधुवचनं सत्यम्। चागो—त्यागः संयतस्य योग्यज्ञानादिदानं त्यागः। चशब्दः समुच्चयार्थः। दस धम्मा—दशैते धर्मा दशप्रकारोऽयं श्रमणधर्मो व्याख्यात इति ॥१०२२॥

शीलानामुत्पत्तिनिमित्तमक्षसंक्रमेणोच्चारणक्रममाह—

मणगुत्ते मुणिवसहे मणकरणोम्मुक्कसुद्धभावजुदे।
आहारसण्णविरदे फासिंदियसंपुडे चेव ॥१०२३॥

पुढवीसंजमजुत्ते खंतिगुणसंजुदे पढमसीलं।
अचलं ठादि विसुद्धे तहेव सेसाणि णेयाणि ॥१०२४॥

आर्जव—ऋजु का भाव आर्जव है, अर्थात् मन, वचन और काय की सरलता।

लाघव—लघु का भाव लाघव है, अर्थात् व्रतों में अतिचार नहीं लगाना। इसी का नाम शौच है। प्रकर्षता को प्राप्त हुए लोभ को दूर करना ही शौच है।

तप—कर्म के क्षय हेतु शरीर और इन्द्रियों को जो तपाया जाता है उसे तप कहते हैं। इसके बारह भेद हैं जिनका वर्णन पूर्व में किया जा चुका है।

संयम—धर्म की वृद्धि के लिए समितियों में प्रवर्तमान मुनि के प्राणियों की दया तथा इन्द्रिय और कषायों का निग्रह होना संयम है।

आकिंचन्य—जिसका किंचन—किंचित् भी नहीं है वह अकिंचन है। अकिंचन का भाव आकिंचन्य है। अर्थात् अपने से अत्यर्थ सम्बन्धित भी शरीर आदि में संस्कार को दूर करने के लिए 'यह मेरा है' इस प्रकार के अभिप्राय का का त्याग होना।

ब्रह्मचर्य—दशप्रकार के अब्रह्म का परिहार करना ब्रह्मचर्य है। अर्थात् अनुज्ञात स्त्री के स्मरण का, स्त्रियों की कथा सुनने का, स्त्रियों से संसक्त शयन आदि का त्याग करना और स्वतन्त्र प्रवृत्ति का त्याग करना अथवा गुरु के संघ में वास करना।

सत्य—पर के उपताप से रहित और कर्मों के ग्रहण के कारणों से निवृत ऐसे साधुवचन बोलना।

त्याग—संयत के योग्य ज्ञान आदि का दान देना।

ये दश धर्म श्रमणधर्म कहलाते हैं।

शीलों की उत्पत्ति के निमित्त अक्ष के संक्रमण के द्वारा उच्चारणक्रम कहते हैं—

गाथार्थ—मनोगुप्तिधारी, मनःकरण से रहित शुद्ध भाव से युक्त, आहार-संज्ञा से विरत, स्पर्शनेन्द्रिय से संवृत, पृथिवी संयम से युक्त और क्षमा-गुण से युक्त, विशुद्ध मनिवर के प्रथमशील अचल होता है उसी प्रकार से शेष भंग जानना चाहिए ॥१०२३, १०२४॥

मणगुत्ते—मनसा गुप्तो मनोगुप्तस्तस्य तस्मिन्वा मनोगुप्तस्य मनोगुप्ते। मुणिवसहे— मुनिवृषभस्य मुनिवृषभे वा, मणकरणोम्मुक्कसुद्धभावजुदे—मनःकरणोन्मुक्तशुद्धभावयुतः, मनःकरणोन्मुक्तश्चासौ शुद्धभावश्च तेन युतः मनःकरणोन्मुक्तशुद्धभावयुतस्तस्य मनःकरणोन्मुक्तशुद्धभावयुतस्य मनःकरणोन्मुक्तशुद्धभावयुते वा। आहारसण्णविरदे—आहारसंज्ञाया विरत आहारसंज्ञाविरतस्तस्य आहारसंज्ञाविरतस्य आहारसंज्ञाविरते वा। फासिंदियसंवुडे—स्पर्शनेन्द्रियं संवृतं यस्यासौ स्पर्शनेन्द्रियसंवृतस्तस्य स्पर्शनेन्द्रियसंवृतस्य स्पर्शनेन्द्रियसंवृते वा। चेव—निश्चयेन। पुढवीसंजमजुत्ते—पृथिवीसंयमेन युक्तः पृथिवीसंयमयुक्तस्तस्य पृथिवीसंयमयुक्तस्य पृथिवी-संयमयुक्ते वा। खंतिगुणसंजुदे—क्षांतिगुणेन संयुक्तः क्षान्तिगुणसंयुक्तस्तस्य क्षान्तिगुणसंयुक्तस्य क्षांतिगुण-संयुक्ते वा। पढमसीलं—प्रथमं शीलं तस्येत्थंभूतस्य मुनिवृषभस्येत्थंभूते वा मुनिवृषभे प्रथमं शीलमचलं स्थिर-रूपं तिष्ठति। सुद्धे चारित्राढ्ये मुनौ शुद्धस्य चारित्राढ्यस्य मुनेर्वेति सम्बन्धः। यतो गुप्तिभिर्गुप्तोऽशुभपरिणा-मैर्विमुक्तः संज्ञादिभिश्च रहितः संयमादिसहितोऽत एव शुद्धः। तहेव—तथैव तेनैव प्रकारेण अनेन वा प्रकारे"। सेसाणि—शेषाण्यपि द्वितीयादीनि शीलानि। णेयाणि—ज्ञातव्यानि। अथवा विशुद्धेषु भंगेषु यावदचलं तिष्ठत्यतः, तथा वाग्गुप्ते मुनिवृषभे मनःकरणोन्मुक्तशुद्धभावयुक्ते आहारसंज्ञाविरते स्पर्शनेन्द्रियसंवृते पृथिवी-संयमयुक्ते क्षान्तिगुणसंयुक्ते च शुद्धे मुनौ द्वितीयं शीलं तिष्ठति। तथा कायगुप्ते मुनिवृषभे एवं शेषाण्युच्चारण-विधानान्युच्चार्य तृतीयं शीलं व्रतपरिरक्षणमचलं तिष्ठति। विशुद्धे तत आदि गते अक्षे एवमुच्चारणा कर्त्तव्या। मनोगुप्ते मुनिवृषभे वाक्करणोन्मुक्तशुद्धभावयुते आहारसंज्ञाविरते स्पर्शनेन्द्रियसंवृते पृथिवीसंयमयुक्ते क्षान्तिगुणसंयुक्ते च मुनिवृषभे चतुर्थशीलम्। तथा वाग्गुप्ते मुनिवृषभे वाक्करणोन्मुक्तशुद्धभावयुक्ते आहार-संज्ञाविरते स्पर्शनेन्द्रियसंवृते पृथिवीसंयमयुक्ते क्षान्तिगुणसंयुक्ते च मुनिवृषभे पंचमं शीलम्। तथा कायगुप्ते

आचारवृत्ति—जो मुनिपुंगव मनोगुप्ति से सहित हैं, मन के अशुभ व्यापार से रहित शुद्धभाव के धारक हैं, आहार संज्ञा से विरत है, स्पर्शनेन्द्रिय का विरोध करनेवाले हैं, पृथिवी-कायिक जीवों की दयापालन रूप संयम से संयुक्त हैं, और क्षमा गुण से युक्त हैं—ऐसे शुद्ध चरित्र से युक्त मुनि के प्रथम शील निश्चल और दृढ़ रहता है। शील का यह प्रथम भंग हुआ। गुप्ति से गुप्त, अशुभ परिणामों से विमुक्त, संज्ञाओं से रहित, संयमादि से सहित मुनि ही शुद्ध कहलाते हैं क्योंकि व्रतों के रक्षण का नाम ही शील है सो उन्हीं के पास रहता है।

इसी प्रकार से द्वितीय, तृतीय आदि शेष भंग भी समझना चाहिए। जैसे—जो मुनि-राज वचनगुप्ति से युक्त, मन के अशुभ व्यापार से रहित, शुद्धभाव से सहित, आहार संज्ञा से विरत, स्पर्शनेन्द्रिय से संवृत, पृथिवीकायिक संयम से संयुक्त और क्षमागुण से समन्वित हैं उन शुद्ध मुनि के शील का द्वितीय भंग निश्चल और दृढ़ रहता है। कायगुप्ति से युक्त, मन के करण से रहित, शुद्धभाव से सहित, आहार संज्ञा से रहित, स्पर्शनेन्द्रिय से संवृत, पृथिवीकाय के संयम से समन्वित और क्षमागुण से युक्त मुनि के शील का तृतीय भंग होता है। पुनः आदि अक्ष पर आने पर इस तरह उच्चारण करना चाहिए।

मनोगुप्ति से युक्त, वचन के अशुभ व्यापार रूप करण से मुक्त, शुद्ध भाव सहित, आहार संज्ञा से रहित, स्पर्शनेन्द्रिय के विरोध से सहित, पृथिवी संयम से युक्त और क्षमागुण से संयुक्त मुनि के शील का चतुर्थ भंग होता है। वचनगुप्ति से युक्त, वचन के अशुभ व्यापार रूप करण से मुक्त, शुद्ध भाव से युक्त, आहार संज्ञा से विरत, स्पर्शनेन्द्रिय से संवृत, पृथ्वी संयम से युक्त और क्षमा गुण से सहित मुनि के शील का पाँचवाँ भंग होता है। तथा कायगुप्ति से गुप्त, वचन के

वाक्करणोन्मुक्ते शेषाण्यप्युच्चार्य षष्ठं शीलं ब्रूयात् । तिस्रो गुप्ती: पंक्त्याकारेण व्यवस्थाप्य तत उर्ध्वं त्रीणि करणानि पंक्त्याकारेण स्थापनीयानि तत ऊर्ध्वं आहारादिसंज्ञा: संस्थाप्य तत. पंचेन्द्रियाणि तत: पृथिव्यादय: कायास्ततश्च श्रमणधर्मा: स्थाप्या: । एवं संस्थाप्य पूर्वोक्तक्रमेण शेषाणि शीलानि वक्तव्यानि यावत्सर्वेऽक्षा अचलं स्थित्वा विशुद्धा भवन्ति तावदष्टादशशीलसहस्राण्यागच्छन्तीति । अथवा मनोगुप्ते मुनिवृषभे इत्यादि तावदुच्चार्य यावद्दशप्रकारश्रमणधर्मान्तेऽक्षस्तिष्ठति तदाऽचलं स्थित्वा विशुद्धेऽक्षे तत: शेषा अप्यक्षा अनेन क्रमेण तं प्राप्य स्थापयितव्या यावन्मनो गुप्त्यक्ष: कायगुप्तौ निश्चल: स्थितस्ततोऽष्टादशशीलसहस्राणि मुनिवृषभस्य पूर्णानि भवन्तीति । अथवा मनोगुप्तिं ध्रुवां व्यवस्थाप्य मन:करणादिना सह षट्सहस्राणि शीलान्युत्पाद्य तत: शेषेषु भंगेष्वचलं स्थित्वा विशुद्धेषु मनोगुप्तिर्विशुद्धा भवति तत: पुनर्वाग्गुप्तिं ध्रुवां कृत्वा षट्सहस्राणि शीलानामुत्पादनीयानि तत: सर्वे भंगा अचलं तिष्ठन्ति ततो वाग्गुप्तिर्विशुद्धा भवति तत: काय-गुप्तिं ध्रुवां कृत्वा षट्सहस्राणि शीलानामुत्पादनीयानि तत: सर्वे भंगा अचलं तिष्ठन्ति कायगुप्तिश्च विशुद्धा भवति शीलानां चाष्टादशसहस्राणि संपूर्णानि भवन्ति । एवमेकैकं स्थिरं कृत्वा भंगानामुत्पादनक्रमो वेदितव्य इति ॥१०२३-१०२४॥

इदानीं गुणानामुत्पत्तिकारणक्रमं प्रतिपादयन्नाह—

अशुभ व्यापार से रहित, शुद्ध भाव से संयुक्त, आहार संज्ञा से विरत, स्पर्शनेन्द्रिय से संवृत, पृथिवीकाय संयम से युक्त और क्षमागुण से संयुक्त मुनि के शील का छठा भंग होता है। इसी तरह शील के अठारह हजार भंग होते हैं ।

तीन गुप्तियों को पंक्ति के आकार से व्यवस्थापित करके उसके ऊपर तीन करण को पंक्ति के आकार से स्थापित करना चाहिए । पुन: उसके ऊपर आहार आदि संज्ञाओं को स्थापित करके, उसके ऊपर पाँचों इन्द्रियों को, उसके ऊपर पृथिवी आदि दश कायों को तथा उसके ऊपर दश श्रमण धर्मों को स्थापित करना चाहिए। इस प्रकार से स्थापित करके पूर्वोक्त क्रम से शेष सर्व शीलों को कहना चाहिए । जब तक सर्व अक्ष अचल रहकर विशुद्ध होते हैं तब तक अठारह शील के भेदों का आगमन होता है ।

अथवा 'मनोगुप्ति से गुप्त' इत्यादि रूप से उच्चारण करके जब श्रमण के दश धर्म के अन्त में अक्ष स्थिर होता है तब अचल को स्थिर करके अक्ष के विशुद्ध होने पर, उसके बाद शेष अक्ष भी इसी क्रम से प्राप्त करके तब तक स्थापित करना चाहिए कि जब तक मनोगुप्ति का अक्ष कायगुप्ति पर जाकर निश्चल स्थित न हो जाए। तब मुनिश्रेष्ठ के अठारह हजार शील पूर्ण होते हैं ।

अथवा मनोगुप्ति को ध्रुव स्थापित करके मन:करण आदि के साथ छह हजार शीलों को उत्पन्न करके पुन: शेष भंगों में अचल रहकर विशुद्ध होने पर मनोगुप्ति विशुद्ध होती है । पुन: वचनगुप्ति को ध्रुव करके छह हजार शील के भेद उत्पन्न करना चाहिए । जब सभी भंग अचल ठहरते हैं तो वचनगुप्ति विशुद्ध हो जाती है । इसके अनन्तर कायगुप्ति को ध्रुव करके छह हजार शील के भेद उत्पन्न कराना चाहिए । जब सभी भंग अचल रहते हैं तब कायगुप्ति विशुद्ध होती है । इस तरह शीलों के अठारह हजार भेद परिपूर्ण हो जाते हैं । इस विधि से एक-एक को स्थिर करके भंगों का उत्पादनक्रम जानना चाहिए ।

अब गुणों की उत्पत्ति का कारणभूत क्रम कहते हैं—

इगिवीस चदुर सदिया दस दस दसगा य आणुपुव्वीय ।
हिंसादिक्कमकायाविराहणालोयणासोही ॥१०२५॥

इगिवीस—एकेनाधिका विंशतिरेकविंशतिः । चदुर—चत्वारः । सदिया—शतं । दस दस दस त्रयो दशानां भेदाः । आणुपुव्वीय—आनुपूर्व्या । हिंसा—प्रमादतः[1] प्राणव्यपरोपणं हिंसा, अत्रादिशब्दो द्रष्टव्यस्तेन हिंसादय एकविंशतिसंख्या भवन्ति । अदिक्कम—अतिक्रमो विषयाणामुपरि समीहा, अत्रापि आदिशब्दो द्रष्टव्योऽतिक्रमादय उपलक्षणत्वादिति । काया—सर्वजीवसमासा. । विराहणा—विराधना अब्रह्मकारणानि । आलोयणा—आलोचना अत्र दोषशब्दो द्रष्टव्य आलोचनादोषाः साहचर्यात् । सोही—शुद्धयः प्रायश्चित्तानि । यथानुक्रमेण हिंसादय एकविंशतिरतिक्रमणादयश्चत्वारः कायः शतभेदा विराधना दश आलोचनादोषा दश शुद्धयो दशेति सम्बन्ध इति ॥१०२५॥

के ते हिंसादय इत्याशंकायामाह—

पाणिवह मुसावादं अदत्त मेहुण परिग्गहं चेव ।
कोहमदमायलोहा भय अरदि रदी दुगुंछा य ॥१०२६॥
मणवयणकायमंगुल मिच्छादंसण पमादो य ।
पिसुणत्तणमण्णाणं अणिग्गहो इंदियाणं च ॥१०२७॥

पाणिवह—प्राणिवधः प्रमादवतो जीवहिंसनम् । मुसावादं—मृषावादोऽनालोच्य विरुद्धवचनम् । अदत्त—अदत्तं परकीयस्याननुमतस्य ग्रहणाभिलाषः । मेहुण—मैथुनं वनितासेवाभिगृद्धिः । परिग्गहं—परिग्रहः

गाथार्थ – हिंसा, अतिक्रम, काय, विराधना, आलोचना और शुद्धि ये क्रम से इक्कीस, चार, सौ, दश, दश और दश होते हैं ॥१०२५॥

आचारवृत्ति—प्रमादपूर्वक प्राणियों के प्राणों का वियोग करना हिंसा है । विषयों की इच्छा करना अतिक्रम आदि समझना चाहिए । क्योंकि ये हिंसा और अतिक्रम शब्द उपलक्षण मात्र हैं । काय अर्थात् सर्वजीवसमास । विराधना अर्थात् अब्रह्म के दश कारण । आलोचना में दोष शब्द लगाकर साहचर्य से आलोचना के दश दोष ग्रहण करना चाहिए । शुद्धि से प्रायश्चित्त अर्थ लेना चाहिए । उपर्युक्त क्रम से संख्या लगाएँ । जैसे हिंसा आदि इक्कीस भेदरूप हैं, अतिक्रम आदि चार हैं, काय-जीवसमासों के सौ भेद हैं, विराधना—अब्रह्म के दश भेद हैं, आलोचना दोष भी दश प्रकार के हैं एवं शुद्धि के दश भेद हैं । इस तरह ये चौरासी लाख (२१×४× १००×१०×१०×१०=८४,०००००) गुण होते हैं ।

वे हिंसा आदि कौन-कौन हैं ? ऐसी आशंका होने पर कहते हैं—

गाथार्थ—हिंसा, असत्य, चोरी, कुशील, परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ, भय, अरति, रति, जुगुप्सा, मनोमंगुल, वचनमंगुल, कायमंगुल, मिथ्यादर्शन, प्रमाद, पिशुनता, अज्ञान और इन्द्रियों का अनिग्रह ये इक्कीस भेद हैं ॥१०२६-१०२७॥

आचारवृत्ति—प्रमादपूर्वक जीव का घात हिंसा है । बिना विचारे, विरुद्ध वचन बोलना असत्य है । बिना अनुमति से पर की वस्तु को ग्रहण करने की अभिलाषा चोरी है । स्त्री-

---

१. क प्रमादवतः ।

पापादानोपकरणकांक्षा । पंच—पंच तावन्त्येव महाव्रतानीति । कोह—क्रोधश्चंडता । मद—मदो जात्याद्यव-लेपः । माय—माया कौटिल्यम् । लोह—लोभो वस्तुप्राप्तौ गृद्धिः । भय—भयं त्रस्तता । अरदि—अरतिरुद्वेगः अशुभपरिणामः । रदी—रती रागःकुत्सिताभिलाषः । दुगुंछा—जुगुप्सा परगुणासहनम् । मणवयणकायमंगुल—मंगुलं पापादानक्रिया तत्प्रत्येकमभिसम्बध्यते मनोमंगुलं वाङ्मंगुलं कायमंगुलं मनोवाक्कायानां पापक्रियाः । मिच्छादंसण—मिथ्यादर्शनं जिनेन्द्रमतस्याश्रद्धानम् । पमादो—प्रमादश्चायत्नाचरणं विकथादिस्वरूपं । पिसुणत्तं—पैशुन्यं परस्यादोषस्य वा सदोषस्य वा दोषोद्भावत्वं पृष्ठमांसभक्षित्वं । अण्णाणं—अज्ञानं यथावस्थि-तस्य वस्तुनो विपरीतावबोधः । अणिग्गहो—अनिग्रहः स्वेच्छया प्रवृत्तिः, इंदियाण—इन्द्रियाणां चक्षुरादीना-मनिग्रहश्चेत्येते एकविंशतिभेदा हिंसादयो द्रष्टव्या इति ॥ १०२६-१०२७॥

अतिक्रमणादीनां स्वरूपं प्रतिपादयन्नाह—

अदिकमणं वदिकमणं अदिचारो तहेव अणाचारो ।
एदेहिं चदूहि पुणो सावज्जो होइ गुणियव्वो ॥१०२८॥

अदिकमणं—अतिक्रमणं संयतस्य संयतसमूहमध्यस्थस्य विषयाभिकांक्षा । वदिकरणं—व्यतिक्रमणं संयतस्य संयतसमूहं त्यक्त्वा विषयोपकरणार्जनम् । अदिचारो—अतिचारः व्रतशैथिल्यं ईषदसंयमसेवनं च । तहेव—तथैव । अणाचारो—अनाचारो व्रतभंगः सर्वथा स्वेच्छाप्रवर्तनम् । एदेहिं—एतैरतिक्रमणादिभिः । चदूहि—चतुर्भिः । पुणो—पुनः । सावज्जो—सावद्यो हिंसाद्येकविंशति । होई—भवति । गुणियव्वो—गुणि-

---

सेवन की अभिलाषा मैथुन है। पाप के आगमन हेतुक उपकरणों की आकांक्षा परिग्रह है। ये पांच त्याग हैं। इनके त्याग से पाँच महाव्रत होते हैं। प्रचण्ड भाव क्रोध है। जाति आदि का घमण्ड मान है। कुटिलता का नाम माया है। वस्तुप्राप्ति की गृद्धता लोभ है। त्रस्त होना भय है। उद्वेग रूप अशुभ परिणाम का नाम अरति है। राग अर्थात् कुत्सित वस्तु की अभिलाषा रति है। पर के गुणों को सहन नहीं करना जुगुप्सा है। पाप के आने की क्रिया का नाम मंगुल है। उसे तीनों योगों में लगाएँ। अर्थात् मन की पापक्रिया मनोमंगुल है, वचन की पापक्रिया वचनमंगुल है, और काय की अशुभक्रिया कायमगुल है। जिनेन्द्र के मत का अश्रद्धान मिथ्यादर्शन है। अयत्नाचार प्रवृत्ति का नाम प्रमाद है जो कि विकथा आदिरूप है। निर्दोष या सदोष ऐसे पर के दोषों का का उद्भावन करना अथवा पृष्ठमांस का भक्षण पैशुन्य है। यथावस्थित वस्तु का विपरीत ज्ञान होना अज्ञान है। चक्षु आदि इन्द्रियों की स्वेच्छापूर्वक प्रवृत्ति होना अनिग्रह है। इस प्रकार से हिंसा के ये इक्कीस भेद होते हैं।

अतिक्रमण आदि का स्वरूप प्रतिपादित करते हैं—

गाथार्थ—अतिक्रमण, व्यतिक्रमण, अतिचार और अनाचार इन चारों से हिंसादि को गुणित करना चाहिए ॥ १०२८ ॥

आचारवृत्ति—सयत समूह के मध्य में रहते हुए भी जो संयत के विषयों की आकांक्षा होती है उसका नाम अतिक्रमण है। संयत के समुदाय को छोड़कर विषयों के उपकरण का अर्जन करनेवाले संयत के व्यतिक्रमण दोष होता है। व्रतों में शिथिलता का होना या किंचित् रूप से असंयम का सेवन करना अतीचार है। व्रतों का भंग होना या सर्वथा स्वेच्छा से प्रवर्तन करना

तस्य: संगुणनीयः ततश्चतुर्भिरेकविंशतिर्गुणिता चतुरशीतिर्भवतीति ॥१०२८॥

कायभेदानां स्वरूपं प्रतिपादयन्नाह—

पुढविदगागणिमारुदपत्तेयअणंतकाइया चेव ।
वियतियचदुपंचिदिय अण्णोण्णवधाय दस गुणिदा ॥१०२९॥

कायशब्द प्रत्येकमभिसंबध्यते । पृथिवीकायिका अप्कायिका अग्निकायिका मारुतकायिकाः प्रत्येककायिका अनन्तकायिकाश्चैव । अत्रापि इन्द्रियशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते । द्वीन्द्रियास्त्रीन्द्रियाश्चतुरिन्द्रियाः पञ्चेन्द्रियाश्चेति । अण्णोण्णवधाय—अन्योन्यव्यथिता दशैते पृथिवीकायिकादयः परस्परेणाहताः सन्तः पूर्वोक्तैश्चतुरशीतिविकल्पैर्गुणिताश्चतुरशीतिशतभेदा भवन्ति । चतुरशीतिः शतेन गुणिता यत एतावन्त एव विकल्पा भवन्तीति ॥१०२९॥

अब्रह्मकारणविकल्पान् प्रतिपादयन्नाह—

इत्थीसंसग्गी पणिदरसभोयण गंधमल्लसंठप्पं ।
सयणासणभूसणयं छट्ठं पुण गीयवाइयं चेव ॥१०३०॥
अत्थस्स संपओगो कुसीलसंसग्गि रायसेवा य ।
रत्ती वि य संयरणं दस सीलविराहणा भणिया ॥१०३१॥

इत्थीसंसग्गी—स्त्रीसंसर्गः वनिताभिः सहातीव प्रणयः रागाहतस्य । पणिदरसभोयण—प्रणीत-

---

अनाचार है। इन अतिक्रमण आदि चारों से हिंसादि इक्कीस को गुणित करने से चौरासी (२१×४) भेद हो जाते हैं।

गाथार्थ—पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, प्रत्येकवनस्पति, अनन्तकायिकवनस्पति, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय इन दश को परस्पर गुणित करना ॥ १०२९ ॥

आचारवृत्ति—काय शब्द प्रत्येक के साथ लगा लेना चाहिए। जैसे पृथिवीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, प्रत्येककायिक और अनन्त कायिक। आगे प्रत्येक के साथ इन्द्रिय शब्द लगा लेना चाहिए। जैसे द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय इन दश को परस्पर गुणित कर देने से अर्थात् इन दश को इन्हीं दश से गुणित कर देने से सौ हो जाते हैं। पुनः इन सौ जीवसमासों को पूर्वोक्त चौरासी से गुणित करने पर चौरासी-सौ (१०×१०×८४) हो जाते हैं।

अब्रह्म कारण के भेद बतलाते हैं—

गाथार्थ—स्त्रीसंसर्ग, प्रणीतरसभोजन, गन्ध-माला का ग्रहण, कोमल शयन-आसन, भूषण, गीत-वादित्र श्रवण, अर्थसग्रह, कुशील-ससर्ग, राजसेवा और रात्रि में संचरण ये दश शील की विराधना कही गयी हैं ॥१०३० १०३१॥

आचारवृत्ति—स्त्रीसंसर्ग आदि दश कारणों से ब्रह्मचर्य की विराधना होती है। इसे ही बताते हैं—

स्त्रीसंसर्ग—राग से पीड़ित होकर स्त्रियों के साथ अतीव प्रेम करना।

प्रणीतरसभोजन—अतीव लंपटता पूर्वक पंचेन्द्रियों को उत्तेजित करनेवाला आहार

रसभोजनं अतीव गृद्ध्या पञ्चेन्द्रियदर्पकराहारग्रहणम् । **गंधमल्लसंठप्पं**—गंध आर्द्रमहिषीयक्षकर्दमादिको माल्यं मालतीचंपकादिकुसुमादिकं ताभ्यां संस्पर्शो गन्धमाल्यसंस्पर्शः सुगंधद्रव्यैः सुगंधपुष्पैश्च शरीरसंस्करणम् । **सयणासणं**—शयनं तूलिकादिपर्यंकस्पर्शं आसनं मृदुलोहासनादिकं शयनं चासनं च शयनासने मृदुशय्यामृद्वासनगृद्धिः । **भूसणयं**—भूषणानि शरीरमंडनादीनि मुकुटकटकादीनि शरीरशोभा विषयाकांक्षा वा पञ्चैतानि । **छट्टं पुण**—षष्ठं पुनः । **गीयवाइयं**—गीतं षड्जादिकं वादित्रं ततविततघनसुषिरादिकं करवादनं च, गीतं च वादित्रं च गीतवादित्रं [1]रागादिकांक्षया नृत्तगेयाभिलाषकरणम् । **अत्थस्स संपओगो**—अर्थस्य संप्रयोगः सुवर्णादिद्रव्य-संपर्कः । **कुसीलसंसग्गि**—कुत्सितं शीलं येषां ते कुशीलास्तैः संसर्गः संवासः कुशीलसंसर्गो रागाविष्टजन-संपर्कः । **रायसेवा य**—राजसेवा च विषयार्थिनो राज्ञामुपश्लोकादिकरणम् । **रत्ती वि य संचरणं**—रात्रावपि संचरणं कार्यान्तरेण निशायां पर्यटनम् । **दस**—दश । **सील**—**विराहणा**—शीलविराधनाः । **भणिदा**—भणिताः प्रतिपादिताः । एते स्त्रीसंसर्गादयो दश शीलविराधनाः परमागमे समुक्ताः एतैर्दशविकल्पैः पूर्वोक्तानि चतुर-शीतिशतानि गुणितानि चतुरशीतिसहस्राणि भवन्तीति ॥१०३०-१०३१॥

आलोचनादोषान् प्रतिपादयन्नाह—

आकंपिय अणुमाणिय जं दिट्ठं बादरं च सुहुमं च ।
छण्णं सद्दाकुलियं बहुजणमव्वत्त तस्सेवी ॥१०३२॥

ग्रहण करना ।

गन्धमाल्यसंस्पर्श—चन्दन, केशर आदि सुगन्धित पदार्थ और मालती, चम्पा आदि मालाओं से शरीर को संस्कारित करना ।

शयनासान—कोमल शय्या पर शयन करना तथा कोमल आसन आदि पर बैठना ।

भूषण—मुकुट, कड़े आदि से शरीर को विभूषित करने की अभिलाषा करना ।

गीतवादित्र—षड्ज, ऋषभ आदि गीत की तथा तत, वितत, घन, सुषिर आदि अर्थात् मृदंग, वीणा, ताल, करताल आदि बजाने की इच्छा रखना । रागादि रूप आकांक्षा से नृत्य-गीत आदि देखना सुनना ।

अर्थसंप्रयोग—सुवर्ण आदि द्रव्यों से सम्पर्क रखना ।

कुशील-संसर्ग—कुत्सितशीलवाले अर्थात् राग से संयुक्त जनों का सम्पर्क ।

राजसेवा—विषय भोगों की इच्छा से राजाओं की स्तुति-प्रशंसा करना ।

रात्रिसंचरण—बिना प्रयोजन के रात्रि में पर्यटन करना ।

परमागम में ये स्त्रीसंसर्ग आदि दश शील की विराधना कही गयी हैं । इन दश भेदों से पूर्वोक्त चौरासी-सौ को गुणा करने से चौरासी हजार (८४०० × १० = ८४०००) हो जाते हैं ।

आलोचना के दोष बतलाते हैं—

गाथार्थ—आकम्पित, अनुमानित, दृष्ट, बादर, सूक्ष्म, छन्न, शब्दाकुलित, बहुजन, अव्यक्त और तत्सेवी ये दश आलोचना के दोष हैं ॥१०३२॥

---

१. क रागाकांक्षया ।

आकंपिय—आकम्पितदोषो भक्तपानोपकरणादिनाऽऽचार्यमाकम्प्यात्मीयं कृत्वा यो दोषमालोचयति तस्याकंपितदोषो भवति। अणुमाणिय—अनुमानितं. शरीराहारतुच्छबलदर्शनेन. दीनवचनेनाचार्यमनुमान्यात्मनि करुणापरमाचार्यं कृत्वा यो दोषमात्मीयं निवेदयति तस्य द्वितीयोऽनुमानितदोषः। जं दिट्ठं—यद् दृष्टं अन्यैर्यदवलोकितं दोषजातं तदालोचयत्यदृष्टमवगूहयति यस्तस्य तृतीयो दृष्टनामाऽऽलोचनादोषः। बादरं च—स्थूलं च व्रतेष्वहिंसादिकेषु य उत्पद्यते दोषस्तमालोचयति सूक्ष्मं नालोचयति यस्तस्य चतुर्थो बादरनामालोचनादोषः स्यात्। सुहुमं च—सूक्ष्मं च सार्द्रहस्तपरामर्शादिकं सूक्ष्मदोषं प्रतिपादयति महाव्रतादिभंगं स्थूलं तु नाचष्टे यस्तस्य पंचमं सूक्ष्मं नामालोचनदोषजातं भवेत्। छण्णं—प्रच्छन्नं व्याजेन दोषकथनं कृत्वा स्वतः प्रायश्चित्तं य करोति तस्य षष्ठं प्रच्छन्नं नामालोचनदोषजातं भवति। सद्दाकुलियं—शब्दाकुलितं पाक्षिकचातुर्मासिकसांवत्सरिकादिप्रतिक्रमणकाले बहुजनशब्दसमाकुले आत्मीयापराधं निवेदयति तस्य सप्तमं शब्दाकुलं नामालोचनादोषजातम्। बहुजणं—बहुजनं एकस्मै आचार्यायात्मदोषनिवेदनं कृत्वा

आचारवृत्ति—मुनि आचार्य के पास में अपने व्रतों के दोषों की आलोचना करते हैं, उसमें होनेवाले दश दोषों का स्वरूप कहते हैं—

आकम्पित—भोजन, पान, *उपकरण आदि द्वारा आचार्य में अनुकम्पा उत्पन्न करके अर्थात् आचार्य को अपना बना कर जो मुनि अपने दोषों की आलोचना करते हैं, उनके आकम्पित नाम का दोष होता है।

अनुमानित—'मेरा शरीर दुर्बल है, मेरा आहार अल्प है' इत्यादि प्रकार के शरीर, आहार आदि की दुर्बलता को सूचित करनेवाले दीन वचनों से आचार्य को अपनी स्थिति का अनुमान कराकर अर्थात् अपने प्रति आचार्य में करुणाभाव जाग्रत करके जो अपने दोषों को निवेदित करते हैं उनके यह अनुमानित नाम का दोष होता है।

दृष्ट—अन्य जनों ने जिन दोषों को देख लिया है उनकी जो आलोचना कर देते हैं तथा नहीं देखे गये दोषों को छिपा लेते हैं, उनके दृष्ट नाम का तीसरा दोष होता है।

बादर—अहिंसा आदि महाव्रतों में जो स्थूल दोष हुए हैं उनकी तो जो आलोचना कर देते हैं किन्तु सूक्ष्म दोषों की आलोचना नहीं करते हैं उनके बादर नाम का चौथा दोष होता है।

सूक्ष्म—जो मुनि 'मैंने गीले हाथ से वस्तु का स्पर्श किया है' इत्यादि रूप सूक्ष्म दोषों को तो कह देते हैं, किन्तु महाव्रत आदि के भंगरूप स्थूल दोषों को नहीं कहते हैं उनके सूक्ष्म नाम का पाँचवाँ दोष होता है।

छन्न—बहाने से चुपचाप ही, दोषों का कथन करके जो स्वतः प्रायश्चित कर लेते हैं अर्थात् अमुक दोष होने पर क्या प्रायश्चित्त होता है ? ऐसा पूछने पर यदि गुरु ने बता दिया तो उसे आप स्वयं कर लेते हैं किन्तु 'मेरे द्वारा ऐसा दोष हुआ है' यह बात गुप्त ही रखते हैं, प्रकट नहीं होने देते, उनके छन्न नाम का छठा दोष होता है।

शब्दाकुलित—पाक्षिक, चातुर्मासिक या सांवत्सरिक आदि प्रतिक्रमण के काल में बहुतजनों के शब्दों के कोलाहल में जो अपना अपराध निवेदित कर देते हैं अर्थात् 'गुरु ने ठीक से कुछ सुना, कुछ नहीं सुना' ऐसे प्रसंग में जो आलोचना करते हैं उनके शब्दाकुलित नाम का दोष होता है।

बहुजन—एक आचार्य के पास में अपने दोषों को कहकर, उनसे प्रायश्चित लेकर, उस

प्रायश्चित्तं प्रगृह्य पुनरश्रद्दधानोऽपरस्मै आचार्याय निवेदयति यस्तस्य बहुजनं नामाष्टममालोचनादोषजातं स्यात्। **अव्वत्त**—अव्यक्तः प्रायश्चित्ताद्यकुशलो यस्तस्यात्मीयं दोषं कथयति यो लघुप्रायश्चित्तनिमित्तं तस्याव्यक्तनाम नवममालोचनादोषजातं भवेत्। **तस्सेवी**—तत्सेवी य आत्मना दोषैः सम्पूर्णस्तस्य यो महाप्रायश्चित्तभयादात्मीयं दोषं प्रकटयति तस्य तत्सेवी नामा दशम आलोचनादोषो भवेत्। एवमेतैर्दशभिश्चतुरशीतिसहस्राणि गुणितान्यष्टलक्षाण्यधिकानि चत्वारिंशत्सहस्राणि भवन्तीति ॥१०३२॥

आलोचनादिप्रायश्चित्तानां स्वरूपं प्रतिपादयन्नाह—

आलोयण पडिकमणं उभय विवेगो तधा विउस्सग्गो।
तव छेदो मूलं पि य परिहारो चेव सद्दहणा ॥१०३३॥

आलोयण—आलोचनं दशदोषविवर्जितं गुरवे प्रमादनिवेदनमालोचनं। **पडिकमणं**—प्रतिक्रमणं व्रतातीचारनिर्हरण। **उभय**—उभयं आलोचनप्रतिक्रमणे संसर्गदोषे सति विशोधनात्तदुभयम्। **विवेगो**—विवेकः संसक्तान्नपानोपकरणादिविभजनं विवेकः। **तधा**—तथा। **विउस्सग्गो**—व्युत्सर्गः कायोत्सर्गादिकरणं। **तव**—

पर श्रद्धान न रखते हुए जो पुनः अन्य आचार्य के पास आलोचना करते हैं उनके बहुजन नाम का आठवाँ दोष होता है।

अव्यक्त—जो आचार्य प्रायश्चित आदि देने में अकुशल हैं वे अव्यक्त कहलाते हैं। उनके पास जो अपने दोष कहते हैं इसलिए कि 'ये हमें हल्का प्रायश्चित्त देंगे', तो उनके यह अव्यक्त नाम का नवम आलोचना दोष होता है।

तत्सेवी—अपने सदृश दोषों से परिपूर्ण आचार्य के पास जो महाप्रायश्चित्त के भय से अपने दोषों को प्रकट करते हैं उनके तत्सेवी नाम का यह दशम आलोचना दोष होता है।

इन दश आलोचना दोषों से पूर्वोक्त चौरासी हजार को गुणित करने से आठ लाख चालीस हजार (८४००० × १० = ८४००००) हो जाते हैं।

प्रायश्चित्त के आलोचना आदि दश भेदों का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—आलोचना, प्रतिक्रमण, तदुभय, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, छेद, मूल, परिहार और श्रद्धान ये प्रायश्चित के दश भेद हैं ॥१०३३॥

आचारवृत्ति—जिसके द्वारा दोषों का शोधन होता है उसका नाम प्रायश्चित है। उसके दश भेद हैं—

आलोचना—गुरु के पास में अपने प्रमाद से हुए दोषों का दशदोष रहित निवेदन करना आलोचना है।

प्रतिक्रमण—व्रतों में लगे हुए अतीचारों को दूर करना प्रतिक्रमण है।

उभय—आलोचना और प्रतिक्रमण इन दोनों के द्वारा दोषों का विशोधन करना उभय नाम का प्रायश्चित है।

विवेक—मिले हुए अन्न, पान और उपकरण आदि को अलग करना विवेक नाम का प्रायश्चित है।

व्युत्सर्ग—कायोत्सर्ग आदि से दोषों का शोधन करना व्युत्सर्ग है।

तपः अनशनावमौदर्यादिकरणम्। छेदो—छेदः दिवसमासादिना प्रव्रज्याहापनम्। मूलं—पुनर्दीक्षाप्रापणम्। वि य—अपि च। परिहारो चेव—परिहारश्चैव पक्षमासादिविभागेन दूरतः परिवर्जनं परिहारः। सद्दहणा—श्रद्धानं सावद्यगतस्य मनसः मिथ्यादुष्कृताभिव्यक्तिनिवर्तनं, एते दश विकल्पा विपरीतदोषा भवन्ति। एतैः पूर्वोक्तानि अष्टलक्षाण्यधिकचत्वारिंशत्सहस्राणि गुणितानि चतुरशीतिलक्षसावद्यविकल्पा भवन्ति तद्विपरीतास्तावन्त एव गुणा भवन्तीति ॥१०३३॥

गुणोत्पादनक्रममाह—

> पाणादिवादविरदे, अदिकमणदोसकरणउम्मुक्के।
> पुढवीए पुढवीपुण[1]रारंभसुसंजदे धीरे ॥१०३४॥
> इत्थीसंसग्गविजुदे आकंपियदोसकरणउम्मुक्के।
> आलोयणसोधिजुदे आदिगुणो सेसया णेया ॥१०३५॥

पाणादिवादविरदे—प्राणातिपातो हिंसा तस्मात्प्राणातिपाताद्विरत उपरतस्तस्य तस्मिन्वा प्राणातिपातविरतस्य प्राणातिपातविरते वा। अदिकमणदोसकरणउम्मुक्के—अतिक्रमणमेव दोषस्तस्य करणं अतिक्रमणदोषकरणं तेनोन्मुक्तः परित्यक्तस्तस्य तस्मिन्वाऽतिक्रमणदोषकरणोन्मुक्तस्यातिक्रमणदोषकरणोन्मुक्ते वा।

तप—अनशन, अवमौदर्य आदि तपों के द्वारा दोषों की शुद्धि तप प्रायश्चित्त है।

छेद—दिवस, मास आदि से दीक्षा को कम कर देना छेद-प्रायश्चित्त है।

मूल—पुनः दीक्षा देना मूल-प्रायश्चित है।

परिहार—पक्ष, मास आदि के विभाग से मुनि को संघ से दूर कर देना परिहार-प्रायश्चित्त है।

श्रद्धान—सावद्य में मन के जाने पर मिथ्यात्व और पाप से मन को हटाना श्रद्धान नाम का प्रातश्चित्त है।

प्रायश्चित्त के ये दश भेद हैं। इनके उल्टे दश दोष हो जाते हैं। इन दश के द्वारा पूर्वोक्त आठ लाख चालीस हजार को गुणित कर देने पर सावद्य के चौरासी लाख (८४०००० × १० = ८४०००००) भेद हो जाते हैं तथा इनसे विपरीत उतने ही गुण होते हैं।

गुणों के उत्पन्न करने का क्रम कहते हैं—

गाथार्थ—जो प्राणी हिंसा से विरत हैं। अतिक्रमण दोष से रहित हैं, पृथिवी और पृथिवीकायिक के आरम्भ से मुक्त हैं। स्त्रीसंसर्ग दोष से वियुक्त हैं, आकम्पित दोष से उन्मुक्त हैं एवं आलोचना प्रायश्चित से युक्त हैं उनके प्रथम गुण होता है। इसी तरह अन्य शेष गुणों को भी जानना चाहिए ॥१०३४-१०३५॥

आचारवृत्ति—हिंसा आदि इक्कीस को पंक्त्याकार से स्थापित करके उसके ऊपर अतिक्रमण आदि चार को स्थापित करें। पुनः इसके ऊपर पृथिवी आदि सौ को स्थापित करें। उसके ऊपर स्त्रीसंसर्ग आदि दश दोषों को व्यवस्थापित करके, उसके ऊपर आकम्पित आदि दश दोषों को स्थापित करें। पुनः इस पंक्ति के ऊपर आलोचना आदि दश शुद्धियों की

---

1. क आरम्भ।

पुढवीए पुढवी पुण आरंभसुसंजदे धीरे—पृथिव्याः पृथिवीकायिकैः पृथिव्याः पृथिवीकायिकानां पुनरारम्भो विराधनं तस्मिन् सुसंयतो यत्नपरस्तस्य तस्मिन्वा पृथिव्या पृथिवीपुनरारंभसुसंयतस्य पृथिवीकायिकैः पृथिवीकायिकानां योऽयं पुनरारंभस्तस्मिन् सुसंयते वा धीरे धीरस्य वा साधोः। **इत्थीसंसग्गविजुदे**—स्त्रीसंसर्गवियुक्ते[1] स्त्रीजनसंसर्गविमुक्तस्य वा। **आकंपियदोसकरणउम्मुक्के**—आकम्पितदोषस्य यत्करणं तेनोन्मुक्तस्योन्मुक्ते वा। **आलोयणसोधिजुदे**—आलोचनशुद्धियुक्ते आलोचनशुद्धियुक्तस्य वा, **आदिगुणो**—आदिगुणः प्रथमो गुणः संजातः। **एवं, सेसया**—शेषाश्च गुणाः। **णेया**—ज्ञातव्या उत्पादनीया इति। हिंसादेकविंशतिं संस्थाप्य तत ऊर्ध्वं अतिक्रमणादयश्चत्वारः संस्थापनीयाः पुनस्तत ऊर्ध्वं पृथिव्यादिशतं स्थापनीयं तत ऊर्ध्वं दश विराधनाः स्त्रीसंसर्गादयो व्यवस्थाप्यास्तत उर्ध्वं आकंपितादयो दश दोषाः स्थापनीयाः पुनस्तत ऊर्ध्वं आलोचनादयो दश शुद्धयः स्थापनीयास्तत एवमुच्चारणं कर्त्तव्यं—धीरे मुनौ प्राणातिपातविरते पुनरप्यतिक्रमणदोषकरणोन्मुक्ते पुनरपि पथिव्या पृथिवीपुनरारंभसुसंयते पुनरपि स्त्रीसंसर्गवियुक्ते पुनरप्याकंपितदोषकरणोन्मुक्ते पुनरप्यालोचनशुद्धियुक्ते आदिगुणो भवति। ततो मृषावादविरतेऽतिक्रमणदोषकरणोन्मुक्ते पुनरप्यालोचनशुद्धियुक्ते आदिगुणो भवति। ततो मृषावादविरतेऽतिक्रमणदोषकरणोन्मुक्ते एवं शेषाणामप्युच्चार्य वाच्यो द्वितीयगुणस्ततोऽदत्तादान विरचित्ते, [विरहिते] एवं शेषेष्वप्युच्चारितेषु तृतीयो गुणाः, एवं तावदुच्चार्यं यावच्चतुरशीतिलक्षा गुणानां संपूर्णा उत्पन्ना भवन्तीति ॥१०३४-१०३५॥

शीलानां गुणानां च पच विकल्पान् प्रतिपादयन्नाह—

सीलगुणाणं संखा पत्थारो अक्खसंकमो चेव।
णट्ठं तह उद्दिट्ठं पंच वि वत्थूणि णेयाणि ॥१०३६॥

स्थापना करना चाहिए। पुनः इस प्रकार से उच्चारण करना चाहिए—'प्राणी हिंसा से विरत, अतिक्रमण दोषकरण से उन्मुक्त, पृथिवी और पृथिवीकायिक के पुनः आरम्भ दोष से रहित, स्त्री संसर्ग से वियुक्त, आकम्पित दोष से मुक्त और आलोचना-शुद्धि से युक्त धीर मुनि के गुण का यह प्रथम भंग होता है। इसके अनन्तर मृषावाद से विरत, अतिक्रमणदोष करने से उन्मुक्त, पृथिवी और पृथिवीकायिक के आरम्भ से विरक्त, स्त्रीसंसर्ग से रहित, आकम्पित दोष से मुक्त और आलोचना शुद्धि से संयुक्त धीर मुनि के यह गुण का दूसरा भंग होता है। ऐसे ही अदत्तादान से रहित, अतिक्रमण दोष करने से मुक्त, पृथिवी और पृथिवीकायिक के आरम्भ से रहित, स्त्रीसंसर्ग से वियुक्त, आकम्पित दोष से रहित और आलोचना शुद्धि से विमुक्त मुनि के गुणों का यह तीसरा भंग हुआ। इस प्रकार से तब तक उच्चारण करना चाहिए कि जब तक सम्पर्ण चौरासी लाख गुणों की पूर्णता नहीं हो जाती।

अब शील और गुणों के पाँच विकल्पों को कहते हैं—

गाथार्थ—शील और गुणों के संख्या, प्रस्तार, अक्षसंक्रम, नष्ट और उद्दिष्ट ये पाँच वस्तु-अधिकार जानना चाहिए ॥१०३६॥

---

१. क स्त्रीजनसंपर्कविप्रमुक्तस्य।

सीलगुणाणं[1]—शीलगुणानां । संखा—संख्या प्रमाणम् । शीलानां गुणानां च, पत्थारो—प्रस्तारः । शीलानां गुणानां च, अक्खसंकमो—अक्षसंक्रमश्चैव । तथा शीलानां गुणानां च, णट्ठं—नष्टता । उद्दिट्ठं—उद्दिष्टता च, उच्चारणा दृष्टा अक्षा नष्टास्तेषामक्षाणामुच्चारणावशेनोत्पादनं नष्टमित्युच्यते, अक्षा दृष्टा उच्चारणा नष्टा अक्षवशेन तासामुद्दिष्टमित्युच्यते । पंच वि वत्थूणि णेयाणि—एवं पंचापि वस्तूनि ज्ञातव्यानि भवन्ति । एवं शीलानां गुणानां च पंच विकल्पा ज्ञातव्या भवन्तीति ॥१०३६॥

संख्यानयनाय तावदाह—

सव्वेपि पुव्वभंगा उवरिमभंगेसु एक्कमेक्केसु ।
मेलंतेत्तिय कमसो गुणिदे उप्पज्जदे संखा ॥१०३७॥

शीलानां गुणानां च सर्वानपि पूर्वभंगान् पूर्वविकल्पानुपरिभंगेषु उपरिस्थितविकल्पेषु मेलयित्वा एकमेकं क्रमशो गुणयित्वा या संख्या समुत्पादनीया । अथवा सर्वेषु पूर्वभंगेषु उपरिभंगेषु च पृथक् पृथक् मिलितेषु संख्योत्पद्यते, अथवा सर्वेषु पूर्वभंगेषु उपरिभंगेषु च परस्परं गुणितेषु संख्योत्पद्यते । एकविंशतिश्चतुर्भिर्गुणनीया पुनः शतेन पुनरपि दशभिः पुनरपि दशभिः पुनरपि दशभिर्गुणिते च चतुरशीतिलक्षा गुणा उत्पद्यन्त इति । एवं शीलानामपि द्रष्टव्यमिति ॥१०३७॥

प्रस्तारस्योत्पादनार्थमाह—

आचारवृत्ति—शील और गुण की संख्या अर्थात् प्रमाण को कहना, शील और गुणों का प्रस्तार कहना, शील और गुणों के अक्षसंक्रम कहना, शील और गुणों का नष्ट कहना तथा शील और गुणों को उद्दिष्ट कहना ऐसे पाँच प्रकार से शील और गुणों के भेदों को समझना चाहिए। अलापों के भेदों को संख्या कहते हैं। संख्या के रखने या निकालने के क्रम को प्रस्तार कहते हैं। एक भेद से दूसरे भेद पर पहुँचने के क्रम को अक्षसंक्रम कहते हैं। संख्या को रखकर भेद को निकालना नष्ट है एवं भेद को रखकर संख्या निकालना उद्दिष्ट है।

संख्या को निकालने की विधि कहते हैं—

गाथार्थ—पूर्व के सभी भंगों को आगे के भंगों में मिलाकर एक-एक को क्रम से गुणित करने से संख्या उत्पन्न होती है ॥१०३७॥

आचारवृत्ति—शील और गुणों के सभी पूर्व भंगों को ऊपर के भंगों में मिलाकर एक-एक को क्रम से गुणित करने से संख्या उत्पन्न होती है। अथवा सभी पूर्व के भेद ऊपर के भंगों में पृथक्-पृथक् मिलाने पर संख्या उत्पन्न होती है। या पूर्व-पूर्व के भेदों को आगे-आगे के साथ परस्पर गुणा कर देने से संख्या कहलाती है। जैसे इक्कीस को चार से गुणा करें, पुनः उन्हें सौ से, पुनः दश से, पुनः दश से तथा पुनरपि दश से गुणा करने पर चौरासी लाख गुण उत्पन्न होते हैं। ऐसे ही शीलों को भी समझना चाहिए।

प्रस्तार की उत्पत्ति कहते हैं—

---

१. क शीलानां गुणानां च ।

पढमं सीलपमाणं कमेण णिक्खिविय उवरिमाणं च ।
पिंडं पडि एक्केक्कं णिक्खित्ते होइ पत्थारो ॥१०३८॥

पढमं—प्रथमं मनोवाक्कायत्रिकं । **सीलपमाणं**—शीलप्रमाणं अष्टादशशीलसहस्रमात्रम् । **कमेण**—क्रमेण । **णिक्खिविय**—निक्षिप्य प्रस्तीर्य मनोवाक्काय मनोवाक्काय इत्येवं तावदेकैकं निक्षेपणीयं यावदष्टादश-सहस्राणि पूर्णानि भवन्ति । ततः **उवरिमाणं च**—उपरिस्थितानां च करणादीनामष्टादशसहस्रमात्रो निक्षेपः कर्तव्यस्तद्यथा—अष्टादशसहस्रमात्राणां योगानां निक्षिप्तानामुपरि मनःकरणं मनःकरणं मनःकरणं वाक्करणं वाक्करणं वाक्करणं कायकरणं कायकरणं कायकरणं एवमेकैकं त्रीन् त्रीन् वारान् कृत्वा तावत्प्रस्तरणीयं याव-दष्टादशसहस्राणि पूर्णानि । तत उपरि आहारभयमैथुनपरिग्रहसंज्ञाः पृथक् पृथक् एकैका संज्ञा नव नववारान् कृत्वा तावत्प्रस्तरणीयं यावदष्टादशसहस्राणि[1] पूर्णानि । तत उपरि स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राणीन्द्रियाणि पञ्चैकैकं षट्त्रिंशद्वारान् षट्त्रिंशद्वारान् कृत्वा तावत्प्रस्तरणीयं यावदष्टादशसहस्राणि सम्पूर्णानि भवन्ति । तत उपरि पृथिवीकायिकाप्कायिकवायुकायिकप्रत्येककायिकानन्तकायिकद्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियपञ्चेन्द्रिया दशैकैकमशीतिशतवारमशीतिशतवारं कृत्वा तावत्प्रस्तरणीयं यावदष्टादशसहस्राणि पूर्णानि भवन्ति । तत उपरि क्षान्तिमार्दवार्जवलाघवतपःसंयमाकिंचन्यब्रह्मचर्यसत्यत्यागा दशैकैकं अष्टादशशतान्यष्टादशशतानि कृत्वा तावत्प्रस्तरणीयं यावदष्टादशसहस्राणि पूर्णानि भवन्ति । तत एवं पिंडं प्रति एकैके निक्षिप्ते समःप्रस्तारो भवति । मनोवाक्काय एकः पिण्डः त्रीणि करणान्यपरः पिंडस्त्रिकमात्रेन तथा संज्ञा नव नव भूत्वा परः पिण्डः

गाथार्थ—प्रथम शील के प्रमाण को क्रम से निक्षिप्त करके पुनः ऊपर में स्थित शील के पिण्ड के प्रति एक-एक को निक्षिप्त करने पर प्रस्तार होता है ॥१०३८॥

आचारवृत्ति—पहले मन-वचन-काय इन तीनों के पिंड अर्थात् समूह को अठारह हज़ार शील प्रमाण अर्थात् उतनी बार क्रम से फैला करके अर्थात् मन वचन-काय, मन-वचन काय, इस प्रकार से अठारह हज़ार शील के पूर्ण होने तक इन एक-एक का निक्षेपण करना चाहिए । तथा निक्षिप्त किये हुए इन अठारह हज़ार प्रमाण बार इन योगों के ऊपर मनःकरण, मनःकरण, मनः-करण वाक्करण, वाक्करण, वाक्करण कायकरण, कायकरण, कायकरण इस प्रकार से एक-एक करण को तीन-तीन बार करके तब तक फैलाना चाहिए जब तक अठारह हज़ार पूर्ण होते हैं । इसके ऊपर आहार, भय, मैथुन और परिग्रह इन चारों संज्ञाओं में से एक-एक को पृथक् पृथक् नव-नव बार करके तब तक फैलाना चाहिए जब तक अठारह हज़ार पूर्ण होते हैं । इसके ऊपर स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र इन पाँचों इन्द्रियों में से एक-एक को छत्तीस-छत्तीस बार तब तक विरलित करना चाहिए जब तक अठारह हज़ार भेद सम्पूर्ण होते हैं । इसके ऊपर पृथिकीकायिक जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक प्रत्येककायिक, अनन्तकायिक, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरि-न्द्रिय, पंचेन्द्रिय इन दश में प्रत्येक को एक सौ अस्सी, एक सौ अस्सी करके तब तक विरलन करना चाहिए कि जब तक अठारह हज़ार पूर्ण होते हैं । इसके ऊपर क्षमा, मार्दव, आर्जव, लाघव, तप, सयम, आकिंचन्य, ब्रह्मचर्य, सत्य और त्याग इन दश में से एक-एक को अठारह सौ-अठारह सौ करके तब तक फैलाना चाहिए कि जब तक अठारह हज़ार पूर्ण होते हैं । इस प्रकार से पिण्ड के प्रति एक-एक का निक्षेपण करने पर सम प्रस्तार होता है ।

---

1. सम्पूर्णानि भवन्ति ।

तथेन्द्रियाणि षट्त्रिंशद्भूत्वा परः पिण्डस्तथा पृथिव्यादयो दश अशीतिशतानि कृत्वा परः पिण्डस्तथा क्षान्त्यादयो दशाष्टादशशतान्यष्टादशशतानि भूत्वा परः पिण्डः, एवं पिण्डं प्रति पिण्डं प्रति एकैके निक्षिप्ते समप्रस्तारो भवति इति। तथा प्राणातिपाताद्येकविंशतिः पुनः पुनस्तावत् स्थाप्या यावच्चतुरशीति-लक्षप्रमाणं पूर्णं भवति, तत उपर्यतिक्रमव्यतिक्रमातीचारानाचाराः प्रत्येकमेकविंशतिप्रमाणं कृत्वा तावत्प्रस्त-रणीयं यावच्चतुरशीतिलक्षप्रमाणं सम्पूर्णं स्यात्, तत उपरि पृथिव्यादिविराधनाविकल्पः शतमात्रः प्रत्येकं चतुरशीतिप्रमाणं कृत्वा तावत् स्थाप्यं यावच्चतुरशीतिलक्षमात्रं, तत उपरि स्त्रीसंसर्गादिविराधना दश प्रत्येकं चतुरशीतिशतानि चतुरशीतिशतानि कृत्वा तावत्प्रस्तरणीयं यावच्चतुरशीतिलक्षप्रमाणं सम्पूर्णं, चतुरशीतिसहस्राणि तत उपरि आकम्पितादयो दोषा दश प्रत्येकं चतुरशीतिसहस्राणि कृत्वा तावत्प्रस्तरणीयं यावच्चतुरशीतिलक्षमात्रं स्यात्तत उपरि आलोचनादिशुद्धयो दश प्रत्येकमष्टलक्षाधिकचत्वारिंशत्सहस्राणि अष्ट लक्षाधिकचत्वारिंशत्सहस्राणि कृत्वा तावत्प्रस्तरणीयं यावच्चतुरशीतिलक्षमात्रं सम्पूर्णः स्यात्ततश्चतुर-शीतिलक्षगुणगमननिमित्तः समः प्रस्तारः स्यादिति ॥१०३८॥

मन-वचन-काय एक पिण्ड है। तीन करण यह त्रिकभाव से अर्थात् तीन-तीन बार से एक पिण्ड है। संज्ञाएँ नव-नव होकर एक अन्य पिण्ड हैं। इन्द्रियाँ छत्तीस-छत्तीस होकर एक अन्य पिण्ड हो जाती हैं। दश पृथिवी आदि में एक-सौ अस्सी—एक सौ अस्सी होकर एक पिण्ड हो जाते हैं। तथा क्षमा आदि अठारह-सौ-अठारह सौ होकर अन्य पिण्ड हो जाते हैं। इस तरह पिण्ड-पिण्ड के प्रति एक-एक का निक्षेपण करने पर समप्रस्तार होता है। यह अठारह हजार भेद रूप शील का प्रस्तार हुआ। अब गुणों का प्रस्तार बताते हैं—

प्राणिहिंसा आदि इक्कीस को पुनः पुनः रखकर तब तक स्थापित करना चाहिए कि जब तक चौरासी लाख प्रमाण पूर्ण होते हैं। उसके ऊपर अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतीचार और अना-चार—प्रत्येक को इक्कीस-इक्कीस बार करके तब तक फैलाना चाहिए जब तक चौरासी लाख प्रमाण सम्पूर्ण होते हैं। उसके ऊपर पृथिवी आदि विराधना के सौ भेदों को, प्रत्येक को चौरासी-चौरासी प्रमाण करके तब तक स्थापित करना चाहिए कि जब तक चौरासी लाख होते हैं। इसके ऊपर स्त्रीसंसर्ग आदि विराधनाओं में से प्रत्येक को चौरासी सौ-चौरासी सौ करके तब तक विर-लन करना चाहिए कि जब तक चौरासी लाख पूर्ण होते हैं। इसके ऊपर आकम्पित आदि दश दोषों को प्रत्येक को चौरासी हजार चौरासी हजार करके तब तक फैलाना चाहिए कि जब तक चौरासी लाख प्रमाण न हो जाएँ। इसके ऊपर आलोचना आदि दश प्रायश्चित भेदों को, प्रत्येक को आठ लाख चालीस हजार-आठ लाख चालीस हजार करके तब तक विरलन विधि करना चाहिए कि जब तक चौरासी लाख प्रमाण सम्पूर्ण न हो जावें। इस प्रकार से चौरासी लाख गुणों को प्राप्त करने में निमित्त यह समप्रस्तार होता है।

विशेषार्थ—समप्रस्तार को समझने की सरल विधि यह भी है: यथा—प्रथम योग नामक शील का प्रमाण ३ है, उसका विरलन कर क्रम से १ १ १ इस तरह निक्षेपण करना। इसके ऊपर करण शील के प्रमाण ३ को प्रत्येक एक के ऊपर ३ ३ ३ / १ १ १ इस तरह निक्षेपण करना। ऐसा करने के अनन्तर परस्पर में इन करणों को जोड़ देने पर ९ होते हैं। इन ९ को भी पूर्व की तरह विरलन कर एक-एक करके ९ जगह रखना तथा प्रत्येक एक के ऊपर आगे के संज्ञा शील

एवं समप्रस्तारं निरूप्य विषमप्रस्तारस्य स्वरूपं निरूपयन्नाह—

णिक्खित्तु विदियमेत्तं पढमं तस्सुवरि विदियमेक्केक्कं ।
पिंडं पडि णिक्खित्ते तहेव सेसावि कादव्वा ॥१०३६॥

णिक्खित्तु—निक्षिप्य प्रस्तीर्य, विदियमेत्तं—द्वितीयमात्रं, पढमं—प्रथमं मनोवाक्कायत्रिकं द्वितीयं त्रिकमात्रं त्रीन् वारान् संस्थाप्य ततस्तस्योपरि तस्मादूर्ध्वं, विदियं—द्वितीयं करणत्रिकं एकैकं प्रत्येकं द्वितीयप्रमाणं त्रीन् वारान् कृत्वा तावत् स्थाप्यं यावत्प्रथमप्रस्तारप्रमाणं भवति तत एतत्सर्वं प्रथमं भवति, संज्ञाचतुष्कं द्वितीयं भवति। संज्ञामात्रं प्रथमं संस्थाप्य मनोवचनकायपिंड नवप्रमाणं चतु.संख्यामात्रं संस्थाप्य तस्योपरि एकैका संज्ञा नवनववारान् संस्थाप्य तत एतत्सर्वं प्रथमपिण्डो भवति, पञ्चेन्द्रियाणि द्वितीयपिण्डो भवति, एवं प्रथमपिण्डं षट्त्रिंशत्प्रमाणं पंचवारान् संस्थाप्य तस्योपर्येकैकमिन्द्रिय षट्त्रिंशत् षट्त्रिंशत्प्रमाणं स्थापनीयं तत एतत्सर्वं प्रथमः पिण्डः स्यात्। भूम्यादयो दश द्वितीयः पिण्डः प्रथमपिण्डम् अशीतिशतप्रमाणं दशवारान् संस्थाप्य तस्योपरि

का प्रमाण चार-चार रखने $\begin{matrix} ४ & ४ & ४ & ४ & ४ & ४ & ४ & ४ & ४ \\ १ & १ & १ & १ & १ & १ & १ & १ & १ \end{matrix}$ से पूर्व की तरह इन्हें परस्पर जोड़ने पर छत्तीस शील होते हैं। पुनः इन ३६ को एक-एक विरलन करके छत्तीस जगह रखना और उन प्रत्येक एक के ऊपर इन्द्रिय शील का प्रमाण पाँच-पाँच रखना, पुनः उन सबको जोड़ देने पर एक सौ अस्सी हो जाते हैं। इन एक सौ अस्सी को एक-एक करके विरलन करके पुनः उन प्रत्येक एक के ऊपर पृथ्वी आदि शील के प्रमाण दश को रखकर जोड़ देने पर अठारह सौ हो जाते हैं। इन अठारह सौ को एक-एक कर विरलन करके इन प्रत्येक एक के ऊपर क्षमा आदि शील के प्रमाण दश को रखकर परस्पर जोड़ देने पर अठारह हजार शील के भेद हो जाते हैं। इससे यह ज्ञात होता है कि पूर्व के समस्त शील आगे के शील के प्रत्येक भेद के साथ पाये जाते हैं। ऐसे ही चौरासी लाख गुणों के विषय में प्रस्तार की सरल प्रक्रिया समझ लेनी चाहिए।

इस प्रकार समप्रस्तार का निरूपण करके अब विषमप्रस्तार का स्वरूप निरूपित करते हैं।

गाथार्थ—द्वितीय शील के प्रमाणमात्र प्रथम शील के प्रमाण को निक्षिप्त करके उसके ऊपर एक-एक पिण्ड के प्रति द्वितीय आदि शील प्रमाण को निक्षिप्त करना चाहिए। उसी प्रकार से शेष शील के प्रमाणों को भी करना चाहिए ॥ १०३६॥

आचारवृत्ति—द्वितीय शील का प्रमाण तीन है। उतनी जगह प्रथम शील के प्रमाण त्रिक को स्थापित करके अर्थात् तीन बार स्थापित करके उसके बाद जो दूसरा करणत्रिक है उस प्रत्येक एक-एक को द्वितीय प्रमाण—तीन बार करके प्रथमप्रस्तार का प्रमाण होवे तक स्थापित करना चाहिए। ऐसा करने से प्रथम प्रस्तार का प्रमाण होता है। चार संज्ञा का द्वितीय पिण्ड करना चाहिए। संज्ञाप्रमाण प्रथम की स्थापना करके अर्थात् नव प्रमाण मन-वचन-काय के प्रथम पिण्ड को चार संज्ञामात्र स्थापन करके उसके ऊपर एक-एक संज्ञा नव-नव बार स्थापित करने से यह सब प्रथम पिण्ड होता है। पुनः पंचेन्द्रिय द्वितीय पिण्ड है। प्रथम पिण्ड जो छत्तीस प्रमाण हुआ है उसे पिण्डरूप से पाँच बार स्थापित करके, उसके ऊपर एक-एक इन्द्रिय को छत्तीस छत्तीस प्रमाण स्थापित करें। ऐसा करने से यह सब प्रथम पिण्ड होता है। पुनः भूमि आदि

पृथिव्यादिकमेकैकम् अशीतिशतवारम् अशीतिशतवारं संस्थापनीयं तत एतत्सर्वं प्रथमः पिण्डः, क्षान्त्यादयो दश द्वितीयः पिण्डः, एवं प्रथमपिण्डम् अष्टादशशतमात्रं दशसु स्थानेषु संस्थाप्य तस्योपरि क्षान्त्यादिकमेकैकम् अष्टादशशतवारम् अष्टादशशतवारं कृत्वा संस्थापनीयं ततो विषमः प्रस्तारः सम्पूर्णः स्थापिपण्डं प्रति निक्षिप्ते सत्येवं तथैव विशेषा अपि विकल्पाः कर्त्तव्याः। गुणप्रस्तारोऽपि विषमोऽनेनैव प्रकारेण साध्यत इति ॥१०३६॥

दश द्वितीय पिण्ड होता है। वह प्रथम पिण्ड जो एक-सौ-अस्सी प्रमाण हुआ है उसे दश बार स्थापित करके उसके ऊपर पृथ्वी आदि एक-एक को एक-सौ-अस्सी एक-सौ-अस्सी बार स्थापित करना चाहिए। इसके बाद यह सब प्रथम पिण्ड होता है। पुनः क्षमा आदि दश द्वितीय पिण्ड हैं। इसके पहले प्रथम पिण्ड जो अठारह सौ हुआ है उसे दश स्थानों में रखकर उसके ऊपर क्षमा आदि एक-एक को अठारह सौ-अठारह सौ बार करके स्थापित करना चाहिए। इस प्रकार से विषम प्रस्तार सम्पूर्ण होता है। इसी तरह से अन्य भेदों को भी करना चाहिए अर्थात् गुणों के विषम प्रस्तार का क्रम भी इसी प्रकार से सिद्ध करना चाहिए।

विशेषार्थ—इस विषमप्रस्तार के निकालने की सरल प्रक्रिया अन्यत्र ग्रन्थों[1] में इस प्रकार है। यथा—दूसरे शील का प्रमाण तीन है इसलिए तीन स्थान पर प्रथम शील के प्रमाण तीन को पिण्डरूप से स्थापित करके अर्थात् प्रत्येक योग पिण्ड के प्रति एक-एक करण का $\begin{matrix} १ & १ & १ \\ ३ & ३ & ३ \end{matrix}$ इस तरह स्थापन करना। इन्हें परस्पर जोड़ने से ९ होते हैं। पुनः इन नव को भी प्रथम समझकर, इनसे आगे के संज्ञा शील का प्रमाण चार है, इसलिए नव के पिण्ड को चार जगह रखकर, बाद में प्रत्येक पिण्ड पर क्रम से एक-एक संज्ञा का स्थापन करना $\begin{matrix} १ & १ & १ & १ \\ ९ & ९ & ९ & ९ \end{matrix}$। इन चार जगह रखे हुए नव-नव को परस्पर में जोड़ने पर शीलों की संख्या छत्तीस होती है। पुनः इन छत्तीस को भी प्रथम समझकर इनसे आगे के इन्द्रियशील का प्रमाण पाँच है, इसलिए छत्तीस के पिण्ड को पाँच स्थान पर रखकर पीछे प्रत्येक पिण्ड पर क्रम से एक-एक इन्द्रिय की स्थापना करना $\begin{matrix} १ & १ & १ & १ & १ \\ ३६ & ३६ & ३६ & ३६ & ३६ \end{matrix}$। पुनः इन छत्तीस को परस्पर जोड़ देने से एक सौ अस्सी संख्या आ जाती है। इन एक सौ अस्सी को अगले शील के भंग पृथ्वी आदि के दश के बराबर अर्थात् दश जगह स्थापन करके प्रत्येक के ऊपर क्रम से एक-एक पृथ्वी आदि की स्थापना करना $\begin{matrix} १ & १ & १ & १ & १ & १ & १ & १ & १ & १ \\ १८० & १८० & १८० & १८० & १८० & १८० & १८० & १८० & १८० & १८० \end{matrix}$। पुनः इन्हें परस्पर जोड़ देने पर अठारह सौ प्रमाण संख्या हो जाती है। पुनः इनको प्रथम समझकर अगले क्षमादि दश के बराबर पिण्ड रूप से रखना। $\begin{matrix} १ & १ & १ & १ & १ & १ & १ & १ & १ & १ \\ १८०० & १८०० & १८०० & १८०० & १८०० & १८०० & १८०० & १८०० & १८०० & १८०० \end{matrix}$ पुनः इनको परस्पर में जोड़ने पर १८००० हो जाते हैं। इस तरह से यह विषम प्रस्तार को समझने की सरल प्रक्रिया है।

---

1 गोम्मटसार जीवकाण्ड, गाथा ३८।

अक्षसंक्रमस्वरूपेण शीलगुणान् प्रतिपादयन्नाह—

पढमक्खे अंतगदे आदिगदे संकमेदि विदियक्खो।
दोण्णिवि गंतूणंतं आदिगदे संकमेदि तदियक्खो ॥१०४०॥

गुप्तिकरणसंज्ञेन्द्रियकायधर्मानुपर्युपरि संस्थाप्य ततः पूर्वोच्चारणक्रमेणाक्षसंक्रमः कार्यः। प्रथमाक्षेऽन्तमवसानं गते प्राप्ते ततोऽन्तं प्राप्यादिगतेऽक्षे संक्रामति द्वितीयोऽक्षः करणस्थस्ततो द्वावक्षावन्तं गत्वा आदिं प्राप्तयोः संक्रामति तृतीयोऽक्षस्तेषु त्रिष्वक्षेषु अन्तं प्राप्यादिं गतेषु संक्रामति तृतीयोऽक्षस्तेष्वन्तं प्राप्यादिंगतेषु संक्रामति चतुर्थोऽक्षस्ततस्तेषु चतुर्ष्वक्षेष्वन्तं प्राप्यादिंगतेषु संक्रामति पंचमोऽक्षस्ततस्तेषु पंचस्वक्षेष्वन्तं प्राप्यादिंगतेषु संक्रामति षष्ठोक्षः एवं तावत्संक्रमणं कर्त्तव्यं यावत्सर्वेऽक्षा अन्ते व्यवस्थिताः स्युस्ततोऽष्टादशशीलसहस्राणि सम्पूर्णान्यागच्छन्तीत्येव गुणागमननिमित्तमप्यक्षसंक्रमः कार्योऽव्याक्षिप्तचेतसेति ॥१०४०॥

उच्चारणारूपाणि दृष्टानि अक्षा नष्टास्तत उच्चारणारूपद्वारेणाक्षान् साधयन्नाह—

सगमाणेहिं विहत्ते सेसं लक्खित्तु संखिवे रूवं।
लक्खिज्जंतं सुद्धे एवं सव्वत्थ कायव्वं ॥१०४१॥

सगमाणेहिं—स्वकीयप्रमाणैर्योगादिभिर्यत्राक्षो निरूप्यते तानि स्वकप्रमाणानि तैः विहत्ते—विभक्ते

अक्षसंक्रम के स्वरूप से शील और गुणों का प्रतिपादन करते हैं—

गाथार्थ—प्रथम अक्ष के अन्त को प्राप्त होकर पुनः आदि स्थान को प्राप्त हो जाने पर द्वितीय अक्ष सक्रमण करता है। और जब दोनों ही अक्ष अन्त को प्राप्त होकर आदि स्थान पर आ जाते हैं तब तृतीय अक्ष सक्रमण करता है॥ ०४०॥

आचारवृत्ति—गुप्ति, करण, सज्ञा, इन्द्रियाँ, काय और धर्म इनको ऊपर-ऊपर स्थापित करके पुनः पूर्वोच्चारण के क्रम से अक्ष का सक्रम अर्थात् परिवर्तन करना चाहिए। पहला अक्ष मन-वचन-काय की गुप्तिरूप जब अन्त तक पहुँचकर पुनः आदि स्थान को प्राप्त हो जाता है तब दूसरा अक्ष अर्थात् करण परिवर्तन करता है। ये गुप्ति और करण दोनों ही अक्ष अन्त तक पहुँचकर पुनः जब आदि स्थान पर आ जाते हैं। तब तीसरा सज्ञा नाम का अक्ष संक्रमण करता है। ये तीनों ही अक्ष जब अन्त को प्राप्त होकर आदि स्थान में आ जाते हैं तब चतुर्थ इन्द्रिय अक्ष परिवर्तन करता है। ये चारों ही अक्ष जब अन्त तक पहुँचकर पुनः आदि स्थान पर आ जाते हैं तब पाँचवाँ काय नाम का अक्ष संक्रमण करता है। इन पाँचों ही अक्षों के अन्त तक पहुँचकर आदि स्थान पर आ जाने पर छठे अक्ष का तब तक परिवर्तन करना चाहिए कि जब तक सभी अक्ष अन्त में व्यवस्थित न हो जाएँ। तब इस विधान से अठारह हजार शील सम्पूर्ण होते हैं। उसी तरह से गुणों को लाने के लिए भी स्थिरचित्त होकर अक्ष संक्रमण करना चाहिए।

उच्चारण रूप तो देखे गये किन्तु अक्ष नष्ट हैं अर्थात् भंग मालूम नहीं हैं अतः उच्चारण के द्वारा भंगों को साधते हुए आचार्य कहते हैं—

गाथार्थ—अपने प्रमाणों के द्वारा भाग देने पर शेष को देखकर एक रूप का क्षेपण करे और शून्य के आने पर अक्ष को अन्तिम समझे। ऐसा ही सर्वत्र करना चाहिए॥१०४१॥

आचारवृत्ति—जहाँ पर स्वयं प्रमाणभूत योग या करण आदि द्वारा भंग-निरूपण

विभागे हृते सति, सेसं—शेषं, लक्खित्तु—लक्षयित्वा, संखिवे—संक्षिपेद्रूपं च भागे हृते यल्लब्धं तस्मिन्नन्यस्याश्रुतत्वाच्छेषमात्रे चाक्षः स्थितः शेषे पुनः सुद्धे शून्ये, लक्खिदव्वंतं—लक्षणम् अक्षः, अन्तम् अन्ते व्यवस्थितमिति, तु शब्देन सर्वत्रेष्टसमुच्चयः, एवं सर्वत्र शीलेषु च कर्तव्यमिति, यान्युच्चारणरूपाणि लब्धानि तेषु स्वकप्रमाणैस्त्रिभिर्भागे हृते यल्लब्धं भ्रमित्वाऽक्षः यावन्ति शेषरूपाणि तावन्मात्रेऽक्षः स्थितः यदि पुनर्न किंचिच्छेषरूपं शून्यं तदान्तेऽक्षो द्रष्टव्य इति एवं करणैः संज्ञाभिरिन्द्रियैर्भूम्यादिभिश्च क्षान्त्यादिभिश्च लब्धे लब्धे भागो हार्य इति द्विसहस्रे अशीत्यधिके संस्थाप्य त्रिभिर्योगैर्भागे हृते त्रिनवत्यधिकानि षट्शतानि लब्धानि भवन्ति, एकं च शेषरूपं तत्र लब्धमात्रं भ्रमित्वाऽक्ष आदौ व्यवस्थितस्ततो लब्धे रूपं प्रक्षिप्य भागे हृते करणैर्द्वे शते एकत्रिंशत्यधिके संजाते रूपं च शेषभूतं तत्रैकत्रिंशदुत्तरे द्वे शते भ्रमित्वा अक्ष आदौ व्यवस्थितस्ततः संज्ञाभिश्चतसृभिः रूपाधिके लब्धे भागे हृते अष्टापञ्चाशल्लब्धा न किंचिच्छेषभूतं तत्राष्टापञ्चाशद्वारान् भ्रमित्वाऽक्षोऽन्ते व्यवस्थितस्ततो लब्धे पञ्चभिरिन्द्रियैर्भागे हृते एकादश रूपाणि लब्धानि शेषभूतानि च त्रीणि रूपाणि तत्रैकादशवारान् भ्रमित्वाऽक्षस्तृतीयरूपे व्यवस्थितस्ततो लब्धे रूपाधिके दशभिः पृथिव्यादि-

---

किया जाता है वे योग आदि ही स्वकप्रमाण कहलाते हैं। उन स्वक-प्रमाणों से अर्थात् योग आदि की संख्या द्वारा भाग देने पर जो शेष मात्र में भंग रहता है तथा जो लब्ध आता है उसमें एक अंक मिलाएँ क्योंकि अन्य हीनाधिक भेद श्रुत में पाया नहीं गया है तथा शेष में शून्य के उपलब्ध होने पर भंग अन्त में व्यवस्थित है, ऐसा समझना। इसी प्रकार से सर्वत्र शीलों के भंग को लाने में करना चाहिए।

जो उच्चारण रूप प्राप्त हुए हैं उनमें स्वकप्रमाण तीन से भाग देने पर जो प्राप्त हुआ उतने मात्र अक्ष-भंग का भ्रमण कर जितने शेष रूप हैं उतने मात्र में अक्ष स्थित है, यदि पुनः शेष कुछ नहीं आया है किन्तु शून्य आया है तब अन्तिम अक्ष-भंग समझना। इस प्रकार से कारण, संज्ञा, इन्द्रियाँ और पृथ्वी आदि द्वारा भाग देने पर जो जो लब्ध आता है उसका भी ऊपर के समान अक्ष-भंग समझना चाहिए। जैसे किसी ने पूछा कि दो हज़ार अस्सीवाँ भंग कौन-सा है? उस समय २०८० संख्या स्थापित कर ३ योग से भाग देने पर ६९३ लब्ध होते हैं और १ शेष रूप है तब लब्धमात्र भंग भ्रमण कर पहला भंग आता है जो कि मनोगुप्ति है। अर्थात् शेष में एक आने से मनोगुप्ति ग्रहण करना। फिर लब्ध में एक अंक मिलाकर करणों के द्वारा भाग देने पर दो सौ इकतीस ६९४÷३=२३१ लब्ध आये और शेष १ रहा, अतः इसमें भी दो-सौ-इकतीस बार भ्रमण कर आदि में अक्ष व्यवस्थित होता है अतः मनः-करणमुक्त प्रथम करण ग्रहण करना। इसके अनन्तर २३१ में एक अंक मिलाकर चार संज्ञाओं द्वारा भाग देने पर (२३२÷४) ५८ लब्ध आये और शेष में कुछ नहीं आया, अतः अठावन बार भ्रमण कर अक्ष अन्त में आता है अर्थात् अन्तिम 'परिग्रह संज्ञा से विरत' समझना चाहिए। पुनः लब्ध संख्या ५८ में एक अंक बिना मिलाए ही ५ इन्द्रियों से भाग देने पर लब्ध ११ आये, शेष ३ आये। उसमें ग्यारह बार भ्रमण कर तृतीय अक्ष रूप घ्राणेन्द्रिय में व्यवस्थित होता है, अतः 'घ्राणेन्द्रिय संवृत' समझना। पुनः लब्ध में १ अंक मिलाकर पृथिवी आदि १० से भाग देने पर (१२÷१०) लब्ध १ आया और शेष में २ संख्या आयी, उसमें एक बार भ्रमण कर अक्ष द्वितीय रूप में व्यवस्थित है अर्थात् 'जलकायिकसंयमो' समझना। पुनः १ लब्ध में १ अंक मिलकर क्षमा आदि १० से भाग देने पर कुछ लब्ध नहीं आया अतः वह द्वितीय अक्ष रूप में

भिभागे हृते रूपं लब्धं द्वे रूपे च शेषभूते तमेकवारं भ्रमित्वाक्षो द्वितीयरूपे व्यवस्थितस्ततो रूपे रूपं प्रक्षिप्य आद्यादिभिभागे न हृते किंचिल्लब्धं द्वितीयरूपे चाक्षः स्थितः, एवं सर्वत्र नष्टोऽक्ष आनयितव्योऽव्यामोहेन । यथा शीलेष्वेवं गुणेष्वपि द्रष्टव्य इति ॥१०४१॥

पुनरक्षद्वारेण रूपाणि नष्टान्यानयन्नाह—

संठाविऊण रूवं उवरीदो संगुणित्तु सगमाणे ।
अवणिज्ज अणंकिदयं कुज्जा पढमंति यावेव ॥१०४२॥

संठाविऊण—संस्थाप्य सम्यक् स्थापयित्वा, रूवं—रूपं, उवरीदो—उपरित आरभ्य, संगुणित्तु—संगुणय्य, सगमाणे—स्वकप्रमाणैः, अवणिज्ज—अपनीय निराकरणीयं, अणंकिदयं—अनंकितं रूपं, कुज्जा—कुर्यात्, पढमंति यावेव—प्रथममारभ्यांतकं यावद् रूपं संस्थाप्य दशभी रूपैर्गुणनीयम् । अष्टरूपाण्यनंकितानि परिहरणीयानि ततो द्वे रूपे शेषभूते ततो दशभी रूपैर्गुणयितव्ये ततो दशभी रूपैर्गुणिते विंशतिरूपाणि भवन्ति

स्थित रहा अर्थात् अक्ष दो होने से वह 'मार्दव-धर्म-संयुक्त' है ऐसा समझना। इस प्रकार से सर्वत्र ही व्यामोह छोड़कर नष्ट अक्ष निकालना चाहिए। जैसे शीलों में यह विधि है ऐसे ही गुणों में भी समझना चाहिए।

विशेषार्थ—संख्या को रखकर भेद निकालना नष्ट कहलाता है और भेद को रखकर संख्या निकालने को समुद्दिष्ट कहते हैं। यहाँ पर नष्ट को निकालने की विधि बतलायी है। जिस किसी ने शील का जो भी भंग पूछा हो, उतनी संख्या रखकर उसमें क्रम से प्रथम शील के प्रमाण का भाग दें। भाग देने पर जो शेष रहे, उसे अक्षस्थान समझकर जो लब्ध आवे उसमें एक मिलाकर दूसरे शील के प्रमाण से भाग देना चाहिए। और भाग देने पर जो शेष रहे उसे अक्षस्थान समझना चाहिए। किन्तु शेष स्थान में यदि शून्य हो तो अन्त का अक्षस्थान समझना चाहिए और उसमें एक नहीं मिलाना चाहिए। इसी का उदाहरण २०८० संख्या रखकर दिया गया है जो कि इस प्रकार आया है—मनोगुप्तिधारक, मनःकरणमुक्त, परिग्रहसंज्ञा-विरत, घ्राणेन्द्रियसंवृत, जलकायसंयमरत और मार्दवधर्मयुक्त धीर मुनि होते हैं।

पुनः अक्ष के द्वारा नष्ट रूप को निकालने की विधि कहते हैं—

गाथार्थ—एक अंक को स्थापित करके, ऊपर के अपने शील प्रमाण से गुणा करके अनंकित को घटा देना चाहिए। प्रथम से लेकर अन्तपर्यन्त आने तक यह विधि करे॥१०४२॥

आचारवृत्ति—सम्यक् प्रकार से एक अंक स्थापित करके, ऊपर से आरम्भ करके, अपने शील प्रमाणों से गुणा कर, उसमें से अनंकित संख्या को घटा देना चाहिए। इस प्रकार प्रथम से आरम्भ करके अन्त तक उतने-उतने अंकों को स्थापित करके यह विधि करना चाहिए। अर्थात्, जैसे ऊपर संख्या रखकर आलाप निकाला है, ऐसे ही यहाँ पर आलापों का उच्चारण करके संख्या निकालनी है, अतः ऊपर का ही उच्चारण लेकर किसी ने पूछा कि—'मनोगुप्ति-धारक, मनःकरणमुक्त, परिग्रहसंज्ञाविरत, घ्राणेन्द्रियसंवृत, जलकायसंयमरत और मार्दव-धर्मयुक्त' शील का भंग कौन-सा है तो उसे ही निकालने की विधि बतलाते हैं।

अंक १ रखकर उसे ऊपर के शील के भेदों से अर्थात् दश धर्म से गुणा करना

ततोऽष्टरूपाणि निराकरणीयानि ततो द्वादशरूपाणि भवन्ति पंचभिर्गुणितानि षष्टिरूपाणि भवन्ति द्वे रूपेऽनंकिते ते निराकृत्याष्टापंचाशद्रूपाणि भवन्ति तानि चतुर्भी रूपैर्गुणितानि द्वात्रिंशदधिके द्वे शते भवतः, अनंकितं न किंचिद्विद्यते ततस्तानि लब्धरूपाणि त्रिभिर्गुणितानि षण्णवत्यधिकानि षट्शतानि भवन्ति अनंकिते द्वे रूपे ते निराकृत्य चतुर्णवत्यधिकानि षट्शतानि भवन्ति ततस्तानि त्रिभी रूपैर्गुणितानि द्वे सहस्रे द्व्यशीत्यधिके भवतस्ततो द्वे रूपेऽनंकिते निराकृत्य शेषाण्युच्चारणारूपाणि भवन्त्येवं सर्वत्र शीलेषु गुणेषु च द्रष्टव्यमिति* ॥१०४२॥

चाहिए (१×१०) इस प्रकार गुणने पर १० आये अतः आलाप में मार्दवधर्म है तथा उसके आगे के आठ भेद अनंकित हैं, उन्हें इस लब्ध संख्या से घटा देना चाहिए, तब दो '२' अंक बचा। इसे भी 'दशकाय' से गुणा करने से २० अंक (२×१०) हुए। इनमें 'जलकाय' के आगे के आठ अंक, जो अनंकित हैं, घटा दें तब बारह शेष रहे (२०—८=१२)। पुनः इन्हें पाँच इन्द्रियों से गुणा करने पर साठ (१२×५=६०) आये, इनमें से भी 'घ्राणेन्द्रिय' से ऊपर का दो इन्द्रियाँ अनंकित हैं। उन्हें घटा दें तब अट्ठावन (६०—२) होते हैं। इन्हें भी चार संज्ञाओं से गुणा करने पर दो सौ बत्तीस (५८×४=२३२) हुए। यह परिग्रह संज्ञा अन्तिम होने से अनंकित है अतः कुछ नहीं घटा। पुनः इस संख्या में तीन करण से गुणा करने पर छह सौ छ्यानवे (२३२×३=६९६) हुए। यहाँ पर 'मनःकरण' से आगे के दो रूप अनंकित होने से उन्हें घटाने पर ६९४ हुए। उन्हें आगे के तीन योगों से गुणा करने पर दो हजार ब्यासी (६९४×३=२०८२) हुए। इसमें से 'मनोगुप्ति' के आगे के अनंकित दो को घटाने से दो हजार-अस्सी होते हैं। अतः पूर्व प्रश्न के उत्तर में इसे २०८० वाँ भंग कहेंगे। इस प्रकार सर्वत्र शील और गुणों में समझना चाहिए।

---

* अष्टादशशीलसहस्राणां समप्रस्तारापेक्षया यंत्रमिदम्—

क्षमा १	मार्दव २	आर्जव ३	शौच ४	सत्य ५	संयम ६	तप ७	त्याग ८	आकिंचन्य ९	ब्रह्मचर्य १०
पृथ्वी ०	अप् १०	तेज २०	वायु ३०	प्रत्येक ४०	साधारण ५०	द्वीन्द्रिय ६०	त्रीन्द्रिय ७०	चतु० ८०	पंचेन्द्रिय ९०
स्पर्शन ०	रसना १००	घ्राण २००	चक्षु ३००	श्रोत्र ४००					
आहार ०	भय ५००	मैथुन १०००	परिग्रह १५००						
मनः क० ०	वाक्क० २०००	कायक० ४०००							
मनोगु० ०	वाग्गु० ६०००	कायगु० १२०००							

(अगले पृष्ठ पर भी देखें)

विशेषार्थ—शील के अठारह हज़ार भेद तीन अन्य प्रकारों से भी किये जासकते हैं : (१) विषयाभिलाषा आदि १० अर्थात् विषयाभिलाषा, वस्तिमोक्ष, प्रणीतरससेवन, संसक्त-द्रव्यसेवन, शरीरांगोपांगावलोकन, प्रेमि-सत्कार-पुरस्कार, शरीरसंस्कार, अतीतभोगस्मरण, अनागतभोगाकांक्षा और इष्टविषयसेवन। चिन्ता आदि १० अर्थात् चिन्ता, दर्शनेच्छा, दीर्घनिःश्वास, ज्वर, दाह, आहार-अरुचि, मूर्च्छा, उन्माद, जीवन-सन्देह और मरण। इन्द्रिय ५, योग ३, कृत-कारितअनुमोदना ३, जागृत और स्वप्न ये २, और चेतन-अचेतन ये २ इन सबको गुणित करने पर अठारह हज़ार (१०×१०×५×३×३×२×२=१८०००) हो जाते हैं। इन दोषों से रहित १८००० शील होते हैं।

(२) तीन प्रकार की स्त्री (देवी, मानुषी, तिरश्ची) ३, योग ३, कृत-कारित-अनुमोदना ३, संज्ञाएँ ४, इन्द्रिय १० (भावेन्द्रिय ५, द्रव्येन्द्रिय ५) तथा कषाय १६—इन सबको गुणा करने पर १७२८० भेद (३×३×३×४×१०×१६) होते हैं। इनमें अचेतन स्त्री सम्बन्धी ७२० भेद जोड़ दें, यथा, अचेतन स्त्री (काष्ठ, पाषाण, चित्र) ३, योग (मन और काय) २, कृतादि ३ और कषाय ४ तथा इन्द्रिय-भेद १० से गुणा करने पर (३×२×३×४×१०) ७२० होते हैं। इस प्रकार १७२८०+७२०=१८००० भेद हुए।

(३) स्त्री ४, योग ३, कृतादि ३, इन्द्रिय ५, शृंगार रस के भेद १०, काय-चेष्टा के भेद १० इनके परस्पर गुणित होने से (४×३×३×५×१०×१०) १८००० भेद होते हैं। इन दोषों से रहित १८००० शील होते हैं।

विषमप्रस्तारापेक्षया यन्त्रमिदम्—

मनोगुप्ति १	वचनगुप्ति २	कायगुप्ति ३							
मन:करण ०	वाक्करण ३	कायकरण ६							
आहार ०	भय ९	मैथुन १८	परिग्रह २७						
स्पर्शन ०	रसना ३६	घ्राण ७२	चक्षु १०८	श्रोत्र १४४					
पृथ्वी ०	जल १८०	अग्नि ३६०	वायु ५४०	प्रत्येक वन. ७२०	अनंत वन. ९००	द्वीन्द्रिय १०८०	त्रीन्द्रिय १२६०	चतुरिन्द्रिय १४४०	पंचेन्द्रिय १६२०
क्षमा ०	मार्दव १८००	आर्जव ३६००	शौच ५४००	सत्य ७२००	संयम ९०००	तप १०८००	त्याग १२६००	आकिंचन्य १४४००	ब्रह्मचर्य १६२००

शील के इन तीनों[1] प्रकार के भेदों को निकालने के लिए क्रमशः संख्या, प्रस्तार, परिवर्तन, नष्ट तथा समुद्दिष्ट इन पाँच प्रकारों को समझना चाहिए। इन शीलों के भी समप्रस्तार और विषमप्रस्तार की अपेक्षा गूढ़ यन्त्र बन जाते हैं :

यदि किसी ने पूछा कि १६४४३ वाँ भंग कौन-सा है तो इस संख्या में १० का भाग देने पर १६४४३÷१०=१६४४ लब्ध आये और शेष ३ रहने से, 'प्रणीतरससेवन' ग्रहण करना तथा लब्ध में एक मिलाकर पुनः १० से भाग देने पर १६४५÷१०=१६४ आये। यहाँ पर शेष में ५ होने से 'दाह' लेना तथा लब्ध में १ मिलाकर ५ से भाग देने से १६५÷५=३३ आवे। यहाँ शेष में शून्य होने 'कर्णेन्द्रिय' लेना। फिर लब्ध को ३ से भाग देने से ३३÷३=११ आये, यहाँ भी शेष में शून्य होने से 'काययोग' लेना। पुनः लब्ध में ३ का भाग देने पर (११÷३) यहाँ शेष में २ होने से 'कारित' लेना तथा लब्ध ३ में १ मिलाकर २ से भाग देने पर (४÷२=२) शेष में शून्य होने से 'स्वप्न' लेना। फिर २ लब्ध में २ का भाग देने पर शेष में शून्य होने से अन्तिम 'अचेतन' लेना। अब इसका उच्चारण ऐसा करना कि 'प्रणीतरससेवनत्यागी, दाहबाधारहित, कर्णेन्द्रिय-विषय-विरत, कायगुप्तियुक्त, कारित दोषरहित, स्वप्न दोषरहित एवं अचेतनस्त्रीविरक्त मुनि' १६४४३ वें भंग के धारक होते हैं।

अठारह हजार शीलों का विषम प्रस्तार की अपेक्षा यन्त्र—

विषयाभि.	वस्तिमोक्ष	प्रणीत	संसक्त द्र. से	शरीरांगो.	प्रेमि-स.	शरीर सं.	अतीत भो.	अना. भो.	इष्ट वि.
१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०
चिंता	दर्शनेच्छा	दीर्घ निः.	ज्वर	दाह	आहार-रु.	मूर्च्छा	उन्माद	जीवन सं.	मरण
०	१०	२०	३०	४०	५०	६०	७०	८०	९०
स्पर्शन	रसना	घ्राण	चक्षु	श्रोत्र					
०	१००	२००	३००	४००					
मनोयोग	वचनयोग	काययोग							
०	५००	१०००							
कृत	कारित	अनुमोदना							
०	१५००	३०००							
जागृत	स्वप्न								
०	४५००								
चेतन	अचेतन								
०	९०००								

१. गोम्मटसार जीवकाण्ड (श्रीमद् रायचन्द्रग्रन्थमाला से प्रकाशित) गाथा ६५ के टिप्पण से।

शीलगुणानामुपसंहारगाथामाह—

एवं सीलगुणाणं सुत्तत्थवियप्पदो विजाणित्ता।
जो पालेदि विसुद्धो सो पावदि सव्वकल्लाणं ॥१०४३॥

एवमनेन प्रकारेण पूर्वोक्तेन सीलगुणाणं—शीलगुणाननेकभेदभिन्नान्, सुत्तत्थवियप्पदो—सूत्रार्थविकल्पतः सूत्रार्थेन च, विजाणित्ता—विज्ञाय विशेषतो ज्ञात्वा, जो पालेदि—यः पालयति, विसुद्धो—विशुद्धः

ऐसे ही आलाप के पूछे जाने पर १ अंक रखकर ऊपर से शील के भेदों से गुणा करके अनंकित अंक घटाने से पूर्वोक्त विधि से अभीष्ट संख्या आ जाती है।

इसी प्रकार से चौरासी लाख उत्तर गुणों को निकालने के लिए संख्या, प्रस्तार, परिवर्तन, नष्ट तथा समुद्दिष्ट इन पाँच प्रकारों को समझना चाहिए। उसके भंग और आलापों को समझने के लिए भी ये यन्त्र बनाये जा सकते हैं।

अब शील और गुणों का उपसंहार करते हुए कहते हैं—

गाथार्थ—इस प्रकार से शील और गुणों को सूत्र और अर्थ के विकल्प से जानकर जो पालन करते हैं वे विशुद्ध होकर सर्व कल्याण प्राप्त करते हैं ॥१०४३॥

आचारवृत्ति—जो मुनि सूत्र और अर्थ से अनेक भेद रूप शीलों और गुणों को जानकर

अठारह हजार शीलों का समप्रस्तार की अपेक्षा दूसरा यन्त्र—

चेतन १	अचेतन २								
जाग्रत ०	स्वप्न २								
कृत ०	कारित ४	अनुमोदन ८							
मन ०	वचन १२	काय २४							
स्पर्शन ०	रसना ३६	घ्राण ७२	चक्षु १०८	श्रोत्र १४४					
चिंता ०	दर्शनेच्छा १८०	दीर्घ-नि. ३६०	ज्वर ५४०	दाह ७२०	आ. रुचि ९००	मूर्च्छा १०८०	उन्माद १२६०	जीवन सं. १४४०	मरण १६२०
विषयाभि. ०	वस्तिमोक्ष १८००	प्रणीतरस. ३६००	संसक्तद्रव्य ५४००	शरीरा.पा ७२००	प्रेमि स. ९०००	शरीर-सं. १०८००	अ. भोगस्म १२६००	अ. भोगा. १४४००	इष्टविषय १६२००

सर्वकर्मविनिर्मुक्तः सो पावदि—स प्राप्नोति सव्वकल्लाणं—सर्वकल्याणं, अनन्तचतुष्टयं पंचकल्याणानि वा। सूत्रार्थविकल्पतो[1] विज्ञाय शीलगुणान् यः पालयति स विशुद्धः सन् सर्वकल्याणानि प्राप्नोतीति ॥१०४३॥

इति श्रीमद्वट्टकेराचार्यवर्यप्रणीतमूलाचारे वसुनंद्याचार्यप्रणीताचारवृत्त्याख्यटीकासहिते
शीलगुणव्यावर्णननामैकादशोऽधिकारः* ॥

उनका पालन करते हैं वे सर्व कर्मों से मुक्त होते हुए अनन्तचतुष्टय अथवा पंचकल्याणकों को प्राप्त करते हैं।

इस प्रकार वसुनन्दि-आचार्य प्रणीत 'आचारवृत्ति' नामक टीका सहित
श्रीमद् वट्टकेराचार्यवर्य प्रणीत मूलाचार में शीलगुण व्यावर्णन नामका
ग्यारहवाँ अधिकार पूर्ण हुआ।

---

१. क सूत्रार्थविकल्पैः।

* अन्य पाण्डुलिपि में यह गाथा अधिक है—

सो मे तिहुवणमहिदो सिद्धो बुद्धो णिरंजणो णिच्चो।
दिसदु वरणाणलाहं चारित्तसुद्धिं समाधिं च ॥

अर्थ—त्रिभुवनपूज्य, सर्वकर्मांजन से रहित, नित्य, शुद्ध और बुद्ध सिद्ध परमेष्ठी मुझे ज्ञानलाभ, चारित्रशुद्धि और समाधि प्रदान करें।

पर्याप्त्यधिकारः

शीलगुणाधिकारं व्याख्याय सर्वसिद्धान्तकरणचरणसमुच्चयस्वरूपं द्वादशाधिकारं पर्याप्त्याख्यं प्रतिपादयन् मंगलपूर्विकां प्रतिज्ञामाह—

काऊण णमोक्कारं सिद्धाणं कम्मचक्कमुक्काणं।
पज्जत्तीसंगहणी वोच्छामि जहाणुपुव्वीयं ॥१०४४॥

काऊण—कृत्वा। **णमोक्कारं**—नमस्कारं शुद्धमनोवाक्कायप्रणामम्। **सिद्धाणं**—सिद्धानां सर्वलेपविनिर्मुक्तानाम् अथवा सर्वसिद्धेभ्यः प्राप्ताशेषसुखेभ्यः। **कम्मचक्कमुक्काणं**—कर्मचक्रमुक्तानां चक्रमिव चक्रं कर्मनिमित्तं यच्चतुर्गतिपरिभ्रमणं तेन परिहीणानां कर्मचक्रविप्रमुक्तेभ्यो वा संसारान्निर्गतेभ्यः। **पज्जत्ती**—पर्याप्ती आहारादिकारणसंपूर्णताः। **संगहणी**—सर्वाणि सिद्धान्तार्थप्रतिपादकानि सूत्राणि संगृह्णन्तीति संग्रहिण्यस्ताः संग्रहिणीगृंहीताशेषतत्त्वार्थाः। अथवा पर्याप्तिसंग्रहं पर्याप्तिसंक्षेपं पर्याप्त्यधिकारं वा [1]सर्वनियोगमूलभूतम्। **वोच्छामि**—वक्ष्ये विवृणोमि। **जहाणुपुव्वीयं**—यथानुपूर्वं यथाक्रमेण सर्वज्ञोक्तागमानुसारेण, न स्वमनीषिकया कर्मचक्रविनिर्मुक्तेभ्यः[2] सिद्धेभ्यः सिद्धानां वा नमस्कारं कृत्वा यथानुपूर्वं पर्याप्तीः संग्रहिणीः वक्ष्य इति ॥१०४४॥

शीलगुण अधिकार का व्याख्यान करके सर्वसिद्धान्त ओर करणचरण के समुच्चयस्वरूप पर्याप्ति नाम के बारहवें अधिकार का प्रतिपादन करते हुए मंगलपूर्वक प्रतिज्ञा-सूत्र कहते हैं—

गाथार्थ—कर्म समूह से रहित सिद्धों को नमस्कार कर मैं पर्याप्ति का यथाक्रम संग्रह करनेवाला अधिकार कहूँगा ॥१०४४॥

आचारवृत्ति—जो कर्मचक्र से मुक्त हो चुके हैं, अर्थात् चक्र के समान कर्म निमित्तक चतुर्गति के परिभ्रमण से छूट चुके हैं, ऐसे सर्वलेप से रहित अथवा अखिल सुख को प्राप्त सिद्धों को मन-वचन-काय पूर्वक नमस्कार कर मैं पर्याप्ति संग्रहणी कहूँगा। आहार आदि कारणों की सम्पूर्णता को पर्याप्ति कहते हैं। सर्वसिद्धान्त के प्रतिपादक सूत्रों को जो सम्यक्प्रकार से ग्रहण करे वह संग्रहणी है। इस तरह मैं सर्वसिद्धान्त को संग्रह करनेवाले अधिकार का कथन करूँगा। अथवा पर्याप्तिसंग्रह—पर्याप्तिसंक्षेप या सर्वनियोगों के मूलभूत पर्याप्ति-अधिकार को मैं सर्वज्ञ कथित आगम के अनुसार कहूँगा, अपनी तुच्छ कल्पना से नहीं। इस कथन से ग्रन्थकार ने इस ग्रन्थ को सर्वज्ञदेव द्वारा कथित आगम से अनुबद्ध सिद्ध किया है।

---

१. क सर्वानुयोग। २. क विमुक्तेभ्यः।

प्रतिज्ञार्थं निर्वहन्नाचार्यः पर्याप्त्युपलक्षितस्याधिकारस्य [1]संग्रहस्तवकगाथाद्वयमाह—

पज्जत्ती देहो वि य संठाणं कायइंदियाणं च ।
जोणी आउ पमाणं जोगो वेदो य लेस पविचारो ॥१०४५॥

उववादो उव्वट्टण[2] ठाणं च कुलं च अप्पबहुलो[3] य ।
पयडिट्ठिदिअणुभागप्पदेसबंधो य सुत्तपदा ॥१०४६॥

पज्जत्ती—पर्याप्तय आहारादिकारणनिष्पत्तय: । देहो वि य—देहोऽपि चौदारिकवैक्रियिकाहारकवर्गणागतपुद्गलपिंडः करचरणशिरोग्रीवाद्यवयवैः परिणतो वा अपि चान्यदपि । संठाणं—संस्थानमवयवसन्निवेशविशेषः । केषामिति चेत् कायेन्द्रियाणां च कायानां च पृथिवीकायादिकानां श्रोत्रादीन्द्रियाणां च कायानां संस्थानमिन्द्रियाणां च । जोणी—योनयो जीवोत्पत्तिस्थानानि । आउ—आयुर्नरकादिगतिस्थितिकारणपुद्गलप्रचयः । पमाणं—प्रमाणमुत्सेधायामविस्ताराणामियत्ता, चायुषोऽन्येषां च देहादीनां वेदितव्यम् । जोगो—योगः कायवाङ्मनस्कर्म । वेदो य—वेदश्च मोहनीयकर्मविशेषः स्त्रीपुरुषाद्यभिलाषहेतुः । लेस—लेश्या कषायानुरंजिता योगप्रवृत्तिः । पविचारो—प्रवीचारः स्पर्शनेन्द्रियाद्यनुरागसेवा, उववादो—उपपादः अन्यस्मादागत्योत्पत्तिः । उव्वट्टण—उद्वर्तनं अन्यस्मादन्यत्रोत्पत्तिः । ठाणं—स्थानं जीवस्थानगुणस्थानमार्गणास्थानानि ।

प्रतिज्ञा के अर्थ का निर्वाह करते हुए आचार्यदेव पर्याप्ति से उपलक्षित अधिकार की संग्रहसूचक दो गाथाओं को कहते हैं--

गाथार्थ—पर्याप्ति, देह, काय-संस्थान, इन्द्रिय-संस्थान, योनि, आयु, प्रमाण, योग, वेद, लेश्या, प्रवीचार, उपपाद, उद्वर्तन, स्थान, कुल, अल्पबहुत्व, प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभाग-बन्ध और प्रदेशबन्ध ये बीस सूत्रपद हैं ॥१०४५-१०४६॥

आचारवृत्ति—पर्याप्ति—आहार आदि कारणों की पूर्णता का होना पर्याप्ति है। देह—औदारिक, वैक्रियिक और आहार वर्गणारूप से आये हुए पुद्गलपिण्ड का नाम देह है अथवा हस्त पाद, शिर, ग्रीवा आदि अवयवों से परिणत हुए पुद्गलपिण्ड को देह कहते हैं। संस्थान—अवयवों की रचनाविशेष। यह पृथ्वीकाय आदि और कर्णेन्द्रिय आदि का होता है। और काय-संस्थान और इन्द्रिय-संस्थान से यह दो भेद रूप है। योनि—जीवों की उत्पत्ति के स्थान का नाम योनि है। आयु—नरक आदि गतियों में स्थिति के लिए कारणभूत पुद्गल-समूह को आयु कहते हैं। प्रमाण—ऊँचाई, लम्बाई और चौड़ाई के माप को प्रमाण कहते हैं। यह प्रमाण आयु और अन्य शरीर आदि का समझना। योनि—काय, वचन और मन के कर्म का नाम योग है। वेद—मोहनीय कर्म के उदयविशेष से स्त्री-पुरुष आदि की अभिलाषा में हेतु वेद कहलाता है। लेश्या—कषाय से अनुरंजित योगप्रवृत्ति का नाम लेश्या है। प्रवीचार—स्पर्शन इन्द्रियादि से अनुराग पूर्वक कामसेवन करना प्रवीचार है। उपपाद—अन्यस्थान से आकर उत्पन्न होना उपपाद है। उद्वर्तन—यहाँ से जाकर अन्यत्र जन्म लेना उद्वर्तन है। स्थान—जीवस्थान, गुणस्थान और मार्गणा-

---

१. क संग्रहसूत्रसूचकगाथाद्वयमाह। २. क उव्वट्टनजो। ३. क अप्पबहुगा।

कुलं च—कुलानि जातिभेदाः। **अप्पबहुगो च**—अल्पबहुत्वं च। **पयडि**—प्रकृतिर्ज्ञानावरणादिस्वरूपेण पुद्गल-परिणामः। **ठिदि**—स्थितिः पुद्गलानां कर्मस्वरूपमजहतामवस्थितिकालः, **अणुभाग**—अनुभागः कर्मणां रस-विशेषः। **पदेस**—प्रदेशः कर्मभावपरिणतपुद्गलस्कन्धानां परमाणुपरिच्छेदेनावधारणं, **बंधो**—बन्धः परवशी-करणं जीव[1]पुद्गलप्रदेशानुप्रदेशेन संश्लेषशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते। प्रकृतिबन्धः स्थितिबन्धोऽनुभागबन्धः प्रदेशबन्धश्चेति। च शब्दः समुच्चयार्थः। **सुत्तपदा**—सूत्रपदानि एतानि सूत्रपदानि, अथवैते [2]सूत्रपदा एतानि विंशतिसूत्राणि षोडशसूत्राणि वा द्रष्टव्यानि भवन्तीति। यदि कायसंस्थानमिन्द्रियसंस्थानं च द्वे सूत्रे प्रकृत्यादि-भेदेन च बन्धस्य चत्वारि सूत्राणि तदा विंशतिसूत्राणां(णि) अथ कायेन्द्रियसंस्थानमेकं सूत्रं चतुर्धा बन्धोप्येकं सूत्रं तदा षोडश सूत्राणीति ॥१०४५-१०४६॥

प्रथमसूत्रसूचितपर्याप्तिसंख्यानामनिर्देशेनाह—

आहारे य सरीरे तह इंदिय आणपाण भासाए।
होंति मणो वि य कमसो पज्जत्तीओ जिणक्खादा ॥१०४७॥

आहारे य—आहारस्याहारविषये वा कर्म नोकर्मस्वरूपेण पुद्गलानामादानमाहारस्तृप्तिकारण-पुद्गलप्रचयो वा, **सरीरे**—शरीरस्य[3] शरीरे औदारिकादिस्वरूपेण पुद्गलपरिणामः शरीरम्। **तह**—तथा।

स्थानों को स्थान शब्द से लिया है। कुल—जाति के भेद को कुल कहते हैं। अल्पबहुत्व—कम और अधिक का नाम अल्पबहुत्व है। प्रकृति—ज्ञानावरण आदि रूप से पुद्गल का परिणत होना प्रकृति है। स्थिति—कर्मस्वरूप को न छोड़ते हुए पुद्गलों के रहने का काल स्थिति है। अनुभाग—कर्मों का रसविशेष अनुभाग है। प्रदेश—कर्मभाव से परिणत पुद्गलस्कन्धों को परमाणु के परिणाम से निश्चित करना प्रदेश है। जो जीव को परवश करता है वह बन्ध है अर्थात् जीव और कर्म-प्रदेशों का परस्पर में अनुप्रवेश रूप से संश्लिष्ट हो जाना बन्ध है। यह 'बन्ध' शब्द प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश इन चारों के साथ लगाना चाहिए, ऐसा यहाँ कहा है।

इस प्रकार से ये बीस सूत्र पद हैं जो कि इस अधिकार में कहे जायेंगे। अर्थात् यदि काय-संस्थान और इन्द्रिय-संस्थान इनको दो मानकर तथा बन्ध के चारों भेदों को पृथक् करें तब तो बीस सूत्रपद होते हैं और यदि काय-इन्द्रिय संस्थान को एकसूत्र तथा चारों बन्धों को भी बन्ध सामान्य से एक सूत्र गिनें तो सोलह सूत्र होते हैं, ऐसा समझना।

अब प्रथम सूत्र से सूचित पर्याप्ति की संख्या और नाम का निर्देश करते हैं—

गाथार्थ—आहार की, शरीर की, इन्द्रिय की, श्वासोच्छ्वास की, भाषा की और मन की पर्याप्तियाँ क्रम से होती हैं जो कि जिनेन्द्रदेव द्वारा कही गयी हैं ॥१०४७॥

आचारवृत्ति—आहार की पूर्णता का कारण अथवा आहार के विषय में कर्म और नो-कर्म रूप से परिणत हुए पुद्गलों को ग्रहण करना आहार है अथवा तृप्ति के लिए कारणभूत पुद्-गल समूह का नाम आहार है। शरीर की पूर्णता में कारण अथवा शरीर के विषय में औदारिक

---

१. क जीवपुद्गलप्रदेशान्यान्यप्रदेशानुप्रदेशेन संश्लेषः। २. क सूत्रपाता। ३. शरीरविषयं।

इंदिय—इन्द्रियस्येन्द्रियविषये वा पुद्गलस्वरूपेण परिणामः [इन्द्रियविषये वा], आणपाण—आनप्राणयोरान-प्राणविषये वोच्छ्वासनिश्वासवायुस्वरूपेण पुद्गलप्रचय आनप्राणनामा। भासाए—भाषाया भाषाविषये वा शब्दरूपेण पुद्गलपरिणामो भाषा। होंति—भवन्ति। मणो वि य—मनसोऽपि च मनोविषये वा चित्तोत्पत्ति-निमित्तपरमाणुनिचयो मनः। कमसो—क्रमशः क्रमेण यथानुक्रमेणागमन्यायेन वा। पज्जत्ती—पर्याप्तयः संपूर्णता-हेतवः। जिणक्खादा—जिनख्याताः सर्वज्ञप्रतिपादिताः। एताः पर्याप्तयः प्रत्येकमभिसंबध्यन्ते। आहारपर्याप्तिः, शरीरपर्याप्तिः, इन्द्रियपर्याप्तिः, आनप्राणपर्याप्तिः, भाषापर्याप्तिः, मनःपर्याप्तिरेताः षट् पर्याप्तयो जिनख्याता भवन्तीति। पर्याप्तीनां संख्या षडेव नाधिका इति नामनिर्देशेनैव लक्षणं व्याख्यातं द्रष्टव्यं यतः, आहारपर्याप्तिरिति किमुक्तं भवति येन कारणेन च त्रिशरीरयोग्यं भुक्तमाहारं खलरसभागं कृत्वा समर्थो भवति जीवस्तस्य कारणस्य निर्वृतिः सम्पूर्णता आहारपर्याप्तिरित्युच्यते। तथा शरीरपर्याप्तिरिति किमुक्तं भवति येन कारणेन शरीर-प्रायोग्यानि पुद्गलद्रव्याणि गृहीत्वौदारिकवैक्रियिकाहारकशरीरस्वरूपेण परिणमय्य समर्थो भवति तस्य कारणस्य निर्वृत्तिः सम्पूर्णता शरीरपर्याप्तिरित्युच्यते। तथेन्द्रियपर्याप्तिरिति किमुक्तं भवति येन कारणेनै-केन्द्रियस्य द्वीन्द्रियस्य त्रयाणामिन्द्रियाणां चतुर्णां पञ्चेन्द्रियाणां प्रायोग्यानि पुद्गलद्रव्याणि गृहीत्वात्मात्म-विषये ज्ञातुं समर्थो भवति तस्य कारणस्य निर्वृतिः परिपूर्णता इन्द्रियपर्याप्तिरित्युच्यते। तथाऽऽनप्राण-पर्याप्तिरिति किमुक्तं भवति येन कारणेनानप्राणप्रायोग्यानि पुद्गलद्रव्याण्यवलंब्यानप्राणपर्याप्त्या निःसृत्य

आदि रूप से पुद्गलों का परिणत होना शरीर है। इन्द्रियों की पूर्णता का कारण अथवा इन्द्रिय के विषय में पुद्गलस्वरूप से परिणमन करना इन्द्रिय है। श्वासोच्छ्वास की पूर्णता का कारण अथवा श्वासोच्छ्वास के विषय में उच्छ्वास-निःश्वासरूपवायु के स्वरूप से पुद्गलसमूह को ग्रहण करना उच्छ्वास-निःश्वास है। भाषा की पूर्णता का कारण अथवा भाषा के विषय में शब्दरूप से पुद्गलों का परिणत होना भाषा है। मन की पूर्णता का कारण, अथवा मन के विषय में चित्त की उत्पत्ति के निमित्त परमाणु समूह का नाम मन है। पूर्णता के कारण का नाम पर्याप्ति है। प्रत्येक के साथ पर्याप्ति शब्द को लगा लेना। ये पर्याप्तियाँ जिनेन्द्रदेव द्वारा कही गयी हैं। अर्थात् आहारपर्याप्ति, इन्द्रियपर्याप्ति आनप्राणपर्याप्ति, भाषापर्याप्ति और मनः-पर्याप्ति। ये पर्याप्तियाँ छह ही हैं, अधिक नहीं हैं। इस प्रकार नामों के निर्देश से ही इनका लक्षण कह दिया गया है, ऐसा समझना। इनका क्या लक्षण कहा गया है? उसे ही कहते हैं—

आहारपर्याप्ति—जिस कारण से यह जीव तीन शरीर के योग्य ग्रहण की गयीं आहार वर्गणाओं को खल-रस-अस्थि-चर्मादिरूप और रक्त-वीर्यादिरूप भाग से परिणमन कराने में समर्थ होता है उस कारण की सम्पूर्णता का होना आहारपर्याप्ति है।

शरीरपर्याप्ति—जिस कारण से जीव शरीर के योग्य पुद्गलवर्गणाओं को ग्रहण करके उन्हें औदारिक, वैक्रियिक, आहारक शरीर के स्वरूप से परिणमन कराने में समर्थ होता है उस कारण की सम्पूर्णता का होना शरीर पर्याप्ति है।

इन्द्रियपर्याप्ति—जिस कारण से एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, तीन-इन्द्रिय, चार-इन्द्रिय और पंचेन्द्रियों के योग्य पुद्गलद्रव्यों को ग्रहण करके यह आत्मा अपने विषयों को जानने में समर्थ होता है उस कारण की पूर्णता का नाम इन्द्रियपर्याप्ति है।

आनप्राणपर्याप्ति—जिस कारण के द्वारा यह जीव श्वासोच्छ्वास के योग्य पुद्गल द्रव्यों को ग्रहण करके श्वासोच्छ्वास रूप रचना करने में समर्थ होता है उस कारण की सम्पूर्णता

समर्थो भवति यस्य कारणस्य निर्वृत्तिः सम्पूर्णतानप्राणपर्याप्तिरित्युच्यते। तथा भाषापर्याप्तिरिति किमुक्तं भवति येन कारणेन सत्य-सत्य-मृषा असत्यमृषाया मृषा असत्यमृषाया भाषायाश्चतुर्विधायाः योग्यानि पुद्गल-द्रव्याण्याश्रित्य चतुर्विधाया भाषायाः स्वरूपेण परिणमय्य समर्थो भवति तस्य कारणस्य निर्वृत्तिः सम्पूर्णता भाषापर्याप्तिरित्युच्यते। तथा मनःपर्याप्तिरिति. किमुक्तं भवति येन कारणेन चतुर्विधमनःप्रायोग्यानि पुद्गलद्रव्याण्याश्रित्य चतुर्विधमनःपर्याप्त्या परिणमय्य समर्थो भवति तस्य कारणस्य निर्वृत्तिः सम्पूर्णता मनःपर्याप्तिरित्युच्यते। अतो न पृथग्लक्षणसूत्रं कृतमिति ॥१०४७॥

पर्याप्तीनां स्वामित्वं प्रतिपादयन्नाह--

एइंदिएस चत्तारि होंति तह आविदो य पंच भवे।
बेइंदियादियाणं पज्जत्तीओ असण्णित्ति ॥१०४८॥

एइंदिएसु—एकमिन्द्रियं येषां ते एकेन्द्रियाः पृथिवीकायिकादिवनस्पतिकायिकान्तास्तेष्वेकेन्द्रियेषु। चत्तारि—चतस्रोऽष्टार्द्धाः। होंति—भवन्ति। तह—तथा तेनैव न्यायेन व्यावर्णितक्रमेण। आविदो य—आदितस्त्वादौ प्रभृति प्रथमाया आरभ्य, पंच—दशार्धसंख्यापरिमिताः। भवे—भवन्ति विद्यन्ते, बेइंदिया-दियाणं—द्वीन्द्रियादीनां द्वीन्द्रियादिर्येषां ते द्वीन्द्रियादयस्तेषां द्वीन्द्रियादीनां, पज्जत्तीओ—पर्याप्तयः, असण्णित्ति—असंज्ञीति असंज्ञिपर्यन्तानां द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियाणामाहारशरीरेन्द्रियानप्राणभाषापर्याप्तयः पंच भवन्ति। तथैकेन्द्रियेषु चाहारशरीरेन्द्रियानप्राणपर्याप्तयश्चतस्रो भवन्ति, द्वीन्द्रियाद्यसंज्ञिपर्यन्तानां पंच भवन्तीति ॥१०४८॥

अथ षडपि पर्याप्तयः कस्य भवन्तीत्याशंकायामाह—

का नाम आनप्राणपर्याप्ति है।

भाषापर्याप्ति—जिस कारण से सत्य, असत्य, उभय और अनुभय इन चार प्रकार की भाषा के योग्य पुद्गलद्रव्यों का आश्रय लेकर उन्हें चतुर्विध भाषारूप से परिणमन कराने में समर्थ होता है उस कारण की सम्पूर्णता का नाम भाषापर्याप्ति है।

मनःपर्याप्ति—जिस कारण से सत्य, असत्य आदि चार प्रकार के मन के योग्य पुद्गल द्रव्यों को ग्रहण करके उन्हें चार प्रकार की मनःपर्याप्ति से परिणमन कराने में समर्थ होता है उस कारण की सम्पूर्णता को मनःपर्याप्ति कहते हैं। इसलिए पृथक् से इन्हें कहने के लिए गाथाएँ नहीं दी गयी हैं। अर्थात् उपर्युक्त गाथा में पर्याप्तियों के जो नाम कहे गये हैं उनसे ही उनके लक्षण सूचित कर दिये गये हैं।

पर्याप्तियों के स्वामी का प्रतिपादन करते हैं—

गाथार्थ—एकेन्द्रियों में प्रारम्भ से लेकर चार तथा द्वीन्द्रिय आदि से असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्यन्त पर्याप्तियाँ पाँच होती हैं ॥१०४८॥

आचारवृत्ति—पृथिवी कायिक से लेकर वनस्पतिकायिकपर्यन्त एकेन्द्रिय जीवों के आहार, शरीर, इन्द्रिय, और आनप्राण ये चार पर्याप्तियाँ होती हैं। तथा द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के आहार, शरीर, इन्द्रिय, आनप्राण और भाषा ये पाँच पर्याप्तियाँ होती हैं।

ये छहों पर्याप्तियाँ किसके होती हैं? उसका उत्तर देते हैं—

छप्पि य पज्जत्तीओ बोधव्वा होंति सण्णिकायाणं ।
एदाहि अणिव्वत्ता ते दु अपज्जत्तया होंति ॥१०४९॥

छप्पि य—षडपि च द्वादशार्द्धा अपि समस्ताः, पज्जत्तीओ—पर्याप्तय आहारशरीरेन्द्रियानप्राणभाषामनःपर्याप्तयः, बोधव्वा—बोद्धव्याः सम्यगवगन्तव्याः, होंति—भवन्ति, सण्णिकायाणं—संज्ञिकायानां ये संज्ञिनः पंचेन्द्रियास्तेषां षडपि पर्याप्तयो भवन्ति इत्यवगन्तव्यम् । अथ केऽपर्याप्ता इत्याशंकायामाह—एदाहि—एताभिश्चतसृभिः पंचभिः षड्भिः पर्याप्तिभिः, अणिव्वत्ता—अनिर्वृत्ता असम्पूर्णा अनिष्पन्नाः, ते दु—ते तु त एव जीवाः, अपज्जत्तया—अपर्याप्तकाः होंति—भवन्तीति ॥१०४९॥

संख्या पर्याप्तीनां नामनिर्देशेनैव प्रतिपन्ना तदर्थं न पृथक् सूत्रं कृतं, यावता कालेन च तासां निष्पत्तिर्भवति तस्य कालस्य परिमाणार्थमाह—

पज्जत्तीपज्जत्ता भिण्णमुहुत्तेण होंति णादव्वा ।
अणुसमयं पज्जत्ती सव्वेसिं चोववादीणं ॥१०५०॥

पज्जत्तीपज्जत्ता—पर्याप्तिभिः पर्याप्ताः सम्पूर्णाः पर्याप्तिपर्याप्ताः सम्पूर्णाहारादिहेतवः,[1] भिण्णमुहुत्तेण—भिन्नमुहूर्तेन समयाद्यूनघटिकाद्वयेन, होंति—भवन्ति, णादव्वा—ज्ञातव्या एते तिर्यङ्मनुष्या ज्ञातव्याः, यतः अणुसमयं—अनुसमयं समयं समयं प्रतिसमयं वा अक्षणं कृत्वा, पज्जत्ती—पर्याप्तयः, सव्वेसिं—सर्वेषां, उववादीणं—उपपादो विद्यते येषां त उपपादिनस्तेषामुपपादिनां देवनारकाणाम् । अथ स्यान्मतं कोऽयं

गाथार्थ—संज्ञिकाय जीवों के छहों पर्याप्तियाँ होतीं हैं, ऐसा जानना । इन पर्याप्तियों से जो अपरिपूर्ण हैं वे अपर्याप्तक होते हैं ॥१०४९॥

आचारवृत्ति—संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के आहार, शरीर, इन्द्रिय, आनप्राण, भाषा और और मन ये छहों पर्याप्तियाँ होती है । अपर्याप्तक जीव कौन है ? जिन एकेन्द्रिय विकलेन्द्रिय असंज्ञी अथवा पंचेन्द्रिय जीवों के ये चार, पाँच या छहों पर्याप्तियाँ पूर्ण नहीं होती वे अपर्याप्तक कहलाते हैं ।

पर्याप्तियों की संख्या नाम के निर्देश से ही जान ली गयी हैं, अतः उसके लिए पृथक् सूत्र नहीं किया है । अब जितने काल से उन पर्याप्तियों की पूर्णता होती है उस काल का परिमाण बताते हैं—

गाथार्थ—अन्तर्मुहूर्त के द्वारा तिर्यंच और मनुष्य पर्याप्तियों से पूर्ण होते हैं ऐसा जानना । सभी उपपादजन्मवालों के प्रतिसमय पर्याप्तियों की पूर्णता होती है ॥१०५०॥

आचारवृत्ति—आहार आदि की पूर्णता के कारण को पर्याप्ति कहते हैं । ये पर्याप्तियाँ तिर्यंच और मनुष्यों के एक समय कम दो घड़ी काल रूप अन्तर्मुहूर्त में पूर्ण हो जाती हैं । तथा उपपाद से जन्म लेनेवाले देव और नारकियों के शरीर अवयवों की रचना रूप पर्याप्तियों की पूर्णता प्रति समय होती है ।

देव नारकियों के पर्याप्तियाँ प्रति समय होती हैं और शेष जीवों के अन्तर्मुहूर्त से पूर्ण

---

१. क कारणाः ।

विशेषो देवनारकाणामनुसमयं पर्याप्तिः शेषाणां भिन्नमुहूर्तेनेति नैष दोषः देवनारकाणां पर्याप्तिसमानकाले एव सर्वावयवानां निष्पत्तिर्भवति न शेषाणां सर्वेषां यतो यस्मिन्नेव काले देवनारकाणामाहारादिकारणस्य निष्पत्तिस्तस्मिन्नेव काले शरीरादिकार्यस्यापि, तिर्यङ्मनुष्याणां पुनर्लघुकालेनाहारादिकारणस्य निष्पत्तिः शरीरादिकार्यस्य च महत्तातः सर्वेषामुपपादिनामनुसमयं पर्याप्तयः तिर्यङ्मनुष्याणां भिन्नमुहूर्तेनेत्युक्तमिति। पर्याप्तीनां स्थितिकालस्तिर्यङ्मनुष्याणां जघन्येन क्षुद्रभवग्रहणं किंचिदून उच्छ्वासाष्टादशभाग उत्कृष्टेन त्रीणि पल्योपमानि, देवनारकाणां च जघन्येन दशवर्षसहस्राण्युत्कृष्टेन त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि जीवितसमाः पर्याप्तयो यतो न पृथक् स्थितिकाल उक्त इति ॥१०५०॥

अथ कथमेतज्ज्ञायतेऽनुसमयं पर्याप्तिरुपपादिनामिति पृष्टे पूर्वागममाह—

जह्मि विमाणे जादो उववादसिला महारहे सयणे।
अणुसमयं पज्जत्तो देवो दिव्वेण रूवेण ॥१०५१॥

जह्मि—यस्मिन्, विमाणे—विमाने भवनादिसर्वार्थसिद्धिविमानपर्यन्ते, जादो—जात उत्पन्नः, उववादसिला—उपपादशिलायां शुक्तिपुटकारायां, महारहे—महार्हे महापूज्यार्हे, सयणे—शयने शयनीयेऽनेकमणिखचितपर्यंके सर्वालंकारविभूषिते, अणुसमयं—अनुसमयं समयं समयं प्रति, पज्जत्तो—पर्याप्तः सम्पूर्ण-

---

होती हैं—यह अन्तर क्यों?

यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि देव और नारकियों के शरीर के सर्व अवयवों की पूर्णता पर्याप्तियों की पूर्णता के काल में ही हो जाती है, शेष सभी जीवों के नहीं होती है क्योंकि जिस काल में देव-नारकियों के आहार आदि कारणों की पूर्णता होती है उसी काल में उनके शरीर आदि कार्यों की रचना पूर्ण हो जाती है। पुनः तिर्यंच और मनुष्यों के लघु काल के द्वारा आहार आदि कारणों की पूर्णता रूप पर्याप्ति हो जाती है किन्तु शरीर आदि कार्यों की पूर्णता बहुत काल में हो पाती है। इसीलिए 'सभी उपपाद जन्मवालों के समय समय में पर्याप्तियाँ होती हैं। तिर्यंच और मनुष्यों के अन्तर्मुहूर्त से होती हैं' ऐसा कहा गया है।

पर्याप्तियों का स्थितिकाल तिर्यंच और मनुष्य के जघन्य से क्षुद्रभवग्रहण है अर्थात् कुछ कम उच्छ्वास के अठारहवें भाग प्रमाण है और उत्कृष्ट तीन पल्योपम है। देव-नारकियोंका जघन्य से दश हजार वर्ष है और उत्कृष्ट से तेतीस सागरोपम है। यहाँ पर पर्याप्तियों और जीवित अवस्था का काल समान कहा गया है, क्योंकि स्थितिकाल पृथक् से नहीं कहा गया है।

यह कैसे जाना जाता है कि उपपाद जन्मवालों के प्रतिसमय पर्याप्तियाँ होती हैं? ऐसा प्रश्न होने पर उत्तर देते हुए पूर्वागम को बतलाते हैं—

गाथार्थ—जिस विमान में उपपादशिला पर, श्रेष्ठ शय्या पर जन्म लेते हैं वे देव दिव्य रूप के द्वारा प्रतिसमय पर्याप्त हो जाते हैं ॥१०५१॥

आचारवृत्ति—भवनवासी आदि से लेकर सर्वार्थसिद्धिपर्यन्त विमानों में जो उपपादशिलाएँ हैं उनका आकार बन्द हुई सीप के सदृश है। उन शिलाओं पर सभी अलंकारों से विभूषित, मणियों से खचित, श्रेष्ठ पर्यंकरूप शय्याएँ हैं। उन पर वे देव शोभन शरीर आदि आकार और वर्ण से प्रतिसमय में पर्याप्त होकर सर्वाभरण से भूषित और सम्पूर्ण यौवनवाले ही

यौवनः सर्वाभरणभूषितः देवो—देवः, दिव्वेण—दिव्येन सुष्ठु शोभनेन, रूवेण—रूपेण शरीराकारवर्णादिना । यस्मिन् विमाने शिलायां महार्हे शयनीये देवो जातस्तस्मिन्नेवानुसमयं पर्याप्तो दिव्येन रूपेण भवतीति ॥१०५१॥

देहसूत्रं विवृण्वन् संबन्धनैव देवदेहं प्रतिपादयन्नाह—

देहस्स य णिव्वत्ती भिण्णमुहुत्तेण होइ देवाणं ।
सव्वंगभूसणगुणं जोव्वणमवि होदि देहम्मि ॥१०५२॥

देहस्स य—देहस्य च शरीरस्य, णिव्वत्ती—निर्वृतिर्निष्पत्तिः, भिण्णमुहुत्तेण—भिन्नमुहूर्तेन किंचिदूनघटिकाद्वयेन, होदि—भवति, देवाणं—देवानां भवनवासिकादीनां न केवलं षट्पर्याप्तयो भिन्नमुहूर्तेन निष्पत्तिं गच्छन्ति किं तु देहस्यापि च निष्पत्तिः सर्वकार्यकरणक्षमा भिन्नमुहूर्तेनैव भवतीति । तथा न केवल देहस्योत्पत्तिर्भिन्नमुहूर्तेन किं तु सव्वंगभूसणगुणं—सर्वाणि च तान्यंगानि सर्वांगानि करचरणशिरोग्रीवादीनि तानि भूषयति इति सर्वांगभूषणः सर्वांगभूषणो गुणविशेषो यस्य तत्सर्वांगभूषणगुणं निरवशेषशरीरावयवालंकार-करणं, जोव्वणं—यौवनं प्रथमवयः परमरमणीयावस्था सर्वालंकारसमन्विता अतिशयमतिशोभनं सर्वजननय-नाह्लादकरं, होदि—भवति, देहम्मि—देहे शरीरे ।[1] देवानां यौवनमपि शोभनं सर्वांगभूषणगुणं तेनैव भिन्न-मुहूर्तेन भवतीति ॥१०५२॥

पुनरपि देवव्यावर्णनद्वारेण देहमाह—

जाते हैं। जिस विमान की उपपादशिला की महाशय्या पर वे देव उत्पन्न होते है उसी शय्या पर समय-समय में दिव्य रूप से परिपूर्ण हो जाते हैं। अर्थात् एक अन्तर्मुहूर्त में ही वे देव दिव्य आहार आदि वर्गणाओं को ग्रहण करते हुए दिव्यरूप और यौवन से परिपूर्ण हो जाते है।

अब द्वितीय देहसूत्र का वर्णन करते हुए सम्बन्ध से ही देव के देह का प्रतिपादन करते हैं—

गाथार्थ—देवों के देह की पूर्णता अन्तर्मुहूर्त में हो जाती है। देह मे सर्वांगभूषण, गुण और यौवन भी उत्पन्न हो जाते हैं॥ ०५२॥

आचारवृत्ति—भवनवासी आदि देवों के कुछ कम दो घड़ी के काल से छहों पर्याप्तियाँ ही पूर्ण हों मात्र इतना ही नही, किन्तु सर्वकार्य करने में समर्थ शरीर भी पूर्ण बन जाता है। केवल मात्र शरीर की रचना ही अन्तर्मुहूर्त काल में हो ऐसा नहीं हैं, किन्तु शरीर—हाथ-पैर, मस्तक, कण्ठ आदि को विभूषित करनेवाले भूषण अर्थात् शरीर के सभी अवयव, उनके अलंकार और नाना गुण भी पूर्ण हो जाते हैं तथा वह शरीर नवयौवन से सम्पन्न हो जाता है जो कि परम रमणीय, सर्वालंकार से समन्वित, अतिशय सुन्दर और सर्वजनों को आह्लादित करने-वाला होता है। तात्पर्य यही है कि उस अन्तर्मुहूर्त के भीतर की छहों पर्याप्तियों से पूर्ण सुन्दर दिव्य शरीर भूषणों और गुणों से अलंकृत नवयौवन भी हो जाता है।

पुनरपि देवों के वर्णन द्वारा देह का वर्णन करते हैं—

---

१. क देहानाम्।

कणयमिव णिरुवलेवा णिम्मलगत्ता सुयंधणीसासा ।
अणादिवरचारुरूवा समचउरंसोरुसंठाणा ॥१०५३॥

अणादिवर—आदिर्बालत्वं परो वृद्धत्वम् आदिश्च परश्चादिपरौ न विद्येते आदिपरौ बालवृद्धपर्यायौ यस्य तस्य तदनादिपरं चारु शोभनं सर्वजननयनकान्तं रूपं शरीरावयवरमणीयता अनादिपरं चारुरूपं येषां ते अनादिपरचारुरूपा यावदायुःशरीरस्थिरयौवना इत्यर्थः अतिशयितस्थिरचारुरूपा वा, समचउरंसोरु—समचतुरस्रं इव महत् पूज्यगुणं, संठाणं—संस्थानं शरीराकारः समचतुरस्रं उरु संस्थानं येषां ते समचतुरस्रोरुसंस्थाना यथाप्रदेशमन्यूनाधिकावयवसम्पूर्ण[1]प्रमाणाः, कणयमिव—कनकमिव, णिरुवलेवा—निरुपलेपा उपलेपान्मलान्निर्गता निरुपलेपाः, णिम्मलगत्ता—निर्मलं गात्रं येषां ते निर्मलगात्राः, सुयंधणीसासा—सुगन्धः सर्वघ्राणेन्द्रियाल्हादनकरो निःश्वास उच्छ्वासो येषां ते सुगन्धनिःश्वासाः। कनकमिव निर्लेपा निर्मलगात्राः सुगन्धनिःश्वासा अनादिपरचारुरूपाः समचतुरस्रोरुसंस्थाना देवा भवन्तीति संबन्धः ॥१०५३॥

किं देवसंस्थाने सप्त धातवो भवन्तीत्यारेकायां परिहारमाह—

केसणहमंसुलोमा चम्मवसारुहिरमुत्तपुरिसं वा ।
णेवट्ठी णेव सिरा देवाण सरीरसंठाणे ॥१०५४॥

केस—केशा मस्तकभ्रूनयननासिकाकर्णकक्षगुह्यादिप्रदेशवालाः, णह—नखाः हस्तपादांगुल्यग्रोद्भवाः, मंसु—श्मश्रूणि कूर्चवालाः लोम—लोमानि सर्वशरीरोद्भवसूक्ष्मवालाः, चम्म—चर्म मांसादि-

---

गाथार्थ—ये देव स्वर्ण के समान, उपलेपरहित, मलमूत्ररहित शरीर वाले, सुगन्धित उच्छ्वास युक्त, बाल्य और वृद्धत्वरहित, सुन्दर रूपसहित और समचतुरस्र संस्थानवाले होते हैं ॥१०५३॥

आचारवृत्ति—आदि अर्थात् बाल्यावस्था, पर अर्थात् वृद्धत्व ये आदि और पर अवस्थाएँ जिनके नहीं होती हैं अर्थात् जो बाल और वृद्ध पर्याय से रहित आयुपर्यन्त नित्य ही यौवन पर्याय से समन्वित, सर्वजन-नयन-मनोहारी रूपसौन्दर्य से युक्त होते हैं, जिनका शरीर समचतुरस्र संस्थान अर्थात् न्यून और अधिक प्रदेशों से रहित प्रमाणबद्ध अवयवों की पूर्णता युक्त है, जैसे सुवर्ण मल रहित शुद्ध होता है वैसे ही जिनका शरीर मलमूत्र पसीना आदि से रहित होने से निरुपलेप है, तथा जिनका निर्मल शरीर धातु, उपधातु से रहित है, जिनका निश्वास सभी की घ्राणेन्द्रिय को आह्लादित करनेवाला, सुगन्धित है ऐसे दिव्य शरीर के धारक देव होते हैं।

क्या देव के शरीर में सात धातुएँ होती हैं ? ऐसी आशंका होने पर कहते हैं—

गाथार्थ—देवों के शरीर में केश, नख, मूँछ, रोम, चर्म, वसा, रुधिर, मूत्र और विष्ठा नहीं हैं तथा हड्डी और सिराजाल भी नहीं होते ॥१०५४॥

आचारवृत्ति—देवों के शिर, भौंह, नेत्र, नाक, कान, काँख और गुह्य प्रदेश आदि स्थानों में बाल नहीं होते हैं। हाथ और पैर की अँगुलियों के अग्रभाग में नख नहीं होते हैं। श्मश्रु—मूँछ-दाढ़ी के बाल नहीं होते हैं एवं सारे शरीर में उत्पन्न होनेवाले सूक्ष्म बाल अर्थात् रोम भी

---

१. क सम्पूर्णद्रव्य- ।

प्रच्छादिका त्वक्, वस—वसा मांसास्थिगतस्निग्धरसः, रुहिर—रुधिरं रक्तं, मुत्त—मूत्रं प्रस्रवणं, पुरिसं—पुरीषं वाशब्दोऽन्येषां समुच्चयार्थः शुक्रप्रस्वेदरसादीनां। णेव—नैव पूर्वोक्तानि सर्वाणि नैव भवन्ति, अट्ठी—अस्थीनि संहननकारणानि, णेव सिरा—सिराजालानि। देवाण—देवानां शरीरसंस्थाने, केशनखश्मश्रुलोमचर्म-वसारुधिरमूत्रपुरीषशुक्रप्रस्वेदानि नैव भवन्ति, अस्थिसिराश्च नैव भवन्तीति ॥१०५४॥

शरीरगतपुद्गलातिशयं प्रतिपादयन् देहमाह—

वरवण्णगंधरसफासादिव्वबहुपोग्गलेहिं णिम्माणं।
गेण्हदि देवो [1]देहं सुचरिदकम्माणुभावेण ॥१०५५॥

वराः श्रेष्ठा वर्णरसगंधस्पर्शा येषां ते वरवर्णगन्धरसस्पर्शास्ते च ते दिव्यबहुपुद्गलाश्च तैर्वर्ण-गन्धरसस्पर्शदिव्यानन्तपुद्गलैः सर्वगुणविशिष्टवैक्रियिकशरीरवर्गणागतानन्तपरमाणुभिः, णिम्माणं—निर्मितं सर्वावयवरचितं, गेण्हदि—गृह्णाति स्वीकरोति, देवो—देवः, देहं[2]—शरीरं, सुचरिदकम्माणुभावेण—स्वेन चरितमर्जितं तच्च तत्कर्म च सुचरितकर्म तस्यानुभावो माहात्म्यं तेन स्वचरितकर्मानुभावेन पूर्वार्जितशुभकर्म-प्रभावेन। देवो वरवर्णगन्धरसस्पर्शदिव्यबहुपुद्गलनिर्मितं शरीरं गृह्णाति ॥१०५५॥

अथ देवानां त्रयाणां शरीराणां मध्ये कतमद्भवतीत्यारेकायामाह—

वेउव्वियं शरीरं देवाणं माणुसाण संठाणं।
सुहणाम पसत्थगदी सुस्सरवयणं सुरूवं च ॥१०५६॥

वेउव्वियं—अणिमादिलक्षणा विक्रिया तस्यां भवं सैव प्रयोजनं वा वैक्रियिकं सूक्ष्मादिभावेन नाना

नहीं होते हैं। उनके दिव्य शरीर में चर्म—मांसादि को प्रच्छादित करनेवाला, वसा—मांस और हड्डियों में होनेवाला चिकना रस, रुधिर—खून, मूत्र, विष्ठा तथा 'वा' शब्द से वीर्य, पसीना आदि ये कुछ भी नहीं होते हैं। तथा हड्डी और शिरासमूह भी नहीं होते हैं। अर्थात् देवों के शरीर में सात प्रकार की धातुएँ और उपधातुएँ कुछ भी नहीं होती हैं।

शरीर में होनेवाले पुद्गलों की विशेषता कहते हुए शरीर का वर्णन करते हैं—

गाथार्थ—देव अपने द्वारा आचरित शुभकर्म के प्रभाव से श्रेष्ठ वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्शमय बहुत-सी दिव्य पुद्गलवर्गणाओं से निर्मित शरीर को ग्रहण करते हैं ॥१०५५॥

आचारवृत्ति—उत्तम वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श से युक्त अनन्त दिव्य परमाणुओं, जो कि सर्व गुणों से विशिष्ट वैक्रियिक शरीर के योग्य हैं ऐसे पुद्गलपरमाणुओं से जिनके शरीर के सभी अवयव बनते हैं वे देव अपने द्वारा संचित शुभकर्म के माहात्म्य से ऐसे दिव्य वैक्रियिक शरीर को ग्रहण करते हैं।

तीन शरीरों में से देवों के कौन-सा शरीर होता है? ऐसा पूछने पर कहते हैं—

गाथार्थ—मनुष्य के आकार के समान देवों के वैक्रियिक शरीर, शुभनाम, प्रशस्त गमन, सुस्वरवचन और सुरूप होते हैं ॥१०५६॥

आचारवृत्ति—विविध प्रकार की क्रिया अर्थात् शरीरादि को बना लेना विक्रिया है।

१-२. क बोंदि।

शरीरविकरणसमर्थं विविधगुणर्द्धियुक्तं वा शरीरं आत्मप्रवृत्त्युपचितपुद्गलपिण्डः, देवाणं—देवानां, मणुयाणं—मनुष्याणां मनुष्यजातिकर्मोदयवतां, संठाणं—संस्थानं सर्वावयवसम्पूर्णता, सुहणाम—शुभं शोभनं नाम संज्ञानुभावो वा यस्य तच्छुभनाम प्रशस्तनामकर्मोदयवत्, पसत्थगदी प्रशस्ता शोभना गतिर्गमनं यस्य सः प्रशस्तगतिः मृदुमंथरविलासादिगुणसंयुक्तं, सुस्सरवयणं—शोभनः स्वरो यस्य तत् सुस्वरवचनं, सुरूवं—सुरूपं शोभनं च रूपं यस्य तत् सुरूपं, चशब्देनान्यदपि गीतनृत्तादि गृह्यते यत एवं ततो यद्यपि केशनखादिरहितं तथापि न बीभत्सरूप यतो देवानां वैक्रियिकं शरीरम्। संस्थानं पुनः किं विशिष्टम्? शुभनाम प्रशस्तगतिः सुस्वरवचनं सुरूपं मनुष्याणामिवास्य केशनखाद्याकारः सर्वोऽपि विद्यत एव सुवर्णशैलप्रतिमानमिवेति ॥१०५६॥

न केवलं देवानां वैक्रियिकं शरीरं किन्तु नारकाणामपि यद्येवं तदेव तावत्प्रतिपादनीयमित्याशंका प्रमाणपूर्वकं नारकदेहस्वरूपं प्रतिपादयन्नाह—

पढमाए पुढवीए णेरइयाणं तु होइ उस्सेहो।
सत्तधणु तिण्ण रयणी छच्चेव य अंगुला होंति ॥१०५७॥

पढमाए—प्रथमायां रत्नप्रभायां, पुढवीए—पृथिव्यां, णेरइयाणं—नारकाणां, तुशब्दः स्वविशेषग्राहकः तेनान्यदपि द्वादशप्रस्ताराणां शरीरप्रमाणं वेदितव्यं, होइ—भवति, उस्सेहो—उत्सेधः शरीरप्रमाणं,

---

वह अणिमा, महिमा आदि लक्षणवाली है। इस विक्रिया में जो होता है अथवा वह विक्रिया ही जिसका प्रयोजन है उसे वैक्रियिक शरीर कहते हैं। यह सूक्ष्म आदि रूप से नाना शरीरों के बनाने में समर्थ तथा विविध प्रकार के गुण और ऋद्धियों से युक्त होता है। अथवा आत्मा की प्रवृत्ति से उपचित पुद्गल पिण्ड का नाम वैक्रियिकशरीर है। देवों का यह शरीर मनुष्य जाति नामकर्मोदय से सहित मनुष्य जीवों के आकार के सदृश रहता है। यह प्रशस्तनामकर्मोदय से निर्मित होने से शुभनामयुक्त होता है, मृदु-मन्थर-विलास आदि से संयुक्त प्रशस्त गतिवाला है, शोभन स्वर से युक्त है एवं शोभन रूप से मनोहर भी रहता है। 'च' शब्द से—गति, नृत्य आदि क्रियाओं से सहित रहता है। यद्यपि इस शरीर में केश, नखादि नहीं हैं फिर भी उनका रूप बीभत्स नहीं है, क्योंकि देवों का यह वैक्रियिक शरीर शुभनाम, प्रशस्तगति, सुस्वरवचन और सुन्दररूप युक्त है तथा मनुष्यों के समान इसमें केश, नख आदि के आकार सभी विद्यमान रहते हैं जैसे कि सुवर्ण व पाषाण की प्रतिमा में सर्व आकार बनाये जाने पर वह अतिशय सुन्दर दिखती है उसी प्रकार से इनके शरीर में भी अतिशय सुन्दरता पायी जाती है।

केवल देवों के ही वैक्रियिक शरीर होते हैं ऐसा नहीं है किन्तु नारकियों के भी हैं, यदि ऐसी बात है तो उसका भी प्रतिपादन करना चाहिए? ऐसी आशंका होने पर नारकियों के शरीर का प्रमाण बताते हुए उनके देह का वर्णन करते हैं—

गाथार्थ—प्रथम पृथिवी के नारकियों की ऊँचाई सात धनुष, तीन अरत्नि और छह अंगुल प्रमाण होती है ॥१०५७॥

आचारवृत्ति—रत्नप्रभा नामक पहली पृथिवी में नारकियों के शरीर का प्रमाण सात धनुष, तीन हाथ और छह अंगुल होता है। यह सामान्य कथन है, क्योंकि यह वहाँ की उत्कृष्ट ऊँचाई है। गाथा में 'तु' शब्द अपने विशेष भेदों को ग्रहण करनेवाला है, इससे अन्य बारह प्रस्तारों में शरीर की ऊँचाई का प्रमाण जानना चाहिए। अर्थात् प्रथम नरक में तेरह प्रस्तार

सत्तधणु—सप्तधनूंषि, तिण्णि रयणी—तिस्त्रो हस्तकं, छच्चेव—षडेव शब्दः समुच्चयार्थः, अंगुला—अंगु-लानि, होंति—भवन्ति अष्टयवनिष्पन्नमंगुलं चतुर्विंशत्यंगुलैर्हस्तश्चतुर्हस्तं धनुः। नारकाणां प्रथमपृथिव्यां अधोवशप्रस्तारे विक्रान्ताख्ये शरीरस्योत्सेधः सप्त धनूंषि हस्तत्रयं षडंगुलानि इति प्रथमे पुनः सीमन्तकाख्ये प्रस्तारे त्रयो हस्ता नारकशरीरस्योत्सेधो मुखं सप्त धनूंषि हस्तत्रयं षडंगुलानि भूमिः, भूमेर्मुखं विशोध्य शुद्ध-शेषस्य द्वादशभिर्भागैर्हृते इच्छया गुणिते लब्धे मुखसहिते प्रथमवर्जितद्वादशप्रस्ताराणां नारकशरीरप्रमाण-मागच्छतीति। तथा नरनाम्नि द्वितीयप्रस्तारे एकं धनुरेको हस्तः सार्द्धान्यष्टांगुलानि च नारकाणां शरीरोत्सेधः तृतीयप्रस्तारे रोरुकनामधेये शरीरस्योत्सेध एकं धनुस्त्रयो हस्ताः सप्तदशैवांगुलानि। चतुर्थप्रस्तारे भ्रान्तसंज्ञके नारकतनोरुत्सेधो द्वे धनुषी द्वौ हस्तौ सार्द्धमंगुलम्। पंचमप्रस्तार उद्भ्रान्तनाम्नि दण्डत्रयं दशांगुलानि तनो-रुत्सेधः। षष्ठप्रस्तारे संभ्रान्तसंज्ञके धनुषां त्रयं द्वौ हस्तावंगुलान्यष्टादश सार्द्धानि च। सप्तमप्रस्तारेऽसंभ्रांताख्ये कार्मुकचतुष्टयमेको हस्तस्त्रीण्यंगुलानि च शरीरोत्सेधः। अष्टप्रस्तारे विभ्रान्ताख्ये कोदण्डचतुष्टयं हस्तत्रय-मेकादशांगुलानि सार्द्धानि तनोरुत्सेधः। नवमप्रस्तारे त्रस्तनामनि कार्मुकाणां पंचकमेको हस्तोऽङ्गुलानि च विंशतिः शरीरोत्सेधः। दशमप्रस्तारे त्रसितनामके षड् धनूंषि सार्द्धांगुलचतुष्कं च शरीरप्रमाणम्। एकादशप्रस्तारे वक्रान्ताख्ये धनुषां षट्कं हस्तद्वितयं त्रयोदशांगुलानि च। द्वादशप्रस्तारे चावक्रांताख्ये धनुषां सप्तकं सहितमेक-विंशत्या सार्द्धांगुलेन च तनोः प्रमाणम्। त्रयोदशप्रस्तारे विक्रान्ते सप्त [1]चापा हस्तत्रयं षडंगुलानि च शरीरोत्सेधः।

हैं। उनमें से अन्तिम विक्रान्त नामक प्रस्तार में यह ऊँचाई समझना। तथा सीमंतक नामक प्रथम प्रस्तार में नारकियों के शरीर का उत्सेध तीन हाथ प्रमाण है। आठ जौ का प्रमाण एक अंगुल होता है, चौबीस अंगुल का एक हाथ एवं चार हाथ का एक धनुष होता है।

अब प्रत्येक प्रस्तार की ऊँचाई निकालने का विधान कहते हैं—

पहले प्रस्तार की तीन हाथ ऊँचाई को मुख एवं अन्तिम तेरहवें प्रस्तार की ऊँचाई सात धनुष, तीन हाथ, छह अंगुल को भूमि कहते हैं। भूमि में से मुख को घटाकर अवशिष्ट को बारह से भाग देकर उसे इच्छाराशि से गुणित लब्ध के मुख सहित होने पर प्रथम प्रस्तार को छोड़कर बारह प्रस्तारों के नारकियों के शरीर का प्रमाण आ जाता है। उसे ही स्पष्ट करते हैं—

नर नामक द्वितीय प्रस्तार में नारकियों के शरीर का उत्सेध एक धनुष एक हाथ और साढ़े आठ अंगुल है। रोरुक नामक तृतीय प्रस्तार में शरीर की ऊँचाई एक धनुष, तीन हाथ और सत्रह अंगुल है। भ्रान्त नामक चौथे प्रस्तार में नारकियों के शरीर का उत्सेध दो धनुष, दो हाथ, डेढ़ अंगुल है। उद्भ्रान्त नामक पंचम प्रस्तार में तीन धनुष, दश अंगुल उत्सेध है। संभ्रान्त नामक छठे प्रस्तार में तीन धनुष दो हाथ, साढ़े अठारह अंगुल है। असंभ्रान्त नामक सप्तम प्रस्तार में चार धनुष, एक हाथ और तीन अंगुल प्रमाण शरीर की ऊँचाई है। विभ्रान्त नामक आठवें प्रस्तार में चार धनुष, तीन हाथ और साढ़े ग्यारह अंगुल शरीर की ऊँचाई है। त्रस्त नामक नवम प्रस्तार में पाँच धनुष, एक हाथ और बीस अंगुल प्रमाण शरीर का उत्सेध है। त्रसित नामक दशवें प्रस्तार में छह धनुष, साढ़े चार अंगुलप्रमाण शरीर की ऊंचाई है। वक्रान्त नामक ग्यारहवें प्रस्तार में छह धनुष, दो हाथ और तेरह अंगुल प्रमाण है। अवक्रान्त नामक बारहवें प्रस्तार में सात धनुष और साढ़े इक्कीस अंगुलप्रमाण शरीरकी ऊँचाई है। तथा तेरहवें

---

१. क चापानि।

प्रथमे तु सीमन्तके प्रस्तारे हस्तत्रयमिति शरीरं प्रथमपृथिव्यां शरीरप्रमाणमेतदिति ॥१०५७॥

द्वितीयायां च पृथिव्यां नारकशरीरप्रमाणं प्रतिपादयन्नाह—

विदियाए पुढवीए णेरइयाणं तु होइ उस्सेहो।
पण्णरस दोण्णि बारस धणु रदणी अंगुला चेव ॥१०५८॥

विदियाए- द्वितीयायां द्वयोः पूरणी द्वितीया तस्यां, पुढवीए—पृथिव्यां शर्कराख्यायां, णेरइयाणं—नारकाणां, तुशब्दः संगृहीताशेषोत्सेधविशेषः, होदि—भवति, उस्सेहो—उत्सेधः शरीरोत्सेधप्रमाणं, पण्णरस—पंचदश, दोण्णि—द्वौ, बारस—द्वादश, धणु—धनूंषि, रदणी—रत्नयः हस्ताः, अंगुला चेव—अंगुलानि चैव, यथासंख्येन संबन्धः। द्वितीयायां पृथिव्यामेकादशे प्रस्तारे नारकाणामुत्सेधः पंचदश धनूंषि द्वौ हस्तौ द्वादशांगुलानि। अत्रापि मुखभूमिविशेषं कृत्वोत्सेधे हृते इच्छागुणितं मुखसहितं च सर्वप्रस्ताराणां प्रमाणं वक्तव्यम्। तद्यथा। अत्रैकादशप्रस्ताराणि भवन्ति—तत्र प्रथमप्रस्तारे[1] सूरसूरकनाम्नि नारकाणामुत्सेधोऽष्टौ धनूंषि हस्तद्वयं द्वावेकादशभागावंगुलद्वयं च। द्वितीयप्रस्तारे स्तनकनाम्नि नारकोत्सेधो नव दण्डा द्वाविंशत्यंगुलानि चतुरेकादशभागाः। तृतीयप्रस्तारे मनकनामधेये नव धनूंषि त्रयो हस्ता अष्टादशांगुलानि षडेकादशभागानि चोत्सेधः। चतुर्थप्रस्तारे [2]नवकसंज्ञके नारकोत्सेधः दश दण्डा द्वौ हस्तौ चतुर्दशांगुलानि साष्टैकादशभागानि। पंचमप्रस्तारे घाटनामके एकादशदण्डा हस्तश्चैकादशांगुलानि दशैकादशभागाश्च शरीरोत्सेधः। षष्ठप्रस्तारे

विक्रांत नामक प्रस्तार में सात धनुष, तीन हाथ और छह अंगुल प्रमाण शरीर की ऊँचाई है। एवं प्रथम सीमंतक नामक प्रस्तार में तीन हाथ प्रमाण शरीर होता है। इस प्रकार से प्रथम पृथिवी के नारकियों के शरीर की ऊँचाई कही गयी है।

द्वितीय पृथिवी में नारकियों के शरीर का प्रमाण प्रतिपादित करते हैं—

गाथार्थ—द्वितीय पृथ्वी में नारकियों की ऊँचाई पन्द्रह धनुष, दो हाथ और बारह अंगुल होती है ॥१०५८॥

आचारवृत्ति—शर्करा नामक दूसरी पृथिवी में नारकियों के शरीर की ऊँचाई पन्द्रह धनुष, दो हाथ, बारह अंगुल प्रमाण है। यहाँ गाथा में भी 'तु' शब्द है उससे सभी प्रस्तारों के उत्सेध विशेष को समझ लेना। यहाँ पर भी भूमि में से मुख के प्रमाण को घटाकर अवशिष्ट प्रमाण को इच्छा के द्वारा गुणित करना चाहिए और मुख सहित लब्ध होने पर सर्वप्रस्तारों का प्रमाण जानना चाहिए। उसी का स्पष्टीकरण—इस नरक में ग्यारह प्रस्तार हैं। उसमें से सूरसूरक नामक प्रथम प्रस्तार में नारकियों के शरीर की ऊँचाई आठ धनुष, दो हाथ, दो अंगुल और एक अंगुल के ग्यारह भागों में दो भाग प्रमाण है। स्तनक नामक दूसरे प्रस्तार में नारकियों का ऊँचाई नव धनुष, बाईस अंगुल और एक अंगुल के ग्यारह भागों में से चार भाग प्रमाण है। मनक नामक तृतीय प्रस्तार में नव धनुष, तीन हाथ, अठारह अंगुल और एक अंगुल के ग्यारह भागों में से छह भाग प्रमाण है। नवक नामक चौथे प्रस्तार में नारकियों की ऊँचाई दश धनुष, दो हाथ, चौदह अंगुल और एक अंगुल के ग्यारह भागों में से आठ भाग है। घाट नामक पाँचवें प्रस्तार में ग्यारह धनुष, एक हाथ, ग्यारह अंगुल और अंगुल के ग्यारह भागों में से दश भाग

---

१. क स्तरक-नाम्नि। २. क वनक।

नारकशरीरोत्सेधो द्वादश दण्डाः सप्तांगुलानि एकादशभागाश्च सप्तमप्रस्तारे जिह्वाख्ये द्वादश दण्डा हस्तत्रयं त्रीण्यंगुलानि त्रय एकादशभागाश्चोत्सेधः । अष्टमप्रस्तारे जिह्विकाख्ये नारकोत्सेधस्त्रयोदश दण्डा एको हस्तस्त्रयोविंशत्यंगुलानि पञ्चैकादश भागाश्च । नवमप्रस्तारे लोलाख्ये नारकोत्सेधश्चतुर्दश दण्डा एकोन-विंशतिरंगुलानां सप्तैकादशभागाश्च । दशमप्रस्तारे लोलुपाख्ये नारकोत्सेधश्चतुर्दश धनूंषि त्रयो हस्ताः पंच-दशांगुलानि नवैकादश भागाश्च । एकादशप्रस्तारे स्तनलोलुपनामधेये नारकशरीरोत्सेधः पंचदश दण्डा द्वौ हस्तौ द्वादशांगुलानि चेति ॥१०५८॥

तृतीयायां वालुकाप्रभायां [1]नारकोत्सेधं व्यावर्णयन्नाह—

तदियाए पुढवीए णेरइयाणं तु होइ उस्सेहो ।
एकतीसं च धणू एगा रदणी मुणेयव्वा ॥१०५९॥

तदियाए—तृतीयायां, पुढवीए—पृथिव्यां वालुकाख्यायां, णेरइयाणं—नारकाणां, तु—विशेषः, होइ—भवति, उस्सेहो—उत्सेधः, एकतीसं च—एकत्रिंशच्च एकेनाधिका त्रिंशत्, धणु—धनूंषि, एगा—एका, रदणी—रत्निर्हस्तः, मुणेयव्वा—ज्ञातव्या । तृतीयायां पृथिव्यां नवमप्रस्तारे नारकाणामुत्सेधो धनुषामेक-त्रिंशदेका रत्निश्च ज्ञातव्या इति । शेषं सूचितं नारकप्रमाणमत्रापि मुखभूमिविशेषं कृत्वा नवोत्सेधभाजित-मिच्छया गुणितं द्वितीयपृथिव्युत्कृष्टनारकोत्सेधमुखसहितं च कृत्वा नेयं । तद्यथा—प्रथमप्रस्तारे तप्ताख्ये नारकोत्सेधः सप्तदश दण्डा एको हस्तो दशांगुलानि द्वौ त्रिभागौ च । द्वितीयप्रस्तारे तापनामनि नारकोत्सेधो

प्रमाण शरीर की ऊँचाई है । संघाट नामक छठे प्रस्तार में नारकी के शरीर की ऊँचाई बारह धनुष, सात अंगुल तथा ग्यारह भाग प्रमाण है । जिह्वा नामक सप्तम प्रस्तार में बारह धनुष, तीन हाथ, तीन अंगुल और अंगुल के ग्यारह भागों में से तीन भाग प्रमाण ऊँचाई है । जिह्विका नामक आठवें प्रस्तार में नारकी की ऊँचाई तेरह धनुष, एक हाथ, तेतीस अंगुल और अंगुल के ग्यारह भागों में से पाँच भाग है । लोल नामक नवमें प्रस्तार में नारकियों की ऊँचाई चौदह धनुष, उन्नीस अंगुल, और अंगुल के ग्यारह भागों में से सात भाग प्रमाण है । लोलुप नामक दशवें प्रस्तार में नारकी के शरीर का उत्सेध चौदह धनुष, तीन हाथ, पन्द्रह अंगुल और अंगुल के ग्यारह भागों में से नव भाग प्रमाण है । स्तनलोलुप नामक ग्यारहवें प्रस्तार में नारकियों के शरीर का उत्सेध पन्द्रह धनुष, दो हाथ और बारह अंगुल प्रमाण है ।

तीसरी वालुकाप्रभा में नारकियों की ऊँचाई को कहते हैं—

गाथार्थ—तीसरी पृथिवी में नारकियों के शरीर की जो ऊँचाई होती है वह इकतीस धनुष एक हाथ प्रमाण जाननी चाहिए ॥१०५९॥

आचारवृत्ति—वालुकाप्रभा नामक तृतीय पृथ्वी में नारकियों के शरीर की ऊँचाई इकतीस धनुष, एक हाथ है । तृतीय नरक के नवमें प्रस्तार में यह ऊँचाई है अर्थात् इस नरक में नव प्रस्तार हैं । यहाँ पर भी मुख को भूमि में से कम करके नव उत्सेध से भाग देकर इच्छा राशि से गुणित द्वितीय पृथिवी को उत्कृष्ट नारक उत्सेध को मुख सहित करके निकालना चाहिए । इसी का स्पष्टीकरण—तप्त नामक प्रथम प्रस्तार में नारकियों के शरीर की ऊँचाई सत्रह धनुष, एक हाथ, दश अंगुल और अंगुल के तीन भागों में से दो भाग है । ताप नामक

---

1. क नारकशरीरप्रमाणमाह ।

दण्डानामेकोनविंशतिर्नवांगुलानि त्रिभागश्च । तृतीयप्रस्तारे तपननाम्नि नारकोत्सेधो विंशतिर्दण्डास्त्रयो हस्ता अंगुलानि चाष्टौ । चतुर्थप्रस्तारे तापनाख्ये शरीरोत्सेधो द्वाविंशतिर्धनुषां द्वौ हस्तौ षडंगुलानि द्वौ त्रिभागौ च । पंचमप्रस्तारे निदाघाख्ये चतुर्विंशतिचापाः[1] पंचांगुलानि एको हस्तस्त्रिभागश्चैकः । षष्ठप्रस्तारे प्रज्वलिताख्ये नारकोत्सेधः षड्विंशतिर्धनुषां चत्वारि चांगुलानि । सप्तमेन्द्रके ज्वलितसंज्ञके नारकोत्सेधः सप्तविंशतिश्चापा-स्त्रयो[2] हस्ता द्वे अंगुले त्रिभागौ च द्वौ । अष्टमप्रस्तारे संज्वलनेन्द्रके एकोनत्रिंशदुत्सेधो धनुषां हस्तद्वयमेकांगुल-मेकस्त्रिभागश्च । नवमे च प्रस्तारे प्रज्वलितसंज्ञे एकत्रिंशत्को दण्डा हस्तश्चैको नारकोत्सेध इति ॥१०५९॥

चतुर्थ्यां च पृथिव्यां [3]नारकशरीरप्रमाणमाह—

चउथीए पुढवीए णेरइयाणं तु होइ उस्सेहो।
बासट्ठी चेव धणू बे रदणी होंति णायव्वा ॥१०६०॥

चउथीए—चतुर्णां पूरणी चतुर्थी तस्यां चतुर्थ्यां, पुढवीए—पृथिव्यां पंकप्रभायां, नारकाणामुत्सेधो भवति द्वाभ्यामधिका षष्टिर्धनुषां द्वे चारत्नी द्वौ च हस्तौ ज्ञातव्यौ । चतुर्थपृथिव्यां सप्तमप्रस्तारेन्द्रके नारको-त्सेधप्रमाणमेतत् सेन्द्रको नारकोत्सेधस्तृतीयपृथिवीनारकाणामुत्कृष्टशरीरप्रमाणं मुखं कृत्वा सप्तमप्रस्तारनार-कोत्सेधं भूमिं च कृत्वा तयोर्विशेषं चोत्सेधभाजितेच्छागुणितं मुखसहितं कृत्वा वाच्यस्तद्यथा—प्रथमप्रस्तारे

द्वितीय प्रस्तार में नारकियों की ऊँचाई उन्नीस धनुष, नव अंगुल और अंगुल के तृतीय भाग है। तपन नामक तृतीय प्रस्तार में नारकियों की ऊँचाई बीस धनुष, तीन हाथ, आठ अंगुल है। तापन नामक चतुर्थ प्रस्तार में शरीर की ऊँचाई बाईस धनुष, दो हाथ, छह अंगुल और एक अंगुल के तीन भागों में से दो भाग है। निदाघ नाम के पाँचवें प्रस्तार में चौबीस धनुष, एक हाथ, पाँच अंगुल और अंगुल के तीन भाग में से एक भाग है। प्रज्वलित नाम के छठे प्रस्तार में नारकियों की ऊँचाई छब्बीस धनुष, चार अंगुल है। ज्वलित नामक सप्तम इन्द्रक में नारकियों की ऊँचाई सत्ताईस धनुष, तीन हाथ, दो अंगुल और एक अंगुल के तीन भागों में से दो भाग है। संज्वलन नाम के आठवें प्रस्तार में शरीर की ऊँचाई उनतीस धनुष, दो हाथ, एक अंगुल और अंगुल के तीन भागों में से एक भाग है। तथा नवमें प्रस्तार में नारकियों के शरीर की ऊँचाई इकतीस धनुष, एक हाथ है।

चौथी पृथिवी में नारकियों के शरीर की ऊँचाई कहते हैं—

गाथार्थ—चौथी पृथिवी में नारकियों का जो उत्सेध है वह बासठ धनुष और दो हाथ जानना चाहिए ॥१०६०॥

आचारवृत्ति—चौथी पंकप्रभा पृथिवी में नारकियों की ऊँचाई बासठ धनुष, दो हाथ प्रमाण है। इस पृथ्वी में सात प्रस्तार हैं। उनमें से यह अन्तिम प्रस्तार के शरीर की ऊँचाई है। तीसरी पृथिवी के नारकियों के शरीर का जो उत्कृष्ट उत्सेध है वह मुख है और इस चतुर्थ नरक के सप्तम प्रस्तार का उत्सेध भूमि है। भूमि में से मुख को घटाकर उसमें जो अवशेष रहता है उसको उत्सेध के प्रमाण सात से भाग देकर इच्छाराशि से गुणा करना चाहिए और मुख सहित करके वर्णन करना चाहिए। तथाहि—आर नामक प्रथम प्रस्तार में पैंतीस धनुष, दो हाथ, बीस

---

१. क चापानि। २. क चापानि। ३. क नारकोत्सेधं व्यावर्णयन्नाह।

आरसंज्ञकेन्द्रके पंचत्रिंशद्धनुषां द्वौ हस्तौ विंशतिरंगुलानां सप्तभागाश्चत्वारः । द्वितीयप्रस्तारे तारकाख्येन्द्रके चत्वारिंशद्दण्डाः सप्तदशांगुलानि सप्तभागाश्च पंच । तृतीयप्रस्तारे मारसंज्ञके चतुश्चत्वारिंशद्दण्डाः द्वौ हस्तौ त्रयोदशांगुलानि सप्तभागाश्च पंच । चतुर्थप्रस्तारे वर्चस्काख्ये नारकोत्सेध एकोनपंचाशद्धनुषां दशांगुलानि द्वौ च सप्तभागौ । पंचमप्रस्तारे तमकनामधेये धनुषां त्रिपंचाशत् द्वौ च हस्तौ षडंगुलानि षट् सप्तभागाः । षष्ठ-प्रस्तारे षडनामधेये नारकोत्सेधो धनुषामष्टापंचाशत् त्रीण्यंगुलानि षयश्च सप्तभागाः । सप्तमप्रस्तारे षडष-डाख्येन्द्रके नारकोत्सेधश्चोक्तो द्वाषष्टिर्धनुषां हस्तौ च द्वाविति ॥१०६०॥

पंचमपृथिव्यां नारकोत्सेधं प्रकटयन्नाह—

पंचमिए पुढवीए णेरइयाणं तु होइ उस्सेहो ।
सदमेगं पणवीसं धणुप्पमाणेण णादव्वं ॥१०६१॥

पंचमायां पृथिव्यां धूमप्रभानामधेयायां नारकाणामुत्सेधो भवति, सदं—शतमेकं, पणवीसं च—पंचविंशत्यधिकं, धणुप्पमाणेण—धनुःप्रमाणेन ज्ञातव्यम् । पंचमायां पृथिव्यां पंचमेन्द्रके नारकाणामुत्सेधो धनुषां प्रमाणम शतमेकं पंचविंशत्युत्तरं ज्ञातव्यमिति । अत्राप्येतद्भूमिं पूर्वोक्तं मुखं च कृत्वा विशेषं च कृत्वा विशेषं च पंचकोत्सेधभाजितमिच्छया गुणितं मुखसहितं कृत्वा शेषेन्द्रकाणां नारकाणामुत्सेधो वाच्यः । तत्र प्रथमप्रस्तारे तमोनाम्नि नारकोत्सेधः पंचसप्ततिदण्डाः । द्वितीयप्रस्तारे भ्रमनामके नारकोत्सेधो धनुषां सप्ताशीतिदण्डा द्वौ हस्तौ च । तृतीय प्रस्तारे रूपसंज्ञके चेन्द्रके नारकोत्सेधो धनुषां शतमेकम् । चतुर्थप्रस्तारेऽन्ध्रसंज्ञके नारकोत्सेधो

अंगुल और अंगुल के सात भागों में से चार भाग है। तार नाम के द्वितीय प्रस्तार में चालीस धनुष, सत्रह अंगुल और अंगुल के सात भागों में से पाँच भाग है। मार संज्ञक तृतीय प्रस्तार में चवालीस धनुष, दो हाथ, तेरह अंगुल और अंगुल के सात भागों में से पाँच भाग है। वर्चस्क नाम के चतुर्थ प्रस्तार में नारकियों की ऊँचाई उनंचास धनुष, दश अंगुल और एक अंगुल के सात भागों में से दो भाग है। तमक नाम के पाँचवें प्रस्तार में त्रेपन धनुष, दो हाथ, छह अंगुल और एक अंगुल के सात भागों में से छह भाग है। षड नाम के छठे प्रस्तार में नारकियों की ऊँचाई अट्ठावन धनुष, तीन अंगुल और एक अंगुल के सात भागों में से छह भाग है। षडषड् नामक सातवें प्रस्तार में नारकियों के शरीर की ऊँचाई उपर्युक्त बासठ धनुष और दो हाथ है।

पाँचवीं पृथिवी में नारकियों की ऊँचाई को प्रकटित करते हैं—

गाथार्थ—पाँचवीं पृथिवी में नारकियों का जो उत्सेध है वह एक सौ पच्चीस धनुष प्रमाण है, ऐसा जानना ॥१०६१॥

आचारवृत्ति—धूमप्रभा नामक पाँचवीं पृथिवी में नारकियों की ऊँचाई एक सौ पच्चीस धनुष प्रमाण है, ऐसा जानना। इस नरक में पाँच प्रस्तार हैं सो यह प्रमाण पाँचवें प्रस्तार का है। यहाँ पर पूर्वोक्त चतुर्थ नरक की अन्तिम ऊँचाई को मुख कहकर और इस नरक के अन्तिम उत्सेध को भूमि मानकर भूमि में से मुख को घटाकर ऊँचाई के प्रमाण पाँच से भाग देकर तथा इच्छाराशि से गुणितकर उसे मुख सहित करके शेष इन्द्रकों के नारकियों की ऊँचाई कहना चाहिए। उसका स्पष्टीकरण—तम नाम के प्रथम प्रस्तार में नारकियों की ऊँचाई पचहत्तर धनुष है। भ्रम नाम के द्वितीय प्रस्तार में नारकियों की ऊँचाई सतासी धनुष, दो हाथ है। रूप संज्ञक तृतीय प्रस्तार में नारकियों की ऊँचाई सौ धनुष है। अन्धक नाम के चतुर्थ प्रस्तार में नार-

धनुषां द्वादशोत्तरं शतं हस्तद्वयं च । पंचमप्रस्तारे तमिस्रसंज्ञके धनुषां पंचविंशत्युत्तरशतमिति ॥१०६१॥

षष्ठ्यां पृथिव्यां नारकोत्सेधमाह—

छट्ठीए पुढवीए णेरइयाणं तु होइ उस्सेहो ॥
दोण्णि सदा पण्णासा धणुप्पमाणेण विण्णेया ॥१०६२॥

छट्ठीए—षण्णां पूरणी षष्ठी तस्यां, पुढवीए—पृथिव्यां, णेरइयाणं तु—नारकाणां तु, होदि—भवति, उस्सेहो—उत्सेधः, दोण्णि सदा—द्वे शते धनुषां शतद्वयं, पण्णासा—पंचाशदधिकं, धणुप्पमाणेण—धनुषां प्रमाणेन, विण्णेया—विज्ञेये । षष्ठ्यां पृथिव्यां तमःप्रभायां तृतीयप्रस्तारे नारकाणामुत्सेधो धनुषां प्रमाणेन द्वे शते पंचाशदधिके विज्ञेये । अत्रापि मुखभूमिविशेषादिक्रमं कृत्वा शेषेन्द्रकनारकाणामुत्सेध आनेतव्यस्तथा तमःप्रभायां प्रथमप्रस्तारे हिमनाम्नीन्द्रके नारकाणामुत्सेधः षट्षष्ट्यधिकं धनुषां शतं द्वौ हस्तौ षोडशांगुलानि च । द्वितीये प्रस्तारे वर्दलनाम्नीन्द्रके धनुषां शतद्वयमष्टाधिकं हस्तश्चैकोऽष्टावंगुलान्यपि । तृतीयप्रस्तारे लल्लकनामेन्द्रके नारकोत्सेधः सूत्रोपात्तधनुषां शतद्वयं पंचाशदधिकं विज्ञेयमिति ॥१०६२॥

सप्तम्यां पृथिव्यां नारकोत्सेधप्रमाणमाह—

सत्तमिए पुढवीए णेरइयाणं तु होइ उस्सेहो ।
पंचेव धणुसयाइं पमाणदो चेव बोधव्वो ॥१०६३॥

सत्तमिए— सप्तम्यां, पुढवीए—पृथिव्यां महातमःप्रभायां, णेरइयाणं तु—नारकाणां तु, होइ

कियों की ऊँचाई एक सौ बारह धनुष, दो हाथ है । तमिस्र नाम के पाँचवें प्रस्तार में एक सौ पच्चीस धनुष है ।

छठी पृथिवी में नारकियों की ऊँचाई कहते हैं—

गाथार्थ—छठी पृथिवी में नारकियों का उत्सेध होता है । वह दो सौ पचास धनुष प्रमाण जानना चाहिए ॥१०६२॥

आचारवृत्ति—तमःप्रभा नामक छठी पृथिवी में तीन प्रस्तार हैं । उनमें से तृतीय प्रस्तार में नारकियों की ऊँचाई दो सौ पचास धनुष जानना चाहिए । यहाँ पर भी पाँचवीं पृथिवी के अन्तिम उत्सेध को मुख और इस नरक के अन्तिम इस उत्सेध को भूमि कहकर, भूमि में से मुख को घटाकर, पूर्ववत् उत्सेध तीन का भाग देकर, इच्छा राशि से गुणित करके, मुख सहित कर शेष इन्द्रक के नारकियों का प्रमाण ले आना चाहिए । तथाहि—हिम नामक प्रथम प्रस्तार में नारकियों की ऊँचाई एक सौ छयासठ धनुष, दो हाथ, सोलह अंगुल है । वर्दल नाम के द्वितीय प्रस्तार में दो सौ आठ धनुष, एक हाथ, आठ अंगुल है । लल्लक नाम के तृतीय प्रस्तार में नारकियों की ऊँचाई गाथासूत्र में कथित दो सौ पचास धनुष समझना चाहिए ।

सातवीं पृथिवी में नारकियों की ऊँचाई का प्रमाण कहते हैं—

गाथार्थ—सातवीं पृथिवी में नारकियों की ऊँचाई प्रमाण से पाँच सौ धनुष जानना चाहिए ॥१०६३॥

आचारवृत्ति—महातमःप्रभा नामक सातवीं पृथिवी में नारकियों की ऊँचाई पाँच सौ धनुष प्रमाण है । इस नरक में अवधिस्थान नाम का एक ही प्रस्तार है, अर्थात् यहाँ नारकियों

कायोत्सेधो—भवत्युत्सेधः, पंचैव धनुःशतानि—पंचैव धनुःशतानि, कदाचनापि नैव—प्रमाणतश्चैव नाभ्यत्, बोद्धव्या—बोद्धव्यानि । सप्तम्यां महातमःप्रभायामवधिस्थानेन्द्रकनाम्नि नारकाणामुत्सेधः प्रमाणतः पंचैव धनुःशतानि नाधिकानीति । एवं सर्वासु पृथिवीषु स्वकीयेन्द्रकप्रतिबद्धेषु श्रेणिविश्रेणिबद्धेषु पुष्पप्रकीर्णकेषु च नारकाणामुत्सेधः स्वकीयेन्द्रकनारकोत्सेधसमानो वेदितव्यः । प्रथमायां पृथिव्यां प्रथमप्रस्तारे सीमन्तकेन्द्रकनाम्नि महादिक्षु श्रेणीबद्धनरकाण्येकोनपंचाशदेकोनपंचाशदिति । विदिक्षु चाष्टचत्वारिंशदष्टचत्वारिंशदिति । एवमष्टाष्टौ हानिं कृत्वा तावन्नेतव्यं यावदवधिस्थानस्य चत्वारि दिक्षु श्रेणिबद्धानीति । प्रथमायां पृथिव्यां त्रिंशल्लक्षाणि नारकाणां तान्येव श्रेणिबद्धेन्द्रकरहितानि पुष्पप्रकीर्णकानि । द्वितीयायां पंचविंशतिलक्षा नारकाणां तान्येव श्रेणिबद्धेन्द्रकरहितानि पुष्पप्रकीर्णकानि । तृतीयायां पंचदशलक्षा नारकाणाम् । चतुर्थ्यां दशलक्षा नारकाणाम् । पंचम्यां लक्षत्रयं नारकाणाम् । षष्ठ्यां पंचोनं लक्षं नारकाणाम् । सप्तम्यां पंचैव नारकाणि । सर्वत्र श्रेणिबद्धेन्द्रकरहितपुष्पप्रकीर्णकानीति प्रमाणं व्यावर्णितं देहोऽपि व्यावर्णितस्तदव्यतिरेकाद्गुणगुण्यभेदेन[1]

की ऊँचाई प्रमाण से पाँच सौ धनुष ही है, अधिक नहीं है ।

इस प्रकार से सभी नरक-पृथिवियों में अपने-अपने इन्द्रक-प्रस्तार से सम्बन्धित श्रेणीबद्ध, विश्रेणीबद्ध और पुष्पप्रकीर्णक बिलों में नारकियों के शरीर की ऊँचाई अपने-अपने इन्द्रक के नारकियों की ऊँचाई के समान ही समझनी चाहिए । उसे ही कहते हैं—

प्रथम पृथिवी में सीमन्तक इन्द्रक नाम के प्रथम प्रस्तार की चारों महादिशाओं में उनंचास-उनंचास श्रेणीबद्ध नरक बिल हैं तथा चारों विदिशाओं में अड़तालीस-अड़तालीस बिल हैं । इस प्रकार एक-एक प्रस्तार के प्रति इन श्रेणीबद्ध, विश्रेणीबद्ध बिलों में आठ-आठ की हानि करते हुए अवधिस्थान नामक अन्तिम प्रस्तार की चारों दिशाओं में चार श्रेणीबद्ध बिलों के होने तक ऐसा करना चाहिए । इस प्रकार से प्रत्येक नरक के इन्द्रक, श्रेणीबद्ध और प्रकीर्णक सभी को संकलित करने पर प्रथम पृथिवी में तीस लाख नरक बिल हैं । इन्हीं में से इन्द्रक-प्रस्तार तथा श्रेणीबद्ध की संख्या घटा देने पर पुष्पप्रकीर्णक बिलों का प्रमाण निकल आता है । दूसरी पृथिवी में पच्चीस लाख नरक बिल हैं । इनमें से इन्द्रक और श्रेणीबद्ध का प्रमाण घटा देने से पुष्पप्रकीर्णक बिलों का प्रमाण रह जाता है । तृतीय पृथिवी में पन्द्रह लाख नरक बिल हैं उसमें से इन्द्रक, श्रेणीबद्ध से रहित पुष्पप्रकीर्णक बिलों का प्रमाण है । चौथी में दस लाख नरक बिल हैं । इनमें भी इन्द्रक, श्रेणीबद्ध बिलों रहित पुष्पप्रकीर्णक बिल हैं । पाँचवीं में तीन लाख नरक बिल हैं । इसमें भी इन्द्रक, श्रेणीबद्ध रहित शेष पुष्पप्रकीर्णक बिल हैं । छठी में पाँच कम एक लाख नरक बिल हैं । इसमें भी इन्द्रक, श्रेणीबद्ध रहित शेष पुष्पप्रकीर्णक बिल समझना । सातवीं पृथिवी में पाँच ही नरकबिल हैं । इसमें प्रकीर्णक नहीं हैं । इस प्रकार से सभी नरकों में इन्द्रक और श्रेणीबद्ध के घटाने से पुष्पप्रकीर्णक बिलों का प्रमाण होता है, ऐसा कहा गया है ।

देह के प्रमाण का वर्णन करने से देह का भी वर्णन कर दिया गया है, क्योंकि गुण और गुणी में अभेद होने से वह देह उस प्रमाण से अभिन्न ही है, इसलिए देह के स्वरूप को बिना कहे भी प्रमाण के कथन करने में कोई दोष नहीं है । नारकियों का शरीर वैक्रियिक होते हुए भी

---

१. क गुणगुण्यभेदाच्च ।

ततो न दोषो देहस्वरूपमकथयित्वा प्रमाणस्य कथने। नारकाणां शरीरं बीभत्सं दुर्गन्धि वैक्रियिकं सर्वाशुभपुद्गलैर्निष्पन्नं सर्वदुःखकारणं हुण्डकसंस्थानमशुभनाम दुःस्वरवदनं कृमिकुलादिसंकीर्णमिति ॥१०६३॥

देवानां शरीरं व्यावर्णितं न तत्प्रमाणमतस्तदर्थमाह—

पणवीसं असुराणं सेसकुमाराण दस धणू चेव।
वितरजोइसियाणं दस सत्त धणू मुणेयव्वा १०६४॥

भवनवासिवानव्यन्तरज्योतिष्ककल्पवासिभेदेन देवाश्चतुर्विधा भवन्ति। तत्र भवनवासिनां तावत्प्रमाणं व्यावर्णयति—पणवीसं—पंचभिरधिका विंशतिः पंचविंशतिः, असुराणं—असुरकुमाराणां, सेसकुमाराण—शेषकुमाराणां नागविद्युत्सुपर्णाग्निवातस्तनितोदधिद्वीपदिक्कुमाराणां, दस धणू—दश दण्डाः। चशब्दः समुच्चयार्थस्तेन सामानिकत्रायस्त्रिंशपारिषदात्मरक्षलोकपालानीकप्रकीर्णकाभियोग्यकिल्विषिकाणामेतदेव प्रमाणं शरीरस्य वेदितव्यम्। व्यंतराः किंनरकिंपुरुषगरुड[1]गन्धर्वयक्षराक्षसभूतपिशाचाः, जोइसियाणं—ज्योतिष्काः सूर्याचन्द्रमसौ ग्रहनक्षत्रप्रकीर्णकतारकाश्च व्यन्तराश्च ज्योतिष्काश्च व्यन्तरज्योतिष्कास्तेषां व्यन्तरज्योतिष्काणाम्, दस सत्त धणू—दश सप्त धनूंषि यथासंख्येन व्यन्तराणां दश धनूंषि

सभी अशुभ पुग्दलों से बना हुआ है, इसलिए अत्यन्त बीभत्स है, दुर्गन्धित है, सर्व दुःखों का कारण है। इसका हुण्डक संस्थान है, अशुभनाम, दुःस्वरयुक्त मुख वाला और कृमियों के समूह आदि से व्याप्त है।

देवों के शरीर का वर्णन किया है किन्तु उसके प्रमाण को नहीं बताया, अतः उसके लिए कहते हैं—

गाथार्थ—असुर कुमार देवों की ऊँचाई पच्चीस धनुष, शेष भवनवासियों की दश धनुष तथा व्यन्तर और ज्योतिषियों की क्रम से दश और सात धनुष समझना चाहिए ॥१०६४॥

आचारवृत्ति—भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क और कल्पवासी के भेद से देवों के चार भेद होते हैं। उनमें भवनवासियों के प्रमाण का पहले कथन करते हैं। असुरकुमार देवों की ऊँचाई पच्चीस धनुष है। शेष कुमारों अर्थात् नागकुमार, विद्युत्कुमार, सुपर्णकुमार, अग्निकुमार, वातकुमार, स्तनितकुमार, उदधिकुमार, द्वीपकुमार और दिक्कुमार देवों की ऊँचाई दश-दश धनुष प्रमाण है। 'च' शब्द समुच्चय के लिए है, अतः उससे यह समझना कि इनके जो सामानिक, त्रायस्त्रिंश, पारिषद्, आत्मरक्ष, लोकपाल, अनीक, प्रकीर्णक, आभियोग्य और किल्विषक देव हैं उन देवों के शरीर का भी प्रमाण यही है। किन्नर, किंपुरुष, गरुड, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, भूत और पिशाच इन आठ प्रकार के व्यन्तर देवों के शरीर की ऊँचाई दश धनुष है तथा इनमें त्रायस्त्रिंश और लोकपाल नहीं होते हैं अतः शेषनिकाय अर्थात् सामानिक, पारिषद् आत्मरक्ष, अनीक, प्रकीर्णक, आभियोग्य और किल्विषक देवों के शरीर का उत्सेध भी दश धनुष है। सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह, नक्षत्र और प्रकीर्णक तारे—इन पाँच प्रकार के ज्योतिषी देवों के शरीर की ऊँचाई सात धनुष है। इन देवों भी त्रायस्त्रिंश और लोकपाल भेद न होने से शेष सामानिक आदि देवों की ऊँचाई

---

1. ग्रन्थान्तरों में गरुड के स्थान पर महोरग नाम प्रसिद्ध है।

ज्योतिष्काणां च सप्त धनूंषि सामानिकत्रायस्त्रिंशलोकपालवर्जितशेषनिकायानां च शरीरस्योत्सेधो ज्ञातव्य इति। भवनवासिनो दशप्रकारा भवन्ति—तत्र प्रथमप्रकारस्यासुरकुमारसंज्ञकस्य सामानिकादिसहितस्य शरीरोत्सेधः पंचविंशतिर्धनुषामुत्कृष्टः, नागकुमाराणां विद्युत्कुमाराणां सुपर्णकुमाराणामग्निकुमाराणां वातकुमाराणां स्तनितकुमाराणामुदधिकुमाराणां द्वीपकुमाराणां दिक्कुमाराणां सामानिकादिभेदभिन्नानां च दश दण्डाः शरीरस्योत्सेधः। व्यन्तराणामष्टप्रकाराणां स्वभेदभिन्नानां दश धनूंषि शरीरस्योत्सेधः। ज्योतिष्काणां च पंचप्रकाराणां स्वभेदभिन्नानां सप्त दण्डाः शरीरस्योत्सेधो ज्ञातव्य इति ॥१०६४॥

एते तिर्यग्लोके अवस्थितास्तद्द्वारेणैव तिरश्चां च वक्ष्यमाणत्वादुल्लंघ्य प्रमाणं मनुष्याणां तावदुत्कृष्टं प्रमाणमाह—

छद्धणुसहस्सुस्सेधं चदु दुगमिच्छंति भोगभूमीसु।
पणवीसं पंचसदा बोधव्वा कम्मभूमीसु ॥१०६५॥

छद्धणुसहस्स—षड् धनुषां सहस्राणि, **उस्सेधं**—उत्सेधं शरीरप्रमाणं, **चदु**—चत्वारि सहस्राणि धनुषां, **दुगं**—द्वे सहस्रे धनुषां, **इच्छंति**—अभ्युपगच्छन्ति, पूर्वाचार्या भोगभूमिषु दशप्रकारकल्पपादपोपलक्षितासु। **पणवीसं**—पंचविंशतिः, **पंचसदा**—पंचशतानि च धनुषां, **बोधव्वा**—बोद्धव्यानि ज्ञातव्यानि कर्मभूमिषु पंचसु भरतैरावतविदेहेषु। भोगभूमिषूत्कृष्टमध्यमजघन्यासु मनुष्याणामुत्सेधं यथासंख्येन षट् चत्वारि सहस्राणि द्वे च सहस्रे धनुषामिच्छन्ति, कर्मभूमिषु च मनुष्याणामुत्कृष्टमुत्सेधं शतपंचकं पंचविंशत्यधिकमिच्छन्तीति। ॥१०६५॥

सात धनुष ही है। अर्थात् असुरकुमार नामक भवनवासी देव और उनके सामानिक आदि देवों के शरीर की उत्कृष्ट ऊँचाई पच्चीस धनुष, नागकुमार आदि शेष भवनवासी देव व उनके सामानिक देवों की दश धनुष, आठ प्रकार के व्यन्तरों की व उनके सामानिक आदि देवों की दश धनुष तथा पाँच प्रकार के ज्योतिषियों की व उनके सामानिक आदि देवों की सात धनुष प्रमाण ऊँचाई है।

तिर्यंच तिर्यग्लोक में अवस्थित हैं, अतः तिर्यंचों का वर्णन प्रथम कहना चाहिए किन्तु उनके प्रमाण का उल्लंघन कर पहले मनुष्यों का उत्कृष्ट प्रमाण कहते हैं। तिर्यंचों का वर्णन आगे करेंगे।

गाथार्थ—भोगभूमि के मनुष्यों में छह हजार धनुष, चार हजार धनुष और दो हजार धनुष स्वीकार करते हैं। भूमियों में पाँच सौ पच्चीस धनुष जानना चाहिए ॥१०६५॥

आचारवृत्ति—दश प्रकार के कल्पवृक्षों से संयुक्त भोगभूमियाँ उत्तम, मध्यम और जघन्य की अपेक्षा तीन प्रकार की होती हैं। इन उत्तम, मध्यम और जघन्य भोगभूमियों में मनुष्यों के शरीर की ऊँचाई क्रम से छह हजार धनुष, चार हजार धनुष और दो हजार धनुष है ऐसा पूर्वाचार्य स्वीकार करते हैं। पाँच भरत, पाँच ऐरावत तथा पाँच महाविदेहों की कर्मभूमियों में मनुष्यों की ऊँचाई पाँच सौ पच्चीस धनुष है।

● यह गाथा फलटन से प्रकाशित मूलाचार में देवों की अवगाहना के अनन्तर है।

प्राधान्याद् देवानां कल्पवासिनां तावदुत्सेधमाह—

सोहम्मीसाणेसु य देवा खलु होंति सत्तरयणीओ ।
छच्चेव य रयणीओ सणक्कुमारे हि माहिंदे ॥१०६६॥

सोहम्मीसाणेसु य—सुधर्मा [1]नाम्नी सभा तस्यां भवः सौधर्म इन्द्रस्तेन सहचरितं विमानं कल्पो वा, सौधर्मश्चैशानश्च सौधर्मैशानौ तयोः सौधर्मैशानयोः श्रेणिबद्धप्रकीर्णकसहितयोः, देवा—देवा इन्द्रसामानिकत्रायस्त्रिंशत्पारिषदात्मरक्षलोकपालानीकप्रकीर्णकाभियोग्यकिल्विषिकाः, खलु—स्फुटं, सत्तरयणीओ—सप्त हस्ताः, छच्चेव—षडेव च, रयणीओ—रत्नयो हस्ताः, सणक्कुमारे—सनत्कुमारे च, माहिंदे—माहेन्द्रे । सौधर्मैशानयोः कल्पयोर्देवा इन्द्रादयः शरीरप्रमाणेन सप्तहस्ता भवन्ति, सनत्कुमारमाहेन्द्रयोश्च कल्पयोश्च देवा इन्द्रादयः षड्रत्नयः प्रमाणेन भवन्तीति ॥१०६६॥

शेषकल्पेषु देवोत्सेधं प्रतिपादयन्नाह—

बंभे य लंतवे वि य कप्पे खलु होंति पंच रयणीओ ।
चत्तारि य रयणीओ सुक्कसहस्सारकप्पेसु ॥१०६७॥

बंभे—ब्रह्मकल्पे, लंतवे वि य—लान्तवकल्पे, कल्पशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते । खलु—स्फुटं व्यक्तं सर्वमेतत्, होंति—भवन्ति । पंचरयणीओ—पंच रत्नयः । देवा इत्यनुवर्तते । तेन सह संबन्धः सर्वत्र द्रष्टव्यः । चत्तारि य—चतस्रश्च, रयणीओ—रत्नयो हस्ताः, सुक्क—शुक्रकल्पे, सहस्सार—सहस्रारकल्पे, अत्रापि कल्पशब्दः प्रत्येमभिसंबध्यते । उपलक्षणमात्रमेतत्तेनान्येषां ब्रह्मोत्तरकापिष्ठमहाशुक्रशतारसहस्रारकल्पानां

देवों में कल्पवासी देव प्रधान होने से पहले उनकी ऊँचाई कहते हैं—

गाथार्थ—सौधर्म और ईशान स्वर्ग में देव सात हाथ ऊँचे हैं और सनत्कुमार तथा महेन्द्र स्वर्ग में छह हाथ प्रमाण होते हैं ॥१०६६॥

आचारवृत्ति—सुधर्मा नाम की सभा में जो हुआ है अर्थात् जो उसका अधिपति है वह इन्द्र 'सौधर्म' कहलाता है। उससे सहचारित विमान अथवा कल्प भी सौधर्म कहलाता है। ऐसे ही आगे के ईशान आदि इन्द्रों के नाम से ही स्वर्गों के नाम हैं। सौधर्म और ईशान स्वर्ग के इन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंश, पारिषद्, आत्मरक्ष, लोकपाल, अनीक, प्रकीर्णक, आभियोग्य और किल्विषक ये सभी देव सात हाथ प्रमाण शरीरवाले होते हैं। तथा सनत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्ग के इन्द्र आदि सभी देव छह हाथ प्रमाण शरीरवाले होते हैं।

शेष कल्पों में देवों की ऊँचाई का प्रतिपादन करते हैं—

गाथार्थ—ब्रह्म और लान्तव कल्प में पाँच हाथ तथा शुक्र और सहस्रार कल्प में चार हाथ प्रमाण ऊँचाई होती है ॥१०६७॥

आचारवृत्ति—यहाँ पर कल्प शब्द ब्रह्म आदि प्रत्येक के साथ लगा लेना चाहिए जैसे ब्रह्मकल्प, लान्तवकल्प, शुक्रकल्प और सहस्रारकल्प। यह उपलक्षणमात्र है। उससे अन्य स्वर्गों में भी ब्रह्मोत्तर, कापिष्ठ, महाशुक्र और शतार-सहस्रार कल्पों को भी ग्रहण कर लेना

---

1. क नाम ।

च ग्राह्यं द्रष्टव्यम्। श्रेणिबद्धप्रकीर्णकानां च। ब्रह्मब्रह्मोत्तरलान्तवकापिष्ठेषु च चतुर्षु कल्पेषु देवा इन्द्रादयः पंचहस्ताः प्रमाणेन भवन्ति, तथा शुक्रमहाशुक्रशतारसहस्रारेषु च चतुर्षु कल्पेषु देवा इन्द्रसामानिकादयश्च चत्वारो हस्ताः शरीरप्रमाणेन भवन्तीति ॥१०६७॥

आनतादिदेवप्रमाणमाह—

आणदपाणदकप्पे अद्धुट्ठाओ हवंति रयणीओ।
तिण्णेव य रयणीओ बोधव्वा आरणच्चुदे चावि ॥१०६८॥

आणद—आनतकल्पे, पाणद—प्राणतकल्पे, कल्पशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते, अद्धुट्ठाओ—अर्धाधिकास्तिस्रो रत्नयस्त्रयो हस्ता हस्तार्धं च, हवन्ति—भवन्ति, रयणीओ—रत्नयः। तिण्णेव—तिस्रश्च, रयणीओ—रत्नयः, बोधव्वा ज्ञातव्याः, आरणच्चुदे चावि—आरणाच्युतयोरपि आरणकल्पेऽच्युतकल्पे च आनतप्राणतकल्पयोर्देवा इन्द्रादयस्त्रयो हस्ता अर्धाधिकाः शरीरप्रमाणेन बोद्धव्याः, आरणाच्युतकल्पयोश्च देवा इन्द्रादयस्त्रयो हस्ताः शरीरप्रमाणेन बोद्धव्या इति ॥१०६८॥

नवग्रैवेयकदेवशरीरं प्रतिपादयन्नाह—

हेट्ठिमगेवज्जेसु य अड्ढाइज्जा हवंति रयणीओ।
मज्झिमगेवज्जेसु य वे रयणी होंति उस्सेहो ॥१०६९॥

हेट्ठिमगेवज्जेसु य—अधोग्रैवेयकेषु अधो व्यवस्थिता वै ये त्रयो ग्रैवेयककल्पास्तेषु, अड्ढाइज्जा—अर्धाधिकं रत्निद्वयं तृतीयार्धसहिते रत्नी वा भवतः, मज्झिमगेवज्जेसु—मध्यमग्रैवेयकेषु च मध्यमप्रदेशस्थितेषु त्रिषु ग्रैवेयकेषु, वे रयणी—द्वे रत्नी द्वौ हस्तौ, हवन्ति—भवतः, उस्सेहो—उत्सेधः शरीरप्रमाणम्। नव ग्रैवेयक-

---

चाहिए। तथा वहाँ के श्रेणीबद्ध और प्रकीर्णक विमानों को भी ग्रहण कर लेना चाहिए। अर्थात् ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर, लान्तव और कापिष्ठ इन चार कल्पों में इन्द्र आदि देव पाँच हाथ प्रमाण शरीरवाले होते हैं। तथा शुक्र, महाशुक्र, शतार और सहस्रार इन चार कल्पों में इन्द्र, सामानिक आदि देव चार हाथ प्रमाण शरीर के धारक होते हैं।

आनत आदि देवों के शरीर का प्रमाण कहते हैं—

गाथार्थ—ये देव आनत-प्राणत कल्प में साढ़े तीन हाथ और आरण-अच्युत कल्प में तीन हाथ प्रमाण ऊँचे होते हैं, ऐसा जानना ॥१०६८॥

आचारवृत्ति—आनत-प्राणत कल्प में इन्द्रादिक देव साढ़े तीन हाथ प्रमाण ऊँचे हैं और आरण-अच्युत कल्प में तीन हाथ प्रमाण ऊँचाईवाले होते हैं।

नवग्रैवेयक के देवों के शरीर का प्रमाण कहते हैं—

गाथार्थ—अधोग्रैवेयकों में ढाई हाथ प्रमाण होते हैं। तथा मध्यम ग्रैवेयकों में ऊँचाई दो हाथ प्रमाण है ॥१०६९॥

आचारवृत्ति—अधोभाग में तीन ग्रैवेयक हैं। उनमें अहमिन्द्रों के शरीर की ऊँचाई ढाई हाथ है और मध्य भाग में स्थित तीन ग्रैवेयकों के अहमिन्द्र देवों की ऊँचाई दो हाथ है। अर्थात् नव ग्रैवेयक कल्प हैं। उनमें से अधोधः एक कल्प है, अधोमध्यम द्वितीय कल्प है, अध-उपरि

कल्पा भवन्ति तत्राधोध एकः कल्पः अधोमध्यमो द्वितीयः कल्पः अधउपरि तृतीयः कल्पस्तेषु कल्पेषु त्रिषु देवा अहमिन्द्रा अर्द्धाधिको द्वौ हस्तौ प्रमाणेन भवन्ति, तथाऽधोमध्यमः कल्प एकः मध्यमध्यमकल्पो द्वितीयः मध्यमो-परि कल्पस्तृतीय एतेषु त्रिषु कल्पेषु देवा अहमिन्द्रा द्विहस्तोत्सेधा भवन्तीति ॥१०६९॥

उपरिमग्रैवेयकदेवशरीरोत्सेधमनुत्तरदेवोत्सेधं चाह—

उवरिमगेवज्जेसु य दिवड्ढरयणी हवे य उस्सेहो ।
अणुदिसणुत्तरदेवा एया रयणी सरीराणि ॥१०७०॥

उवरिमगेवज्जेसु य—उपरिमग्रैवेयकेषूपरिप्रदेशव्यवस्थितेषु त्रिषु ग्रैवेयककल्पेषु, दिवड्ढरयणी—अर्द्धाधिकरत्निः हस्तोपर च हस्तार्द्ध, हवे य—भवेत्, उस्सेहो—उत्सेधः । उपर्यध एकः कल्पः, उपरिममध्यमो द्वितीयः कल्पः, उपर्युपरि तृतीयः कल्पः, एतेषु त्रिषु ग्रैवेयककल्पेषु देवानां शरीरोत्सेध एको हस्तो हस्तार्द्धं च । यद्यपि सविकल्पा विद्यन्तेऽत आगमतस्ते ज्ञातव्या इति । अणुदिस—अनुदिशकल्पे नवसु विमानेषु, अणुत्तर-अनुत्तरकल्पे च पंचसु विमानेषु अहमिन्द्रा, एया रयणी सरीराणि—एकरत्निशरीरा एकहस्तदेहप्रमाणाः, अनु-दिशानुत्तरकल्पयोश्चतुर्दशविमानेषु देवा एकहस्तशरीरोत्सेधा भवन्तीति ॥१०७०॥

देवमनुष्यनारकाणां प्रमाणपूर्वकदेहस्वरूप प्रतिपाद्य तिरश्चामेकेन्द्रियादिपंचेन्द्रियपर्यन्तानां शरीरो-त्सेधद्वारेण जघन्यदेहमाह—

भागमसंखेज्जदिमं जं देहं अंगुलस्स तं देह ।
एइंदियादिपंचेंदियंतदेहं [1]पमाणेण ॥१०७१॥

तृतीय कल्प है, इन तीन कल्पों में अहमिन्द्र देव ढाई हाथ प्रमाण होते हैं। मध्य भाग में अधोमध्यम एक कल्प है, मध्यमध्यम द्वितीय कल्प है, और मध्यमोपरि नाम का तृतीय कल्प है। इन तीनों कल्पों में अहमिन्द्र देव दो हाथ प्रमाण वाले होते हैं।

उपरिम ग्रैवेयक के देवों के शरीर का उत्सेध और अनुत्तरदेवों का उत्सेध कहते हैं—

गाथार्थ—उपरिम ग्रैवेयकों में डेढ़ हाथ की ऊँचाई है और अनुदिश-अनुत्तर के देव एक हाथ के शरीरवाले है ॥१०७०॥

आचारवृत्ति—उपरिम भाग में स्थित तीन ग्रैवेयकों में डेढ़ हाथ की ऊँचाई है अर्थात् ऊपर के भाग में उपर्यधः नाम का एक कल्प है, उपरिम-मध्यम द्वितीय कल्प है और उपर्युपरि तृतीय कल्प है। इन तीनों ग्रैवेयक कल्पों मे अहमिन्द्र देवों के शरीर की ऊँचाई डेढ़ हाथ है। यद्यपि इनमें भेद हैं अतः इन्हें आगम से जानना चाहिए। अनुदिश कल्प नामक नव विमानों में और अनुत्तर कल्प नामक पाँच विमानों में अहमिन्द्र देव एक हाथ प्रमाण ऊँचाई वाले होते हैं अर्थात् अनुदिश और अनुत्तर इन चौदह विमानों में देवों के शरीर का उत्सेध एक हाथ प्रमाण है।

देव, मनुष्य और नारकियों का प्रमाणपूर्वक देह-स्वरूप प्रतिपादित करके एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रियपर्यन्त तिर्यंचों के शरीर की ऊँचाई द्वारा जघन्य देह को कहते हैं—

गाथार्थ—अंगुल के असंख्यातवें भागप्रमाण जो देह है, वह देह जघन्य प्रमाण से एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय पर्यन्त है ॥१०७१॥

---

1. क-जहण्णेण ।

भागं—भागः, असंखेज्जदिमं—असंख्यातः, जं देहं—य उपचयो यावत्पिण्डो ल्परिमाणोऽङ्गुलस्य द्रव्यांगुलस्य, तं देहं—स उपचयस्तावान्पिण्डस्तत्परिमाणः। एइंदियादि—एकेन्द्रिय आदिर्येषां ते एकेन्द्रियादयः, पंचेंदियंता—पंचेन्द्रियोन्ते येषां ते पंचेन्द्रियान्ताः। एकेन्द्रियादयश्च ते पंचेन्द्रियान्ताश्चैकेन्द्रियादिपंचेन्द्रियान्तास्तेषां देहः शरीरमेकेन्द्रियादिपंचेन्द्रियान्तदेहः, एकेन्द्रियद्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियपंचेन्द्रियाणां शरीरं, जहण्णेण—द्रव्यांगुलमसंख्यातखण्डं कृत्वा तत्रैकखण्डोपचयो यावान् देहो यन्मात्रस्तन्मात्रो देहः शरीरं जघन्येनै-केन्द्रियादिपंचेन्द्रियपर्यन्तानामिति ॥१०७१॥

तेषामेवोत्कृष्टप्रमाणं प्रतिपादयन्नाह—

साहियसहस्समेयं तु जोयणाणं हवेज्ज उक्कस्सं।
एयंदियस्स देहं तं पुण पउमत्ति णादव्वं ॥१०७२॥

साहिय—सहाधिकेन वर्त्तत इति साधिकं सक्रोशद्वयं, सहस्समेयं तु—सहस्रमेकं तु एकम् एकसहस्रं, जोयणाणं—योजनानां, हवेज्ज—भवेत्, उक्कस्सं—उत्कृष्ट, एइंदियस्स—एकेन्द्रियस्य, देहं—देहः शरीरं, तं पुण—स पुनः, पउमत्ति णादव्वं—पद्ममिति ज्ञातव्यम्। तेन पृथिवीकायादिवायुकायान्तानां त्रसानां चैतावन्मात्रस्य देहस्य निराकरणं द्रष्टव्यम्। योजनानां सहस्रमेकं साधिकं च तन्मात्र एकेन्द्रियस्य देहः स पुनर्देहो वनस्पतिसंज्ञकस्य पद्मस्य ज्ञातव्यः। प्रमाणप्रमाणवतोरभेदं कृत्वा निर्देश इति ॥१०७२॥

द्वीन्द्रियादीनामुत्कृष्टदेहप्रमाणमाह—

संखो पुण वारसजोयणाणि गोभी भवे तिकोसं तु।
भमरो जोयणमेत्तं मच्छो पुण जोयणसहस्सं ॥१०७३॥

आचारवृत्ति—एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय—इन जीवों के शरीर का प्रमाण जघन्य रूप से द्रव्यांगुल प्रमाण के असंख्यात खण्ड करके उसमें से एक भाग प्रमाण है। अर्थात् इनका जघन्य शरीर द्रव्यांगुल[1] के असंख्यातवें भाग प्रमाण है।

इन जीवों की ही उत्कृष्ट अवगाहना कहते हैं—

गाथार्थ—एकेन्द्रिय जीव का उत्कृष्ट शरीर कुछ अधिक एक हजार योजन होता है ॥१०७२॥

आचारवृत्ति—एकेन्द्रिय जीव का उत्कृष्ट शरीर कुछ अधिक—दो कोस अधिक एक हजार योजन प्रमाण है। वनस्पति कायिक में यह कमल का जानना चाहिए। प्रमाण और प्रमाणवान् में अभेद करके यह कथन किया गया है। इस कथन से पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और त्रस इन जीवों का इतने बड़े शरीर का निराकरण किया गया समझना चाहिए।

द्वीन्द्रिय आदि जीवों के उत्कृष्ट शरीर-प्रमाण को कहते हैं—

गाथार्थ—शंख बारह योजन, गोभी अर्थात् खजूरा नामक कीड़ा तीन कोश, भ्रमर एक योजन तथा मत्स्य एक हजार योजन प्रमाण हैं ॥१०७३॥

---

१. "अष्टयवनिष्पन्नाङ्गुलेन येऽवष्टब्धाः प्रदेशाः तेषां मध्येऽनेकस्याः प्रदेशपंक्तेः यावदायामस्तावन्मात्रं द्रव्यांगुलं"—मूलाचार पर्याप्त्यधिकार।

संखो पुण—शंखः पुनर्द्वीन्द्रियः, बारसजोयणाणि—द्वादशयोजनानि द्वादशयोजनो वा, गोभी—गोपालिका खर्जूरको वा, भवे—भवेत्, तिकोसं तु—त्रिकोशं तु त्रिकोशमात्रस्त्रीन्द्रियः, भमरो—भ्रमरो मधुकरश्चतुरिन्द्रियः, जोयणमेत्तं—योजनमात्रं गव्यूतिचतुष्टयमात्रः, मच्छो—मत्स्यः, पुण—पुनः, जोयणसहस्सं-योजनसहस्रः। द्वीन्द्रियाणां मध्ये उत्कृष्टदेहः शंखः स च द्वादशयोजनमात्रः, त्रीन्द्रियाणां मध्ये उत्कृष्टदेहो गोभी सा च कोशत्रयपरिमिता[1], चतुरिन्द्रियाणां मध्ये उत्कृष्टदेहो भ्रमरः स च योजनप्रमाणः, पंचेन्द्रियाणां मध्ये उत्कृष्टदेहो मत्स्यः स च योजनसहस्रायाम इति ॥१०७३॥

प्रमाणमपि प्रमाणसूत्रेण गृहीतं यतोऽतो जम्बूद्वीपस्यापि परिधिप्रमाणमाह—

जंबूदीवपरिहिओ तिण्णिव लक्खं च सोलहसहस्सं।
बे चेव जोयणसया सत्तावीसा य होंति बोधव्वा ॥१०७४॥

तिण्णेव गाउआइं अट्ठावीसं च धणुसयं भणियं।
तेरस य अंगुलाइं अद्धंगुलमेव सविसेसं ॥१०७५॥

जम्बूद्वीपो योजनलक्षविष्कम्भ एतावत्परिधिप्रमाणग्रहणस्यान्यथानुपपत्तेस्तस्य च ग्रहणं बहुप्रमाणविकल्पसंग्रहणं जम्बूद्वीपप्रमाणग्रहणं च स्वयंभूरमणद्वीपसमुद्रायामप्रमाणज्ञापनार्थं तयोश्च प्रमाणकथनमुत्कृष्टदेहप्रमाणैकेन्द्रियाद्यवस्थानज्ञापनार्थमित्यतो योजनलक्षं जम्बूद्वीपविष्कम्भवर्गं दशगुणं कृत्वा वर्गमूलं च गृहीत्वैव पठति;—जम्बूदीवपरिहिओ —जम्बूवृक्षोपलक्षितो द्वीपो जम्बूद्वीपोऽसंख्यातद्वीपसमुद्राणां मध्यनाभि-

---

आचारवृत्ति—द्वीन्द्रियों में शंख का बारह योजन का शरीर है, त्रीन्द्रियों में गोपालिका या खर्जूरक प्राणी का शरीर तीन कोश है, चतुरिन्द्रियों में भ्रमर का एक योजन—चार कोश प्रमाण है और पंचेन्द्रियों में महामत्स्य का उत्कृष्ट शरीर एक हजार योजन लम्बा है।

यहाँ प्रमाण का भी प्रमाणसूत्र से ग्रहण हो गया है, अतः जम्बूद्वीप की परिधि का प्रमाण कहते हैं —

गाथार्थ—जम्बूद्वीप की परिधि का प्रमाण तीन लाख, सोलह हजार, दो सौ सत्ताईस योजन समझना तथा तीन कोश, अट्ठाईस सौ धनुष, साढ़े तेरह अंगुल और कुछ अधिक प्रमाण है ॥१०७४-१०७५॥

आचारवृत्ति—जम्बूद्वीप के विस्तार का प्रमाण एक लाख योजन है अन्यथा गाथा में कथित परिधि का इतना प्रमाण बन नहीं सकता था। तथा इसका ग्रहण बहुत प्रमाण के भेदों का संग्रह करने के लिए है। अर्थात् जम्बूद्वीप के प्रमाण का ग्रहण स्वयंभूरमणद्वीप और स्वयंभूरमणसमुद्र के विस्तार का प्रमाण बतलाने के लिए है और इन दोनों के प्रमाण का कथन उत्कृष्ट शरीर प्रमाण से सहित एकेन्द्रिय आदि जीवों के अवस्थान को बतलाने के लिए है। इसलिए जम्बूद्वीप के विस्तार में एक लाख योजन का वर्ग करके, उसे दश गुणा करके, उसका वर्गमूल निकालना चाहिए। तब जम्बूद्वीप की परिधि का प्रमाण निकल आता है। अर्थात् तीन लाख, सोलह हजार, दो सौ सत्ताईस योजन, तीन कोश, अट्ठाईस सौ धनुष, साढ़े तेरह अंगुल

---

१. क त्रिकोशायामा।

रिव तदायत्तं सर्वेषां विष्कम्भायामपरिधिप्रमाणं, परिरहिओ—परिधिः परिक्षेपो जम्बूद्वीपस्य परिधिर्जंबूद्वीप-परिधिः, तिण्णेव लक्खं—त्रीण्येव लक्षाणि, सोलहसहस्सं—षोडशसहस्राणि, बे चेव जोयणसया—द्वे चैव योजनानां शते, सत्तावीसा य—सप्तविंशतिश्च योजनानां सर्वत्र संबन्धः, होति—भवन्ति, बोद्धव्वा—बोद्धव्यानि। जम्बूद्वीपस्य परिधेः, प्रमाणं योजनानां त्रीणि लक्षाणि षोडशसहस्राणि, योजनानां द्वे च शते योजनानां सप्तविंशतिश्च। अथवा भेदेन निर्देशो जम्बूद्वीपपरिधिः योजनानां त्रीणि लक्षाणि षोडशसहस्राणि द्वे शते सप्तविंशतिश्चेति। तथा तिण्णेव—त्रीण्येव, गाउआइं—गव्यूतानि क्रोशाः, अट्ठावीसं च—अष्टाविंशतिश्च, धणु—धनुषां, सयं—शतं, भणियं—भणितं, तेरस य—त्रयोदशानि च, अंगुलाइं—अंगुलानि च, अद्धंगुलमेव—अर्धांगुलमेव च, सविसेसं—सविशेषो यवः सातिरेक. किंचिदेव तेन विशेषेण सह वर्त्तत इति सविशेषमर्द्धांगुलेन संबन्धः। त्रीणि गव्यूतानि धनुषां शतमष्टाविंशत्यधिकं त्रयोदशानि चांगुलानि सविशेषमर्द्धांगुलं चेति ॥१०७४-१०७५॥

जम्बूद्वीपमादिं कृत्वा कियतां द्वीपानां नामान्याह—

जंबूदीवो धादइसंडो पुक्खरवरो य तह दीवो।
वारुणिवर खीरवरो य घिदवरो खोदवरदीवो ॥१०७६॥

णंदीसरो य अरुणो अरुणब्भासो य कुंडलवरो य।
संखवर रुजग भुजगवर कुसवर कुंचवरदीवो ॥१०७७॥

जम्बूदीवो—जम्बूद्वीपः प्रथमो द्वीपः, धादइसंडो—धातकीखण्डो द्वितीयो द्वीपः, पुक्खरवरो—पुष्करवरस्तृतीयो द्वीपः, तह—तथा, दीवो—द्वीपः, वारुणिवर—वारुणीवरश्चतुर्थो द्वीपः, खीरवरो—क्षीरवरः पंचमो द्वीपः, घिदवरो— घृतवरः षष्ठो द्वीपः, खोदवरो—क्षौद्रवरः सप्तमो द्वीपः णंदीसरो य—नंदीश्वरश्चाष्टमो द्वीपः, अरुणो—अरुणाख्यो नवमो द्वीपः, अरुणभासो य—अरुणभासश्च दशमो द्वीपः, कुंडलवरो य—कुण्डलवरश्चैकादशो द्वीपः, संखवर—शंखवरो द्वादशो द्वीपः, रुजग—रुचकस्त्रयोदशो द्वीपः, भुजगवरो—

और एक जौ प्रमाण है। जम्बूद्वीप से उपलक्षित यह जम्बूवृक्ष असंख्यात द्वीप-समुद्रों के मध्य में नाभि के समान हैं। सभी द्वीपसमुद्रों के विस्तार-आयाम और परिधि का प्रमाण इस जम्बूद्वीप के आश्रित है। इस प्रकार से इन दो गाथाओं में जम्बूद्वीप की परिधि का प्रमाण कह देने से उस द्वीप का एवं सभी द्वीप और समुद्रों का विस्तार तथा परिधि का प्रमाण निकाल लेना चाहिए, क्योंकि आगे के सभी समुद्र व द्वीप एक-दूसरे को वेष्टित करते हुए तथा दूने-दूने प्रमाणवाले होते गये हैं।

जम्बूद्वीप को आदि में करके कितने ही द्वीपों के नाम कहते हैं—

गाथार्थ—जम्बूद्वीप, धातकीखण्ड, पुष्करवर, वारुणीवर, क्षीरवर, घृतवर, क्षौद्रवर, नन्दीश्वर, अरुण, अरुणभास, कुण्डलवर, शंखवर, रुचक, भुजगवर, कुशवर और क्रौंचवर—इस प्रकार से सोलह द्वीप हैं ॥१०७६-१०७७॥

आचारवृत्ति—पहला जम्बूद्वीप, दूसरा धातकीखण्ड द्वीप, तीसरा पुष्करवरद्वीप, चौथा वारुणीवरद्वीप, पाँचवाँ क्षीरवरद्वीप, छठा घृतवरद्वीप, सातवाँ क्षौद्रवरद्वीप, आठवाँ नन्दीश्वरद्वीप, नवम अरुणद्वीप, दसवाँ अरुणभासद्वीप, ग्यारहवाँ कुण्डलवरद्वीप, बारहवाँ शंखवर-

भुजगवरश्चतुर्दशो द्वीपः, कुसवरो— कुशवरः पंचदशो द्वीपः, कुंचवरदीवो—क्रौंचवरद्वीपश्च षोडश इति ।
॥१०७६-१०७७॥

एवं नामानि गृहीत्वा विष्कम्भप्रमाणमाह—

एवं दीवसमुद्दा दुगुणदुगुणवित्थडा असंखेज्जा ।
एदे दु तिरियलोए सयंभुरमणोदहिं जाव ॥१०७८॥

एवम् अनेन प्रकारेण, **दीवसमुद्दा**—द्वीपसमुद्राः, **दुगुणदुगुणवित्थडा**—दुगुणो दुगुणो विस्तारो येषां ते द्विगुणद्विगुणविस्ताराः, कियंतः, **असंखेज्जा**—असंख्याताः संख्याप्रमितिक्रान्ता.[1] । जम्बूद्वीपविष्कम्भाल्लवणसमुद्रो द्विगुणविष्कम्भो लवणसमुद्राच्च धातकीखण्डद्वीपो द्विगुणविष्कम्भः । अनेन प्रकारेण द्वीपात्समुद्रो द्विगुणविस्तारः समुद्राच्च द्वीपः । अतः सर्वे द्वीपसमुद्रा द्विगुणद्विगुणविस्तारा असंख्याता भवन्ति । ननु समुद्रग्रहणं कुतो लब्धम् ? द्वीपग्रहणात्, तदपि कुतः ? साहचर्यात्पर्वतनारदवत् । क्व व्यवस्थिता इत्याशंकायामाह—**एदे दु तिरियलोए**—एते तु द्वीपसमुद्रास्तिर्यग्लोके रज्जुमात्रायामे, कियद्दूरं ? **सयंभुरमणोदहिं जाव**—यावत्स्वयंभूरमणोदधिः । स्वयंभूरमणसमुद्रपर्यन्ता असंख्याता द्वीपसमुद्रा द्विगुणद्विगुणविस्तारा द्रष्टव्या इति ॥१०७८॥

असंख्याता इति तु न ज्ञायन्ते, कियन्त इत्यतस्तन्निर्णयमाह—

जावदिया उद्धारा अड्ढाइज्जाण सागरुवमाणं ।
तावदिया खलु रोमा हवंति दीवा समुद्दा य ॥१०७९॥

द्वीप, तेरहवाँ रुचकवरद्वीप, चौदहवाँ भुजगवरद्वीप, पन्द्रहवाँ कुशवरद्वीप, और सोलहवाँ क्रौंचवरद्वीप—ये सोलह द्वीपों के नाम हैं।

इस प्रकार नामों को कहकर इनका विस्तार बताते हैं—

गाथार्थ—इस प्रकार ये द्वीप-समुद्र तिर्यग्लोक में स्वयंभूरमण समुद्र पर्यन्त दुगुने-दुगुने विस्तारवाले असंख्यात हैं ॥१०७८॥

आचारवृत्ति- ये द्वीप-समुद्र इस एक रज्जुप्रमाण विस्तारवाले तिर्यग्लोक में असंख्यात प्रमाण हैं जो कि स्वयंभूरमणसमुद्र पर्यन्त दूने-दूने विस्तार वाले होते गये हैं। अर्थात् जम्बूद्वीप के विस्तार से लवण समुद्र का विस्तार दूना है, लवण समुद्र के विस्तार से धातकीखण्ड का दूना है। इसी प्रकार से द्वीप से समुद्र का विस्तार दूना है और समुद्र से द्वीप का विस्तार दूना है। इस तरह सभी द्वीप समुद्र दूने-दूने विस्तारवाले होते हुए सख्या को उलघन कर असंख्यात हो गये हैं। शका—समुद्र का ग्रहण कैसे प्राप्त हुआ ? समाधान द्वीप के ग्रहण करने से समुद्र का ग्रहण हो जाता है। शंका—यह भी कैसे ? समाधान—साहचर्य से। जैसा कि पर्वत का ग्रहण करने से उसके सहचारी होने से नारद का ग्रहण हो जाता है।

'असंख्यात' ऐसा कहने से यह नही मालूम हुआ कि किस असख्य-प्रमाण हैं। अतः उसके निर्णय के लिए कहते हैं—

गाथार्थ—ढाई सागरोपम में जितने उद्धार पल्य हैं उतने रोमखण्ड प्रमाण द्वीप और समुद्र हैं ॥१०७९॥

---

1. संख्यातप्रमाणमतिक्रान्ताः ग ।

जावदिया—यावन्ति [1]यन्मात्राणि, उद्धारा—उद्धाराणि उद्धारपल्योपमानि तेषु यावन्ति रोमाणि, अड्ढाइज्जाण—अर्द्धतृतीययोर्द्वयोरर्धाधिकयोः, सागरुवमाण—सागरोपमयोः, तावदिया—तावन्तस्तन्मात्राः खलु—स्फुटं, रोमा—उद्धारेषु रोमाणि सुकुमारोरणरोमाग्राणि, हवन्ति—भवन्ति, दीवा—द्वीपाः समुद्दा य—समुद्राश्च। प्रमाणयोजनावगाहविष्कम्भायामं कूपं कृत्वा सप्तरात्रजातमात्रोरणरोमाग्रभागैः पूर्णं च कृत्वा तत्र यावन्मात्राणि रोमाग्राणि तावन्मात्राणि वर्षशतानि गृहीत्वा तत्र यावन्मात्राः समया व्यवहारपल्योपमं नाम। व्यवहारपल्योपमे चैकैकं रोम असंख्यातवर्षकोटीसमयमात्रान् भागान् कृत्वा वर्षशतसमयैश्चैकैकं खण्डं प्रगुण्य तत्र यावन्मात्राः समयाः तावन्मात्रमुद्धारपल्योपमं भवति। उद्धारपल्योपमानि च दशकोटीकोटीमात्राणि गृहीत्वैकं उद्धारसागरोपमं भवति। तावन्मात्रयोर्द्वयोः सार्द्धयोः सागरोपमयोर्यावन्मात्राण्युद्धारपल्योपमानि तत्र च यावन्मात्राणि रोमाणि तावन्मात्राः स्फुटं द्वीपसमुद्रा भवन्तीति ॥१०७९॥

ननु द्वीपग्रहणेन च समुद्राणां ग्रहणं संजातं तत्र न ज्ञायन्ते किमभिधानास्त इत्याशंकायामाह—

जंबूदीवो लवणो धादइसंडे य कालउदधी य।
सेसाणं दीवाणं दीवसरिसणामया उदधी ॥१०८०॥

जंबूदीवे—जम्बूद्वीपे, लवणो—लवणसमुद्रः, धादइसंडे य—धातकीखण्डे च, कालउदधी य—कालोदधिसमुद्रः, सेसाणं—शेषेषु जम्बूद्वीपधातकीखण्डवर्जितेषु, दीवाणं—द्वीपेषु द्विर्गता आपो येषां ते द्वीपा

आचारवृत्ति—ढाई सागरोपम में उद्धार के जितने रोम खण्ड हैं उतने रोम खण्ड प्रमाण असंख्यात द्वीप और समुद्र माने गये हैं। उद्धार पल्य को समझने की प्रक्रिया बताते हैं—प्रमाण-योजन अर्थात् दो हजार कोश परिमाण का लम्बा, चौड़ा और गहरा एक कूप—विशाल गड्ढा करके जन्म से सात दिन के मेढ़े के शिशु के कोमल बारीक रोमों के अग्रभाग जैसे खण्डों से उस गड्ढे को पूरा भर दें। पुनः जितने रोमखण्ड उसमें हैं उतने मात्र सौ वर्ष में अर्थात् सौ-सौ वर्ष व्यतीत होने पर एक-एक रोमखण्ड को निकालें। उसमें जितना समय लगे उतने समय मात्र का नाम व्यवहार-पल्य है। व्यवहार-पल्य के एक-एक रोम खण्ड में असंख्यात करोड़ वर्ष के जितने समय हैं उतने खण्ड कर देने चाहिए। पुनः उन एक-एक खण्ड को सौ-सौ वर्ष के समयों से गुणा कर देना चाहिए। ऐसा करने से जितने समय होते हैं उतने को उद्धारपल्योपम कहते हैं। एक करोड़ को एक करोड़ से गुणा करने पर कोड़ाकोड़ी होती है। ऐसे दश कोड़ाकोड़ी उद्धार पल्योपम का एक उद्धार सागरोपम होता है। इस प्रकार से बने हुए ढाई उद्धार सागरोपम में जितने उद्धार पल्योपम हैं और उनमें जितने मात्र रोम खण्ड हैं, उतने प्रमाण द्वीप और समुद्र होते हैं।

द्वीप के ग्रहण से समुद्रों का ग्रहण हो गया है किन्तु वहाँ यह नहीं बताया गया है कि उनके क्या नाम हैं? ऐसी आशंका होने पर कहते हैं—

गाथार्थ—जम्बूद्वीप को वेष्टित कर लवण नाम का समुद्र है और धातकीखण्ड के बाद कालोदधि है। पुनः शेष द्वीपों के समुद्र अपने-अपने द्वीपसदृश नामवाले हैं ॥१०८०॥

आचारवृत्ति—जिनके दोनों तरफ जल है वे द्वीप कहलाते हैं। अर्थात् जल रहित

---

1. यावन्मात्राणि क०

जलरहितमध्यप्रदेशास्तेषु द्वीपेषु, दीवसरिसणामया—द्वीपैः सदृशानि समानानि नामानि येषां ते द्वीपसदृशनामानः, उवधी—उदकानि धीयन्ते येषु त उदधयः समुद्राः। जम्बूद्वीपे लवणसमुद्रः, धातकीखण्डे च कालोदधिसमुद्रः, शेषेषु पुनर्द्वीपेषु ये समुद्रास्ते स्वकीयस्वकीयद्वीपनामसंज्ञका भवन्तीति ॥१०८०॥

एते समुद्रा लवणोदादयः किं समानरसा[1] इत्याशंकायामाह—

पत्तेयरसा चत्तारि सायरा तिण्णि होंति उदयरसा।
अवसेसा य समुद्दा खोद्दरसा होंति णायव्वा ॥१०८१॥

पत्तेयरसा—प्रत्येकः पृथक् पृथग् रसः स्वादो येषां ते प्रत्येकरसा भिन्नस्वादाः, चत्तारि—चत्वारः, सायरा—सागराः समुद्राः, तिण्णि—त्रयः, होंति—भवन्ति, उदयरसा—उदकरसा उदकं रसो येषां ते उदकरसाः पानीयरसपूर्णाः। अवसेसा य—अवशेषाश्चैतेभ्यो येऽन्ये, समुद्दा—समुद्राः, खोदरसा—क्षौद्ररसाः इक्षोः रस इव रसो येषां त इक्षुरसा मधुरसस्वादुपानीयाः, होंति—भवन्ति, णायव्वा—ज्ञातव्याः। चत्वारः समुद्राः प्रत्येकरसाः त्रय उदकरसाः समुद्राः, शेषाः क्षौद्ररसा ज्ञातव्या भवन्तीति ॥१०८१॥

के प्रत्येकरसाः के चोदकरसा इत्याशंकायामाह—

वारुणिवर खीरवरो घदवर लवणो य होंति पत्तेया।
कालो पुक्खर उवधी सयंभुरमणो य उदयरसा ॥१०८२॥

वारुणिवर—वारुणीवरः समुद्रो वारुणी मद्यविशेषस्तस्या रस इव रसो यस्य स वारुणीरसो वारुणीवरः, खीरवरो—क्षीरवरः क्षीरस्य रस इव रसो यस्य स क्षीररसः क्षीरवरः, घदवर—घृतवरः घृतस्य रस इव रसो यस्य स घृतरसः, लवणो य—लवणश्च लवणस्य रस इव रसो यस्य स लवणरस लवणसमुद्रः, होंति—

मध्य प्रदेश द्वीप कहलाता है और जो उदक को धारण करते हैं वे उदधि हैं। जम्बूद्वीप को वेष्टित कर लवणसमुद्र है, धातकीखण्ड को वेष्टित कर कालोदधि समुद्र है। पुनः शेष द्वीप के जो समुद्र हैं वे अपने-अपने द्वीप के नाम वाले होते हैं।

ये लवणोद आदि समुद्र क्या समान रसवाले हैं? ऐसी आशंका होने पर कहते हैं—

गाथार्थ—चार समुद्र पृथक्-पृथक् रसवाले हैं और तीन जलरस वाले हैं। शेष समुद्र मधुर रस वाले हैं ॥१०८१॥

आचारवृत्ति—चार समुद्र पृथक्-पृथक् रस (स्वाद) वाले हैं। तीन जलरूप रस से परिपूर्ण हैं और शेष समुद्र इक्षुरस के समान स्वादवाले हैं।

कौन प्रत्येक रसवाले हैं और कौन उदक रसवाले हैं, सो ही बताते हैं—

गाथार्थ—वारुणीवर, क्षीरवर, घृतवर और लवण ये चार समुद्र उन्हीं-उन्हीं रसवाले हैं। कालोदधि, पुष्कर समुद्र और स्वयंभूरमण समुद्र जल के सदृश रसवाले हैं ॥१०८२॥

आचारवृत्ति—वारुणी अर्थात् मद्यविशेष। वारुणीवर समुद्र का रस मद्यविशेष के समान है। क्षीर अर्थात् दूध। क्षीरवर समुद्र का जल दुग्ध के समान है। घृत अर्थात् घी। घृतवर समुद्र का जल घी के सदृश है। लवण अर्थात् नमक। लवण समुद्र का जल नमक के समान खारा

---

१. क ग किं समानरसा नेत्याह।

भवन्ति, पत्तेया—प्रत्येकरसाः, एते चत्वारो वारुणीवरादयः समुद्रा भिन्नरसा भवन्तीति। कालो—कालः, पुक्खर—पुष्करवरः, उवधी—समुद्रौ, सयंभुरमणो य—स्वयंभूरमणश्च, उदयरसा—उदकरसा उदकं रसो येषां त उदकरसाः, कालोदधिपुष्करोदधी समुद्रौ स्वयंभूरमणश्चैते उदकरसाः। एतेभ्य पुनरन्ये क्षौद्ररसाः समुद्रा इति ॥१०८२॥

अथ केषु समुद्रेषु जलचराः सन्ति केषु च न सन्तीत्याशंकायामाह—

लवणे कालसमुद्दे सयंभुरमणे य होंति मच्छा दु।
अवसेसेसु समुद्देसु णत्थि मच्छा य मयरा वा ॥१०८३॥

लवणे—लवणसमुद्रे, कालसमुद्दे—कालसमुद्रे, सयंभुरमणे य—स्वयंभूरमणसमुद्रे च, होंति मच्छा—भवन्ति मत्स्याः, तुशब्दादन्ये जलचरा मत्स्यशब्दस्य चोपलक्षणत्वाद् उत्तरत्र मकरप्रतिषेधाच्च। अवसेसेसु—अवशेषेषु एतेभ्योऽन्येषु, समुद्देसु—समुद्रेषु, णत्थि—न सन्ति न विद्यन्ते, मच्छा य—मत्स्याश्च, मयरा वा—मकरा वा चशब्दादन्येऽपि जलचरा न सन्त्युपलक्षणमात्रत्वद्वा प्रतिषेधस्य। लवणसमुद्रे कालोदधौ स्वयंभूरमणसमुद्रे च मत्स्या मकरा अन्ये च जलचरा द्वीन्द्रियादयः पंचेन्द्रियपर्यन्ताः सन्ति, एतेभ्योऽन्येषु समुद्रेषु मत्स्या मकरा अन्ये च द्वीन्द्रियादिपचेन्द्रियपर्यन्ता जलचरा न सन्तीति ॥१०८३॥

अथ किंप्रमाणा जलचरा एतेष्वित्याशंकायामाह—

अट्ठारसजोयणिया लवणे णवजोयणा णदिमुहेसु।
छत्तीसगा य कालोवहिम्मि अट्ठारस णदिमुहेसु ॥१०८४॥

है। इस तरह ये चारों समुद्र अपने-अपने नाम के समान वस्तु के रस, वर्ण, गन्ध, स्पर्श और स्वादवाले है। कालोदधि, पुष्कर समुद्र और स्वयंभूरमण समुद्र ये तीनों जल के समान ही जलवाले हैं। इन सात समुद्रों के अतिरिक्त, सभी समुद्र इक्षुरस के सदृश मधुर और सुस्वादु रसवाले हैं।

किन समुद्रों में जलचर जीव हैं और किनमें नहीं हैं, सो ही बताते हैं—

गाथार्थ—लवण समुद्र कालोदधि और स्वयंभूरमण समुद्र में मत्स्य आदि जलचर जीव हैं। किन्तु शेष समुद्रों में मत्स्य मकर आदि नहीं हैं ॥१०८३॥

आचारवृत्ति—लवण समुद्र में, कालोदधि में और स्वयंभूरमण समुद्र में मत्स्य होते हैं तथा गाथा में 'तु' शब्द से अन्य भी जलचर—द्वीन्द्रिय से पंचेन्द्रिय पर्यन्त होते हैं। चूंकि मत्स्य शब्द यहाँ उपलक्षण मात्र है और गाथा के उत्तरार्ध में 'मकर' का प्रतिषेध भी किया है। इन तीन के अतिरिक्त शेष समुद्रों में मत्स्य, मकर एवं 'च' शब्द से अन्य जलचर जीव भी नहीं हैं अर्थात् द्वीन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय-पर्यन्त कोई भी जलचर जीव नहीं होते हैं।

इन तीनों समुद्रों में जलचर जीव कितने बड़े हैं, सो ही बताते हैं—

गाथार्थ—लवण समुद्र में मत्स्य अठारह योजनवाले हैं। नदी के प्रवेश में नवयोजनवाले हैं। कालोदधि में छत्तीस योजन के हैं किन्तु प्रारम्भ में नदी के प्रवेश में अठारह योजन के हैं ॥१०८४॥

अट्ठारसजोयणिया—अष्टादशयोजनानि प्रमाणं येषां तेऽष्टादशयोजनाः, लवणे—लवणसमुद्रे, णवजोयणा—नवयोजनानि प्रमाणं येषां ते नवयोजनाः, णदिमुहेसु—नदीनां मुखानि नदीमुखानि तेषु नदीमुखेषु प्रदेशेषु गंगासिन्ध्वादीनां समुद्रेषु प्रवेशो नदीमुखम्[1]। छत्तीसगा य—षड्भिरधिकानि त्रिंशत् प्रमाणं येषां ते षट्त्रिंशत्काः षट्त्रिंशद्योजनप्रमाणाः, कालोदहिम्मि—कालोदधौ, अट्ठारस—अष्टादशयोजनप्रमाणा यद्यप्यत्र योजनशब्दो न श्रूयते पूर्वोक्तसमासांतर्भूतस्तथापि द्रष्टव्योऽन्यस्याश्रुतत्वात् लुप्तनिर्दिष्टो वा, णदिमुहेसु—नदीमुखेषु। लवणसमुद्रेऽष्टादशयोजनप्रमाणा मत्स्यास्तत्र च नदीमुखेषु च नवयोजनप्रमाणा मत्स्याः कालोदधौ पुनर्मत्स्याः षट्त्रिंशद्योजनप्रमाणास्तत्र च नदीमुखेषु अष्टादशयोजनप्रमाणाः। मत्स्यानामुपलक्षणमेतद् अन्येषामपि प्रमाणं द्रष्टव्यमिति ॥१०८४॥

स्वयंभूरमणे मत्स्यानामुत्कृष्टदेहप्रमाणं[2] जघन्यदेहप्रमाणं च प्रतिपादयन्नुत्तरसूत्रमाह—

साहस्सिया दु मच्छा सयंभुरमणह्मि पंचसदिया दु।
देहस्स सव्वहस्सं कुंथुपमाणं जलचरेसु ॥१०८५॥

साहस्सिया दु—साहस्रिकास्तु सहस्रं योजनानां प्रमाणं येषां ते साहस्रिकाः, अत्रापि योजनशब्दो द्रष्टव्यः, मच्छा—मत्स्याः सयंभुरमणह्मि—स्वयंभूरमणसमुद्रे, पंचसदिया—पंचशतिकाः पंच शतानि प्रमाणं येषां[3] योजनानां पंचशतिका नदीमुखेष्विति द्रष्टव्यमधिकारात्। उत्कृष्टेन स्वयंभूरमणसमुद्रे मत्स्याः सहस्रयोजनप्रमाणा नदीमुखेषु पंचशतयोजनप्रमाणाः। देहस्स—देहस्य शरीरस्य, सव्वहस्सं—सर्वह्रस्वं सुष्ठु अल्पत्वं, कुंथुपमाणं—कुंथुप्रमाणं, जलचरेसु—जलचरेषु। सर्वजलचराणां मध्ये मत्स्यस्य देहप्रमाणं सर्वोत्कृष्टं योजनसहस्रं सर्वजघन्यश्च कुंथुप्रमाणः केषांचिज्जलचराणां देह इति ॥१०८५॥

आचारवृत्ति—लवण समुद्र में मत्स्य अठारह योजन की अवगाहना वाले हैं। तथा गंगा, सिन्धु आदि नदियों के प्रवेश स्थान में अर्थात् समुद्र के प्रारम्भ में मत्स्य नवयोजन लम्बे हैं। कालोदधि समुद्र में मत्स्य छत्तीस योजन के हैं और वहाँ भी समुद्र के प्रारम्भ में नदियों के प्रवेश स्थान में अठारह योजनवाले हैं। यद्यपि कारिका के उत्तरार्ध में 'योजन' शब्द नहीं है, फिर भी समझ लेना चाहिए क्योंकि अन्य माप का यहाँ प्रकरण नहीं है अथवा 'लुप्तनिर्दिष्ट' समझना। यहाँ मत्स्यों को यह अवगाहन कही है जो उपलक्षण-मात्र है। अन्य जलचरों का भी प्रमाण समझ लेना चाहिए।

स्वयंभूरमण समुद्र में मत्स्यों का उत्कृष्ट शरीर और जघन्य शरीर का प्रमाण कहते हुए अगला सूत्र कहते हैं—

गाथार्थ—स्वयंभूरमण समुद्र में मत्स्य हजार योजनवाले हैं तथा प्रारम्भ में पाँच सौ योजन प्रमाण हैं। जलचरों में कुंथु का प्रमाण सबसे छोटा है ॥१०८५॥

आचारवृत्ति—स्वयंभूरमण समुद्र में मत्स्य हजार योजन लम्बे हैं। प्रारम्भ में नदी प्रवेश के स्थान में मत्स्य पाँच सौ योजना लम्बे हैं। जलचरों में कुन्थु का शरीर सबसे छोटा होता है। अर्थात् सभी जलचरों में से मत्स्य शरीर का प्रमाण सर्वोत्कृष्ट—एक हजार योजन है और सर्व जघन्य शरीर किन्हीं जलचरों में कुंथु का प्रमाण सबसे छोटा है।

---

१. नदीमुखं क प्रती नास्ति। २. क सर्वोत्कृष्टदेह। ३. येषां क प्रतौ नास्ति।

पर्याप्तापर्याप्तत्वमाश्रित्य जलचरस्थलचरखचराणां देहप्रमाणमाह[1]—

जलथलखगसम्मुच्छिमतिरिय अपज्जत्तया विहत्थीदु ।
जलसम्मुच्छिमपज्जत्तयाण तह जोयणसहस्सं ॥१०८६॥

जलथलखग—जलं च स्थलं च खं च जलस्थलखानि तेषु गच्छन्तीति जलस्थलखगा जलचरस्थलचर-खचराः; सम्मुच्छिम—सम्मूर्छिमा गर्भोपपादजन्मनोऽन्ययोन्युत्पन्नाः, तिरिय—तिर्यंचो देवमनुष्यनारकाणा-मन्ये जीवाः, अपज्जत्तया—अपर्याप्तका असम्पूर्णाश्च षट्पर्याप्तयः, विहत्थी दु—वितस्तिका द्वादशांगुलप्रमाणाः, अथवा जलस्थलखगसम्मूर्छिमतिर्यगपर्याप्तानां देहप्रमाणं वितस्तिः। जलसम्मुच्छिमपज्जत्तयाण—जलसम्मूर्छिमास्ते च ते पर्याप्तकाश्च जलसम्मूर्छिमपर्याप्तकास्तेषां जलसम्मूर्छिमपर्याप्तकानां च अथवा जलग्रहणेन जलचरा गृह्यन्ते—प्रस्तूयन्ते, [2]प्रस्तुतत्वात्, जोयणसहस्सं—योजनानां सहस्रं, जलचरसम्मूर्छिमपर्याप्तकाना-मुत्कृष्टं देहप्रमाणं योजनसहस्रमिति ॥१०८६॥

पुनरपि तदेवाश्रित्य गर्भजत्वं चाश्रित्योत्कृष्टदेहप्रमाणमाह—

जलथलगब्भअपज्जत्त खगथलसंमुच्छिमा य पज्जत्ता ।
खगगब्भजा य उभये उक्कस्सेण धणुपुहत्तं ॥१०८७॥

पर्याप्त और अपर्याप्त का आश्रय लेकर जलचर, स्थलचर और नभचरों के शरीर का प्रमाण कहते हैं—

गाथार्थ—जलचर, स्थलचर और नभचर संमूर्च्छन तिर्यंच अपर्याप्तकों की जघन्य देह एक वितस्ति प्रमाण है। तथा जलचर संमूर्च्छन पर्याप्तकों की देह एक हजार योजन प्रमाण है ॥१०८६॥

आचारवृत्ति—जल, स्थल और ख अर्थात् आकाश में जो गमन करते हैं वे जलचर, स्थलचर और नभचर कहलाते हैं। गर्भ और उपपाद जन्म के अतिरिक्त अन्य योनि से उत्पन्न होनेवाले जीव अर्थात् अनेक पुद्गल परमाणुओं के मिल जाने पर जन्म लेनेवाले जीव संमूर्च्छन कहलाते हैं। देव, मनुष्य और नारकियों से अतिरिक्त जीव तिर्यंच होते हैं। और जिनकी छहों पर्याप्तियाँ पूर्ण नहीं हों वे अपर्याप्तक हैं। ये पर्याप्ति पूर्ण किये बगैर अन्तर्मूहूर्त में ही मरण को प्राप्त हो जाते हैं। ऐसे इन जलचर अपर्याप्त, स्थलचर अपर्याप्त और नभचर अपर्याप्त संमूर्च्छन तिर्यंचों की जघन्य देह-अवगाहना बारह अंगुल प्रमाण है। तथा जलचर-पर्याप्त संमूर्च्छन जीवों की उत्कृष्ट देह-अवगाहना एक हजार योजन प्रमाण है।

पुनरपि इनका आश्रय लेकर और गर्भजों का आश्रय लेकर उत्कृष्ट शरीर प्रमाण को कहते हैं—

गाथार्थ—जलचर, स्थलचर, गर्भज, अपर्याप्त जीव एवं नभचर, स्थलचर संमूर्च्छिम पर्याप्तजीव तथा नभचर, गर्भज पर्याप्त-अपर्याप्त जीव ये उत्कृष्ट से धनुषपृथक्त्वप्रमाण देहवाले होते हैं ॥१०८७॥

---

१. क देहप्रमाणार्थमुत्तरसूत्रमाह। २. क्रियापदमिदं क-पुस्तके नास्ति।

जलथलगब्भअपज्जत्ता—जलमुदकं, स्थलं ग्रामनगराटवीपर्वतादि, गर्भः स्त्रिया उदरे वस्तिपटलाच्छादितप्रदेशः, जलचरजीवा जलाः स्थलस्था जीवाः स्थला गर्भे जाता जीवा गर्भजा इत्युच्यन्ते तात्स्थ्यात्साहचर्याद्वा यथा मंचाः क्रोशन्तीति धनुर्धावतीति, न पर्याप्ता अपर्याप्ता अनिष्पन्नाहारादिषट्पर्याप्तयो जलाश्च स्थलाश्च ते गर्भाश्च जलस्थलगर्भास्ते च तेऽपर्याप्ताश्च जलस्थलगर्भापर्याप्ता जलचराः स्थलचराः गर्भजाश्च येऽपर्याप्तास्त इत्यर्थः। खगथलसम्मुच्छिमा य—खे आकाशे गच्छन्तीति खगाः स्थलस्थाः स्थलाः खगाश्च स्थलाश्च खगस्थलाः पक्षिमृगादयस्ते च ते सम्मूर्च्छिमाश्च खगस्थलसम्मूर्च्छिमाः, पज्जत्ता—पर्याप्ताः। खगगब्भजा य—खगे जाता खगजा गर्भे जाता गर्भजाः खगजाश्च ते गर्भजाश्चेति खगगर्भजाः, उभये—पर्याप्ता अपर्याप्ताश्च, उक्कस्सेण—उत्कर्षेण उत्कृष्टशरीरप्रमाणेन, धणुपुहत्तं—धनुःपृथक्त्वं "त्रयाणामुपरि नवानामधो या संख्या सा पृथक्त्वमित्युच्यते" धनुषां पृथक्त्वं धनुःपृथक्त्वं त्रयाणां धनुषामुपरि नवानामधश्चतुःपंचषट्सप्ताष्टधनूंषि। जलचरस्थलचरा ये गर्भजा अपर्याप्ता खगस्थलचराश्च संमूर्च्छिमाः पर्याप्ता ये खगगर्भजाश्च ये पर्याप्तापर्याप्ताः सर्वे ते उत्कृष्टेन शरीरप्रमाणेन धनुःपृथक्त्वं भवन्ति। अथवा देहस्येत्यनुवर्तते तेनैतेषां देह उत्कर्षेण धनुःपृथक्त्वं भवतीति ॥१०८७॥

जलस्थलगर्भजपर्याप्तानामुत्कृष्टं देहप्रमाणमाह—

जलगब्भजपज्जत्ता उक्कस्सं पंचजोयणसयाणि।
थलगब्भजपज्जत्ता तिगाउदोक्कस्समायामो ॥१०८८॥

जलगब्भजपज्जत्ता—जलगर्भजपर्याप्ताः, उक्कस्सं—उत्कृष्टमुत्कर्षेण वा, पंचजोयणसयाणि—पंचयोजनशतानि देहप्रमाणेनेत्यर्थः, अथवा जलगर्भजपर्याप्तानामायामः पंचयोजनशतानि उत्तरगाथार्धे आयामस्य ग्रहणं यतः। अथवा एतेषां देह उत्कृष्टः पंचयोजनशतानि। थलगब्भजपज्जत्ता—स्थलगर्भजपर्याप्तानां, तिगाउद—त्रिगव्यूतानि षट्दण्डसहस्राणि, उक्कस्स—उत्कृष्टः, आयामो—आयामः शरीरप्रमाणम्। स्थलगर्भज-

---

आचारवृत्ति—जल—उदक; स्थल ग्राम, नगर, अटवी, पर्वत आदि; गर्भ - माता के उदर में वस्तिपटल से आच्छादित प्रदेश; जल में होनेवाले जल, स्थल पर स्थित जीव स्थल और गर्भ से होनेवाले जीव गर्भज, ऐसा कहा है। उनमें स्थित होने से अथवा साहचर्य से ही ऐसा कथन है यथा 'मंचा क्रोशन्ति धनुर्धावति' अर्थात् मंच चिल्लाते हैं, धनुष दौड़ता है ऐसा कह देते हैं। जिनकी आहार आदि छह पर्याप्तियाँ पूर्ण नहीं हुई हैं वे अपर्याप्तक कहलाते हैं। ऐसे ये जलचर गर्भज अपर्याप्तक और थलचर गर्भज अपर्याप्तक इनकी उत्कृष्ट देह धनुष पृथक्त्व है। तीन के ऊपर और नव के नीचे की संख्या को पृथक्त्व संज्ञा है। नभचर, थलचर संमूर्छन पर्याप्तकों की उत्कृष्ट अवगाहना धनुष पृथक्त्व है तथा नभचर और गर्भज पर्याप्तक-अपर्याप्तक इन दोनों का देह प्रमाण भी धनुष पृथक्त्व है। अर्थात् जो गर्भज अपर्याप्तक जलचर थलचर हैं तथा संमूर्च्छन पर्याप्तक जो नभचर और थलचर हैं एवं जो नभचर गर्भज पर्याप्तक तथा अपर्याप्तक हैं उनका शरीर उत्कृष्ट से चार, पाँच, छह, सात अथवा आठ धनुष प्रमाण है। गाथा में यद्यपि 'देह' शब्द नहीं है फिर भी उसकी अनुवृत्ति ऊपर से चली आ रही है।

जलचर, थलचर, गर्भज पर्याप्तकों के उत्कृष्ट शरीर का प्रमाण कहते हैं—

गाथार्थ—जलचर, गर्भज पर्याप्तक का उत्कृष्ट देह पाँच सौ योजन है। स्थलचर गर्भज पर्याप्तक की उत्कृष्ट देह तीन कोश लम्बी है ॥१०८८॥

आचारवृत्ति—जलचर, गर्भज पर्याप्तकों का उत्कृष्ट शरीर पाँच सौ योजन प्रमाण है।

पर्याप्तानां भोगभूमितिरश्चां देहस्योत्कृष्ट आयामस्त्रीणि गव्यूतानि । अथवा स्थलगर्भजपर्याप्ता उत्कृष्ट-देहस्यायामेन त्रिगव्यूतानि भवन्तीति ॥१०८८॥

पृथिवीकायिकाप्कायिकतेजस्कायिकवायुकायिकानां मनुष्याणां चोत्कृष्टं देहप्रमाणं प्रतिपाद-यन्नाह—

अंगुलअसंखभागं बादरसुहुमा य सेसया काया ।
उक्कस्सेण दु णियमा मणुगा य तिगाउ उव्विद्धा ॥१०८९॥

अंगुलं— द्रव्यांगुलमष्टयवनिष्पन्नांगुलेन येऽवष्टब्धा नभःप्रदेशास्तेषां मध्येऽनेकस्याः प्रदेशपंक्तेर्यावदायामस्तावन्मात्रं द्रव्यांगुलं तस्यांगुलस्य असंखभागं—असंख्यातभागः अंगुलमसंख्यातखण्डं कृत्वा तत्रैकखण्ड-मंगुलासंख्यातभागः, बादरसुहुमा य—बादरनामकर्मोदयाद्बादराःसूक्ष्मनामकर्मोदयात्सूक्ष्मा बादराश्च सूक्ष्माश्च बादरसूक्ष्माः पृथिवीकायादयः, सेसया—शेषा उक्तानां परिशेषाः कायाः पृथिवीकायाप्कायतेजःकायवायुकायाः, उक्कस्सेण—उत्कृष्टेन सुष्ठु महत्त्वेन, तुविशेष; णियमा—नियमान्निश्चयात्, मणुया—मनुष्या भोगभूमिजाः, तिगाउ—त्रिगव्यूतानि, उव्विद्धा—उद्वृद्धाः परमोत्सेधाः । सर्वेऽपि बादरकायाः (सूक्ष्माश्च)[1] पृथिवीकायिकादिवायुकायिकान्ता द्रव्यांगुलासंख्यभागशरीरोत्सेधा मनुष्याश्च पर्याप्तास्त्रिगव्यूतशरीरोत्सेधा । उत्कृष्टप्रमाणेन नात्र पौनरुक्त्यं पर्याप्तिमनाश्रित्य सामान्येन कथनादिति ॥१०८९॥

पुनरपि सर्वजघन्यं सर्वोत्कृष्टं शरीरप्रमाणमाह—

सुहुमणिगोदअपज्जत्तयस्स जादस्स तदियसमयह्मि ।
हवदि दु सव्वजहण्णं सव्वुक्कस्सं जलचराणं ॥१०९०॥

स्थलचर, गर्भज पर्याप्तक अर्थात् भोगभूमिज तिर्यंचों का शरीर तीन कोश प्रमाण है ।

पृथिवीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और मनुष्य इनके उत्कृष्ट शरीर का प्रमाण कहते हैं—

गाथार्थ—शेष पृथिवी आदि काय बादर-सूक्ष्म अंगुल के असंख्यातवें भाग शरीरवाले हैं और नियम से मनुष्य उत्कृष्ट से तीन कोश ऊँचाईवाले हैं ॥१०८९॥

आचारवृत्ति —बादर नाम कर्मोदय से बादरजीव होते हैं और सूक्ष्म नाम कर्म के उदय से सूक्ष्म होते हैं । ये पृथ्वीकाय, अप्काय, अग्निकाय और वायुकाय जीव हैं । ये जीव द्रव्य अंगुल के असंख्यातवें भागप्रमाण शरीरवाले हैं । अर्थात् आठ जौ से निष्पन्न अंगुल में असंख्यात आकाश प्रदेश हैं उसके असंख्यात भाग करने पर एक भाग में भी असंख्यात प्रदेश हैं । इस असंख्यातवें भाग प्रमाण इनकी अवगाहना है । पर्याप्तक मनुष्यों का उत्कृष्ट शरीर तीन कोश प्रमाण है ।

पुनरपि सर्वजघन्य और सर्वोत्कृष्ट शरीरप्रमाण को कहते हैं—

गाथार्थ—सूक्ष्मनिगोदिया अपर्याप्तक के उत्पन्न होने के तृतीय समय में सर्वजघन्य शरीर होता है और जलचरों का शरीर उत्कृष्ट होता है ॥१०९०॥

---

1. कोष्ठकान्तर्गतः पाठः क प्रतौ नास्ति ।

सुहुमणिगोद—सूक्ष्मनिगोदस्य, अपज्जत्तयस्स—अपर्याप्तकस्य, जादस्स—जातस्योत्पन्नस्य, तदिय-समयम्हि—तृतीयसमये, प्रथमद्वितीयसमययोः प्रदेशविस्फूर्जनसद्भावात्पूर्वदेहसामीप्याद्वा महच्छरीरं भवति तृतीयसमये पुनः प्रदेशानां निचयानुसारेणावस्थानाच्च सर्वजघन्यं भवति शरीरं, हवदि दु—भवत्येव, सव्व-जहण्णं—सर्वजघन्यं, सव्वुक्कस्सं—सर्वोत्कृष्टं, जलचराणां—मत्स्यानां, पद्मानां वा। सूक्ष्मनिगोदस्यापर्याप्तस्य तृतीयसमये जातमात्रस्य सर्वजघन्यशरीरोत्सेधः, जलचराणां च[1] पद्मानां सर्वोत्कृष्टः शरीरायाम इति। अत्रापि लोकस्य सप्तैकं पंचैकं रज्जुप्रमाणं द्रष्टव्यं तथा मेरुकुलपर्वतविजयार्द्धेष्वाकारकांचनगिरिमनुष्योत्तरकुण्डलवरांजन-दधिमुखरतिकरस्वयंभूनगवरेन्द्रदंष्ट्रागिरिभवनविमानतोरणजिनगृहपृथिव्यष्टकेन्द्रकप्रकीर्णकश्रेणिबद्धनरक्षेत्र-वेदिकाजम्बूशाल्मलीघातकीपुष्करचैत्यवृक्षकूटह्लदनदीकुंडायतनवापीसिंहासनादीनामुत्सेधायामप्रमाणं द्रष्टव्यं लोकानुयोगत इति ॥१०९०॥

देहसूत्रं व्याख्याय संस्थानसूत्रं[2] प्रपंचयन्नाह—

मसुरिय कुसग्गबिंदू सूइकलावा पडाय संठाणा।
कायाणं संठाणं हरिदतसा णेगसंठाणा ॥१०९१॥

मसुरिय—मसूरिका वृत्ताकारा, कुसग्गबिंदू—कुशस्याग्रं कुशाग्रं तस्मिन् बिन्दुरुदककणः कुशाग्र-बिन्दुर्वर्तुलाकारमुदकं, सूइकलावा—सूचीकलापः सूचीसमुदायः, पडाय—पताका, संठाणं—संस्थानान्याकाराः,

---

आचारवृत्ति—सूक्ष्मनिगोदिया लब्धअपर्याप्तकजीव के जन्म लेने के तृतीय समय में सर्व जघन्य शरीर होता है, क्योंकि प्रथम और द्वितीय समय में प्रदेशों का विस्फूर्जन—फैलाव होने से अथवा पूर्वशरीर के समीपवर्ती होने से बड़ा शरीर रहता है। पुनः तृतीय समय में प्रदेशों का निचय के अनुसार अवस्थान हो जाने से सर्वजघन्य शरीर हो जाता है। तथा जलचरों में मत्स्य का और वनस्पति काय में कमल का शरीर सर्वोत्कृष्ट होता है।

यहाँ पर भी लोक को सात-एक, पाँच-एक राजु प्रमाण जान लेना चाहिए। तथा मेरु-पर्वत, कुलपर्वत, विजयार्द्ध गिरि, इष्वाकार, कांचनगिरि, मानुषोत्तर, कुण्डलवर, अंजनगिरि, दधिमुख, रतिकर, स्वयंभू-नगवरेन्द्र, दंष्ट्रागिरि, भवन, विमान, तोरण, जिनगृह, आठ पृथिवी, इन्द्रक, प्रकीर्णक, श्रेणीबद्ध, नरक्षेत्र, वेदिका, जम्बूवृक्ष, शाल्मलीवृक्ष, घातकीवृक्ष, पुष्करवृक्ष, चैत्यवृक्ष, कूट, ह्रद, नदी, कुण्ड, आयतन, वापी, सिंहासन आदि की ऊँचाई और लम्बाई-चौड़ाई का प्रमाण लोकानुयोग से जान लेना चाहिए।

देहसूत्र का व्याख्यान करके अब संस्थानसूत्र कहते हैं—

गाथार्थ—पृथिवी आदि कायों के आकार क्रम से मसूरिका, कुश के अग्रभाग के बिन्दु, सुइयों के समूह और पताका के आकारसदृश है तथा हरितकाय और त्रसकायों के अनेक संस्थान होते हैं ॥१०९१॥

आचारवृत्ति—पृथ्वीकाय का मसूरिका के समान गोल आकार है। जलकाय का आकार कुश के अग्र भाग पर पड़ी हुई गोल-गोल बिन्दु के समान है। अग्निकायिक का आकार

---

1. च पद्मानामिति पाठः क पुस्तके नास्ति। 2. क संस्थानसूत्रार्थं।

कायाणं—कायानां पृथिवीकायिकादिवायुकायान्तानां, संठाणं—संस्थानानि शरीराकाराः। मसूरिका इव संस्थानं यस्य तन्मसूरिकासंस्थानं, कुशाग्रबिन्दुरिव संस्थानं यस्य तत्कुशाग्रबिन्दुसंस्थानं, सूचीकलाप इव संस्थानं यस्य तत्सूचीकलापसंस्थानं, पताका इव संस्थानं यस्य तत्पताकासंस्थानं यथासंख्येन संबन्धः, पृथिवीकायस्य संस्थानं मसूरिकासंस्थानं, अप्कायस्य संस्थानं कुशाग्रबिन्दुसंस्थानं, तेजःकायस्य संस्थानं सूचीकलापसंस्थानं, वायुकायस्य संस्थानं पताकासंस्थानम्। मसूरिकाद्याकार इव पृथिवीकायिकादयः। हरिदतसा—हरितत्रसाः प्रत्येकसाधारणबादरसूक्ष्मवनस्पतिद्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियाः, णेगसंठाणा—अनेकसंस्थाना नैकमनेकमनेकं संस्थानं येषां तेऽनेकसंथाना अनेकहुंडसंस्थानविकल्पा अनेकशरीराकाराः। त्रसशब्देन द्वीन्द्रियादिचतुरिन्द्रिय-पर्यन्ता गृह्यन्ते पंचेन्द्रियाणां संस्थानस्योत्तरत्र प्रतिपादनादिति ॥१०९१॥

पंचेन्द्रियसंस्थानप्रतिपादनार्थमाह—

समचउरसणग्गोहासादियखुज्जायवामणाहुंडा।
पंचेंदियतिरियणरा देवा चउरस्स णारया हुंडा ॥१०९२॥

संस्थानमित्यनुवर्तते। समचउरस—समचतुरस्रं संस्थानं यथाप्रदेशावयवपरमाणूनामन्यूनाधिकता। णग्गोह—न्यग्रोध संस्थानं शरीरस्योर्ध्वभागेऽवयवपरमाणुबहुत्वम्। सादि—स्वातिसंस्थानं शरीरस्य नाभेरधः कटिजंघापादाद्यवयवपरमाणूनामधिकोपचयः। खुज्जा—कुब्जसंस्थानं शरीरस्य पृष्ठावयवपरमाण्वधिकोपचयः। वामणा—वामनसंस्थानं शरीरमध्यावयवपरमाणुबहुत्व हस्तपादानां च ह्रस्वत्वम्। हुंडा—हुण्डसंस्थानं सर्व-

---

सुइयों के समूह के आकार जैसा है। वायुकाय का आकार पताका के आकार का है। तथा प्रत्येक साधारण बादर-सूक्ष्म वनस्पति, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीवों के शरीर का आकार एक प्रकार का नहीं है, अनेक आकार रूप है। अर्थात् ये सब अनेक भेदरूप हुण्डक संस्थानवाले हैं। त्रस शब्द से द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, और चतुरिन्द्रिय जीवों को ग्रहण करना, चूँकि पंचेन्द्रियों के आकार अगले सूत्र में बतलाते हैं।

पंचेन्द्रियों का संस्थान प्रतिपादित करते हैं—

गाथार्थ—पंचेन्द्रिय, तिर्यंच और मनुष्य समचतुरस्र, न्यग्रोध, स्वाति, कुब्जक, वामन और हुण्डक संस्थानवाले होते हैं। देव समचतुरस्र संस्थानवाले हैं और नारकी हुण्डक संस्थान वाले हैं ॥१०९२॥

आचारवृत्ति—संस्थान की अनुवृत्ति चली आ रही है। पंचेन्द्रिय तिर्यंच और मनुष्य के छहों संस्थान होते हैं।

समचतुरस्रसंस्थान—प्रत्येक अवयवों में जितने प्रदेश-परमाणु होना चाहिए उतने होना, हीनाधिक नहीं होना।

न्यग्रोधसंस्थान—शरीर के ऊपर के अवयवों में बहुत से परमाणुओं का होना।

स्वातिसंस्थान—शरीर के नाभि के नीचे कटि, जंघा, पाद आदि अवयवों में अधिक परमाणुओं का संचय होना।

कुब्जकसंस्थान—शरीर के पृष्ठ भाग के अवयवों में अधिक परमाणुओं का उपचय होना।

वामनसंस्थान—शरीर के मध्य के अवयवों में बहुत से परमाणुओं का होना तथा हाथ

शरीरावयवानां बीभत्सता परमाणूनां न्यूनाधिकता। सर्वलक्षणासम्पूर्णता च। पंचेंदियतिरियणरा—पंचेन्द्रियतिर्यङ्नराणां समचतुरस्रन्यग्रोधस्वातिकुब्जवामनहुण्डसंस्थानानि षडपि पंचेन्द्रियाणां मनुष्याणां तिरश्चां च भवन्ति, अथवा अभेदात्तल्लिंगं तच्छब्दं च पंचेन्द्रियतिर्यङ्नराः समचतुरस्रन्यग्रोध[1]स्वाति[2]कुब्जवामनहुण्डाश्च भवन्ति सामान्येन। देवा चउरसा—देवाश्चतुरस्राः, णारया—नारकाः, हुंडा—हुण्डाः। देवाः समचतुरस्रसंस्थाना एव, नारकाश्च हुण्डकसंस्थाना एव न तेषामन्यत्संस्थानान्तरं विद्यत इति ॥१०९२॥

इन्द्रियसंस्थानानि प्रतिपादयन्नाह—

जवणालिया मसूरी अतिमुत्तय चंदए खुरप्पे च।
इंदियसंठाणा खलु फासस्स अणेयसंठाणं ॥१०९३॥

जवणालिया—यवस्य नालिका यवनालिका, मसूरी—मसूरिका, वृत्ताकारा, अतिमुत्तयं—अतिमुक्तकं पुष्पविशेषः, चंदए—अर्द्धचन्द्रः, खुरप्पेय—क्षुरप्रं च, इंदिय—इन्द्रियाणां इन्द्रियशब्देन श्रोत्रचक्षुर्घ्राणजिह्वेन्द्रियाणां ग्रहणं स्पर्शनेन्द्रियस्य पृथग्ग्रहणात्, संठाणा—संस्थानानि आकारा यथासंख्येन संबन्धः। श्रोत्रेन्द्रियं यवनालिकासंस्थानं, चक्षुरिन्द्रियं मसूरिकासंस्थानं, घ्राणेन्द्रियमतिमुक्तकपुष्पसंस्थानं जिह्वेन्द्रियमर्धचन्द्रसंस्थानं क्षुरप्रसंस्थानं च खलु स्फुटम्। फासस्स—स्पर्शस्य स्पर्शनेन्द्रियस्य, अणेयसंठाणं—अनेकसंस्थानं अनेकप्रकार आकारः। स्पर्शनेन्द्रियस्यानेकं संस्थानं समचतुरस्रादिभेदेन व्यक्तं सर्वत्र [3]क्षयोपशमभेदात्। अंगुलासंख्यातभागप्रमितं भावेन्द्रियं, द्रव्येन्द्रियं पुनरंगुल संख्यातभागप्रमितमपि भवति। इन्द्रियं द्विविधं द्रव्येन्द्रियं

और पैरों का छोटा होना।

हुण्डकसंस्थान—शरीर के सभी अवयवों में बीभत्सपना, परमाणुओं में न्यून या अधिकता का होना तथा सर्व लक्षणों की सम्पूर्णता का न होना।

छहों संस्थानों का लक्षण कहा। ये छहों मनुष्य और पंचेन्द्रिय तिर्यंचों में पाये जाते हैं। अथवा उस लिंग और उस शब्द के सामान्य से ये इन समचतुरस्र आदि संस्थानों वाले होते हैं। देवों के समचतुरस्र संस्थान ही होता है और नारकियों के हुण्डक संस्थान ही होता है अर्थात् इन देव और नारकियों में यही एक-एक संस्थान होता है, अन्य संस्थान नहीं हो सकते हैं।

अब इन्द्रियों का आकार बताते हैं—

गाथार्थ—इन्द्रियों के आकार यव की नली, मसूरिका, तिल का पुष्प, अर्धचन्द्र और खुरपा के समान हैं तथा स्पर्शनेन्द्रिय के अनेक आकार हैं ॥१०९३॥

आचारवृत्ति—श्रोत्रेन्द्रिय का आकार जौ की नाली के समान है, चक्षु इन्द्रिय का आकार मसूरिका के समान गोल है, घ्राणेन्द्रिय का आकार अतिमुक्तक-तिल के पुष्प के समान है, जिह्वा इन्द्रिय का आकार अर्धचन्द्र के समान अथवा खुरपे के समान है। स्पर्शन इन्द्रिय के अनेकों आकार होते हैं जो समचतुरस्र आदि भेद से व्यक्त हैं। सर्वत्र क्षयोपशम के भेद से ही भेद होता है। इन्द्रियों के दो भेद हैं—भावेन्द्रिय और द्रव्येंद्रिय। अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण भावेन्द्रिय हैं और द्रव्येन्द्रिय भी अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण हैं। निर्वृत्ति और उपकरण

---

१. क न्यग्रोधाः। २. क स्वास्ति कुब्जः। ३. क क्षयोपशमप्रवेशाः।

भावेन्द्रियं च द्रव्येन्द्रियं द्विविधं निर्वृत्युपकरणभेदेन, भावेन्द्रियमपि द्विविधं लब्ध्युपयोगभेदेन, तत्र द्रव्येन्द्रियस्य निर्वृत्तेर्भावेन्द्रियस्य च लब्धेः संस्थानमेतत्, उपयोगो भावेन्द्रियं च ज्ञानं तस्याकारो विषयपरिच्छित्तिरेव ॥१०९३॥

यद्येवं स एव विषयः कियानिति प्रतिपाद्यतामित्युक्तेऽत आह—

चत्तारि धणुसदाइं चउसट्ठी धणुसयं च फस्सरसे।
गंधे य दुगुणदुगुणा असण्णिपंचिंदिया जाव ॥१०९४॥

चत्तारि—चत्वारि, धणुसदाइं—धनुःशतानि, चउसट्ठी—चतुःषष्टिर्धनुषामिति संबन्धः. धनुषां चतुर्भिरधिका षष्टिः, धणुसयं च—धनुःशतं च, फस्सरसे—स्पर्शरसयोः स्पर्शनेन्द्रियस्य रसनेन्द्रियस्य, गंधे य—गंधस्य च घ्राणेन्द्रियस्य च, दुगुणदुगुणा—द्विगुणद्विगुणाः, असण्णिपंचिंदिया जाव—असंज्ञिपंचेन्द्रियं यावत्। एकेन्द्रियमारभ्य यावदसंज्ञिपंचेन्द्रियस्य विषयः स्पर्शविषय उत्तरत्र कथ्यते तेन सह संबन्धः। एकेन्द्रियस्य स्पर्शनेन्द्रियविषयश्चत्वारि धनुःशतानि, एतावताध्वना स्थितं स्पर्शं गृह्णन्ति पृथिवीकायिकाप्कायिकतेजः-कायिकवायुकायिकवनस्पतिकायिका उत्कृष्टशक्तियुक्तस्पर्शनेन्द्रियेण। तथा द्वीन्द्रियस्य रसनेन्द्रियविषयश्चतुः-षष्टिर्धनुषां एतावताऽध्वना स्थितं रसं गृह्णाति रसनेन्द्रियेण द्वीन्द्रियस्तथा तस्यैव द्वीन्द्रियस्य स्पर्शनेन्द्रियविषयोऽष्टौ धनुः शतानि एतावताऽध्वना स्थितं स्पर्शं गृह्णाति द्वीन्द्रियः स्पर्शनेन्द्रियेण, तथा त्रीन्द्रियस्य घ्राणेन्द्रिय-विषयः धनुषां शतं एतावताध्वना स्थितं गन्धं गृह्णाति त्रीन्द्रियो घ्राणेन्द्रियेण तथा तस्यैव त्रीन्द्रियस्य स्पर्श-नेन्द्रियविषयः षोडशधनुःशतानि एतावताध्वना व्यवस्थितं स्पर्शं गृह्णाति त्रीन्द्रियः स्पर्शनेन्द्रियेण तथा तस्यैव

के भेद से द्रव्येन्द्रिय के दो भेद हैं तथा लब्धि और उपयोग के भेद से भावेन्द्रिय के भी दो भेद हैं। उनमें से निर्वृत्तिरूप द्रव्येन्द्रिय और लब्धिरूप भावेन्द्रिय के आकार ऊपर बताए जा चुके हैं—चूँकि उपयोग नामवाली जो भावेन्द्रिय है उसका आकार विषय को जानना ही है।

इन्द्रियाँ यदि ऐसी हैं तो उनका वह विषय कितना है, सो बताइए? ऐसा पूछने पर कहते हैं—

गाथार्थ—स्पर्शनेन्द्रिय का विषय क्षेत्र चार सौ धनुष, रसना इन्द्रिय का चौसठ धनुष और घ्राणेन्द्रिय का सौ धनुष प्रमाण है। आगे असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्यन्त यह दूना-दूना होता गया है ॥१०९४॥*

आचारवृत्ति—एकेन्द्रिय से लेकर असैनी पंचेन्द्रिय पर्यन्त स्पर्शादि विषय को आगे-आगे कहते हैं, उसके साथ सम्बन्ध करना। वही बताते हैं—पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक और वायुकायिक जीव उत्कृष्ट शक्तियुक्त स्पर्शन इन्द्रिय द्वारा चार सौ धनुष पर्यन्त मार्ग में स्थित स्पर्श को ग्रहण कर लेते हैं। द्वीन्द्रिय जीव रसना इन्द्रिय द्वारा चौंसठ धनुष तक स्थित रस को ग्रहण कर लेते हैं। वे ही द्वीन्द्रिय जीव स्पर्शन इन्द्रिय द्वारा आठ सौ धनुष पर्यन्त मार्ग में स्थित स्पर्श को ग्रहण कर लेते हैं। तीन इन्द्रिय जीव घ्राणेन्द्रिय द्वारा सौ धनुष पर्यन्त स्थित गन्ध को ग्रहण कर लेते हैं। ये ही तीन इन्द्रिय जीव स्पर्शन इन्द्रिय द्वारा सोलह सौ धनुष पर्यन्त मार्ग में अवस्थित स्पर्श को ग्रहण कर सकते हैं और रसना इन्द्रिय द्वारा एक सौ

---

* १०९४ से ११०० तक की गाथाएँ फलटन से प्रकाशित मूलाचार में गाथा ११५४ के बाद में दी गयी हैं।

त्रीन्द्रियस्य रसनेन्द्रियविषयोऽष्टाविंशत्यधिकं च शतं धनुषां एतावताध्वना स्थितं रसं गृह्णाति, त्रीन्द्रियः रसनेन्द्रियेण तथा तस्यैव त्रीन्द्रियस्य घ्राणेन्द्रियविषयः शतं धनुषां एतावताध्वना स्थितं गन्धं गृह्णाति त्रीन्द्रियो घ्राणेन्द्रियेण, तथा चतुरिन्द्रियस्य स्पर्शनेन्द्रियविषयो द्विशताधिकानि त्रीणि सहस्राणि धनुषामेतावताध्वना स्थितं स्पर्शं गृह्णाति चतुरिन्द्रियः स्पर्शनेन्द्रियेण, तथा तस्यैव चतुरिन्द्रियस्य रसनेन्द्रियविषयो धनुषां द्वे शते षट्पंचाशदधिके एतावताध्वना स्थितं रसं चतुरिन्द्रियः रसनेन्द्रियेण गृह्णाति तथा तस्यैव चतुरिन्द्रियस्य घ्राणेन्द्रियविषयो द्वे शते धनुषामेतावताध्वना स्थितं गन्धं गृह्णाति चतुरिन्द्रियो घ्राणेन्द्रियेण, तथाऽसंज्ञिपंचेन्द्रियस्य स्पर्शनेन्द्रियविषयः चतुःशताधिकानि षट्सहस्राणि धनुषामेतावत्यध्वनि स्थितं स्पर्शमसंज्ञिपंचेन्द्रियो गृह्णाति, स्पर्शनेन्द्रियेण तथा तस्यैवासंज्ञिपंचेन्द्रियस्य रसनेन्द्रियविषयः द्वादशोत्तराणि पंचशतानि धनुषामेतावत्यध्वनि स्थितं रसं गृह्णाति असंज्ञिपंचेन्द्रियो रसनेन्द्रियेण तथा तस्यैवासंज्ञिपंचेन्द्रियस्य घ्राणेन्द्रियविषयो धनुषां चत्वारि शतानि एतावताध्वना स्थितं गन्धं गृह्णाति असंज्ञिपंचेन्द्रियो घ्राणेन्द्रियेण। न चैतेषामिन्द्रियाणां प्राप्तग्राहित्वेनैतावताध्वना ग्रहणमयुक्तमप्राप्तग्राहित्वमपि, यतो युक्त्या आगमेन च न विरुध्यते, युक्तिस्तावदेकेन्द्रियो दूरस्थमपि वस्तु जानाति पादप्रसारणाद् यस्यां दिशि वस्तु सुवर्णादिकं स्थितं, प्रारोहं प्रसारयत्येकेन्द्रियो वनस्पतिः। अवष्टंभप्रदेशे च नालानि व्युत्सृजतीति। तथागमेऽपि स्पर्शनेन्द्रियादीनामप्राप्तग्राहित्वं पठितं षट्त्रिंशत्त्रिशत इति विकल्पस्य कथनादिति ॥१०९४॥

चतुरिन्द्रियस्य चक्षुर्विषयं प्रतिपादयन्नाह—

अट्ठाईस धनुष पर्यन्त मार्ग में स्थित रस को ग्रहण कर लेते हैं। चार इन्द्रिय जीव स्पर्श इन्द्रिय द्वारा तीन हजार दो सौ धनुष पर्यन्त स्थित स्पर्श को विषय कर लेते हैं, ये ही जीव रसना इन्द्रिय द्वारा दो सौ छप्पन धनुष पर्यन्त स्थित रस को ग्रहण कर लेते हैं, घ्राणेन्द्रिय द्वारा दो सौ धनुष तक स्थित गन्ध को विषय कर लेते हैं। असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीव के स्पर्शन इन्द्रिय का विषय छह हजार चार सौ धनुष प्रमाण है अर्थात् वे इतने प्रमाण पर्यन्त मार्ग में स्थित स्पर्श को ग्रहण कर सकते है, रसना इन्द्रिय द्वारा ये पाँच सौ बारह धनुष पर्यन्त रस को ग्रहण कर लेते हैं एव घ्राणेन्द्रिय द्वारा चार सो धनुष पर्यन्त स्थित गन्ध को ग्रहण कर लेते हैं।

शंका—ये इन्द्रियाँ प्राप्त करके ग्रहण करती हैं, इसलिए इतनी दूर तक स्थित स्पर्श, रस, गन्ध को ग्रहण नहीं कर सकती हैं ?

समाधान—ऐसा नहीं कहना, क्योंकि इनका बिना प्राप्त किये भी ग्रहण करना सिद्ध है। युक्ति तथा आगम से इन इन्द्रियों का प्राप्त किये बिना ग्रहण करना विरुद्ध नहीं है।

युक्ति—एकेन्द्रिय जीव पाद अर्थात् जड़ को फैलाने से दूर स्थित वस्तु को भी जान लेते हैं अर्थात् जिस दिशा में सुवर्ण आदि वस्तुएँ गड़ी हुई हैं उधर ही एकेन्द्रिय वनस्पति जीव अपनी जड़ फैला लेते हैं। और अवष्टम्भ—वस्तुयुक्त प्रदेश में अपने नाल—शिराओं को फैला देते हैं। आगम में भी स्पर्शन आदि इन्द्रियों को अप्राप्तग्राही माना गया है, क्योंकि स्पर्शन आदि युक्त मतिज्ञान के तीन सौ छत्तीस विकल्प कहे गए हैं।

चतुरिन्द्रिय जीव के चक्षु इन्द्रिय का विषय प्रतिपादित करते हैं—

इगुणतीसजोयणसयाइं चउवण्णाय होइ णायव्वा ।
चउरिंदियस्स णियमा चक्खुप्फासं वियाणाहि ॥१०९५॥

इगुणतीसजोयणसयाइं—[1]एकोनत्रिंशद्योजनशतानि योजनानामेकोनानि त्रिंशच्छतानि, चउवण्णाय—चतुःपंचाशच्चतुर्भिरधिका च पंचाशद्योजनानां, होइ—भवति, णायव्वा—ज्ञातव्यानि । चउरिंदियस्स—चतुरिन्द्रियस्य, णियमा—नियमात् निश्चयेन । चक्खुप्फासं—चक्षुःस्पर्शं चक्षुरिन्द्रियविषयं वियाणाहि—विजानीहि । इमं चतुरिन्द्रियस्य चक्षुरिन्द्रियविषयं योजनानामेको[2]नत्रिंशच्छतं चतुःपंचाशद्योजनाधिकं विजानीह्यसंदेहेनेति । न चक्षुषः प्राप्तग्राहित्वं चक्षुस्थांजनादेरग्रहणात्, न च गत्वा गृह्णाति चक्षुःप्रदेशशून्यत्वप्रसंगात् । नापि विज्ञानमयं चक्षुर्गच्छति जीवस्याज्ञत्वप्रसंगात् न च स्वतोऽर्धस्वरूपेण[3] गमनं युज्यतेऽन्तरे सर्ववस्तु ग्रहणप्रसंगात् इति ॥१०९५॥

असंज्ञिपंचेन्द्रियस्य चक्षुर्विषयं प्रतिपादयन्नाह—

ऊणसट्ठि जोयणसया अट्ठेव य होंति तह य [4]णायव्वा ।
असण्णिपंचेंदीए चक्खुप्फासं वियाणाहि ॥१०९६॥

ऊणसट्ठि—एकोनषष्टिः, एकेनोना षष्टिः । जोयणसया—योजनानां शतानि योजनशतानि, अट्ठेव य—अष्टावपि च योजनानि, होंति—भवन्ति । तह य णायव्वा—तथैव ज्ञातव्यानि, असण्णिपंचेंदीए—असंज्ञि-

---

गाथार्थ—नियम से चतुरिन्द्रिय जीव के चक्षु का विषय उनतीस सौ चौवन योजन कहा है, ऐसा जानो ॥१०९५॥

आचारवृत्ति—चतुरिन्द्रिय जीव के चक्षु इन्द्रिय का विषय उनतीस सौ चौवन योजन प्रमाण है इसमें सन्देह नहीं है। चक्षु इन्द्रिय प्राप्त किये को ग्रहण करनेवाली नहीं है, क्योंकि वह अपने में स्थित अंजन आदि को ग्रहण नहीं कर सकती है, वह चक्षु अन्यत्र जाकर भी वस्तु को ग्रहण नहीं करती है अन्यथा चक्षु के स्थान में शून्यता का प्रसंग आ जावेगा। यदि आप कहें कि ज्ञानमयी चक्षु चली जाती है सो यह भी बात नहीं है, अन्यथा जीव को अज्ञ—ज्ञानरहित होने का प्रसग आ जावेगा। वह स्वतः अर्धस्वरूप से गमन करके पदार्थ को जानती है ऐसा कहना भी युक्त नहीं है, अन्यथा अन्तराल की समस्त वस्तुओं को ग्रहण करने का प्रसंग आ जाता है अर्थात् चक्षु क्रम से अपनी ग्राह्य वस्तु के पास जाकर उसे जानती है ऐसा कहने से तो बीच के अन्तराल की सभी वस्तुओं का भी ज्ञान होते जाना आवश्यक ही होगा किन्तु ये सब बातें घटित नहीं होती हैं, अतः इन्द्रिय अप्राप्यकारी है, वस्तुओं को बिना छुए ही जानती है ऐसा मानना ही उचित है।

असंज्ञी पंचेन्द्रिय के चक्षु का विषय बतलाते हैं—

गाथार्थ—उनसठ सौ आठ योजन प्रमाण असंज्ञी पंचेन्द्रिय के चक्षु का स्पर्श होता है ऐसा तुम जानो ॥१०९६॥

आचारवृत्ति—शिक्षा, आलाप आदि को नहीं ग्रहण कर सकने वाले असंज्ञी पंचेन्द्रिय

---

१. क एकान्न-। २. क मेकान्न-। ३. ख, ग सन्तान स्वरूपेण। ४. क णादव्वा।

पंचेन्द्रियस्य शिक्षालापादिरहितपंचेन्द्रियस्य, चक्खुप्फासं—चक्षुःस्पर्शं चक्षुर्विषयं चक्षुषा ग्रहणं, वियाणाहि—विजानीहि। योजनशतानामेकोनषष्ठिस्तथैवाष्टयोजनानि च भवन्ति ज्ञातव्यान्येतत्प्रमाणमसंज्ञिपंचेन्द्रियस्य चक्षुरिन्द्रियविषयं जानीहि [1]एतावत्यध्वनि स्थितं रूपमसंज्ञिपंचेन्द्रियो गृह्णाति चक्षुरिन्द्रियेणेति ॥१०९६॥

असंज्ञिपंचेन्द्रियस्य श्रोत्रविषयं प्रतिपादयन्नाह—

अट्ठे व धणुसहस्सा सोदप्फासं असण्णिणो जाण।
विसयावि य णायव्वा पोग्गलपरिणामजोगेण ॥१०९७॥

अट्ठे व धणुसहस्सा—अष्टावेव धनुःसहस्राणि, सोदप्फासं—श्रोत्रस्पर्शं श्रोत्रेन्द्रियविषयं; असण्णिणो—असंज्ञिनोऽसंज्ञिपंचेन्द्रियस्य, जाण—जानीहि। असंज्ञिपंचेन्द्रियश्रोत्रविषय धनुषामष्टसहस्रं जानीह्येतावता-ध्वना स्थितं शब्दं गृह्णाति श्रोत्रेणासंज्ञिपंचेन्द्रिय इति। विसयावि य—विषयाश्चापि णायव्वा—ज्ञातव्याः। पोग्गलपरिणामजोगेण—पुद्गलस्य मूर्तद्रव्यस्य परिणामो विशिष्टसंस्थानमहत्त्वप्रकृष्टवाण्या[2]दिः पुद्गलपरिणामस्तेन योगः संपर्कस्तेन, पुद्गलपरिणामयोगेन एतावतोऽध्वांतरेण विशिष्टा रूपादयः दिवाकरादिभूता विशिष्टै-रिन्द्रियैर्गृह्यन्ते नान्यथेति ॥१०९७॥

संज्ञिपंचेन्द्रियस्य पंचेन्द्रियविषयं प्रतिपादयन्नाह—

फासे रसे य गंधे विसया णव जोयणा य [3]णायव्वा।
सोदस्स दु बारसजोयणाणिदो चक्खुसो वोच्छं ॥१०९८॥

फासे—स्पर्शस्य स्पर्शनेन्द्रियस्य, रसे—रसस्य रसनेन्द्रियस्य, गंधे—गन्धस्य घ्राणेन्द्रियस्य,

---

जीव के चक्षु इन्द्रिय का विषय उनसठ सौ आठ योजन प्रमाण है। अर्थात् इतने मार्ग में स्थित रूप को ये जीव चक्षु द्वारा ग्रहण कर लेते हैं।

असंज्ञी पंचेन्द्रिय के श्रोत्र का विषय कहते हैं—

गाथार्थ—असंज्ञी पंचेन्द्रिय के श्रोत्र का विषय आठ हज़ार धनुष है ऐसा जानो। पुद्गल परिणाम के सम्पर्क से ये विषय जानना चाहिए ॥१०९७॥

आचारवृत्ति—असैनी पंचेन्द्रिय जीव के कर्ण इन्द्रिय का विषय आठ हज़ार धनुष है। अर्थात् इतने अन्तर में उत्पन्न हुए पौद्गलिक शब्दों को ये ग्रहण कर लेते हैं। मूर्तिक पुद्गल द्रव्य के परिणमन रूप विशिष्ट संस्थान, महत्त्व और प्रकृष्ट वाणी आदि हैं। सूर्य आदि भी पुद्गल के परिणमन हैं। ये सब पौद्गलिक ही विशिष्ट इन्द्रियों द्वारा ग्रहण किये जाते हैं, अन्य कुछ नहीं।

संज्ञी पंचेन्दिय जीव के पाँचों इन्द्रियों के विषयों का प्रतिपादन करते हैं—

गाथार्थ—स्पर्शन, रसना और घ्राण इन्द्रिय के विषय नव योजन प्रमाण हैं, श्रोत्र इन्दिय का विषय द्वादश योजन है। इसके आगे चक्षु इन्द्रिय का विषय कहेंगे ॥१०९८॥

आचारवृत्ति—संज्ञी पंचेन्द्रिय चक्रवर्ती आदि के इन्द्रियों का उत्कृष्ट विषय कहते हैं।

---

१. क एतावति गोचरे। २. क वर्णादि। ३. क बोद्धव्वा।

विसया—विषयाः[1] ग्रहणगोचराणि, णवजोयणा—नव योजनानि, णायव्वा—ज्ञातव्यानि, सोदस्स दु—श्रोत्रस्य तु श्रोत्रेन्द्रियस्य पुनः, बारह जोयणाणि—द्वादश योजनानि इदो—इत ऊर्ध्वं, चक्खुस्सो—चक्षुषः संज्ञिपंचेन्द्रियस्य चक्षुरिन्द्रियस्य च, वोच्छं—वक्ष्ये, संज्ञिपंचेन्द्रियस्य उत्कृष्टेन्द्रियस्य चक्रवर्त्यादेः स्पर्शनेन्द्रियस्य नवयोजनानि विषयः रसनेन्द्रियस्य नव योजनानि विषयः, घ्राणेन्द्रियस्य नव योजनानि विषयः, श्रोत्रेन्द्रियस्य द्वादश योजनानि विषयः, संज्ञिपंचेन्द्रिय उत्कृष्टपुद्गलपरिणामान्नवभिर्नवभिर्योजनैः स्थितानि स्पर्शरसगन्धद्रव्याणि स्पर्शनरसनघ्राणेन्द्रियैर्गृह्णाति शब्दं पुनर्द्वादशयोजनैः स्थितं श्रोत्रेन्द्रियेण गृह्णाति ॥१०९८॥

सूचितचक्षुर्विषयमाह—

सत्तेतालसहस्सा बे चेव सदा हवंति तेसट्ठी ।
चक्खिदियस्स विसओ उक्कस्सो होदि अदिरित्तो ॥१०९९॥

सत्तेताल—सप्तचत्वारिंशत्, सहस्सा—सहस्राणि, बे चेव सदा—द्वे चैव शते, हवंति—भवन्ति तेसट्ठी—त्रिषष्ट्यधिके योजनानामिति सम्बन्धः चक्खिदियस्स—चक्षुरिन्द्रियस्य, विसओ—विषयः, उक्कस्सो—उत्कृष्टः होदि—भवति अदिरित्तो—अतिरिक्तः, अतिरिक्तस्य प्रमाणं गव्यूतमेकं दण्डानां द्वादशशतानि पंचदशदण्डाधिकानि हस्तश्चैकः द्वे चांगुले साधिकयवचतुर्थभागाधिके; संज्ञिपंचेन्द्रियपर्याप्तकचक्षुरिन्द्रियस्य विषयो योजनानां सप्तचत्वारिंशत्सहस्राणि त्रिषष्ट्यधिकद्विशताधिकानि पंचदशाधिकद्वादशशतदण्डाधिकैकगव्यूताधिकानि सविशेषयवचतुर्थभागाधिकद्व्यंगुलाधिकैकहस्ताधिकानि च । एतावताध्वना संज्ञिपंचेन्द्रियः पर्याप्तको रूपं पश्यतीति ॥१०९९॥

अस्यैव प्रमाणस्यानयने करणगाथामाह—

अस्सीदिसदं विगुणं दीवविसेसस्स वग्ग दहगुणियं ।
मूलं सट्ठिविहत्तं दिणद्धमाणाहदं चक्खू ॥११००॥

ये अपने स्पर्श—स्पर्शनेन्द्रिय, रस—रसनेन्द्रिय और गन्ध—घ्राणेन्द्रिय के द्वारा नव-नव योजन तक स्थित स्पर्श, रस और गन्ध द्रव्यों को ग्रहण कर लेते हैं तथा कर्ण इन्द्रिय के द्वारा बारह योजन में उत्पन्न हुए शब्दों को सुन लेते हैं।

अब सूचित किये गये चक्षु के विषय को कहते हैं—

गाथार्थ—सैंतालीस हजार दो सौ त्रेसठ योजन और कुछ अधिक ऐसा चक्षु इन्द्रिय का उत्कृष्ट विषय होता है ॥१०९९॥

आचारवृत्ति—चक्षु इन्द्रिय का उत्कृष्ट विषय सैंतालीस हजार दो सौ त्रेसठ योजन, एक कोश, बारह सौ पन्द्रह धनुष, एक हाथ दो अंगुल और कुछ अधिक जौ का चतुर्थ भाग प्रमाण है। अर्थात् संज्ञी पंचेन्द्रिय-पर्याप्तक चक्रवर्ती आदि इतने प्रमाण मार्ग में स्थित रूप को देख लेते हैं।

इसी प्रमाण को निकालने के लिए करण सूत्र कहते हैं—

गाथार्थ—एक-सौ अस्सी को दूना करके जम्बूद्वीप के प्रमाण में से उसे घटाकर, पुनः उसका वर्ग करके उसे दस से गुणा करना, पुनः उसका वर्गमूल निकालकर साठ का भाग देना और उसे नव से गुणा करना जो संख्या आवे वह चक्षु का उत्कृष्ट विषय है ॥११००॥

---

१. क विषयो ग्रहणगोचरः ।

अशीतिशतं—अशीत्यधिकं शतं, द्विगुणं—द्विगुणं द्वाभ्यां गुणितं षष्ट्यधिकत्रिशतप्रमाणं भवति द्वीपशब्देन जम्बूद्वीपविष्कंभयोजनलक्षं परि-गृह्यते सर्वाभ्यन्तरान्यवर्त्मपरिधिप्रमाणानयननिमित्तमुभयोः पार्श्व-योर्विशोधनमशीतिशतद्विगुणस्य लक्षयोजनप्रमाणात्तस्माद् द्वीपाद् तद्विसृष्टं रहितं क्रियते तस्मिन् कृते शेषो द्वीपविशेष इत्युच्यते तस्य द्वीपविशेषस्य वर्ग. क्रियते स च वर्गो दशगुणः क्रियते तस्य मूलं षष्ट्या विभाजितं भक्तं दिनार्धमानाहतं नवभिर्गुणितं "दिनार्धशब्देन नव मुहूर्ताः परिगृह्यन्ते"। सर्वाभ्यन्तरपरिधिषष्टिमुहूर्ते भ्रमति मार्तण्डोऽतः षष्टिभिर्भागो मध्याह्ने भवति नवभिर्मुहूर्तैरयोध्यायां नवगुणकारः। एवं कृते च यल्लब्धं परि-माणं पूर्वोक्तं चक्षुषो विषयो भवति आषाढमासे सर्वाभ्यन्तरवर्त्मनि मिथुनावसाने स्थितस्यादित्यादर्शनो ग्रहण-मिति ॥११००॥

आचारवृत्ति—एक-सौ अस्सी को दो से गुणा करने से तीन सौ साठ हो जाते हैं। जम्बूद्वीप का विष्कम्भ एक लाख योजन है, उसे ग्रहण करना। पुनः सर्व अभ्यन्तर अन्य मार्ग की परिधि को निकालने के लिए उभयपार्श्व का शोधन करना अर्थात् एक लाख में तीन-सौ साठ को घटा देना। शेष द्वीप के लिए विशेष अर्थात् निन्यानवे हजार छह सौ चालीस का वर्ग करके पुनः उसे दश से गुणित करना। पुनः उसका वर्गमूल निकालकर उसमें साठ का भाग देकर दिनार्धमान अर्थात् नव मुहूर्त से गुणित कर देना। अर्थात् सूर्य अभ्यन्तर परिधि को साठ मुहूर्त में पूरा करता है अतः साठ से भाग देकर पुनः मध्याह्न में अयोध्या पर आ जाता है अतः नव मुहूर्त से गुणा करना चाहिए। ऐसा करने से जो संख्या लब्ध होती है चक्षु इन्द्रिय का उतना विषय होता है।

---

* इस स्थान पर गाथा बदली हुई है—

तिण्णिसयट्ठिविरहियलक्खं दसमूलताडिदे मूलं।
णवगुणिदे सट्ठिहिदे चक्खुप्फासस्स अद्धाणं॥

अर्थ—तीन सौ साठ कम एक लाख योजन जम्बूद्वीप के विष्कम्भ का वर्ग करना, उसे दश गुणा करके वर्गमूल निकालना। इससे जो राशि उत्पन्न हो उसे नव का गुणा करके साठ का भाग देने से चक्षु-रिन्द्रिय का विषय होता है। अर्थात् सूर्य का चार क्षेत्र पाँच सौ बारह योजन प्रमाण है। उसमें तीन सौ बत्तीस योजन तो लवणसमुद्र में है और शेष एक-सौ अस्सी योजन जम्बूद्वीप में है। इसलिए जम्बूद्वीप के दोनों भाग के तीन-सौ साठ योजन क्षेत्र को छोड़कर बाकी निन्यानवे हजार छह सौ चालीस योजन प्रमाण जम्बूद्वीप के विष्कम्भ की परिधि करणसूत्र के अनुसार तीन लाख, पन्द्रह हजार नवासी योजन होती है। इस अभ्यन्तर परिधि को एक सूर्य अपने भ्रमण द्वारा साठ मुहूर्त दो दिन में समाप्त करता है और निषध गिरि के एक भाग से दूसरे भाग तक की अभ्यन्तर वीथी को अठारह मुहूर्त में समाप्त करता है। इसके बिल्कुल बीच में अयोध्यानगरी पड़ती है। इस अयोध्यानगरी के बीच में बने हुए अपने महल के ऊपरी भाग से भरत आदि चक्रवर्ती निषधगिरि के ऊपर अभ्यन्तर में उदय होते हुए सूर्य के भीतर के जिनबिम्ब का दर्शन करते हैं। और निषधगिरि के उस उदयस्थान से अयोध्या पर्यन्त उक्त रीति से सूर्य के भ्रमण करने में नव मुहूर्त लगते हैं क्योंकि कर्क संक्रान्ति को यहाँ १२ मुहूर्त की रात्रि और १८ मुहूर्त का दिन हुआ करता है। अतः साठ मुहूर्त में इतने क्षेत्र पर भ्रमण करता है तो नव मुहूर्त में कितने क्षेत्र तक भ्रमण करेगा, ऐसा त्रैराशिक करने से फल-राशि परिधि प्रमाण और इच्छा राशि नव गुणाकार होती है। उसमें प्रमाण राशि साठ का भाग देने से चक्षु इन्द्रिय का उत्कृष्ट विषय क्षेत्र सैंतालीस हजार दो सौ त्रेसठ से कुछ अधिक निकलता है। तात्पर्य यह है कि चक्रवर्ती अधिक से अधिक इतनी दूर तक के पदार्थ को चक्षु द्वारा जान लेते हैं।

आषाढ मास में मिथुन राशि के अन्त में स्थित हुए सूर्य का इतना अन्तराल अयोध्या से रहता है।

विशेषार्थ—यहाँ इन गाथाओं में एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक जीवों के अपनी-अपनी इन्द्रियों का उत्कृष्ट विषय-क्षेत्र बतलाया गया है तथा उनके आकार भी बतलाये गये हैं।

इन सबको यन्त्र में देखिए—

एकेन्द्रिय आदि जीवों के पाई जाने वाली इन्द्रियों के उत्कृष्ट विषय क्षेत्र आदि का दर्शक यन्त्र

इन्द्रिय	एकेन्द्रिय धनुष से विषय क्षेत्र	द्वीन्द्रिय धनुष से विषय क्षेत्र	त्रीन्द्रिय धनुष से विषय क्षेत्र	चतुरिन्द्रिय विषय क्षेत्र		असंज्ञी पंचेन्द्रिय विषय क्षेत्र		संज्ञी पंचे. विषय क्षेत्र योजन से	विषय	योग्यता	आकृति
				धनुष	योजन	धनुष	योजन				
स्पर्शन	४००	८००	१६००	३२००	०	६४००	०	९	८ प्रकार का स्पर्श	अबद्ध-स्पृष्ट	अनेक अनियत
रसना	०	६४	१२८	२५६	०	५१२	०	९	५ विध रस	"	अर्धचंद्र या खुरपा
घ्राण	०	०	१००	२००	०	४००	०	९	द्विविध गंध	"	तिलपुष्प
चक्षु	०	०	०	०	५९५४	०	२९०८	४७२६३ $\frac{१}{७ \div २०}$	पंचविध रूप	अस्पृष्ट	मसूर अन्न
श्रोत्र	०	०	०	०	०	८०००	०	१२	शब्द तथा ७ स्वर	स्पृष्ट	यवनाली

स्पष्ट है कि इनमें स्पर्शन, रसना और घ्राण ये तीन इन्द्रियाँ अपने विषय को अबद्ध स्पृष्ट रूप से ग्रहण करती हैं, चक्षु इन्द्रिय अस्पृष्ट विषय को ही ग्रहण करती है और कर्ण इन्द्रिय

स्वामित्वपूर्वकं योनिस्वरूपं प्रतिपादयन्नाह—

एइंदिय णेरइया संपुडजोणी हवंति देवा य।
वियलिंदिया य वियडा संपुडवियडा य गब्भेसु ॥११०१॥

सचित्तशीतसंवृताचित्तोष्णविवृतभेदैः सचित्ताचित्तशीतोष्णसंवृतविवृतभेदैश्च नवप्रकारा योनिर्भवति। यूयते भवपरिणत आत्मा यस्यामिति योनिर्भवाधारः। आत्मनश्चैतन्यविशेषपरिणामश्चित्तं सह चित्तेन वर्तते इति सचित्तं, शीत इति स्पर्शविशेषः 'शुक्लादिवदुभयवचनत्वात्तद्युक्तं द्रव्यमप्याह'। सम्यग्वृतः संवृतः दुरुपलक्ष्यप्रदेशो'ऽचित्तरहितपुद्गलप्रचयप्रदेशो वा, उष्णः सन्तापपुद्गलप्रचयप्रदेशो वा, विवृतो संवृतः प्रकटपुद्गलप्रचयप्रदेशो वा, उभयात्मको मिश्रः सचित्ताचित्तः शीतोष्णः संवृतविवृतश्च एतैर्भेदैश्च[3] नवयोनयः सम्मूर्च्छनगर्भोपपादानां जन्मनामाधारा भवन्ति एतेषु प्रदेषु जीवा सम्मूर्च्छनादिस्वरूपेणोत्पद्यन्त इति। तत्र एइंदिय

स्पृष्ट शब्दों को ग्रहण करती है। सो ही कहा है—

पुट्ठं सुणेइ सद्दं अपुट्ठं पुण वि पस्सदे रूवं।
फासं रसं च गंधं बद्धं पुट्ठं वियाणेइ ॥[2]

अर्थ—श्रोत्रेन्द्रिय स्पृष्ट शब्द को सुनती है। चक्षुरिन्द्रिय अस्पृष्ट रूप को देखती है। स्पर्शनेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय और घ्राणेन्द्रिय क्रमशः बद्ध और स्पृष्ट स्पर्श, रस और गन्ध को जानती हैं। स्पर्शन रसना और घ्राण इन तीन इन्द्रियों की योग्यता यहाँ बद्धस्पृष्ट को ग्रहण करने की है किन्तु गोम्मटसार में अबद्ध-स्पृष्ट कहा है।

स्वामित्वपूर्वक योनि का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—एकेन्द्रिय जीव, नारकी और देव ये संवृत योनिवाले होते हैं। विकलेन्द्रिय जीव विवृत योनिवाले हैं और गर्भ में जन्म लेनेवाले संवृतविवृत योनिवाले होते हैं ॥११०१॥

आचारवृत्ति—सचित, शीत, संवृत, अचित्त, उष्ण, विवृत, सचित्ताचित्त, शीतोष्ण और संवृतविवृत ऐसे योनि के नव भेद होते हैं। 'यूयते यस्यां इति योनिः' अर्थात् भव परिणत आत्मा जिसमें मिश्रण अवस्था को प्राप्त होता है या मिलता है उस भव के आधार का नाम योनि है। आत्मा का चैतन्यविशेष परिणाम चित्त है उस चित्त के साथ रहनेवाली सचित्त योनि है। ठण्डे स्पर्श विशेष को शीत कहते हैं, 'शुक्लादि के समान उभय को—गुण-गुणी को कहनेवाला होने से शीत से युक्त द्रव्य को भी शीत कहते हैं। सं—अच्छी तरह से वृत—ढके हुए को संवृत कहते हैं अर्थात् दुरुपलक्ष्य प्रदेश। चित्त रहित पुद्गल के समूह युक्त प्रदेश को अचित्त कहते हैं। सन्तापकारी पुद्गल समूहयुक्त प्रदेश उष्ण है। प्रकट पुद्गल समूहयुक्त प्रदेश को विवृत कहते हैं। उभयात्मक को मिश्र कहते हैं। वह तीन प्रकार का है—सचित्ताचित्त, शीतोष्ण और संवृतविवृत। जन्म के तीन भेद हैं—सम्मूर्च्छन, गर्भ और उपपाद। इन जन्म के लिए आधारभूत योनि नव भेदरूप है। अर्थात् इन प्रदेशों में जीव सम्मूर्च्छन आदि स्वरूप से उत्पन्न होते हैं। एकेन्द्रिय

---

१. क प्रदेशः अचित्तः चित्तरहित-। २. गोम्मटसार इन्द्रिय मार्गणा के आ० से।
३. एता नवयोनयः।

णेरइया—एकेन्द्रिया नारकाश्च, संवुडजोणी—संवृतयोनयः, संवृता योनिर्येषां ते संवृतयोनयः दुरुपलक्ष्योत्पत्तिप्रदेशाः, हुंति—भवन्ति, देवा य—देवाश्च संवृतयोनय. वियलिंदिया—विकलेन्द्रियाश्च द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रियाः, वियडा—विवृतयोनयश्च, तास्स्थ्यात्ताच्छब्द्यं, संवुडवियडा य—संवृतविवृता, संवृतविवृतयोनयः, गब्भेसु—गर्भेषु स्त्रिया उदरे "शुक्र-शोणितयोर्मिश्रणं गर्भः"। देवनारकैकेन्द्रियाः संवृतयोनयः, विकलेन्द्रिया ये ते विवृतयोनयः, गर्भेषु ये ते संवृतविवृतयोनयः भवन्तीति ॥११०१॥

[1]पुनस्तेषां विशेषयोनित्वमाह—

> अच्चित्ता खलु जोणी णेरइयाणं च होइ देवाणं।
> मिस्सा य गब्भजम्मा तिविहा जोणी दु सेसाणं ॥११०२॥

अच्चित्ता—निश्चेतना, खलु—स्फुटं, जोणी—योनिः, णेरइयाणं च—नारकाणां च होइ—भवति देवाणं—देवानां चशब्दोऽत्र संबन्धनीयः। मिस्सा य—मिश्रा सचित्ताचित्ता च, गब्भजम्मा—गर्भजन्मनां गर्भजानाम्। तिविहा—त्रिविधा त्रिप्रकारा, जोणी दु—योनिस्तु, सेसाणं—शेषाणां, सम्मूर्च्छनजन्मनामेकेन्द्रियद्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियपंचेन्द्रियाणां देवनारकाणां गर्भजवर्जितपंचेन्द्रियाणां च देवनारकाणाम् अचित्तयोनयः, गर्भजाः सचित्ताचित्तयोनयः, शेषाः पुनरेकेन्द्रियादिपंचेन्द्रियपर्यन्ताः केचन सचित्तयोनयः केचन अचित्तयोनयः केचन सचित्ताचित्तयोनयश्च भवन्तीति ॥११०२॥

पुनरपि तेषामेव विशेषयोनिस्वामित्वमाह—

> सीदुण्हा खलु जोणी णेरइयाणं तहेव देवाणं।
> तेऊण उसिणजोणी तिविहा जोणी दु सेसाणं ॥११०३॥

जीव, नारकी और देव संवृत योनि में जन्म लेते हैं। अर्थात् इनकी उत्पत्ति के स्थान दिखते नहीं हैं। दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय और चार इन्द्रिय जीव विवृत योनि में जन्म लेते हैं। तथा गर्भ से जन्मने वालों की योनि संवृतविवृत है। माता के उदर में शुक्र और शोणित के मिश्रण को गर्भ कहते हैं। इन गर्भज जीवों का जन्म संवृत-विवृत योनि से होता है।

पुनः उनकी विशेष योनि को कहते हैं—

गाथार्थ—नारकी और देवों की अचित्त योनि होती है। गर्भ जन्मवालों की मिश्र योनि है तथा शेष जीवों की तीनों प्रकार की योनियाँ होती हैं ॥११०२॥

आचारवृत्ति—नारकियों की और देवों की अचित्त—निश्चेतन योनि होती है। गर्भज जीवों की सचित्ताचित्त नामक मिश्र योनि होती है। तथा शेष—सम्मूर्च्छन एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीवों में से किन्हीं के सचित्त योनि है, किन्हीं के अचित्त और किन्हीं के सचित्ताचित्त योनि होती है।

पुनरपि उन्हीं जीवों की विशेष योनि को कहते हैं—

गाथार्थ—नारकी और देवों के शीतोष्ण योनि है, अग्निकायिक जीवों की उष्ण योनि है तथा शेष जीवों के तीन प्रकार की योनि होती हैं ॥११०३॥

---

[1] क पुनरपि विशेषयोनिस्वामित्वमाह।

सीदुण्हा—शीतोष्णा, खलु—स्फुटं, जोणी—योनिः, णेरइयाणं—नारकाणां, तहेव देवाणं—तथैव देवानां, तेऊण—तेजःकायानां, उसिणजोणी—उष्णयोनिः। तिविहा—त्रिविधा, शीता-उष्णा-शीतोष्णा, जोणी दु—योनिस्तु, सेसाणं—शेषाणां पृथिवीकायाप्कायवायुकायवनस्पतिकायद्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियाणां देवनारकवर्जितपंचेन्द्रियाणाम्। देवनारकाणां शीतोष्णा च योनिः तेषां हि कानिचिच्छीतानि[1] कानिचिदुष्णानि तेजःकायिकानां पुनरुष्ण एव योनिः शेषाणां तु त्रिविधो योनिस्ते च केचिच्छीतयोनयः केचिदुष्णयोनयः केचिच्छीतोष्णयोनयः अप्कायिकाः शीतयोनय एवेति ॥११०३॥

पुनरप्येतासां योनीनां विशेषयोनिस्वरूपमाह—

संखावत्तयजोणी कुम्मुण्णद वंसपत्तजोणी य।
तत्थ य संखावत्ते णियमादु विवज्जए गब्भो ॥११०४॥

संखावत्तय—शंख इव [2]आवर्तो यस्य शंखावर्तका जोणी—योनिः कुम्मुण्णय—कूर्म इवोन्नता कूर्मोन्नता, वंसपत्तजोणी य—वंशपत्रमिव योनिर्वंशपत्रयोनिः। तत्र च तेषु च मध्ये शंखावर्ते नियमात्, विवज्जए—विपद्यते विनश्यति गर्भो 'गर्भः शुक्रशोणितगरणम्'। शंखावर्तकूर्मोन्नतवंशपत्रभेदेन त्रिविधा योनिस्तत्र च शंखावर्तयोनौ नियमाद्विपद्यते गर्भः अतः[3] तद्वती वंध्या[4] भवतीति[5] ॥११०४॥

तेषु च उत्पद्यन्ते तानाह—

आचारवृत्ति—देवों में तथा नारकियों में किन्हीं के शीत योनि है और किन्हीं के उष्ण योनि है। अग्निकाय जीवों के उष्ण योनि ही है। तथा शेष—पृथ्वीकाय, जलकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय एवं देव-नारकी के अतिरिक्त पंचेन्द्रिय में से किन्हीं के शीत योनि, किन्हीं के उष्ण योनि और किन्हीं के शीतोष्ण योनि होती है। जलकायिक जीवों के शीत योनि ही है।

पुनरपि इन जीवों के विशेष योनि भेद कहते हैं—

गाथार्थ—शंखावर्तक योनि, कूर्मोन्नतयोनि और वंशपत्रयोनि ये तीन प्रकार की योनियाँ हैं। उनमें से शंखावर्त योनि में नियम से गर्भ नष्ट हो जाता है ॥११०४॥

आचारवृत्ति—शंख के समान आवर्त जिसमें हैं वह शंखावर्तक योनि है। कछुए के समान उन्नत योनि कूर्मोन्नत कहलाती है और बाँस के पत्र के समान योनि को वंशपत्र योनि कहते हैं। इनमें से शंखावर्तक योनि में गर्भ नियम से विनष्ट हो जाता है, अतः शंखावर्तक योनिवाली स्त्री वंध्या होती है। शुक्र और शोणित का गरण—मिश्रण होना गर्भ कहलाता है।

इन योनियों में उत्पन्न होनेवालों को बताते हैं—

---

१. क कानिचिदुपपादस्थानानि।   २. क आवर्ता यस्यां सा।   ३. क अतएव वंध्या।
४. गोम्मटसार में छाया में 'विवज्यते' पाठ है जिसका अर्थ यह हुआ कि गर्भ नहीं रहता है।
५. देवीनां चक्रवर्तिस्त्रीरत्नादीनां कासांचित् तथाविध(शंखावर्त)योनिसम्भवात् [गोम्मटसार गाथा ८२] की टिप्पणी।

कुम्मुण्णदजोणीए तित्थयरा दुविहचक्कवट्टी य।
रामावि य जायंते सेसा सेसेसु जोणीसु ॥११०५॥

कूर्मोन्नतयोनौ विशिष्टसर्वशुचिप्रदेशे शुद्धपुद्गलप्रचये वा तित्थयरा—तीर्थंकराः, दुविहचक्कवट्टी य—द्विविधचक्रवर्तिनः चक्रवर्तिवासुदेवप्रतिवासुदेवाः रामावि य—रामाश्चापि बलदेवा अपि, जायंते—समुत्पद्यन्ते। सेसा—शेषा अन्ये तीर्थंकरचक्रवर्तिबलदेववासुदेवप्रतिवासुदेवविवर्जिता भोगभूमिजादयः, सेसेसु—शेषयोः, जोणीसु—योन्योर्वंशपत्रशंखावर्तयोरुत्पद्यन्ते। किन्तु शंखावर्ते विनश्यते गर्भः स भोगभूमिजानां न[1] भवति ते ह्यनपवर्त्यायुष इति ॥११०५॥

संवृतादियोनिविशेषांश्चतुरशीतिशतसहस्रभेदान् प्रतिपादयन्नाह—

णिच्चिदरधादु सत्तय तरु दस विगलिंदियेसु छच्चेव।
सुरणरतिरिए चउरो चोद्दस मणुएसु सदसहस्सा ॥११०६॥

गाथार्थ—कूर्मोन्नत योनि में तीर्थंकर, दोनों प्रकार के चक्रवर्ती और बलभद्र उत्पन्न होते हैं। शेष दो योनियों में शेष जीव होते हैं ॥११०५॥*

आचारवृत्ति—विशिष्ट सर्वशुचि प्रदेशरूप अथवा शुद्ध पुद्गलों के समूहरूप कूर्मोन्नत योनि में तीर्थंकर, चक्रवर्ती, वासुदेव, प्रतिवासुदेव और बलभद्र उत्पन्न होते हैं। शेष अन्य जन तथा भोगभूमिज आदि शेष अर्थात् वंशपत्र और शंखावर्तक योनि से उत्पन्न होते हैं। किन्तु शंखावर्तक में गर्भ नष्ट हो जाता है अतः वह भोगभूमिजों के नहीं होती है, क्योंकि वे अनपवर्त्य—अकालमृत्यु रहित आयुवाले होते हैं।

अब संवृत आदि योनि के विशेष भेद रूप चौरासी लाख योनिभेदों को कहते हैं—

गाथार्थ—नित्यनिगोद, इतरनिगोद, पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु इनकी सात लाख, वनस्पति की दश लाख, विकलेन्द्रियों की छह लाख, देव, नारकी और तिर्यंचों की चार-चार लाख और मनुष्यों की चौदह लाख योनियाँ हैं ॥११०६॥

---

१. क संभवति।

* गोम्मट सार जीवकाण्ड में इस गाथा में कुछ अन्तर है। यथा—

कुम्मुण्णयजोणीए तित्थयरा दुविहचक्कवट्टी य।
रामा वि य जायंते सेसाए सेसगजणो दु ॥८२॥

अर्थ—कूर्मोन्नत योनि में तीर्थंकर, चक्रवर्ती, अर्धचक्रवर्ती तथा बलभद्र तथा अपि शब्द की सामर्थ्य से अन्य भी महान् पुरुष उत्पन्न होते हैं। तीसरी वंशपत्र योनि में साधारण पुरुष ही उत्पन्न होते हैं।

जीव० प्र० टीका में लिखा है कि "अपि शब्दान्नेतरजनाः।" परन्तु स्व. पं. गोपालदासजी के कथनानुसार मालूम होता है कि यहाँ पर "अपि शब्दादितरजनाः अपि" ऐसा पाठ होना चाहिए, क्योंकि प्रथम चक्रवर्ती भरत जिस योनि से उत्पन्न हुए थे, उसी से उनके निन्यानबे भाई भी उत्पन्न हुए थे। [गोम्मटसारजी गा० ८२ की टिप्पणी]

नित्यनिगोदेतरनिगोदपृथिवीकायिकाप्कायिकतेजःकायिकवायुकायिकानां सप्तलक्षाणि योनीनाम् । तरूणां प्रत्येकवनस्पतीनां दशलक्षाणि योनीनाम् । विकलेन्द्रियाणां द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियाणां षट्लक्ष्-क्षाणि । सुराणां चत्वारि लक्षाणि । नारकाणां चत्वारि लक्षाणि । तिरश्चां सुरनारकमनुष्यवर्जितपंचेन्द्रियाणां चत्वारि लक्षाणि । मनुष्याणां चतुर्दशशतसहस्राणि योनीनामिति सम्बन्धः । एवं सर्वसमुदायेन चतुरशीतिलक्ष-सहस्राणि योनीनामिति । नात्र पौनरुक्त्यं पूर्वेण सहाधिकारभेदात् पर्यायार्थिकशिष्यानुग्रहणाच्च ॥११०६॥

आयुषः स्वरूपं प्रमाणेन स्वामित्वपूर्वकं प्रतिपादयन्नाह—

बारसवाससहस्सा आऊ सुद्धे सु जाण उक्कस्सं ।
खरपुढविकायगेसु य वाससहस्साणि बावीसा ॥११०७॥

नारकतिर्यङ्मनुष्यदेवभवधारणहेतुः कर्मपुद्गलपिंड आयुः । औदारिक-औदारिकमिश्रवैक्रियिक-वैक्रियिकमिश्रशरीरसाधारणधारणलक्षणं वायुः । तत्र बारसवाससहस्सा—द्वादशवर्षसहस्राणि, उच्छ्वा-सानां त्रीणि सहस्राणि त्रिसप्तत्यधिकसप्तशतानि च गृहीत्वैको मुहूर्तः आगमोक्तं लक्षणमेतत् । लौकिकैः पुनः सप्तशतैरुच्छ्वासैर्मुहूर्तो भवति । आगमिक उच्छ्वास उदरप्रदेशनिर्गमाद्गृहीतो लौकिकः पुनः नासिकाया निर्गमाद् गृहीत इति न दोषः । त्रिशन्मुहूर्तैर्दिवसस्त्रिंशद्भिर्दिवसैर्मासो द्वादशभिर्मासैर्वर्षः । आऊ—आयुः भवस्थितिः सुद्धे सु—शुद्धेषु शुद्धानां पृथिवीकायिकेष्विति सम्बन्धः जाण—जानीहि, उक्कस्सं—उत्कृष्टं, खरपुढविकायिगेसु य—खरपृथिवीकायिकेषु च मृत्तिकादयः शुद्धपृथिवीकायिकाः पाषाणादयः खरपृथिवीका-

---

आचारवृत्ति—नित्यनिगोद, इतर निगोद, पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय और वायु-काय जीव इन छहों में प्रत्येक की सात-सात लाख योनियाँ हैं। प्रत्येकवनस्पति-कायिकों की दश लाख हैं। दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय और चार इन्द्रिय—इनमें प्रत्येक की दो-दो लाख अर्थात् कुल छह लाख योनियाँ हैं। देवों की चार लाख, नारकियों की चार एवं पंचेन्द्रिय तिर्यंचों की चार लाख योनियाँ हैं। मनुष्यों की चौदह लाख योनियाँ हैं। इस प्रकार समुदाय से चौरासी लाख योनियाँ होती हैं। यहाँ पर पुनरुक्ति दोष नहीं है, क्योंकि पूर्व के साथ अधिकार-भेद है और पर्यायार्थिक नय वाले शिष्यों के अनुग्रह हेतु यह विस्तार-कथन है।

आयु का स्वरूप प्रमाण द्वारा स्वामित्वपूर्वक कहते हैं—

गाथार्थ—पृथ्वीकायिक की उत्कृष्ट आयु बारह हजार वर्ष है और खर-पृथ्वीकायिक की बाईस हजार वर्ष है ॥११०७॥

आचारवृत्ति—नारक, तिर्यंच, मनुष्य और देव के भवों को धारण करने में कारण कर्म-पुद्गल के पिण्ड को आयु कहते हैं। अथवा औदारिक, औदारिकमिश्र, वैक्रियिक, वैक्रियिकमिश्र शरीर के धारण करने रूप कर्म-पुद्गलपिण्ड को आयु कहते हैं। तीन हजार सात सौ तिहत्तर उच्छ्वासों का एक मुहूर्त होता है। आगम में मुहूर्त का यह लक्षण किया गया है। किन्तु लौकिक जनों ने सात-सौ उच्छ्वासों का एक मुहूर्त माना है। आगम में उदरप्रदेश से निकले हुए उच्छ्वास का ग्रहण है और लौकिक में नाक से निकले हुए उच्छ्वास का ग्रहण है इसलिए कोई दोष नहीं है। अर्थात् दोनों ही प्रकार के मुहूर्त में समय समान ही लगता है। तीस मुहूर्त का एक दिवस होता है, तीस दिवस का एक महिना और बारह महिने का एक वर्ष होता है। पाषाण आदि शुद्ध

विकाः, वाससहस्साणि—वर्षसहस्राणि, बावीस—द्वाविंशतिः। शुद्धपृथिवीकायिकानामुत्कृष्टमायुर्द्वादशवर्षसहस्राणि, खरपृथिवीकायिकानां चोत्कृष्टमायुर्द्वाविंशतिवर्षसहस्राणि भवन्तीति ॥११०७॥

अप्कायिकतेजःकायिकानामायुःप्रमाणमाह—

सत्त दु वाससहस्सा आऊ आउस्स होइ उक्कस्सं।
रत्तिंदियाणि तिण्णि दु तेऊणं होइ उक्कस्सं ॥११०८॥

सत्त दु—सप्तैव, वाससहस्सा—वर्षसहस्राणि, आऊ—आयुः, आउस्स—अपां अप्कायिकानां होइ—भवति, उक्कस्सं—उत्कृष्टं, अप्कायिकानां परमायुः सप्तैव वर्षसहस्राणि। रत्तिंदियाणि—रात्रिन्दिनानि अहोरात्रं, तिण्णि दु—त्रय एव, तेऊणं—तेजसां तेजःकायिकानां, होइ उक्कस्सं—भवत्युत्कृष्टम्। अप्कायिकानां परमायुः सप्तैव वर्षसहस्राणि, त्रीणि[1] रात्रिदिनानि तेजःकायिकानां परमायुरिति ॥११०८॥

वायुकायिकानां वनस्पतिकायिकानां च परमायुःप्रमाणमाह—

तिण्णि दु वाससहस्सा आऊ वाउस्स होइ उक्कस्सं।
दस वाससहस्साणि दु वणप्फदीणं तु उक्कस्सं ॥११०९॥

तिण्णि दु—त्रीणि तु त्रीण्येव नाधिकानि, वाससहस्सा—वर्षसहस्राणि, आऊ—आयुः, वाउस्स—वायूनां वायुकायिकानां, होदि उक्कस्सं—भवत्युत्कृष्टम्। दस वाससहस्साणि—दशवर्षसहस्राणि, तुशब्दोऽवधारणार्थः" वणप्फदीणं तु—वनस्पतीनां च वनस्पतिकायानां तु उक्कस्सं—उत्कृष्टमेव। वायुकायिकानामुत्कृष्टमायुस्त्रीण्येव वर्षसहस्राणि, वनस्पतिकायिकानां तूत्कृष्टमायुर्दशैव वर्षसहस्राणीति ॥११०९॥

विकलेन्द्रियाणामायुःप्रमाणमाह—

पृथ्वीकायिक हैं और मृत्तिक आदि खरपृथ्वी हैं। इन शुद्ध पृथ्वीकायिक जीवों की उत्कृष्ट आयु बारह हज़ार वर्ष है तथा खर-पृथ्वीकायिक की उत्कृष्ट आयु बाईस हज़ार वर्ष प्रमाण है।

जलकायिक और अग्निकायिक की आयु का प्रमाण कहते हैं—

गाथार्थ—जलकायिकों की उत्कृष्ट आयु सात हज़ार वर्ष है। अग्निकायिकों की उत्कृष्ट आयु तीन दिन-रात की है ॥११०८॥

आचारवृत्ति—जलकायिक जीवों की उत्कृष्ट आयु सात हज़ार वर्ष है और अग्निकायिक जीवों की उत्कृष्ट आयु तीन दिन-रात की है।

वायुकायिक और वनस्पतिकायिकों की उत्कृष्ट आयु कहते हैं—

गाथार्थ—वायुकायिक जीवों की उत्कृष्ट आयु तीन हज़ार वर्ष है और वनस्पतिकायिक जीवों की उत्कृष्ट आयु दश हज़ार वर्ष है ॥११०९॥

टीका सरल है।

विकलेन्द्रियों की आयु का प्रमाण कहते हैं—

---

१. क रात्रिदिवसान्यः।

बारस वासा बेइंदियाणमुक्कस्सं भवे आऊ ।
राइंदियाणि तेइंदियाणमुगुवण्ण उक्कस्सं ॥१११०॥

बारस वासा—द्वादशवर्षाणि, बेइंदियाणं—द्वीन्द्रियाणां शंखप्रभृतीनां, उक्कस्सं—उत्कृष्टमेव, हवे—भवेत्, आऊ—आयुः। राइंदियाणि—रात्रिदिनानि अहोरात्ररूपाणि, तेइंदियाण—त्रीन्द्रियाणां गोम्मादीनां, उगुवण्ण—एकोनपंचाशत्, उक्कस्सं—उत्कृष्टम् । द्वीन्द्रियाणां प्रकृष्टमायुः द्वादशसंवत्सरा एव, त्रीन्द्रियाणां पुनरुत्कृष्टमायुः एकोनपंचाशद्रात्रिदिवसानामिति ॥१११०॥

चतुरिन्द्रियपंचेन्द्रियाणामाह—

चउरिंदियाणमाऊ उक्कस्सं खलु हवेज्ज छम्मासं ।
पंचेंदियाणमाऊ एत्तो उड्ढं पवक्खामि ॥११११॥

चउरिंदियाणं—चतुरिन्द्रियाणां भ्रमरादीनां, आऊ—आयुः, उक्कस्सं—उत्कृष्टं खलु स्फुटं हवेज्ज—भवेत्, छम्मासं—षण्मासाः। पंचेंदियाणं—पंचेन्द्रियाणां, आऊ—आयुः, एत्तो उड्ढं—इत ऊर्ध्वं विकलेन्द्रियकथनोर्ध्वं, पवक्खामि—प्रवक्ष्यामि प्रतिपादयिष्यामि । चतुरिन्द्रियाणामुत्कृष्टमायुः [1]षण्मासमितं भवेद्, इत ऊर्ध्वं पंचेन्द्रियाणामायुर्वक्ष्यामीति ॥११११॥

तदेव प्रतिपादयति—

मच्छाण पुव्वकोडी परिसप्पाणं तु णवय पुव्वंगा ।
बादालीस सहस्सा उरगाणं होइ उक्कस्सं ॥१११२॥

वर्षं दशगुणितं दशवर्षाणि, दशवर्षाणि दशगुणितानि वर्षशतं, वर्षशतं दशगुणितं वर्षसहस्रं, वर्ष-

---

गाथार्थ—दो-इन्द्रियों की बारह वर्ष प्रमाण उत्कृष्ट आयु है। तीन-इन्द्रियों की उनंचास रात-दिन की उत्कृष्ट आयु है ॥१११०॥

आचारवृत्ति—शंख आदि दो-इन्द्रिय जीवों की उत्कृष्ट आयु बारह वर्ष है और गोभी अर्थात् खजूर (कीड़ा) आदि तीन-इन्द्रिय जीवों की उनंचास दिन-रात की उत्कृष्ट आयु है।

चार-इन्द्रिय और पाँच-इन्द्रिय जीवों की आयु कहते हैं—

गाथार्थ—चार-इन्द्रिय जीवों की छह मास की उत्कृष्ट आयु है। पंचेन्द्रियों की आयु इससे आगे कहेंगे ॥११११॥

आचारवृत्ति—भ्रमर आदि चार-इन्द्रिय जीवों की उत्कृष्ट आयु छह मास तक है। अब इससे आगे पंचेन्द्रियों की आयु का वर्णन करेंगे।

उसे ही कहते हैं—

गाथार्थ—मत्स्यों की पूर्वकोटि, परिसर्पों की नवपूर्वांग और सर्पों की ब्यालीस हजार वर्ष प्रमाण उत्कृष्ट आयु है ॥१११२॥

आचारवृत्ति—वर्ष को दश से गुणा करने पर दश वर्ष, दश को दश से गुणित करने

---

१. क षण्मासा ।

सहस्रं दशगुणितं दशवर्षसहस्राणि, दशवर्षसहस्राणि दशगुणितानि वर्षशतसहस्रं, वर्षशतसहस्रं दशगुणितं दश-वर्षशतसहस्राणि, दशवर्षशतसहस्राणि दशगुणितानि कोटी, दशगुणिता कोटी दशकोटी[1], दशकोटी[1] दशगुणिता कोटीशतं, कोटीशतं दशगुणितं कोटीसहस्रं, कोटीसहस्रं दशगुणितं दशकोटीसहस्राणि, दशकोटीसहस्राणि दश-गुणितानि लक्षकोटीस्येवमादि कालप्रमाणं नेतव्यमिति। वर्षलक्षं चतुरशीतिरूपगुणितं पूर्वांगं भवति, पूर्वांगं चतुरशीतिलक्षगुणितं पूर्वं भवति, पूर्वस्य तु प्रमाणं सप्ततिकोटीशतसहस्राणि कोटीनां तु षट्पंचाशत्सहस्राणि चेति। प्रस्तुतं वक्ये मच्छाणं---मत्स्यानां, पुव्वकोडी---पूर्वकोटी पूर्वाणां कोटी पूर्वकोटी "सप्ततिकोटीशतसह-स्राणि कोटीनां षट्पंचाशत्सहस्राणि च कोटीगुणितानि पूर्वकोटी भवति"। परिसप्पाणं---परिसर्पन्तीति परिसर्पाः गोधेरगोधादयस्येषां परिसर्पाणां, तु णवय पुव्वंगा---नवैव पूर्वांगानि चतुरशीतिलक्षाणि नवगुणितानि, बादा-लीसं---द्वाचत्वारिंशत्, सहस्सा---सहस्राणि, उत्तरगाथार्द्धे वर्षशब्दस्तिष्ठति तेन सह संबन्धः न पूर्वपूर्वांगाभ्या-मिति, ताभ्यां सह वर्षाणां सम्बन्धे पूर्वागमविरोधः स्यात्तस्माद्द्वाचत्वारिंशत्सहस्राणीति संभवन्ति, उरगाणं---उरसा गच्छन्ति इति उरगाः सर्पास्तेषामुरगाणां, होदि---भवति, उक्कस्सं---उत्कृष्टम्। मत्स्यानां पूर्वकोटी परमायुः परिसर्पाणां तु नवैव पूर्वांगानि सर्पाणां पुनः परमायुर्वर्षाणां द्वाचत्वारिंशत्सहस्राणीति ॥१११२॥

पक्षिणामसंज्ञिनां च परमायुःप्रमाणमाह---

पक्खीणं उक्कस्सं वाससहस्सा बिसत्तरी होंति।
एगा य पुव्वकोडी असण्णीणं तह य कम्मभूमीणं ॥१११३॥

पर सौ वर्ष, सौ को दश से गुणित करने पर हजार वर्ष, हजार को दश से गुणित करने पर दश हजार वर्ष, दश हजार को दश से गुणा करने पर लाख वर्ष, लाख को दश से गुणा करने पर दश लाख वर्ष, दश लाख को दश से गुणा करने पर करोड़ वर्ष, करोड़ को दश से गुणा करने पर दश करोड़ वर्ष, दश करोड़ को दश से गुणा करने पर सौ करोड़ वर्ष, सौ करोड़ को दश से गुणा करने पर हजार करोड़ वर्ष, हजार करोड़ को दश से गुणा करने पर दश हजार करोड़ वर्ष दश हजार करोड़ को दश से गुणा करने पर लक्ष कोटि प्रमाण होता है। इत्यादि प्रकार से काल का प्रमाण समझना चाहिए।

एक लाख वर्ष को चौरासी से गुणा करने पर पूर्वांग होता है। पूर्वांग को चौरासी लाख से गुणा करने पर पूर्व होता है। अर्थात् सत्तर लाख, छप्पन हजार करोड़ वर्षों (७०५६०००,०००००००) का एक पूर्व होता है। अब प्रस्तुत प्रकरण को कहते हैं।

मत्स्यों की एक कोटिपूर्व वर्ष उत्कृष्ट आयु है। सत्तर लाख करोड़ और छप्पन हजार करोड़ वर्षों को करोड़ से गुणा करने पर एक पूर्व कोटि वर्ष का प्रमाण होता है। गोह आदि प्राणियों की उत्कृष्ट आयु नव पूर्वांग है। अर्थात् चौरासी लाख वर्ष को नव से गुणा करने पर नव पूर्वांग संख्या होती है। सर्पों की उत्कृष्ट आयु ब्यालीस हजार वर्ष है। गाथा में यद्यपि 'वर्ष' शब्द नहीं है फिर भी वह आगे गाथा में है उससे सम्बन्ध किया गया है।

पक्षियों और असंज्ञी जीवों की उत्कृष्ट आयु का प्रमाण कहते हैं---

गाथार्थ---पक्षियों की उत्कृष्ट आयु बहत्तर हजार वर्ष है तथा असंज्ञी जीव और कर्म-भूमि जीवों की उत्कृष्ट आयु एक कोटिपूर्व वर्ष है ॥१११३॥

१-२. क दशकोटय:।

पक्खीणं—पक्षिणां भेरुंडादीनां, उक्कस्सं—उत्कृष्टमायुरिति संबन्धः, वाससहस्सा—वर्षसहस्राणि, बिसत्तरी—द्वासप्ततिः, होंति—भवन्ति। एगा य—एका च, पुव्वकोडी—पूर्वकोटी, असण्णीणं—असंज्ञिनां मनोविरहितपंचेन्द्रियाणां, तह—तथा, कम्मभूमिजाणं—कर्मभौमानां "कर्मभौमशब्दोऽनन्तराणां सर्वेषां विशेषणम्" तथाशब्देन सप्ततिशतार्यखण्डप्रभवा मनुष्याः परिगृह्यन्ते। कर्मभूमिजानां पक्षिणामुत्कृष्टमायुर्द्वासप्ततिवर्षसहस्राणि भवन्ति, असंज्ञिनां, कर्मभूमिजमनुष्याणामन्येषां कर्मभूमिप्रतिभागजानां चैका पूर्वकोटी वर्षाणां परमायुर्भवतीति ॥१११३॥

अथ भोगभूमिजानां किंप्रमाणं परमायुरित्यत आह—

हेमवदवंसयाणं तहेव हेरण्णवंसवासीणं।
मणुसेसु य मेच्छाणं हवदि तु पलिदोपमं एक्कं ॥१११४॥

हेमवदवंसयाणं—हैमवतवंशजानां, तहेव—तथैव हैरण्यवतवंशवासिनां, मणुसेसु य—मानुषेषु च मध्ये, मेच्छाणं—म्लेच्छानां सर्वम्लेच्छखण्डेषु जातानां भोगभूमिप्रतिभागजानां अन्तर्द्वीपजानां वा समुच्चयचशब्देन, हवदि तु—भवति तु, पलिदोपमं—पल्योपममेकम्। पंचसु जघन्यभोगभूमिषु हैमवतसंज्ञकासु[1] तथा परासु पंचसु जघन्यभोगभूमिषु हैरण्यवतसंज्ञकासु च मध्ये सर्वम्लेच्छखण्डेषु जातानां भोगभूमिप्रतिभागजाना-मन्तर्द्वीपजानां च पल्योपममेकं परमायुरिति ॥१११४॥

मध्यमभोगभूमिजानां परमायुःप्रमाणमाह—

हरिरम्मयवंसेसु य हवंति पलिदोवमाणि खलु दोण्णि।
तिरिएसु य सण्णीणं तिण्णि य तह कुरुवगाणं च ॥१११५॥

आचारवृत्ति—भेरुण्ड आदि पक्षियों की उत्कृष्ट आयु बहत्तर हजार वर्ष प्रमाण है। 'कर्मभौम' शब्द अनन्तर के सभी का विशेषण है। और 'तथा' शब्द से एक सौ सत्तर आर्य खण्ड में होनेवाले मनुष्यों को लेना। अर्थात् कर्मभूमिज पक्षियों की उत्कृष्ट आयु बहत्तर हजार वर्ष है। असंज्ञी—मनरहित पंचेन्द्रिय तिर्यंचों की, कर्मभूमिज मनुष्यों की तथा कर्मभूमि के प्रतिभाग में होनेवाले मनुष्यों की उत्कृष्ट आयु एक कोटिपूर्व वर्ष की है।

भोगभूमिजों की आयु कितने प्रमाण है? उसे ही बताते हैं—

गाथार्थ—हैमवतक्षेत्र में होनेवाले और हैरण्यवत क्षेत्र में होनेवाले जीवों की, मनुष्यों में म्लेच्छों की उत्कृष्ट आयु एक पल्योपम है ॥१११४॥

आचारवृत्ति—पाँच हैमवत क्षेत्र हैं, उनमें जघन्य भोगभूमि है। पाँच हैरण्यवत क्षेत्र हैं, उनमें भी जघन्य भोगभूमि है। इनमें होनेवाले भोगभूमिजों की उत्कृष्ट आयु एक पल्य है। सर्वम्लेच्छ खण्डों में होनेवाले, भोगभूमि के प्रतिभाग में होनेवाले अथवा अन्तर्द्वीप में होनेवाले कुभोगभूमि के मनुष्य—इन सब की उत्कृष्ट आयु एक पल्योपम प्रमाण है।

मध्यम भोगभूमिजों आदि की उत्कृष्ट आयु कहते हैं—

गाथार्थ—हरिक्षेत्र और रम्यकक्षेत्र के जीवों की उत्कृष्ट आयु दो पल्योपम है। संज्ञी तिर्यंच और देवकुरु-उत्तरकुरु के मनुष्यों की आयु तीन पल्योपम है ॥१११५॥

---

१. जातानां तिर्यङ्मनुष्याणां परमायुः पल्यमेकमेव भवति तथा मनुष्येषु च मध्ये सर्वम्लेच्छखण्डेषु जातानां भोगभूमिप्रतिभागजानामन्तर्द्वीपजानां च पल्योपममेकं परमायुरिति इति क प्रतौ।

मनुष्या इत्यनुवर्तते, हरिरम्मयवंसेसु य—हरिरम्यकवंशेषु च, वंशशब्दोऽत्र प्रत्येकमभिसंबध्यते, पंचसु हरिवंशेषु मध्यमभोगभूमिषु पंचसु रम्यकवंशेषु च हवंति—भवतः, पलिदोवमाणि—पल्योपमानि, द्वे खलु स्फुटं, दोण्णि—द्वे । तिरिएसु य—तिर्यक्षु च तिरश्चां वा तिर्यक्शब्दः प्रत्येकभोगभूमिषु संबध्यते, सण्णीणं—संज्ञिनां समनस्कानां "अत्र संज्ञिशब्दो भोगभूमिषु असंज्ञिनामभावप्रतिपादकः । भोगभूमिजास्तिर्यंचः संज्ञिन एवेति" । तिण्णि य—त्रीणि च, तह य—तथा, कुरवगाणं—कौरवकाणां चात्र कुरुशब्द उत्तरकुरुदेवकुरुषु वर्तमानो गृह्यते सामान्यनिर्देशात् । पंचसु च हरिवंशेषु मध्यमभोगभूमिषु पंचसु च रम्यकवर्षे मध्यमभोगभूमिषु च मनुष्याणां तिरश्चां च संज्ञिनां द्विपल्योपमं परमायुः, पंचसूत्तरकुरुषु पंचसु देवकुरुषु चोत्कृष्टभोगभूमिषु मनुष्याणां तिरश्चां च त्रीणि पल्योपमानि परमायुरिति ॥१११५॥

नारकाणां देवानां च परमायुषः स्थितिं प्रतिपादयन्नाह—

देवेसु णारयेसु य तेत्तीसं होंति उवधिमाणाणि ।
उक्कस्सयं तु आऊ वाससहस्सा दस जहण्णा ॥१११६॥

देवेसु—देवानामणिमाद्यष्टर्द्धिप्राप्तानां, णारयेसु य—नारकाणां च सर्वाशुभकराणाम् अथवा देवेषु नारकेषु च विषये, तेत्तीसं—त्रयस्त्रिंशत् त्रिभिरधिकं दशानां त्रयं, होंति—भवन्ति, उदधिमाणाणि सागरोपमाणि, उक्कस्सयं तु—उत्कृष्टं, तु शब्दोऽवधारणार्थम्[1] । आऊ—आयुः, वाससहस्सा—वर्षाणां सहस्राणि, दस—

आचारवृत्ति—हरिवंशों में अर्थात् पाँच हरिक्षेत्रों में मध्यम भोगभूमि है । वहाँ होनेवाले मनुष्यों की तथा पाँच रम्यकवंश— रम्यकक्षेत्र नामक मध्यम भोगभूमि में होनेवाले मनुष्यों की उत्कृष्ट आयु दो पल्योपम है । यहाँ गाथा के 'तिर्यंच' शब्द को सभी भोगभूमि में घटित करना चाहिए तथा संज्ञी शब्द से ऐसा समझना कि भोगभूमि में असंज्ञी तिर्यंचों का अभाव है अर्थात् भोगभूमिज तिर्यंच संज्ञी ही होते हैं । 'कुरु' शब्द से देवकुरु और उत्तरकुरु दोनों का ग्रहण हो जाता है । पाँच देवकुरु और पाँच उत्तरकुरु में उत्तम भोगभूमि है । वहाँ के मनुष्यों और तिर्यंचों की उत्कृष्ट आयु तीन पल्योपम है ।

भावार्थ—हैमवत, हैरण्यवत क्षेत्रों में जघन्य भोगभूमि की व्यवस्था है । वहाँ के मनुष्य और तिर्यंचों की उत्कृष्ट आयु एक पल्य है । हरिक्षेत्र और रम्यक क्षेत्रों में मध्यम भोगभूमि है । वहाँ के मनुष्यों एवं तिर्यंचों की उत्कृष्ट आयु तीन पल्योपम है । म्लेच्छ खण्ड के मनुष्यों की, कुभोगभूमि के मनुष्यों की तथा भोगभूमि-प्रतिभागज मनुष्यों की आयु एक पल्योपम है ।

नारकी और देवों की आयु कहते हैं—

गाथार्थ—देवों और नारकियों की उत्कृष्ट आयु तेतीस सागर प्रमाण है और जघन्य आयु दस हजार वर्ष ॥१११६॥

आचारवृत्ति—अणिमा आदि ऋद्धियों से संयुक्त देव कहलाते हैं तथा सर्व अशुभ ही करनेवाले नारकी होते हैं । इन देव और नारकियों की उत्कृष्ट आयु तेतीस सागर प्रमाण और जघन्य आयु दस हजार वर्ष की है । यह सामान्य कथन द्रव्यार्थिक शिष्यों के अनुग्रह के लिए है ।

---

१. क सर्वोप॰ । २. क अवधारणपरः ।

दश, जहण्णं—जघन्यं निकृष्टं, सामान्यकथनमेतद् द्रव्यार्थिकशिष्यानुग्रहनिमित्तं विस्तरतः [1]सूत्रेणोत्तरत्र [2]कथनं पर्यायार्थिकशिष्यानुग्रहार्थं "सर्वानुग्रहकारी च सतां प्रयासो" यस्ततः सामान्यविशेषात्मकं प्रतिपादनं युक्तमेव सामान्यविशेषात्मकत्वाच्च सर्ववस्तूनां सामान्येन प्रतिपन्ने सति विशेषस्य सुखेनावगतिर्नित्यक्षणिकैकान्तवादिमतं च निराकृतं भवति। सामान्येन देवानां नारकाणां चोत्कृष्टमायुः त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि जघन्यं च देवनारकाणामायुर्दशवर्षसहस्राणीति ॥१११६॥

अल्पप्रपंचत्वात्प्रथमतरं तावन्नारकाणां सामान्यसूत्रसूचितं प्रकृष्टमायुःप्रमाणं सर्वपृथिवीनां प्रतिपादयन्नाह—

एक्कं च तिण्णि सत्तय दस सत्तरसेव होंति बावीसा।
तेत्तीसमुदधिमाणा पुढवीण ठिदीणमुक्कस्सं ॥१११७॥

एक्कं च एकं च सर्वत्रोदधिमानानीत्यनेन संबन्धः तिण्णि—त्रीणि, सत्तय—सप्त च, दस—दश, सत्तरस—सप्तदश एवकारोऽवधारणार्थः, होंति—भवन्ति, बावीसं—द्वाविंशतिः, तेत्तीसं—त्रयस्त्रिंशत्, उदधिमाणा—उदधिमानानि, पुढवीणं—पृथिवीनां रत्नशर्करावालुकापंकधूमतमोमहातमःप्रभाणां सप्तानां यथासंख्येन संबन्धः, ठिदीणं—स्थितीनामायुरित्यनुवर्तते तेनायुःस्थितीनां नान्यकर्मस्थितीनां ग्रहणं भवति नापि नरकभूमिस्थितीनामिति, उक्कस्सं—उत्कृष्टम्। रत्नप्रभायां त्रयोदशप्रस्तरे नारकाणा[3]मायुःस्थितेः प्रमाणमेकसागरोपमं, शर्कराप्रभायामेकादशप्रस्तरेऽधोनारकाणां परमायुः स्थितेः प्रमाणं त्रीणि सागरोपमाणि। वालुकाप्रभायां नवमप्रस्तरे-

---

पर्यायार्थिक शिष्यों के प्रति अनुग्रह करने के लिए आगे सूत्रों द्वारा विस्तार से इन सबकी आयु का वर्णन करेंगे। चूंकि सत्पुरुषों का प्रयास सभी जनों पर अनुग्रह करनेवाला होता है, इसलिए सामान्य और विशेष रूप से प्रतिपादन करना युक्त ही है। और फिर, सभी वस्तुएँ सामान्य-विशेषात्मक ही हैं। सामान्य से किसी वस्तु को जान लेने पर विशेष का सुखपूर्वक सहज ही ज्ञान हो जाता है। इस सामान्य-विशेष के कथन से नित्यैकान्तवादी और क्षणिकैकान्तवादी के मतों का निराकरण हो जाता है। अर्थात् इस गाथा में देव-नारकियों की सामान्य आयु कहकर आगे विशेषतः कहेंगे।

थोड़ा विस्तार होने से, सबसे पहले नारकियों की सामान्य सूत्र से सूचित उत्कृष्ट आयु का प्रमाण सर्वपृथिवियों में प्रतिपादित करते हैं—

गाथार्थ—सात नरकों में क्रम से उत्कृष्ट आयु एक, तीन, सात, दश, सत्रह, बाईस और तेतीस सागर प्रमाण है ॥१११७॥

आचारवृत्ति—रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, बालुकाप्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा, तमःप्रभा और महातमःप्रभा, क्रमशः ये सात नरकभूमियों के नाम हैं। इन नरकों में रहनेवाले नारकियों की आयु का प्रमाण यहाँ पर कहा गया है। उन नरकभूमियों की स्थिति अथवा वहाँ के नारकियों के अन्य कर्मों की स्थिति का ग्रहण यहाँ नहीं है। रत्नप्रभा नरक में तेरह प्रस्तार हैं। अन्तिम प्रस्तार के नारकियों की उत्कृष्ट आयु एक सागर है। शर्कराप्रभा नरक में ग्यारह प्रस्तार हैं। उनमें से अन्तिम प्रस्तार में नारकियों की उत्कृष्ट आयु तीन सागर है। बालुकाप्रभा नामक

---

१. क संग्रहसूत्रेण २. क उत्तरत्र कथनं च विस्तरसूत्रेण। ३. क नारकाणां परमायुःस्थितेः।

ऽश्रोनारकाणां परमायुःस्थितेः प्रमाणं दशसागरोपमाणि,* धूमप्रभायां पंचमप्रस्तरे परमायुःस्थितेः प्रमाणं सप्तदशसागरोपमाणि, तमःप्रभायां तृतीयप्रस्तरे नारकाणां परमायुःस्थितेः प्रमाणं द्वाविंशतिः सागराणाम्। महातमःप्रभायाम् अवधिस्थाननरके नारकाणां परमायुःस्थितेः प्रमाणं त्रयस्त्रिंशदुदधिमानानि इति। प्रथमायां तावत्तत एवमभिसंबन्धः किमर्थं रत्नप्रभायां नारकाणामेकसागरोपममुत्कृष्टायुःस्थितिरित्येवं सर्वदात्र सर्वेऽपि मध्यमविकल्पा आयुःस्थितेर्वक्तव्या देशामर्शकसूत्रेण (?) सूचितत्वात्। प्रथमायां पृथिव्यां प्रथमप्रस्तरे सीमन्तकेन्द्रके नारकाणां परमायुषः स्थितेः प्रमाणं नवतिसहस्रवर्षप्रमाणं भवति, द्वितीयेन्द्रके नारकाभिरव्ये वर्षाणां नवतिलक्षाणि, तृतीयकेन्द्रके रौरुकनाम्नि पूर्वकोट्यस्त्वसंख्येयाः, चतुर्थेन्द्रके भ्रान्तसंज्ञके सागरोपमस्य दशमभागः, पंचमेन्द्रक उद्भ्रान्ताभिधाने द्वौ दशभागौ, षष्ठेन्द्रके संभ्रान्तके दशभागास्त्रयः, सप्तमेन्द्रकेऽसंभ्रान्तनाम्नि दशभागाश्चत्वारः, अष्टमेन्द्रके विभ्रान्ते दशभागाः पंच, नवमेन्द्रके त्रस्तसंज्ञके दशभागाः षट्, दशमेन्द्रके त्रसिते दशभागाः सप्त, एकादशेन्द्रके वक्रान्ते दशभागा अष्टौ, द्वादशेन्द्रकेऽवक्रान्ते दशभागा नव, त्रयोदशेन्द्रके विक्रान्ते दशभागा दश, दशसागरोपमस्येति सर्वत्र संबन्धः। द्वितीयायां पृथिव्यां नारकाणां प्रथमेन्द्रके तत्रकसंज्ञके परमायुषः स्थितेः प्रमाणं द्विसागरोपमस्यैकादशभागाभ्यामधिकं सागरोपमं, द्वितीयेन्द्रके स्तनके सागरोपम-

---

तीसरे नरक में नौ प्रस्तार हैं। उनमें से अन्तिम प्रस्तार में नारकियों की उत्कृष्ट आयु सात सागर है। पंकप्रभा में सात प्रस्तार हैं, अन्तिम प्रस्तार में नारकियों की उत्कृष्ट आयु दश सागर है। धूमप्रभा में पाँच प्रस्तार हैं, अन्तिम प्रस्तार में नारकियों की उत्कृष्ट आयु सत्रह सागर है। तमःप्रभा में तीन प्रस्तार हैं वहाँ अन्तिम प्रस्तार में नारकियों की उत्कृष्ट आयु बाईस सागर है तथा महातमःप्रभा में एक ही प्रस्तार है। उस अवधिस्थान नामक प्रस्तार मे नारकियों की उत्कृष्ट आयु तेतीस सागर प्रमाण है।

अब प्रथम नरक में ऐसा सम्बन्ध करना कि इस रत्नप्रभा में नारकियों की उत्कृष्ट आयु एक सागर प्रमाण है। इस प्रकार से हमेशा यहाँ पर आयु के मध्यम विकल्प होते हैं जोकि देशामर्शकसूत्र से सूचित किये गये है। उनको कहना चाहिए। सो ही स्पष्ट करते है—

प्रथम पृथिवी में सीमन्तक इन्द्रक नामक प्रथम प्रस्ताव में नारकियों की उत्कृष्ट आयु नब्बे हजार वर्ष प्रमाण है। नारक नामक द्वितीय इन्द्रक में नब्बे लाख वर्ष है। रौरुक नामक तृतीय इन्द्रक में असंख्यात पूर्वकोटि है। भ्रान्तसंज्ञक चौथे इन्द्रक में एक सागर के दशवें भाग प्रमाण है। उद्भ्रान्त नामक पाँचवें इन्द्रक में सागर के दश भाग में से दो भाग है। संभ्रान्त नामक छठे इन्द्रक में एक सागर के दश भाग में से तीन भाग प्रमाण है। असंभ्रान्त नामक सातवें इन्द्रक में एक सागर के दश भाग में से चार भाग है। विभ्रान्त नामक आठवें इन्द्रक में एक सागर के दश भाग में से पाँच भाग है। त्रस्त नामक नवमें इन्द्रक में सागर के दश भाग में से छह भाग है। त्रसित नामक दशवें इन्द्रक में सागर के दश भाग में से सात भाग है। वक्रान्त नामक ग्यारहवें इन्द्रक में सागर के दश भाग में से आठ भाग है। अवक्रान्त नामक बारहवें इन्द्रक में सागर के दश भाग में से नौ भाग है और विक्रान्त नामक तेरहवें इन्द्रक में सागर के दश भाग में से दश भाग अर्थात् एक सागर प्रमाण है।

द्वितीय पृथिवी में नारकियों की ततक नामक प्रथम इन्द्रक में एक सागर और द्वितीय

---

* [पंकप्रभायां सप्तमप्रस्तरेऽश्रोनारकाणां परमायुःस्थितेः प्रमाणं सप्तसागरोपमाणि]

मेकादशचतुर्भागैरधिकं, तृतीयेन्द्रके मनके सागरोपमं षड्भिरेकादशभागैरधिकं, चतुर्थेन्द्रके वनके सागरोपममे-कादशभागैरष्टभिरधिकं, पंचमेन्द्रके घाटसंज्ञके सागरोपममेकादशभागैर्दशभिरधिकं, षष्ठेन्द्रके संघाटकसंज्ञके द्वे सागरोपमे एकादशभागेनाधिके, सप्तमेन्द्रके जिह्वाख्ये द्वे सागरोपमे त्रिभिरेकादशभागैरधिके, अष्टमेन्द्रके जिह्वि[1]कनाम्नि द्वे सागरोपमे पंचभिरेकादशभागैरधिके, नवमेन्द्रके लोलनामके द्वे सागरोपमे सप्तभिरे-कादशभागैरधिके, दशमेन्द्रके लोलुपाख्ये द्वे सागरोपमे नवभिरेकादशभागैरधिके, एकादशेन्द्रके स्तन-लोलुपनाम्नि उक्तान्येव त्रीणि सागरोपमाणीति। तृतीयायां पृथिव्यां प्रथमेन्द्रके तप्तनाम्नि नारकाणां परमायुषः प्रमाणं त्रीणि सागरोपमाणि सागरोपमस्य नवभागैश्चतुर्भागैरभ्यधिकानि, द्वितीयेन्द्रके [2]त्रस्त-नामके सागरास्त्रयो नवाष्टभागैरभ्यधिकाः, तृतीयके तपनसंज्ञके चत्वारः सागरा नवभागैस्त्रिभिरभ्य-धिकाः, चतुर्थप्रस्तरे तापनाख्ये चत्वारः सागराः सप्तभिर्नवभागैरभ्यधिकाः, पंचमेन्द्रके निदाघाख्ये पंच सागरा नवभागा द्वाभ्यामधिकाः, षष्ठेन्द्रके प्रज्वलिते पंच सागराः नवभागैः षड्भिरभ्यधिकाः सप्तमेन्द्रके ज्वलिते षट् सागरा नवभागेनैकेनाभ्यधिकाः, अष्टमेन्द्रके संज्वलिते षट् पयोधयो नावभागैः पंचभिरभ्य-धिकाः, नवमेन्द्रके संज्वलिते उक्तान्येव सप्तसागरोपमाणि। चतुर्थ्यां पृथिव्यां नारकाणां परमायुषः

सागर के ग्यारहवें भाग प्रमाण उत्कृष्ट आयु है। स्तनक नामक द्वितीय इन्द्रक में एक सागर और द्वितीय सागर के ग्यारह भागों में से चार भाग अधिक है। मनक नामक तृतीय इन्द्रक में सागर के ग्यारह भागों में से छह भाग अधिक एक सागर है। वनक नामक चौथे इन्द्रक में एक सागर के ग्यारह भागों में से आठ भाग अधिक एक सागर है। घाट संज्ञक पाँचवें इन्द्रक में एक सागर के ग्यारह भाग में से आठ भाग अधिक एक सागर है। संघाटक नामक छठे इन्द्रक में एक सागर के ग्यारहवें भाग अधिक दो सागर है। जिह्वा नामक सातवें इन्द्रक में एक सागर के ग्यारह भागों में से तीन भाग अधिक दो सागर है। जिह्विक नामक आठवें इन्द्रक में एक सागर के ग्यारह भागों में से पाँच भाग अधिक दो सागर है। लोल नामक नवमें इन्द्रक में एक सागर के ग्यारह भागों में से सात भाग अधिक दो सागर है। लोलुप नामक दसवें इन्द्रक में एक सागर के ग्यारह भागों में से नौ भाग अधिक दो सागर है तथा स्तनलोलुप नामक ग्यारहवें इन्द्रक में उत्कृष्ट आयु तीन सागर प्रमाण है।

तीसरी पृथिवी के तप्त नामक प्रथम इन्द्रक में नारकियों की उत्कृष्ट आयु एक सागर के नव भागों में से चार भाग अधिक तीन सागर प्रमाण है। त्रस्त नामक द्वितीय इन्द्रक में एक सागर के नव भागों में से आठ भाग अधिक तीन सागर है। तपन नामक तृतीय इन्द्रक में एक सागर के नव भागों में से तीन भाग अधिक चार सागर है। तापन नामक चतुर्थ प्रस्तार में सागर के नव भागों में से सात भाग अधिक चार सागर है। निदाघ नामक पाँचवें इन्द्रक में सागर के नव भागों में से दो भाग अधिक पाँच सागर है। प्रज्वलित नामक छठे इन्द्रक में एक सागर के नव भागों में से छह भाग अधिक पाँच सागर है। ज्वलित नामक सातवें इन्द्रक मे एक सागर के नव भागों में से एक भाग अधिक छह सागर है। संज्वलित नामक आठवें इन्द्रक में एक सागर के नौ भागों में से पाँच भाग अधिक छह सागर है। संज्वलित नामक नवमें इन्द्रक में सात सागरोपम है।

---

१. क जिह्विकाख्ये। २. क तपितनाम्नि।

प्रमाणं—प्रथमेन्द्रक आरनाम्नि सप्त पयोधयः त्रिभिः सप्तभागैरभ्यधिकाः, द्वितीयेन्द्रके तारसंज्ञके सप्त समुद्राः सप्तभागैः षड्भिरभ्यधिकाः, तृतीयेन्द्रके मारनाम्नि पयोधयोऽष्टौ सप्तभागाभ्यां द्वाभ्यामधिकाः, चतुर्थेन्द्रके वर्चस्कनाम्नि सागरा अष्टौ पंचभिः सप्तभागैरभ्यधिकाः, पंचमेन्द्रके तमके नव सागराः सप्तभागेनाधिकाः, षष्ठेन्द्रके खरनाम्नि नव सागराश्चतुर्भिः सप्तभागैरभ्यधिकाः, सप्तमेन्द्रके खडखडे उक्तान्येव दश सागरोपमाणि । पंचम्यां पृथिव्यां नारकाणां परमायुः प्रमाणं—प्रथमेन्द्रके तमोनाम्नि एकादशार्णवा द्विसागरस्य पंचभागाभ्यामधिकाः, द्वितीयेन्द्रके भ्रमरसंज्ञके द्वादशसागराश्चतुर्भिः पंचभागैरभ्यधिकाः तृतीयेन्द्रके ऋषभनाम्नि चतुर्दश पयोधयः पंचभागेनाऽभ्यधिकाः, चतुर्थेन्द्रकेऽन्धसंज्ञके पंचदशोदधयस्त्रिभिः पंच भागैरभ्यधिकाः, पंचमेन्द्रके तमिस्राभिधाने कथितान्येव सप्तदशसागरोपमाणि । षष्ठ्यां पृथिव्यां नारकाणां परमायुः—प्रथमेन्द्रके हिमनाम्नि सागरोपमस्य द्विस्त्रिभागाभ्यामधिका अष्टादशपयोधयः द्वितीयेन्द्रके वर्दलसंज्ञके विंशतिपयोधयस्त्रिभागेनाभ्यधिकाः, तृतीयेन्द्रके लल्लकनाम्नि उक्तान्येव द्वाविंशतिसागरोमाणि, सप्तम्यां तु पृथिव्यामवधिस्थानसंज्ञकेन्द्रके नारकाणां त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाण्येव परमायुषः । श्रेणिबद्धेषु प्रकीर्णकेषु च नारकाणां स्वकीयेन्द्रकप्रतिबद्धमुत्कृष्टमायुर्वेदितव्यम् । यदल्पं तन्मुखं बृहद्भूमिः मुखं भूमेर्विशोध्य विशुद्धं च शेषमुच्छ्रयभाजितमिच्छया गुणितं मुखसहितं च कृत्वा सर्वत्र वाच्यमिति ॥११७॥

चौथी पृथिवी में नारकियों की उत्कृष्ट आयु का प्रमाण—आर नामक प्रथम इन्द्रक में एक सागर के सात भागों में से तीन भाग अधिक सात सागर है। तार नामक द्वितीय इन्द्रक में एक सागर के सात भागों में से छह भाग अधिक सात सागर है। मार नामक तृतीय इन्द्रक में एक सागर के सात भागों में से दो अधिक आठ सागर है। वर्चस्क नामक चतुर्थ इन्द्रक में सागर के सात भाग में से पाँच भाग अधिक आठ सागर है। तमक नामक पाँचवें इन्द्रक में सागर के सातवें भाग अधिक नव सागर है। खर नामक छठे इन्द्रक में एक सागर के सात भाग में से चार भाग अधिक नवसागर है। खडखड नामक सातवें इन्द्रक में दश सागर प्रमाण आयु है।

पाँचवीं पृथिवी में नारकियों की उत्कृष्ट आयु— तम नामक प्रथम इन्द्रक में एक सागर के पाँचवें भाग अधिक ग्यारह सागर प्रमाण है। भ्रमर नामक द्वितीय इन्द्रक में सागर के पाँच भागों में से चार भाग अधिक बारह सागर है। ऋषभ नामक तृतीय इन्द्रक में एक सागर के पाँचवें भाग अधिक चौदह सागर है। अधःसंज्ञक चतुर्थ इन्द्रक में एक सागर के पाँच भाग में से तीन भाग अधिक पन्द्रह सागर है। तमिस्र नामक पाँचवें इन्द्रक में सत्रह सागर प्रमाण है।

छठी पृथिवी में नारकियों की उत्कृष्ट आयु—हिम नामक प्रथम इन्द्रक में एक सागर के तीन भाग में से दो भाग अधिक अठारह सागर है। वर्दल नामक द्वितीय इन्द्रक में एक सागर के तीसरे भाग अधिक बीस सागर है। लल्लक नामक तीसरे इन्द्रक में बाईस सागर प्रमाण है।

सातवीं पृथिवी में अवधि स्थान इन्द्रक में नारकियों की उत्कृष्ट आयु तेतीस सागर प्रमाण है।

प्रत्येक नरक के श्रेणीबद्ध और प्रकीर्णक बिलों में नारकियों की उत्कृष्ट आयु अपने-अपने इन्द्रक से सम्बन्धित उत्कृष्ट आयु प्रमाण ही जानना चाहिए। जो अल्प संख्या है उसको मुख मानकर अधिक संख्या रूप भूमि में से मुख को घटाकर जो शेष रहे उसमें पद के प्रमाण से भाग देकर तथा इच्छा राशि से गुणित कर मुख सहित करके सर्वत्र आयु का प्रमाण निकालकर कहना चाहिए।

सर्वपृथिवीषु नारकाणां जघन्यस्थितिमायुषः प्रतिपादयन्नाह—

पढमादियमुक्कस्सं बिदियादिसु साधियं जहण्णसं ।
धम्माय भवणवितर वाससहस्सा दस [1]जहण्णं ॥११९८॥

पढमादिय—प्रथमादिर्यस्य तत्प्रथमादिकं आयुरिति संबध्यते, **उक्कस्सं**—उत्कृष्टं, **बिदियादिसु**—द्वितीया आदिर्यासां ता द्वितीयादयस्तासु द्वितीयादिषु पृथिवीषु, **साधियं**—साधिक समयाधिकं, **जहण्णसं**—जघन्यं तत्। प्रथमायां यदुत्कृष्टं द्वितीयायां समयाधिकं जघन्यं तदायुस्तथा द्वितीयायां यदुत्कृष्टमायुर्नारकाणां[2], तृतीयायां नारकाणां समयाधिकं जघन्यं तत्। तृतीयायामुत्कृष्टं यदायुश्चतुर्थ्यां समयाधिकं जघन्यं तत्। चतुर्थ्यां यदुत्कृष्टमायुः पंचम्यां समयाधिकं जघन्यं तत्। पंचम्यामुत्कृष्टं यदायुः षष्ठ्यां समयाधिकं जघन्यं तत्। षष्ठ्यामुत्कृष्टं यदायुः सप्तम्यां समयाधिकं जघन्यं तत्। एवं सर्वासु पृथिवीषु सर्वप्रस्तरेषु सर्वेन्द्रकेषु योज्यं, प्रथमेन्द्रके यदुत्कृष्टमायुर्नारकाणां द्वितीयेन्द्रके समयाधिकं जघन्यं तत्। द्वितीयेन्द्रके यदुत्कृष्टमायुस्तृतीयेन्द्रके समयाधिकं जघन्यं तत्। एवमेकोनपंचाशदिन्द्रकेषु नेतव्यमिति। अथ केषां नारकाणां देवानां च जघन्यमायुर्दशवर्षसहस्राणीत्यत आह—**धम्माय**—धर्मायां सीमंतके नारके नारकाणां **भवण**—भवनवासिनां, **वितर**—व्यंतराणां, **वास**-

---

भावार्थ—यहाँ पर सातों नरकों के उनंचास प्रस्तार के नारकियों की उत्कृष्ट आयु बतायी है तथा वहीं के श्रेणीबद्ध व प्रकीर्णक बिलों के नारकियों की भी वही आयु है। यहाँ प्रस्तार को ही इन्द्रक कहा गया है।

सर्वपृथिवियों में नारकियों की [तथा कतिपय देवों की] जघन्य आयु का प्रतिपादन करते हैं—

गाथार्थ—प्रथम आदि नरकों की जो उत्कृष्ट आयु है, द्वितीय आदि नरकों में वही कुछ अधिक जघन्य आयु है। धर्मा नामक पृथिवी में तथा भवनवासी और व्यंतरों में जघन्य आयु दश हज़ार वर्ष है ॥११९८॥

आचारवृत्ति—प्रथम नरक में जो उत्कृष्ट आयु है, द्वितीय नरक में एक समय अधिक वही आयु जघन्य हो जाती है। तथा द्वितीय नरक में जो उत्कृष्ट आयु है उसमें एक समय मिलाकर वही तृतीय नरक में जघन्य हो जाती है। तृतीय नरक में जो उत्कृष्ट आयु है उसमें एक समय अधिक करके वही चतुर्थ में जघन्य हो जाती है। चतुर्थ की उत्कृष्ट में एक अधिक करके पाँचवें में जघन्य होती है। पाँचवीं पृथिवी की उत्कृष्ट आयु में एक समय अधिक करके छठे में जघन्य हो जाती है। छठे की उत्कृष्ट में एक समय अधिक करके सातवें में जघन्य हो जाती है।

इसी प्रकार से सभी नरकों के सभी प्रस्तारों के—सभी इन्द्रकों में लगा लेना चाहिए। जैसे कि प्रथम नरक के प्रथम इन्द्रक में जो उत्कृष्ट आयु है द्वितीय इन्द्रक में एक समय अधिक वही जघन्य है। द्वितीय इन्द्रक में जो उत्कृष्ट है तृतीय में एक समय अधिक वही जघन्य है। इसी तरह उनंचास इन्द्रक पर्यन्त ले जाना चाहिए।

पुनः किन देव और नारकियों की जघन्य आयु दश हज़ार वर्ष है?

धर्मा नामक प्रथम नरक के प्रथम सीमंतक इन्द्रक बिल में नारकियों की जघन्य आयु

---

१. क जहण्णा। २. क नारकाणां।

जहण्णा—वर्षसहस्राणि, दस—दश, जहण्णा—जघन्यायुषः स्थितिः। सीमंतकनरके नारकाणां भवनवासिनां देवानां व्यंतराणां च जघन्यमायुर्दशवर्षसहस्राणीति ॥११८॥

भवनवासिनां व्यंतराणां चोत्कृष्टमायुःप्रमाणं प्रतिपादयन्नाह—

असुरेसु सागरोवम तिपल्ल पल्लं च णागभोमाणं ।
अड्ढाइज्ज सुवण्णा दु दीव सेसा दिवड्ढं तु ॥११९॥

असुरेसु—असुराणां भवनवासिनां प्रथमप्रकाराणां अंबावरीषादीनां, सागरोवम—सागरोपमं, तिपल्ल—त्रीणि पल्यानि त्रिपल्योपमानि, पल्लं च—पल्यं च पल्योपमं णागभोमाणं—नागेन्द्राणां—धरणेन्द्रादीनां, भोमाणं—भौमानां व्यंतराणां किनरेन्द्राणां यथासंख्येन संबन्धः नागेन्द्राणामुत्कृष्टमायुस्त्रीणि पल्योपमानि व्यंतराणां किंनरादीनामुत्कृष्टमायुरेकं पल्योपमं घातायुरपेक्ष्य सार्धपल्यम्। अड्ढाइज्ज—अर्धतृतीये द्विपल्योपमे पल्योपमार्धाधिके द्वे पल्योपमे, सुवण्णा—सुपर्णकुमाराणां, दु—तु द्वे पल्योपमे दीव—द्वीपानां द्वीपकुमाराणां, सेसा—शेषाणां विद्युदग्निस्तनितोदधिदिग्वायुकुमाराणां, दिवड्ढं तु—अर्धाधिकं पल्योपमं पल्योपमार्द्धेनाधिकमेकं पल्योपमम्। सुपर्णकुमाराणां प्रकृष्टमायुर्द्वे पल्योपमे पल्योपमार्द्धाधिके, द्वीपकुमाराणां च द्वे पल्योपमे प्रकृष्टमायुः शेषाणां तु कुमाराणां षण्णां पल्योपमं पल्योपमार्द्धाधिकमुत्कृष्टमायुरिति ॥११९॥

ज्योतिषां जघन्योत्कृष्टमायुः शक्रादीनां च जघन्यं प्रतिपादयन्नाह—

पल्लट्ठभाग पल्लं च साधियं जोदिसाण जहण्णिदरम् ।
हेट्ठिल्लुक्कस्सठिदी सक्कादीणं जहण्णा सा ॥१२०॥

दश हजार वर्ष है तथा भवनवासी और व्यन्तर देवों की जघन्य आयु दश हजार वर्ष प्रमाण है।

भवनवासी और व्यन्तरों की उत्कृष्ट आयु का प्रमाण कहते हैं—

गाथार्थ—असुरों में उत्कृष्ट आयु एक सागर, नागकुमार की तीन पल्य, व्यन्तरों की एक पल्य, सुपर्णकुमारों की ढाई पल्य, द्वीपकुमारों की दो पल्य और शेष कुमारों की डेढ़ पल्य प्रमाण है ॥११९॥

आचारवृत्ति—भवनवासियों के दश प्रकारों में प्रथम असुरकुमार देव हैं, उनमें भी अम्बावरीष आदि जाति के असुरकुमारों की उत्कृष्ट आयु एक सागर है। नागकुमारों में धरणेन्द्र आदिकों की उत्कृष्ट आयु तीन पल्य है। भौम—व्यन्तरों में किन्नर आदिकों की एक पल्य है तथा घातायु की अपेक्षा करके डेढ़ पल्य है। सुपर्णकुमारों की ढाई पल्य है। द्वीपकुमारों की दो पल्य है और शेष—विद्युत्कुमार, अग्निकुमार, स्तनितकुमार, उदधिकुमार, दिक्कुमार और वायुकुमार इन सबकी डेढ़ पल्य है। यह सब उत्कृष्ट आयु का प्रमाण है।

ज्योतिषियों की जघन्य व उत्कृष्ट आयु तथा इन्द्रादिकों की जघन्य आयु कहते हैं—

गाथार्थ—ज्योतिषी देवों की जघन्य आयु पल्य के आठवें भाग है और उत्कृष्ट आयु कुछ अधिक एक पल्य है। नीचे के देवों की जो उत्कृष्ट आयु है वही वैमानिक इन्द्रादि की जघन्य आयु है ॥१२०॥

पल्लट्ठभाग—पल्याष्टभाग: पल्योपमस्याष्टभाग', पल्लं च—पल्योपमं च साधियं—साधिकं वर्षलक्षेणाधिकं, जोदिसाण—ज्योतिषां चन्द्रादीनां, जहण्णिदरं—जघन्यमितरच्च। ज्योतिषां जघन्यमायु:' पल्योपमस्याष्टभाग उत्कृष्टं च पल्योपमं वर्षलक्षाधिकं घातायुरपेक्ष्य पल्योपमं सार्द्धमुत्कृष्टम्। हेट्ठिल्लुक्कस्सठिदी—अध उत्कृष्टायु: स्थिति:, अध:स्थितानां ज्योतिष्कादीनां, सक्कादीणं—शक्रादीनां सौधर्मादिदेवानां, जहण्णा सा—जघन्या सा। ज्योतिषां योत्कृष्टायुष: स्थिति: सौधर्मेशानयो: समयाधिका जघन्या सा सौधर्मेशानयोरुत्कृष्टायुष: स्थिति: सानत्कुमारमाहेन्द्रयोर्देवानां समयाधिका जघन्या सा, सानत्कुमार-माहेन्द्रयोर्योत्कृष्टा ब्रह्म-ब्रह्मोत्तरयो: समयाधिका जघन्या सा एवं योज्यं यावत् त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणीति ॥११२०॥

अथ कोत्कृष्टाऽऽयुष: स्थिति: शक्रादीनां या जघन्या स्यादित्यत आह—

बे सत्त दसय चोद्दस सोलस अट्ठार वीस बावीसा।
एयाधिया य एत्तो सक्कादिसु सागरुवमाणं ॥११२१॥

बे—द्वे, सत्त—सप्त, दसय—दश च, चोद्दस—चतुर्दश, सोलस—षोडश, अट्ठार—अष्टादश, वीस—विंशति:, बावीस—द्वाविंशति:, एयाधिया—एकाधिका एकैकोत्तरा, एत्तो—इतो द्वाविंशतेरूर्ध्वं, सक्कादिसु—शक्रादिषु सौधर्मेशानादिषु, सागरुवमाणं—सागरोपमानम्। सौधर्मेशानयोर्देवानां द्वे सागरोपमे परमायुष: स्थितिरघातायुषोऽपेक्ष्यैतदुक्तं सूत्रे, घातायुषोऽपेक्ष्य पुनर्द्वे सागरोपमे सागरोपमार्धेनाधिके भवत:, एवं सौधर्मेशानमारभ्य तावदर्द्धसागरोपमेनाधिकं कर्त्तव्यं सूत्रनिर्दिष्टपरमायुर्यावत्सहस्रारकल्प: उपरि

आचारवृत्ति—ज्योतिषी देवों चन्द्रआदिकों की जघन्य आयु पल्य के आठवं भाग प्रमाण है और उत्कृष्ट आयु लाख वर्ष अधिक एक पल्य है। तथा घातायुष्क की अपेक्षा डेढ़ पल्योयम उत्कृष्ट आयु है। इन अध:स्थित अर्थात् ज्योतिष आदि देवों की जो उत्कृष्ट आयु है वही एक समय अधिक होकर सौधर्म और ईशान स्वर्ग में जघन्य आयु है। सौधर्म-ईशान की उत्कृष्ट आयु एक समय अधिक होकर सानत्कुमार-माहेन्द्र स्वर्ग में जघन्य हो जाती है। सानत्कुमार-माहेन्द्र की जो उत्कृष्ट आयु है वही एक समय अधिक होकर आगे के ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर में जघन्य हो जाती है। इस प्रकार से तेतीससागर की उत्कृष्ट आयु होने पर्यन्त यही व्यवस्था समझनी चाहिए।

सौधर्म आदिकों में उत्कृष्ट स्थिति क्या है जो कि आगे जघन्य होती है? उसे ही बताते हैं—

गाथार्थ—सौधर्म आदि स्वर्गों में इन्द्रादिकों की आयु दो सागर, सात सागर, दश सागर, चौदह सागर, सोलह सागर, अठारह सागर, बीस सागर और बाईस सागर है तथा इससे आगे एक-एक सागर अधिक होती गयी है ॥११२१॥

आचारवृत्ति—सौधर्म और ईशान स्वर्ग में देवों उत्कृष्ट आयु दो सागर है। यह कथन घातायुष्क की अपेक्षा के बिना है। घातायुष्क की अपेक्षा से यह अर्ध सागर अधिक होकर ढाई सागर प्रमाण है। यह घातायुष्क की विवक्षा सहस्रार नामक बारहवें स्वर्ग तक है अत: वहाँ तक में निम्न कथित उत्कृष्ट आयु में अर्ध-अर्ध सागर बढ़ाकर ग्रहण करना चाहिए; क्योंकि सहस्रार के ऊपर घातायुष्क जीवों की उत्पत्ति का अभाव है, अत: आगे बढ़ाना चाहिए।

---

१. क-मायु: प्रमाणं।

[illegible]युषः समुत्पत्तेरभावात् । सानत्कुमारमाहेन्द्रयोः सप्त-सागरोपमाणि परमायुषः स्थितिः सर्वत्र देवानामिति सम्बन्धनीयं, ब्रह्मब्रह्मोत्तरयोर्दश सागरोपमाणि, किन्तु लौकान्तिकदेवानां सारस्वतादीनामष्टौ सागराः, लान्तवकापिष्ठयोश्चतुर्दश सागराः, शुक्रमहाशुक्रयोः षोडशाब्धयः, शतारसहस्रारयोरष्टादश पयोधयः, आनत-प्राणतयोर्विंशतिः सागरोपमानाम्, आरणाच्युतयोर्द्वाविंशतिः सागरोपमानां, सुदर्शने त्रयोविंशतिरब्धीनाम्, अमोघे चतुर्विंशतिः पयोधीनां, सुप्रबुद्धे पंचविंशतिरुदधीनां, यशोधरे षड्विंशतिर्नदीपतीनां, सुभद्रे सप्तविंशतिरुदधीनां, सुविशालेऽष्टाविंशतिरब्धीनां, सुमनस्ये एकान्नत्रिंशदुदधीनां, सौमनसे त्रिंशदर्णवानां, प्रीतिंकर एकत्रिंशदुदधीनाम्, अनुदिशि द्वात्रिंशदुदधीनां, सर्वार्थसिद्धौ त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमानामेवं त्रिषष्टिपटलेषु चतुरशीतिलक्षविमानेषु त्रयोविंशत्यधिकसप्तनवतिसहस्राधिकेषु श्रेणिबद्धप्रकीर्णकसंज्ञविमानेषु देवानां स्वकीयस्वकीयेन्द्रकवद्देवायुषः प्रमाणं वेदितव्यं । ऋतुविमलचन्द्रवल्गुवीरारुणनन्दननलिनकांचनरोहितचंचन्मारुतर्द्धीशानवैडूर्यरुचकरुचिरांक-स्फटिकतपनीयमेघाभ्रहारिद्रपद्मलोहिताख्यवज्रनंद्यावर्तप्रभंकरपृष्ठंकरांजनमित्रप्रभाख्यान्येकत्रिंशदिन्द्रकाणि सौ-धर्मैशानयोः । अंजनवनमालानागगरुडलांगलबलभद्रचक्राणि सप्तकेन्द्रकाणि सानत्कुमारमाहेन्द्रयोः । अरिष्टदेव-संमितब्रह्मब्रह्मोत्तराणि चत्वारीन्द्रकाणि ब्रह्मलोके । ब्रह्महृदयलांतवे चन्द्रके लान्तवकल्पे, महाशुक्रकल्पे शुक्रमेक-

---

सानत्कुमार और माहेन्द्र में उत्कृष्ट आयु सात सागर है। ब्रह्म और ब्रह्मोत्तर स्वर्गों में दश सागर है, किन्तु ब्रह्मस्वर्ग के लौकान्तिक देवों की उत्कृष्ट आयु आठ सागर है। लान्तव-कापिष्ठ में चौदह सागर है। शुक्र-महाशुक्र में सोलह सागर है। शतार-सहस्रार में अठारह सागर है। आनत-प्राणत में बीस सागर और आरण-अच्युत स्वर्ग में बाईस सागर प्रमाण है। इससे आगे नव ग्रैवेयकों में एक-एक सागर अधिक होती गयी है। सुदर्शन नामक प्रथम ग्रैवेयक में तेईस सागर, अमोघ नामक द्वितीय ग्रैवेयक में चौबीस सागर, सुप्रबुद्ध नामक तृतीय में पच्चीस सागर, यशोधर नामक चतुर्थ में छब्बीस सागर, सुभद्र नामक पाँचवें में सत्ताईस सागर, सुविशाल नामक छठे में अट्ठाईस सागर, सुमनस्य नामक सातवें में उनतीस सागर, सौमनस नामक आठवें में तीस सागर और प्रीतिंकर नामक नौवें ग्रैवेयक में इकतीस सागर उत्कृष्ट आयु है। आगे नव अनुदिशों में बत्तीस सागर उत्कृष्ट आयु है और सर्वार्थसिद्धि में उत्कृष्ट आयु तैंतीस सागर प्रमाण है।

इस प्रकार से स्वर्गों के त्रेसठ पटलों में तथा चौरासी लाख सत्तानवे हजार तेईस प्रमाण श्रेणीबद्ध और प्रकीर्णक नामक विमानों में देवों की आयु अपने-अपने इन्द्रक के समान जान लेना चाहिए।

सौधर्म आदि स्वर्गों में त्रेसठ पटल हैं, इन्हें ही इन्द्रक विमान कहते हैं। वे कहाँ पर कितने हैं? उसे ही बताते हैं—

सौधर्म और ऐशान स्वर्ग में इकतीस इन्द्रक हैं। उनके नाम हैं: ऋतु, विमल, चन्द्र, वल्गु, वीर, अरुण, नन्दन, नलिन, कांचन, रोहित, चंचत्, मारुत, ऋद्धि, ईशान, वैडूर्य, रुचक, रुचिर, अंकस्फटिक, तपनीय, मेघ, अभ्र, हारिद्र, पद्म, लोहित, वज्र, नन्द्यावर्त, प्रभंकर, पृष्ठंकर, अंजन, मित्र और प्रभा। सानत्कुमार-माहेन्द्र में सात इन्द्रक हैं। उनके नाम हैं— अंजन, वनमाला, नाग, गरुड, लांगल, बलभद्र और चक्र। ब्रह्मलोक में चार इन्द्रक हैं। उनके नाम हैं—अरिष्ट, देवसंमित, ब्रह्म और ब्रह्मोत्तर। लान्तव कल्प में दो इन्द्रक हैं। उनके नाम हैं—ब्रह्महृदय और लान्तव। महाशुक्रकल्प में एक इन्द्रक है। उसका नाम है—शुक्र। सहस्रार

मिन्द्रकं, शतारमेकमिन्द्रकं सहस्रारकल्पे, प्राणतकल्पे आनतप्राणतपुष्पकाणि त्रीणीन्द्रकाणि, अच्युतकल्पे सानत्कुमारारणाच्युतानीन्द्रकाणि त्रीणि, अधोग्रैवेयके सुदर्शनामोघसुप्रबुद्धानि त्रीणीन्द्रकाणि, मध्यमग्रैवेयके यशोधरसुभद्रसुविशालानि त्रीणीन्द्रकाणि, ऊर्ध्वग्रैवेयके सुमनःसौमनसप्रीतिंकराणि त्रीणीन्द्रकाणि, अनुदिश आदित्यमेकमिन्द्रकम्, अनुत्तरे सर्वार्थसिद्धिसंज्ञकमेकमिन्द्रकम्, इत्येतेषु स्वायुषः प्रमाणं वेदितव्यम्। अथ सौधर्मे प्रथमप्रस्तारे ऋतुसंज्ञके उत्कृष्टमायुरर्द्धसागरोपमं तन्मुखं तत्रैवावसानेन्द्रके उत्कृष्टमायुर्द्वे सागरोपमे सागरोपमार्द्धाधिके तद्भूमिरुच्छ्रयस्त्रिंशदिन्द्रकाणि भूमेर्मुखमपनीयोच्छ्रायेण भागे हृते सागरोपमस्य पंचदशभागो वृद्धिरागच्छति इमामिष्टप्रतरसंख्यया गुणयित्वा मुखे प्रक्षिप्ते विमलादीनां त्रिंशतः प्रस्तराणामुत्कृष्टान्यायूंषि भवन्ति। तेषां संदृष्टयः, न्यास इत्थम्—

१७	१९	७	२३	५	२७	२९	३१	११	७	३७	१३	४१	४३	३
३०	३०	१०	३०	६	३०	३०	३०	१०	६	३०	१०	३०	३०	२

४७	४९	१७	५३	११	१९	५९	६१	२१	१३	६७	२३	७१	७३	२
३०	३०	१०	१०	६	१०	३०	३०	१०	६	३०	१०	३०	३०	२½

सानत्कुमारमाहेन्द्रयोः सप्तेन्द्रकाणि। तत्र द्वे सागरोपमे सागरोपमार्द्धाधिके मुखं, सार्द्धसप्तसागरोपमाणि भूमिः, सप्तेन्द्रकाणि उच्छ्रयः, भूमेर्मुख विशोध्योच्छ्रयेण भागे हृते वृद्धिरागच्छति तामिष्टप्रस्तरसंख्यया

कल्प में एक इन्द्रक है। उसका नाम शतार है। प्राणत कल्प में तीन इन्द्रक हैं—आनत, प्राणत और पुष्पक। अच्युत कल्प में तीन इन्द्रक हैं—सानत्कुमार, आरण और अच्युत।

अधो ग्रैवेयक में तीन इन्द्रक हैं। उनके नाम सुदर्शन, अमोघ और प्रबुद्ध हैं। मध्यम ग्रैवेयक में तीन इन्द्रक हैं उनके नाम हैं—यशोधर, सुभद्र और सुविशाल। ऊर्ध्व ग्रैवेयक में तीन इन्द्रक हैं। उनके नाम सुमनस, सोमनस और प्रीतिंकर हैं। अनुदिश में आदित्य नामक एक इन्द्रक एवं अनुत्तर में सर्वार्थसिद्धि नामक एक इन्द्रक है। ऐसे ये त्रेसठ इन्द्रकों के स्थान और नाम कहे गये हैं। इनमें रहनेवाले देवों के अपने इन्द्रकों में कही गयी आयु का प्रमाण जानना चाहिए। प्रत्येक पटल की आयु जानने की विधि कहते हैं—

प्रथम सौधर्म स्वर्ग में ऋतु नामक प्रथम इन्द्रक में देवों की उत्कृष्ट आयु अर्धसागर है। यह मुख है। इसी कल्प के प्रभानामक अन्तिम पटल में उत्कृष्ट आयु ढाई सागर है। यह भूमि है। यहाँ पर उच्छ्रय तीस इन्द्रक हैं। भूमि में से मुख को घटाकर और शेष में ऊँचाई का भाग देने से सागर का पन्द्रहवाँ भाग वृद्धि का प्रमाण आता है। इस प्रमाण को इष्ट इन्द्रक की संख्या से गुणित कर उसमें मुख का प्रमाण मिला देने पर विमल आदि तीस इन्द्रकों की उत्कृष्ट आयु का प्रमाण निकल आता है। उनकी संदृष्टि रचना वृत्ति में दी गयी तालिका की भाँति है।

सानत्कुमार और माहेन्द्र में सात इन्द्रक हैं। वहाँ ढाई सागर मुख है और साढ़े सात सागर भूमि है। सात इन्द्रक उच्छ्रय हैं। भूमि में से मुख को घटाकर उच्छ्रय से भाग देने पर वृद्धि

गुणयित्वा मुखसहिता कृतेयं भवति—

२	३	४	५	६ भा०	६	७
३	१३	६	५	१	११	१
१४ भा०	१४ भा०	१४ भा०	१४ भा०	१४ भा०	१४ भा०	२

ब्रह्मब्रह्मोत्तरयोश्चत्वारः प्रस्तारा, अत्र सप्त सार्धानि सागरोपमाणि मुखं दशसार्धानि भूमिश्चत्वार उच्छ्रयस्तस्य संदृष्टिर्यथा

८	९	९	१०
१ भा०	० म	३ भा०	१ मु०
४ भा०	० र	४ भा०	२ भि १०

लान्तवकापिष्ठयोः द्वौ प्रस्तारौ तत्र मुखं सार्धानि दश, सार्धानि चतुर्दश भूमिर्द्वावुच्छ्रयौ

१२	१४
१	१
२	२

महाशुक्रे एकः प्रस्तरः, तत्रायुः प्रमाणं

१६
१
२

तथा सहस्रारे एकः प्रस्तरः, तत्रायुःप्रमाणं

१८
१
२

आनतप्राणतकल्पयोस्त्रयः प्रस्तारास्तत्र अष्टादश सार्धानि मुखं विंशतिर्भूमिः तत्र संदृष्टिः

१९	१९	२०
०	१	०
	२	

आरणाच्युतयोः कल्पयोः त्रय प्रस्तारास्तत्र विंशतिर्मुखं द्वाविंशतिर्भूमिः तस्य संदृष्टिः :

२०	२१	२२
२	१	०
३	३	०

शेषाणां संदृष्टिः २३ । २४ । २५ । २६ । २७ । २८ । २९ । ३० । ३१ । ३२ । ३३ । वेदितव्येति ॥११२१॥

का प्रमाण आता है। उस वृद्धि को इष्ट इन्द्रक की संख्या से गुणित कर मुखसहित करने पर वृत्ति में दी गयी तालिका के अनुसार संख्या आती है।

ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर में चार इन्द्रक प्रस्तार हैं। यहाँ साढ़े सात सागर मुख है, साढ़े दश सागर भूमि है। चार उच्छ्रय हैं। संदृष्टि वृत्ति में प्रस्तुत तालिका की भाँति है।

लान्तव और कापिष्ठ में दो प्रस्तार हैं। वहाँ साढ़े दश सागर मुख है, साढ़े चौदह सागर भूमि है, दो उच्छ्रय हैं। पूर्वोक्त विधि से संदृष्टि रचना करनी चाहिए जो वृत्ति में दी गयी तालिका के अनुसार है।

महाशुक्र में एक प्रस्तार है। वहाँकी आयु का प्रमाण वृत्ति में दी गयी तालिका के अनुसार है। सहस्रार में एक इन्द्रक है। वहाँ की आयु का प्रमाण वृत्ति में दी गयी तालिका में उल्लिखित है। आनत और प्राणत कल्प में तीन इन्द्रक है। वहाँ पर साढ़े अठारह सागर मुख और बीस सागर भूमि है। इसकी संदृष्टि उपरिलिखित तालिका में दी गयी है। आरण अच्युत कल्प में तीन प्रस्तार हैं। वहाँ पर बीस सागर मुख है और बाईस सागर भूमि है। पूर्वोक्त गणित करके इनकी संदृष्टि वृत्ति में दी गयी तालिका के अनुसार है। आगे, नव-ग्रैवेयकों की संदृष्टि २३। २४। २५। २६। २७। २८। २९। ३०। ३१। ३२। ३३। समझ लेना चाहिए।

सौधर्मादिदेवीनां परमायुषः प्रमाणं प्रतिपादयन्नाह—

पंचादी वेहिं जुदा सत्तावीसा य पल्ल देवीणं ।
तत्तो सत्तुत्तरिया जावदु अरणप्पयं कप्पं ॥११२२॥

पंचादी—पंच आदि पंच आदि पंचपल्योपमानि मूलं, वेहिं जुदा—द्वाभ्यां युक्तानि द्वाभ्यां द्वाभ्याम-धिकानि, वीप्सार्थो द्रष्टव्यः उत्तरोत्तरग्रहणात् । सत्तावीसा य—सप्तविंशतिः "वक्राक्षो यावच्छन्दं प्रयुङ्क्ते नोति" । पल्ल—पल्यानि पल्योपमानि यावत्सप्तविंशतिः पल्योपमानि, देवीणं—देवीनां देवपत्नीनां, तत्तो—ततः पल्यानां सप्तविंशतेरूर्ध्वं, सत्त—सप्तसप्त, उत्तरिया—उत्तराणि सप्तसप्ताधिकानि पल्योपमानि, जावदु—यावत्, अरणप्पयं कप्प—अच्युतकल्पः तावत् । सौधर्मकल्पे देवीनां परमायुः पंचपल्योपमानि, ईशाने सप्त पल्योपमानि, सानत्कुमारे नव पल्योपमानि, माहेन्द्रे एकादश पल्योपमानि, ब्रह्मकल्पे त्रयोदश पल्योपमानि, ब्रह्मोत्तरे पंचदश पल्योपमानि, लान्तवे सप्तदश पल्योपमानि, कापिष्ठे एकोनविंशतिः पल्योपमानि, शुक्रे एकविंशतिः पल्योपमानि, महाशुक्रे त्रयोविंशतिः पल्योपमानि, शतारे पंचविंशतिः पल्योपमानि, सहस्रारे सप्त-विंशतिः पल्योपमानि, आनते चतुस्त्रिंशत्पल्योपमानि, प्राणते एकाधिकचत्वारिंशत् पल्योपमानि, आरणे अष्ट-चत्वारिंशत्पल्योपमानि, अच्युते पंचपंचाशत्पल्योपमानि सर्वत्र देवीनां परमायुषःप्रमाणमिति संबन्धः । पंचपल्यो-पमानि द्वाभ्यां द्वाभ्यां तावदधिकानि कर्तव्यानि यावत्सप्तविंशतिः पल्योपमानि भवन्ति, ततः सप्तविंशतिः सप्तभिः सप्तभिरधिका कर्तव्या यावदच्युतकल्पे पंचाशत्पल्योपमानि संजातानीति ॥११२२॥

देवीनामायुषः प्रमाणस्य द्वितीयमुपदेशं प्रतिपादयन्नाह—

पणयं दस सत्तधियं पणवीसं तीसमेव पंचधियं ।
चत्तालं पणदालं पण्णाओ[1] पण्णपण्णाओ ॥११२३॥*

सौधर्म आदि देवियों की उत्कृष्ट आयु का प्रमाण कहते हैं—

गाथार्थ—देवियों की आयु पाँच से लेकर दो-दो मिलाते हुए सत्ताईस पल्य तक करें। पुनः उससे आगे सात-सात बढ़ाते हुए आरण-अच्युत पर्यन्त करना चाहिए ॥११२२॥

आचारवृत्ति—सौधर्म कल्प में देवियों की उत्कृष्ट आयु पाँच पल्य है । ईशानस्वर्ग में सात पल्य, सानत्कुमार में नौ पल्य, माहेन्द्र स्वर्ग में ग्यारह पल्य, ब्रह्मकल्प में तेरह पल्य, ब्रह्मोत्तर में पन्द्रह पल्य, लान्तव में सत्रह पल्य, कापिष्ठ में उन्नीस पल्य, शुक्र में इक्कीस पल्य, महाशुक्र में तेईस पल्य, शतार में पच्चीस पल्य, सहस्रार मे सत्ताईस पल्य, आनत में चौंतीस पल्य प्राणत में इकतालीस पल्य, आरण में अड़तालीस पल्य और अच्युत में पचपन पल्य की उत्कृष्ट आयु है । अर्थात् पाँच पल्य से शुरू करके सहस्रार स्वर्ग की सत्ताईस पल्य तक दो-दो पल्य बढ़ायी गयी है । पुन आगे सात-सात पल्य बढ़ कर सोलहवें स्वर्ग में पचपन पल्य हो गयी है ।

देवियों की आयु के प्रमाण का दूसरा उपदेश कहते हैं—

गाथार्थ—युगल-युगल स्वर्गों में क्रम से पाँच पल्य, सत्रह पल्य, पच्चीस पल्य, पैंतीस पल्य, चालीस पल्य, पैंतालीस पल्य, पचास पल्य और पचपन पल्य आयु है ॥११२३॥

---

1. क पचास पंचपण्णाओ ।

* यह गाथा फलटन से प्रकाशित मूलाचार में नहीं है ।

पणगं—पंच सौधर्मैशानयोर्देवीनां पंचपल्योपमानि परमायुः। दस सत्तधियं—दश सप्ताधिकानि सानत्कुमारमाहेन्द्रयोर्देवीनां परमायुः सप्तदशपल्योपमानि, पणवीसं—पंचविंशतिः ब्रह्मब्रह्मोत्तरयोर्देवीनां पंचविंशतिः पल्योपमानि परमायुः, तीसमेव पंचहियं—त्रिंशदेव पंचाधिका लान्तवकापिष्ठयोर्देवीनां त्रिंशदेव पंचाधिका पल्योपमानां परमायुः चत्तालं—चत्वारिंशच्छुक्रमहाशुक्रयोर्देवीनां चत्वारिंशत्पल्यानां परमायुः, पणदालं—पंचचत्वारिंशत् शतारसहस्रारयोर्देवीनां पंचचत्वारिंशत्पल्योपमानां परमायुः, पण्णासं—पंचाशद् आनतप्राणतयोर्देवीनां परमायुः पंचाशत्पल्योपमानि, पणपण्णाओ—पंचपंचाशदारणाच्युतयोर्देवीनां परमायुषः प्रमाणं पंचपंचाशत्पल्योपमानि। आऊ—आयुः सर्वत्रानेन संबन्धः। देव्यायुषः प्रतिपादनन्यायेनायमेवोपदेशो न्याय्योऽवैवकारकरणादथवा द्वावप्युपदेशौ ग्राह्यौ सूत्रद्वयोपदेशाद् द्वयोर्मध्य एकेन सत्येन भवितव्यं, नात्र सन्देहमिथ्यात्वं, यदर्हत्प्रणीतं तत्सत्यमिति सन्देहाभावात्। छद्मस्थैस्तु विवेकः कर्तुं न शक्यतेऽतो मिथ्यात्वभयादेव द्वयोर्ग्रहणमिति ॥११२३॥

ज्योतिषां यद्यपि सामान्येन प्रतिपादितं जघन्यं चोत्कृष्टमायुस्तथापि स्वामित्वपूर्वको विशेषो नावगतस्तत्र तत्प्रतिपादनायाह—

चंदस्स सदसहस्सं सहस्स रविणो सदं च सुक्कस्स।
वासाधिए हि पल्लं लेहिट्ठं वरिसणामस्स ॥११२४॥*

परमायुरित्यनुवर्तते—चंदस्स—चन्द्रस्य, सदसहस्सं—शतसहस्रं, शतसहस्रेण, अत्र तृतीयार्थे द्वितीया, सहस्स—सहस्रेण, रविणो—रवेरादित्यस्य, सदं च—शतेन च, सुक्कस्स—शुक्रस्य, वास—वर्षाणां, अधियं—

आचारवृत्ति—सौधर्म और ऐशान स्वर्ग में देवियों की उत्कृष्ट आयु पाँच पल्य है। सानत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्ग में सत्रह पल्य है। ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर में पच्चीस पल्य है। लान्तव-कापिष्ठ में पैंतीस पल्य है। शुक्र-महाशुक्र में चालीस पल्य है। शतार-सहस्रार में पैंतालीस पल्य है। आनत-प्राणत में पचास पल्य है और आरण-अच्युत में पचपन पल्य की उत्कृष्ट आयु है।

देवियों की आयु के प्रतिपादन की रीति से यही उपदेश न्यायसंगत है, क्योंकि यहाँ पर 'एवकार' किया गया है। अथवा दोनों भी उपदेश ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि दोनों ही सूत्र के उपदेश हैं। यद्यपि दोनों में से कोई एक ही सत्य होना चाहिए फिर भी दोनों को ग्रहण करने में संशय मिथ्यात्व नहीं होता है, क्योंकि जो अर्हन्त के द्वारा प्रणीत है वह सत्य है इसमें सन्देह का अभाव है। फिर भी छद्मस्थ जनों को विवेक कराना अर्थात् कौन-सा सत्य है यह समझाना शक्य नहीं है इसलिए मिथ्यात्व के भय से दोनों का ही ग्रहण करना उचित है।

ज्योतिषी देवों की यद्यपि सामान्य से जघन्य और उत्कृष्ट आयु कही है फिर भी वहाँ स्वामित्वपूर्वक विशेष का बोध नहीं हुआ, उसका प्रतिपादन करने के लिए कहते हैं—

गाथार्थ—चन्द्र की एक लाख वर्ष अधिक एक पल्य, सूर्य की सहस्र वर्ष अधिक एक पल्य, शुक्र की सौ वर्ष अधिक एक पल्य, बृहस्पति की सौ वर्ष कम एक पल्य आयु है ॥११२४॥

आचारवृत्ति—उत्कृष्ट आयु की अनुवृत्ति चली आ रही है तथा यहाँ गाथा में 'शत-सहस्र' आदि में तृतीया के अर्थ में द्वितीया विभक्ति है। अतः ऐसा अर्थ करना कि उत्कृष्ट आयु

---

* फलटन से प्रकाशित, मूलाचार में ये दो गाथाएं ११२० गाथा के अनंतर ही थीं।

अधिकं, हि—स्फुटं निश्चयेन, पल्लं—पल्यं, पल्योपमं, सेहिदूणं—न्यूनं हीनं अनन्तरेण शतेनाभिसंबन्धः, वरिस-सदेण—वर्षशतेन बृहस्पतेः। चन्द्रस्य परमायुरेकं पल्योपमं वर्षाणां शतसहस्रेणाधिकं, सूर्यस्यैकं पल्योपमं परमायुर्वर्षाणां सहस्रेणाधिकं, शुक्रस्य परमायुरेकं पल्योपमं वर्षाणां शतेनाधिकं, बृहस्पतेरेकं पल्योपमं वर्षाणां शतेन न्यूनं स्फुटमिति ॥११२४॥

अथ कथं शेषाणामित्यत आह—

सेसाणं तु गहाणं पल्लद्धं आउगं मुणेयव्वं।
ताराणं च जहण्णं पादद्धं पादमुक्कस्सं ॥११२५॥

सेसाणं—शेषाणां, तुशब्दः समुच्चयार्थः स नक्षत्राणि समुच्चिनोति। गहाणं—ग्रहाणां, पल्लद्धं—पल्यस्यार्धं, आउगं—आयुः, मुणेयव्वं—ज्ञातव्यम्। ताराणं—ताराणां ध्रुवकीलकादीनां, चकारात्केषांचिन्नक्षत्राणां च जहण्णं—जघन्यं निकृष्टं, पादद्धं—पादार्धं पल्योपमपादस्यार्धं पल्योपमस्याष्टमो भागः, पादं—पादः पल्योपमस्य चतुर्थो भागः उक्कस्सं—उत्कृष्टं, शेषाणां ग्रहाणां मंगलबुधशनैश्चरराहुकेत्वादीनां केषांचिन्नक्षत्राणां चोत्कृष्टमायुः पल्योपमार्धं ताराणां केषांचिन्नक्षत्राणां चोत्कृष्टमायुः पल्योपमस्य चतुर्थो भागस्तेषामेव च जघन्यमायुः पल्योपमस्याष्टमभागः। एवं प्रतरासंख्यातभागप्रमितानां ज्योतिषां परमायुर्निकृष्टायुश्च वेदितव्यमिति ॥११२५॥

तिर्यङ्मनुष्याणां निकृष्टमायुः प्रतिपादयन्नाह—

सव्वेसिं अमणाणं भिण्णमुहुत्तं हवे जहण्णेण।
सोवक्कमाउगाणं सण्णीणं चावि एमेव ॥११२६॥

सव्वेसिं—सर्वेषां, अमणाणं—अमनस्कानां सर्वग्रहणादेकेन्द्रियद्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियाणां च

एक लाख वर्ष अधिक एक पल्य है। सूर्य की एक हजार वर्ष अधिक एक पल्य है। शुक्र की सौ वर्ष अधिक एक पल्य है और बृहस्पति की सौ वर्ष से कम एक पल्य प्रमाण है।

शेष ज्योतिषियों की आयु किस प्रकार है, उसे ही बताते हैं—

गाथार्थ—शेष ग्रहों की आयु अर्ध पल्य समझना। ताराओं की जघन्य आयु पाव पल्य का आधा है और उत्कृष्ट आयु पाव पल्य है ॥११२५॥

आचारवृत्ति—शेष ग्रहों और नक्षत्रों की अर्थात् मंगल, बुध, शनैश्चर, राहु और केतु आदि ग्रहों की तथा किन्हीं नक्षत्रों की उत्कृष्ट आयु अर्ध पल्य प्रमाण है। ताराओं की तथा किन्हीं नक्षत्रों की उत्कृष्ट आयु पल्य के चतुर्थ भाग प्रमाण है और उन्हीं की जघन्य आयु पल्योपम के आठवें भाग प्रमाण है। इस प्रकार से प्रतर के असंख्यातवें भाग प्रमाण ऐसे असंख्यात ज्योतिषी देवों की उत्कृष्ट और जघन्य आदि समझना चाहिए।

तिर्यञ्च और मनुष्यों की जघन्य आयु प्रतिपादित करते हैं—

गाथार्थ—सभी असंज्ञी जीवों की आयु जघन्य से अन्तर्मुहूर्त है। सोपक्रम आयुवाले संज्ञी जीवों की भी अन्तर्मुहूर्त है ॥११२६॥

आचारवृत्ति—अमनस्क—एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असंज्ञी

ग्रहणं वेदितव्यं भिन्नमुहूर्तं—भिन्नमुहूर्तं क्षुद्रभवग्रहणमुच्छ्वासस्य किंचिन्न्यूनाष्टादशभागः, हव—भवेत्, जहण्णेण—जघन्येन जघन्यं वा सोवक्कमाउगाणं—उपक्रम्यत इति उपक्रमः विषवेदनारक्तक्षयभयसंक्लेशशस्त्र-घातोच्छ्वासनिश्वासनिरोधैरायुषो घातः, सह उपक्रमेण वर्तत इति सोपक्रममायुर्येषां ते सोपक्रमायुषः [illegible]-यस्तेषां सोपक्रमायुषां, सण्णीणं—संज्ञिनां समनस्कानां च, चशब्दो मनुष्याणां समुच्चयार्थस्तेनाथ त्रिषष्टि-शलाकापुरुषचरमदेहवर्जितमनुष्याणां ग्रहणं भवति। सोपक्रमविशेषणेन च देवनारकभोगभूमिप्रतिभागजानां प्रतिषेधो भवति, अवि एदेव—अप्येवमेव भिन्नमुहूर्तमेव किंतु पूर्वोक्ताद्भिन्नमुहूर्तादिदं भिन्नमुहूर्तं महान्, एकेन्द्रियेषु क्षुद्रभवग्रहणं यतोऽतोऽप्येवमेव ग्रहणेन सूचितमेतदर्थजातं, अपर एवकारो निश्चयार्थः। सर्वेषामसम-स्कानां जघन्यमायुर्भिन्नमुहूर्तं भवेत् सोपक्रमायुषां कर्मभूमिप्रतिभागजानां च संज्ञिनां तिरश्चां त्रिषष्टिशलाका-पुरुषचरमदेहादिवर्जितमनुष्याणां चाप्येव जघन्यमायुरन्तर्मुहूर्तमेवेति ॥११२६॥

यद्यपि प्रमाणं पूर्वसूत्रैः व्याख्यातं तथापि विशेषेण प्रमाणं द्रव्यक्षेत्रकालभावभेदेन चतुर्विधं, तत्र द्रव्यप्रमाणं द्विविधं संख्यातप्रमाणमुपमानप्रमाणं चेति तत्र संख्यातप्रमाणं तावन्निरूपयन्नाह—

संखेज्जमसंखेज्जं बिदियं तदियमणंतयं वियाणाहि।
तत्थ य पढमं तिविहं णवहा णवहा हवे दोण्णि ॥११२७॥

संखेज्जं—संख्यातं रूपद्वयमादिकृत्वा यावद्रूपोनजघन्यपरीतासंख्यातं श्रुतज्ञानविषयभूतं, असंखेज्जं—

पंचेन्द्रिय तिर्यंचों की जघन्य आयु अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है। यहाँ अन्तर्मुहूर्त से क्षुद्रभव मात्र अर्थात् उच्छ्वास के किंचित् न्यून अठारवें भाग मात्र समझना चाहिए। उपक्रम का अर्थ है घात अर्थात् विष, वेदना, रक्त, क्षय, भय, संक्लेश, शस्त्रघात, उच्छ्वास, निश्वास का निरोध इन कारणों से आयु का घात होना उपक्रम है। ऐसे उपक्रम सहित आयुवाले—अकालमृत्युवाले संज्ञी जीवों की, तथा 'च' शब्द से मनुष्यों का समुच्चय होता है इससे यहाँ पर त्रेसठ शलाका-पुरुष और चरमदेहधारी पुरुष इनको छोड़कर, शेषघातायुष्कवाले मनुष्यों की भी जघन्य आयु अन्तर्मुहूर्त है। यहाँ पर सोपक्रम विशेषण से देव, नारकी, भोगभूमिज और भोग-भूमिप्रतिभागज मनुष्य व तिर्यंचों का प्रतिषेध हो जाता है। क्योंकि इनकी अकालमृत्यु नहीं होती है। यद्यपि असंज्ञी जीवों की तथा घातायुष्कवाले संज्ञी की जघन्य आयु अन्तर्मुहूर्त कही है, फिर भी पूर्वोक्त असैनी के अन्तर्मुहूर्त की अपेक्षा सैनी जीवों की आयु का अन्तर्मुहूर्त बड़ा है। चूँकि एकेन्द्रियों में क्षुद्रभवग्रहण कालमात्र कहा है इसीसे ही यह अर्थ सूचित हो जाता है। तात्पर्य यही हुआ कि सभी असैनी जीवों की जघन्य आयु अन्तर्मुहूर्त है। तथा अकालमृत्युसहित कर्म-भूमिज, कर्मभूमिप्रतिभागज, सैनी तिर्यंच एवं त्रेसठशलाकापुरुष और चरम देहादि धारी मनुष्यों के अतिरिक्त शेष मनुष्यों की भी जघन्य आयु अन्तर्मुहूर्त ही है।

यद्यपि पूर्व सूत्रों द्वारा प्रमाण कहा गया है फिर भी विशेष रूप से द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के भेद से प्रमाण चार प्रकार का है। उसमें से द्रव्य प्रमाण संख्यातप्रमाण और उपमान के भेद से दो प्रकार का है। उसमें से अब संख्यात प्रमाण का निरूपण करते हैं—

गाथार्थ—प्रथम को संख्यात, द्वितीय को असंख्यात और तृतीय को अनन्त जानो। उनमें से प्रथम के तीन भेद हैं। अन्य दोनों नव-नव भेदरूप हैं ॥११२७॥

आचारवृत्ति—संख्यात—दो संख्या को आदि लेकर एक कम जघन्य परीत संख्यात

असंख्यातं संख्यामतिक्रान्तमवधिज्ञानविषयभूतं, तिविहं—द्वितीयं, तविहं—तृतीयं, अणंतं—अनन्तम् असंख्यातमतिक्रान्तं केवलज्ञानगोचरं, वियाणाहि—विजानीहि, तत्थ य—तत्र च तेषु संख्यातासंख्यातानन्तेषु मध्ये पढमं—प्रथमं यत्संख्यातं तिविहं—त्रिविधं त्रिप्रकारं जघन्यमध्यमोत्कृष्टभेदेन; णवहा—नवधा नवप्रकारं, [illegible]—हे, के ते ? द्वितीयतृतीये। प्रथमं यत्संख्यातं तत्त्रिविधं, द्वितीयं यदसंख्यातं तन्नवप्रकारं, तृतीयं यदनन्तं तदपि नवप्रकारम्। तत्र जघन्यसंख्यातं द्वे रूपे, रूपत्रयमादिं कृत्वा यावद्रूपोनोत्कृष्टं संख्यातं तत्सर्वमजघन्योत्कृष्टसंख्यातं, जघन्यपरीतासंख्यातं रूपोनमुत्कृष्टं संख्यातम्; तस्यानयनविधानमुच्यते—प्रमाणयोजनलक्षव्यासविस्तारावगाधाश्चत्वारः कुशूलाः शलाकाप्रतिशलाकामहाशलाकानवस्थितसंज्ञकास्तत्रैकमनवस्थितसंज्ञकं कुशूलं सर्षपैः पूर्णं कृत्वा देवो दानवो वा तत्रैकैकं सर्षपं द्वीपे समुद्रे तावत्क्षिपेत् यावद्रिक्तः संजातः, ततः शलाकाकुण्डे एकं सर्षपं क्षिपेत् अनवस्थितं कुण्डं तावन्मात्रं पुनः प्रकृत्य सर्षपैश्च सम्पूर्णं कृत्वा द्वीपे समुद्रे च क्षिपेत्। यत्र निष्ठितस्तत्र शलाकाकुण्डे द्वितीयमेवं सर्षपं क्षिपेत् अनवस्थितं च कुण्डं तावन्मात्रं प्रकृत्य सर्षपैश्च पूर्णं कृत्वा द्वीपे समुद्रे च क्षिपेत्। यत्र निष्ठितस्तत्र शलाकाकुण्डे तृतीयं सर्षपं क्षिपेत्। अनवस्थितकुण्डं च तावन्मात्रं प्रकृत्य

पर्यन्त संख्या का नाम संख्यात है। यह श्रुतज्ञान का विषय है। जो संख्या को उल्लंघन कर चुका है वह असंख्यात है, वह अवधिज्ञान का विषय है। जो असंख्यात को भी उल्लंघन कर चुका है वह अनन्त है, वह केवलज्ञान का विषय है। प्रथम संख्यात के जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट की अपेक्षा तीन भेद हैं। असंख्यात के नौ भेद हैं और अनन्त के भी नौ भेद हैं।

दो रूप—दो की संख्या जघन्य संख्यात है। तीन अंकों को आदि में लेकर एक अंक कम उत्कृष्ट संख्यात तक सर्वसंख्या का अजघन्योत्कृष्ट संख्या कहते हैं। एक रूप-कम जघन्यपरीतासंख्यात को उत्कृष्ट सख्यात कहते हैं। इस उत्कृष्ट संख्यात को लाने का विधान कहते हैं—

एक लाख बड़े योजन प्रमाण लम्बे, उतने ही चौड़े और उतने[1] गहरे प्रमाणवाले ऐसे चार कुशूल-कुण्ड बनाइए। उनको क्रम से शलाका, प्रतिशलाका, महाशलाका और अनवस्थित नाम दीजिए। उनमें से जो यह एक अनवस्थित नाम का कुण्ड है उसे सरसों से पूरा भर दीजिए। पुनः कोई देव या दानव उसमें की सरसों को लेकर एक-एक सरसों क्रम से द्वीप और समुद्र में डालता चला जावे। यह क्रिया तब तक करे कि जब तक वह अनवस्थित कुण्ड खाली न हो जावे। उस कुण्ड के खाली हो जाने पर पुनः एक सरसों इस प्रथम शलाकाकुण्ड में डाल देवे। पुनः जिस द्वीप या समुद्र पर वह अनवस्थित कुण्ड खाली हुआ था उसी द्वीप या समुद्र के बराबर प्रमाणवाला एक अनवस्थित कुण्ड बनाकर उस सरसों से पूरा भरके उन सरसों को भी आगे के द्वीप समुद्रों में एक-एक डालता जावे। जब यह दूसरा अनवस्थित कुण्ड भी खाली हो जावे तब पुनः उसी प्रथम शलाका कुण्ड में एक दूसरा सरसों और डाल देवे। और जहाँ वह कुण्ड खाली हुआ है उतने प्रमाण वाला एक तीसरा अनवस्थित कुण्ड निर्माण करके उसे भी सरसों से लबालब भरके उन सरसों को आगे-आगे के द्वीप-समुद्रों में एक-एक डालता जावे। जब वह कुण्ड भी खाली हो जावे तब पुनः शलाका कुण्ड में तीसरा सरसों डालकर पुनरपि पूर्ववत् अनवस्थित कुण्ड बनाकर सरसों से भरकर, उन सरसों को लेकर आगे के द्वीप-समुद्रों में

---

1. गहराई एक हजार योजन है।

सर्षपैश्च संपूर्णं कृत्वा द्वीपे समुद्रे च सर्षपक्षेपं, चतुर्थप्रदेशे शलाकाकुण्डे सर्षपक्षेपं चैवं तावत्कर्तव्यं यावच्छलाकाप्रतिशलाकामहाशलाकानवस्थितानि कुण्डानि सर्वाणि पूर्णानि। तदोत्कृष्टसंख्यातमतिलंघ्य जघन्यपरीतासंख्यातप्रमाणं जातं तस्मादेके सर्षपेऽपनीते जातमुत्कृष्टसंख्यातम् असंख्यातं च परीतासंख्यातं युक्तासंख्यातमसंख्यातमिति त्रिविधं, परीतासंख्यातमपि जघन्यमध्यमोत्कृष्टभेदेन त्रिविधं युक्तासंख्यातमसंख्यातासंख्यातं च जघन्यमध्यमोत्कृष्टभेदेन त्रिविधं, तथानन्तमपि परीतानन्तयुक्तानन्तानन्तानन्तभेदेन त्रिविधमेकैकं जघन्यमध्यमोत्कृष्टभेदेन त्रिविधम्। जघन्यपरीतासंख्यातानि जघन्यपरीतासंख्यातमात्राणि परस्परगुणितानि कृत्वा तत्र यावन्मात्राणि रूपाणि तावन्मात्रं जघन्ययुक्तासंख्यातप्रमाणं तस्मादेके रूपेऽपनीते उत्कृष्टं परीतासंख्यातप्रमाणं

एक-एक क्षेपण करता चला जावे। जब यह अनवस्थित कुण्ड भी खाली हो जावे तब पुनः एक सरसों उस शलाका कुण्ड में डाल देवे। इस विधि को तब तक करते रहना चाहिए कि जब तक शलाका, प्रतिशलाका, महाशलाका और अनवस्थित ये सभी कुण्ड पूर्णतया भर न जावें। तब उत्कृष्ट संख्यात का उल्लंघन करके जघन्यपरीतासंख्यात नाम का प्रमाण बन जाता है। इसमें से एक सरसों निकाल देने पर उत्कृष्ट संख्यात होता है।

भावार्थ—उपर्युक्त प्रकार से एक एक अनवस्था कुण्ड की एक एक सरसों शलाका कुण्ड में डालते-डालते जब वह भी ऊपर तक भर जाय, तब एक सरसों प्रतिशलाकाकुण्ड में डालिए। इसी तरह एक-एक अनवस्था कुण्ड की एक-एक सरसों शलाकाकुण्ड में डालते-डालते जब दूसरी बार भी शलाकाकुण्ड भर जाय तो दूसरी सरसों प्रतिशलाकाकुण्ड में डालिए। एक-एक अनवस्थाकुण्ड की एक-एक सरसों शलाकाकुण्ड में और एक-एक शलाकाकुण्ड की एक-एक सरसों प्रतिशलाकाकुण्ड में डालते-डालते जब प्रतिशलाकाकुण्ड भी भर जाय, तब एक सरसों महाशलाकाकुण्ड में डालिए। जिस क्रम से एक बार प्रतिशलाकाकुण्ड भरा है, उसी क्रम से दूसरी बार भरने पर दूसरी सरसों महाशलाकाकुण्ड में डालिए। इसी तरह एक-एक प्रतिशलाकाकुण्ड को सरसों महाशलाकाकुण्ड में डालते-डालते जब महाशलाकाकुण्ड भी भर जाय उस समय सबसे बड़े अन्त के अनवस्थाकुण्ड में जितनी सरसों समायीं उतना ही जघन्य परीतासंख्यात का प्रमाण होता है।

असंख्यात के परीतासंख्यात, युक्तासंख्यात और असंख्यातासंख्यात ऐसे तीन भेद हैं। परीतासंख्यात के भी जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट की अपेक्षा तीन भेद हैं। ऐसे ही युक्तासंख्यात और असंख्यातासंख्यात के भी जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट रूप से तीन-तीन भद हो जाते हैं। ऐसे ही अनन्त के भी परीतानन्त, युक्तानन्त और अनन्तानन्त के भेद से तीन भेद होते हैं। इन तीनों के भी जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट की अपेक्षा तीन-तीन भेद होने से नौ भेद हो जाते हैं।

जघन्य परीतासंख्यात को जघन्य परीतासंख्यात मात्र बार परस्पर में गुणा करने से उसमें जितने मात्र रूप आवें उतने मात्र को जघन्य युक्तासंख्यात कहते हैं। उसमें से एक रूप के निकाल देने पर उत्कृष्ट परीतासंख्यात का प्रमाण हो जाता है। अर्थात् जघन्य परीतासंख्यात में जितनी सरसों हैं उतनी बार जघन्य परीतासंख्यात की संख्या पृथक्-पृथक् रखकर परस्पर में गुणित करके जघन्य युक्तासंख्यात[1] हुआ। उसमें से एक सरसों कम कर देने से उत्कृष्ट परीता-

---

१. इस जघन्य युक्तासंख्यात में जितनी सरसों हैं उतने समयों की एक आवली होती है।

जातं जघन्यपरीतासंख्यातोत्कृष्टपरीतासंख्यातयोर्मध्ये विकल्पोऽजघन्योत्कृष्टपरीतासंख्यातं, युक्तासंख्यातं जघ-न्येण युक्तासंख्यातेन प्रगुण्य यावन्मात्राणि रूपाणि तावन्मात्रं जघन्यासंख्यातासंख्यातं तस्मादेके रूपेऽपनीते जात-मुत्कृष्टं युक्तासंख्यातं, जघन्योत्कृष्टयोर्मध्येऽजघन्योत्कृष्टं युक्तासंख्यातम् । जघन्यासंख्यातासंख्यातं त्रीन् वारान् वर्गितं संवर्गितं च कृत्वा धर्माधर्मलोकाकाशप्रत्येकशरीरैकजीवप्रदेशबादरप्रतिष्ठितैश्च संयुक्तं कृत्वा पुनरपि त्रीन् वारान् वर्गितं संवर्गितं च कृत्वा स्थितिबन्धाध्यवसानस्थानानुभागबन्धाध्यवसानस्थानयोग[1]विभागपरिच्छे-दोत्सर्पिण्यवसर्पिणीसमयैश्च युक्ते कृते जातं जघन्यपरीतानन्तं तस्मादेके रूपेऽपनीते जातमुत्कृष्टमसंख्यातासंख्यातं तयोर्मध्ये मध्यमो विकल्पः । जघन्यपरीतानन्तानि जघन्यपरीतानन्तमात्राणि परस्परं प्रगुण्य यत्प्रमाणं भवति तज्जघन्यं युक्तानन्तं तस्मादेके रूपेऽपनीते जातमुत्कृष्टं परीतानन्तं जघन्योत्कृष्टयोर्मध्ये मध्यमो विकल्पः । जघन्ययुक्तानन्तमपरेण जघन्ययुक्तानन्तेन गुणितं जातं जघन्यानन्तानन्तं तस्मादेके रूपेऽपनीते जातमुत्कृष्टं युक्तानन्तप्रमाणं जघन्योत्कृष्टयोर्मध्ये मध्यमो विकल्पः । जघन्यानन्तानन्तं त्रीन् वारान् च वर्गितं संवर्गितं च कृत्वा सिद्धनिगोदजीववनस्पतिकाय[2]पुद्गलसर्वालोकाकाशानि प्रक्षिप्य पुनरपि त्रीन् वारान् वर्गितं

संख्यात हो जाता है। जघन्यपरीतासंख्यात और उत्कृष्ट परीतासंख्यात इन दोनों के मध्य में जितने भी विकल्प हैं वे सब अजघन्योत्कृष्ट अर्थात् मध्यम परीतासंख्यात के भेद हैं।

जघन्य युक्तासंख्यात को जघन्य युक्तासंख्यात से गुणित करने से जितने मात्र रूप होते हैं वह जघन्य असंख्यातासंख्यात है। इसमें से एक रूप कम कर देने पर उत्कृष्ट युक्तासंख्यात होता है। तथा जघन्य और उत्कृष्ट युक्तासंख्यात के मध्य में जितने भी विकल्प हैं उन सबको अज-घन्योत्कृष्ट युक्तासंख्यात कहते हैं।

जघन्य असंख्याताख्यात को तीन बार वर्गित और संवर्गित करके पुनः उस राशि में धर्मअधर्म और लोकाकाश के प्रदेशों को तथा प्रत्येकशरीर एक जीव के प्रदेश और बादर प्रतिष्ठित जीवों की संख्या को मिला देने से जो राशि आयी उसे भी तीन बार वर्गित संवर्गित करके पुनरपि उसमें स्थितिबंधाध्यवसाय स्थान,[3] अनुभागबंधाध्यवसायस्थान[4], मन-वचन-काय रूप योगों के अविभागी प्रतिच्छेद, उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी के सर्व समय, इन सबको मिला देने पर जघन्य परीतानन्त होता है। इसमें से एक रूप कम कर देने पर उत्कृष्ट असंख्यातासंख्यात होता है। जघन्य और उत्कृष्ट असंख्यातासंख्यात के मध्य के जितने भी विकल्प हैं उतने प्रकार का मध्यम असंख्यातासंख्यात होता है।

जघन्य परीतानन्त के जितनी संख्या है उतनी ही बार जघन्य परीतानन्त की संख्या रख कर परस्पर में गुणा करने से जो प्रमाण होता है वह जघन्य युक्तानन्त कहलाता है। उसमें से एक रूप कम देने करने पर उत्कृष्ट परीतानन्त हो जाता है। जघन्य और उत्कृष्ट परीतानन्त के मध्य में जितने विकल्प हैं उन्हें मध्यम परीतानन्त कहते हैं।

जघन्य युक्तानन्त को जघन्य युक्तानन्त से गुणित करने पर जघन्य अनन्तानन्त का प्रमाण होता है। उसमें से एक रूप के कम कर देने पर उत्कृष्ट युक्तानन्त का प्रमाण हो जाता है। जघन्य और उत्कृष्ट के मध्य में जितने भी विकल्प हैं वे सब मध्यम युक्तानन्त के हैं।

जघन्य अनन्तानन्त को तीन बार वर्गित संवर्गित करके उसमें सिद्ध राशि, निगोद-

---

१. योगाविभाग—इति प्रतिभाति। २. क काल। ३. असंख्यात लोकप्रमाण हैं।
४. इनसे भी असंख्यात गुणे हैं।

संवर्गितं च कृत्वा धर्माधर्मास्तिकायागुरुलघुगुणान् प्रक्षिप्य पुनरपि त्रीन् वारान् वर्गितं संवर्गितं प्रकृत्य केवलज्ञानकेवलदर्शनप्रमाणे प्रक्षिप्ते जातमुत्कृष्टमनन्तानन्तप्रमाणं जघन्योत्कृष्टयोर्मध्येऽजघन्योत्कृष्टो विकल्पः। यत्र यत्रानन्तप्रमाणं परिगृह्यते तत्र तत्राजघन्योत्कृष्टानन्तानन्तप्रमाणं ग्राह्यं, यत्र यत्राभव्याः परिगृह्यन्ते तत्र तत्र जघन्ययुक्तानन्तप्रमाणं वेदितव्यं, यत्र यत्र चावलिका पठ्यते तत्र तत्र जघन्ययुक्तासंख्यातं ज्ञातव्यम्: ॥११२७॥

उपमाप्रमाणार्थमाह[1]—

पल्लो सायर सूई पदरो य घणंगुलो य जगसेढी।
लोगपदरो य लोगो अट्ठ दु माणा मुणेयव्वा ॥११२८॥*

पल्लो—पल्यं पल्योपमं, सायर—सागरः सगरोपमं, सूई—सूची सूच्यंगुलं, पदरो य—प्रतरश्च प्रतरांगुलं, घणंगुलो य—घनांगुलं च, जगसेढी—जगच्छ्रेणी, लोगपदरो य—लोकप्रतरं च, लोगो—लोकः अट्ठ दु—अष्टौ तु, माणा—मानानि प्रमाणानि, मुणेयव्वा—ज्ञातव्यानि। उद्धारपल्योपममुत्पादितं तत्र यानि रोमाग्राणि तान्येकैकं वर्षशतसमयमात्राणि खण्डानि कर्तव्यानि, एवं कृते यत्प्रमाणमेतेषां रोमाणां तदद्धापल्यो-

---

जीवराशि, वनस्पतिकायिक जीवराशि, पुद्गलपरमाणु और अलोकाकाश के प्रदेश—इन सब का प्रक्षेपण करके पुनरपि उस राशि को तीन बार वर्गित और संवर्गित करें। पुनः उसमें धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय के अगुरुलघु गुणों को मिलाकर जो राशि उत्पन्न हो उसे भी तीन बार वर्गित संवर्गित करने पर केवलज्ञान और केवलदर्शन के प्रमाण को मिला दें तब उत्कृष्ट अनन्तानन्त का प्रमाण उत्पन्न होता है। जघन्य अनन्तानन्त और उत्कृष्ट अनन्तानन्त के मध्य में जितने भी विकल्प हैं उन सभी विकल्पों को मध्यम अनन्तानन्त कहते हैं।

जहाँ-जहाँ पर अनन्त प्रमाण लिया जाता है, वहाँ-वहाँ पर अजघन्योत्कृष्ट-मध्यम अनन्तानन्त का प्रमाण ग्रहण करना चाहिए। जहाँ-जहाँ अभव्यराशि को ग्रहण किया जाता है वहाँ-वहाँ जघन्य युक्तानन्त का प्रमाण जानना चाहिए और जहाँ-जहाँ आवली को कहा जाता है वहाँ-वहाँ जघन्ययुक्तासंख्यात का प्रमाण लेना चाहिए।

इस प्रकार से संख्यात के तीन भेद, असंख्यात के नौ भेद और अनन्त के नौ भेद सब मिलकर इक्कीस भेद रूप संख्यामान का अतिसंक्षेप से वर्णन किया गया है।

अब उपमाप्रमाण को कहते हैं—

गाथार्थ—पल्य, सागर, सूची, प्रतर, घनांगुल, जगच्छ्रेणी, लोकप्रतर और लोक ये आठ भेद उपमामान के जानना चाहिए ॥११२८॥

आचारवृत्ति—पल्योपम, सागरोपम, सूच्यंगुल, प्रतरांगुल, घनांगुल, जगच्छ्रेणी, लोकप्रतर और लोक ये आठ प्रकार का प्रमाण जानना चाहिए।

उद्धार पल्योपम को कह दिया है। उसमें जितने रोमखण्ड हैं उनमें एक-एक को सौ वर्ष के जितने समय हैं उतने-उतने मात्र खण्ड करना चाहिए। ऐसा करने पर इन रोमखण्डों का जितना प्रमाण होता है उसे अद्धापल्योपम कहते हैं। इस पल्योपम से सर्व कर्मों की स्थिति

---

1. क उपमाप्रमाणमाह।

* यह गाथा कुन्दकुन्दकृत मूलाचार में नहीं है।

पमं प्रमाणं अनेन पल्योपमेन सर्वः कर्मस्थित्यादिर्द्रष्टव्यः। एतेषामद्धापल्योपमानां दशकोटिकोटिप्रमाणानामेकमद्धा सागरोपमं भवति, अनेन सागरोपमप्रमाणेन देवनारकमनुष्यतिरश्चां कर्मस्थितिभवस्थित्यायुःस्थितयो ज्ञातव्याः। सूच्यंगुलमुच्यते—अद्धापल्योपममर्द्धेनार्द्धेन तावत्कर्तव्यं यावदेकरोम, तत्र यावन्त्यर्द्धच्छेदनानि अद्धापल्योपमस्य तावन्मात्राण्यद्धापल्योपमानि परस्पराभ्यस्तानि कृत्वा यत्प्रमाणं भवति तावन्मात्रा आकाशप्रदेशा ऊर्ध्वमावल्याकारेण रचितास्तेषां यत्प्रमाणं तत् सूच्यंगुलम्[1]। तत्सूच्यंगुलं तदपरेण सूच्यंगुलेन गुणितं प्रतरांगुलम्। तत्प्रतरांगुलमपरेण सूच्यंगुलेन गुणितं घनांगुलम्। जगच्छ्रेणिरुच्यते—पंचविंशतिकोटिकोटीनामुद्धारपल्यानां यावन्ति रूपाणि लक्षयोजनार्द्धच्छेदनानि च रूपाधिकान्येकैकं द्विगुणीकृतान्यन्योन्याभ्यस्तानि यत्प्रमाणं सा रज्जुरिति रज्जुः सप्तभिर्गुणिता श्रेणिः, सा परया-गुणिता श्रेण्या जगत्प्रतरं, जगत्प्रतरं च जगच्छ्रेण्या गुणितं लोकप्रमाणम्। सूच्यंगुलस्य संदृष्टिः २। प्रतरांगुलस्य संदृष्टिः ४। घनांगुलस्य संदृष्टि ८। रज्जोः संदृष्टिः १/७। श्रेणिसंदृष्टि (?) जगत्प्रतरस्य संदृष्टिः (?) लोकस्य संदृष्टिः १८/१८ संख्यातस्य संदृष्टिः ६। असंख्यातस्य संदृष्टिः ५। अनंतस्य संदृष्टिः ६। क्षेत्रप्रमाणं लिक्षायवांगुलवितस्तिरत्निकिष्कुधनुर्योजनादिस्वरूपेण ज्ञातव्यम्।

आदि जानना चाहिए।

दश कोड़ाकोड़ी अद्धापल्यों का एक अद्धासागर होता है। इस सागर से देव, नारकी, मनुष्य और तिर्यंचों की कर्मस्थिति, भवस्थिति और आयु की स्थिति को जानना चाहिए।

अब सूच्यंगुल कहते हैं—अद्धापल्योपम को आधा करके पुनः उस आधे का आधा ऐसे ही एक रोम जब तक न आ जावे तब तक उसे आधा-आधा करना। इस तरह करने से इस अद्धापल्य के जितने अर्धच्छेद होते हैं उतने मात्र बार अद्धापल्य को पृथक्-पृथक् रखकर पुनः उन्हें परस्पर में गुणित कर देने से जो प्रमाण आता है उतने मात्र आकाश प्रदेश की आवली के आकार से रची गयी लम्बी पंक्ति में जितने प्रमाण प्रदेश हैं उनको सूच्यंगुल[1] कहते हैं।

सूच्यंगुलको सूच्यंगुल से गुणा करने से जो प्रमाण होता है वह प्रतरांगुल है। प्रतरांगुल को सूच्यंगुल से गुणा करने पर घनांगुल होता है।

जगत्-श्रेणी को कहते हैं—

पच्चीस कोड़ाकोड़ी उद्धारपल्यों के जितने रूप हैं और एक लाख योजन के जितने अर्द्धच्छेद हैं उनमें एक रूप मिलाकर इन एक-एक को दुगुना करके पुनः इन्हें परस्पर में गुणित करने से जो प्रमाण होता है उसे राजू कहते हैं। सात राजू से गुणित का नाम श्रेणी है। अर्थात् सात राजू की एक जगच्छ्रेणी होती है। इस जगच्छ्रेणी से जगच्छ्रेणी को गुणा करने पर जगत्प्रतर होता है। जगत्प्रतर को जगत्-श्रेणी से गुणा करने पर लोक का प्रमाण होता है। अर्थात् तीन लोक के आकाश प्रदेशों की यही संख्या है।

सूच्यंगुल की संदृष्टि २, प्रतरांगुल की संदृष्टि ४, घनांगुल की संदृष्टि ८, राजू की संदृष्टि १/७ श्रेणी की संदृष्टि (?), जगत्प्रतर की संदृष्टि (?), लोक की १८/१८, संख्यात की संदृष्टि ६, असंख्यात की संदृष्टि ५, और अनन्त की संदृष्टि ६ है।

क्षेत्रप्रमाण से इसे लिक्षा, जौ, अंगुल, वितस्ति, रत्नि, किष्कु, धनुष, और योजन के रूप से जानना चाहिए।

---

१. एक प्रमाणांगुल लम्बे और एक प्रदेश चौड़े ऊँचे आकाश में जितने प्रदेश हों उन्हें सूच्यंगुल कहते हैं।

कालप्रमाणं परमसूक्ष्मः समयः अणोरण्वंतरव्यतिक्रमः कालः समयः, जघन्ययुक्तासंख्यातमात्रा समया आवली-नाम् प्रमाणम्, [1]असंख्यातावलयः कोटिकोटीनामुपरि यत्प्रमाणं स उच्छ्वासः, सप्तभिरुच्छ्वासैः स्तवः, सप्तभिः स्तवैर्लवाः, अष्टात्रिंशल्लवानामर्द्धलवा च नाडी, द्वे नाड्यौ मुहूर्त्तः, त्रिंशन्मुहूर्त्तै र्दिवसरात्रिः, इत्येवमादिकाल-प्रमाणम्। भावप्रमाणं मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलज्ञानानि परोक्षप्रत्यक्षाणि। एवं प्रमाणसूत्रं व्याख्यात-मिति ॥११२८॥

स्वामित्वेन यौगस्य स्वरूपमाह—

> [2]बेइंदियादि भासा भासा य मणो य सण्णिकायाणं।
> एइंदिया य जीवा अमणाय अभासया होंति ॥११२९॥

कायवाङ्मनसां निमित्तं परिस्पंदो जीवप्रदेशानां योगस्त्रिविधः कायवाङ्मनोभेदेन। बेइंदियादि—द्वीन्द्रियादीनां द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियाणाम् असंज्ञिपंचेन्द्रियाणां च भासा—भाषा वचनव्यापारः। भासा य—भाषा च, मणो य—मनश्च, सण्णिकायाणं—संज्ञिकायानां पंचेन्द्रियाणां संज्ञिनां भाषामनोयोगौ भवतः कायश्च। एइंदिया य—एकेन्द्रियाश्च पृथिवीकायिकाप्कायिकतेजःकायिकवायुकायिकवनस्पतिकायिका जीवाः, अमणा य—अमनस्काः, अभासया—अभाषकाः, होंति—भवन्ति ते काययोगा इत्यर्थः। संज्ञिनो जीवा काय-

---

कालप्रमाण—परमसूक्ष्म अर्थात् सबसे अधिक सूक्ष्म काल समय है। एक अणु को दूसरे अणु के उल्लघंन करने में जितना काल लगता है उसे समय कहते हैं। जघन्य युक्ता-संख्यातमात्र समय को आवली कहते हैं। [3]संख्यात कोड़ाकोड़ी आवली का जो प्रमाण है उसे उच्छ्वास कहते हैं। सात उच्छ्वासों का एक स्तव होता है। सात स्तव का एक लव होता है। साढ़े अड़तीस लवों की एक नाली या घटिका होती है। दो नाली का एक मुहूर्त होता है। तीस मुहूर्त का एक दिन-रात होता है। इत्यादिरूप से और भी काल का प्रमाण जान लेना चाहिए।

भावप्रमाण—मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान ये भावप्रमाण हैं। इनके परोक्ष और प्रत्यक्ष ये दो भेद हैं। इस प्रकार से प्रमाणसूत्र का व्याख्यान हुआ।

स्वामी की अपेक्षा योग का स्वरूप कहते हैं।

गाथार्थ—द्वीन्द्रिय आदि जीवों के भाषा होती है। संज्ञी जीवों के भाषा और मन होते हैं और एकेन्द्रिय जीव मन और भाषा रहित होते हैं ॥११२९॥

आचारवृत्ति—काय, वचन और मन के निमित्त से जीव के प्रदेशों के परिस्पन्दन को योग कहते हैं। उसके मन-वचन-काय की अपेक्षा से तीन भेद हो जाते हैं। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, और असैनी पंचेन्द्रिय जीवों के भाषा या वचन-व्यापार अर्थात् वचनयोग होता है। संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के वचनयोग और मनोयोग होते हैं तथा काययोग तो हरेक (संसारी) जीव के है ही। एकेन्द्रिय—पृथिवीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पति-कायिक जीव वचनयोग और मनोयोग से रहित होते हैं अर्थात् इनके मात्र काययोग होता है। तात्पर्य यह है कि संज्ञी जीवों के काययोग, वचनयोग और मनोयोग ये तीनों होते हैं। द्वीन्द्रिय

---

१. क संख्यातावल्यः। २. क वेइंदिया य। ३. टिप्पणी पाठ के अनुसार संख्यात शब्द रखा है।

वाङ्मनोयोगा भवन्ति, द्वीन्द्रियाद्यसंज्ञिपंचेन्द्रियपर्यन्ता कायवचनयोगा भवन्ति, पृथिवीकायिकादिवनस्पतिकायान्ताः काययोगा भवन्ति, [1]सिद्धास्तु त्रिभिर्योगै रहिता भवन्ति। चशब्दादयमर्थो लब्धश्चतुर्विधस्य मनोयोगस्य चतुर्विधस्य वाग्योगस्य सप्तविधस्य काययोगस्य च तेष्वभावादिति ॥११२९॥

स्वामित्वेन वेदस्य स्वरूपमाह—

एइंदिय वियलिंदिय णारय सम्मुच्छिमा य खलु सव्वे।
वेदे णपुंसगा ते णादव्वा होंति णियमादु ॥११३०॥

एइंदिय—एकेन्द्रियाः पृथिवीकायिकादिवनस्पत्यन्ताः, वियलिंदिय—विकलेन्द्रिया, द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियाः, णारय—नारकाः, सम्मुच्छिमा य—सम्मूर्च्छनाश्च, खलु—स्फुटं, सव्वे—सर्वे तेन[2] पंचेन्द्रियाः संज्ञिनोऽसंज्ञिनश्च गृह्यन्ते सम्मूर्च्छिमविशेषणान्यथानुपपत्तेः। एकेन्द्रियविकलेन्द्रियास्तु सम्मूर्च्छिमा एव तेषां विशेषणमनुपपन्नमेव। वेदे—वेदेन वेदस्त्रिविधः स्त्रीवेदः पुंवेदो नपुंसकवेदश्च स्त्रीलिंगं पुंलिंगं नपुंसकलिंगमिति यावत्, स्त्यायत्यस्यां गर्भ इति स्त्री, सूते पुरुगुणानिति पुमान्, न स्त्री न पुमानिति नपुंसकं, स्त्रीबुद्धिशब्दयोः प्रवृत्तिनिमित्तं स्त्रीलिंगं, पुंबुद्धिशब्दयोः प्रवृत्तिनिमित्तं पुंल्लिगं, नपुंसकबुद्धिशब्दयोः प्रवृत्तिनिमित्तं नपुंसकलिंगं तेन लिंगेन नपुंसकवेदेन नपुंसका नपुंसकलिंगाः, णादव्वा—ज्ञातव्याः, होंति—भवन्ति, णियमादु—नियमात् निश्चयात्। सर्वे एकेन्द्रियाः, सर्वे च विकलेन्द्रियाः, नारकाः सर्वे सम्मूर्च्छनजाः पंचेन्द्रियाः संज्ञि-

---

से लेकर असैनी पंचेन्द्रियपर्यन्त जीवों के वचनयोग और काययोग ये दो होते है तथा पृथ्वीकायिक से वनस्पतिकायिकपर्यन्त एकेन्द्रिय जीवों में एक काययोग ही होता है। सिद्ध भगवान् तीनों योगों से रहित होते हैं। अर्थात् च शब्द से यह अर्थ उपलब्ध होता है कि चार प्रकार के मनोयोग, चार प्रकार के वचनयोग और सात प्रकार के काययोग का सिद्धों में अभाव है।

स्वामी की अपेक्षा से वेद का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय, नारकी और सम्मूर्च्छन ये सभी नियम से नपुंसक होते हैं, ऐसा जानना ॥११३०॥

आचारवृत्ति—स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसक वेद की अपेक्षा वेद के तीन भेद हैं। इन्हें लिंग भी कहते हैं। जिसमें गर्भ वृद्धिगत होता है उसे स्त्री कहते हैं। जो पुरु अर्थात् श्रेष्ठ गुणों को जन्म देता है उसे पुरुष कहते हैं। तथा जो न स्त्री है न पुरुष उसे नपुंसक कहते हैं। स्त्री की बुद्धि और स्त्री शब्द की प्रवृत्ति के लिए निमित्त स्त्रीलिंग है, पुरुष की बुद्धि और पुरुष शब्द की प्रवृत्ति के लिए पुल्लिंग है और नपुंसक की बुद्धि और शब्द के लिए निमित्त नपुंसकलिंग है।

पृथ्वी से वनस्पतिकाय पर्यन्त एकेन्द्रिय जीव, विकलेन्द्रिय जीव, नारकी जीव तथा सम्मूर्च्छन (अर्थात् पंचेन्द्रिय सम्मूर्च्छन, के संज्ञी-असंज्ञी दो भेद हैं उन दोनों को ग्रहण करना है अन्यथा सम्मूर्च्छन विशेषण हो नहीं सकता; कारण एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय तो सम्मूर्च्छन ही हैं उनके लिए यह विशेषण बनता नहीं है), के एक नपुंसक वेद होता है। तात्पर्य यह हुआ कि एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय, नारकी व सम्मूर्च्छन जन्म से उत्पन्न होनेवाले पंचेन्द्रिय संज्ञी और असंज्ञी

---

1. क सिद्धाः पुनस्त्रियोग रहिता भवन्ति। 2. क नाम।

नोऽसंज्ञिनश्च वेदेन नपुंसका भवन्तीति ज्ञातव्या नात्र सन्देहः सर्वज्ञवचनं यत इति ॥११३०॥

स्वामित्वेन स्त्रीलिंगपुंल्लिंगयोः स्वरूपमाह—

देवा य भोगभूमा असंखवासाउगा मणुयतिरिया ।
ते होंति दोसु वेदेसु णत्थि तेसिं तदियवेदो ॥११३१॥

देवा य—देवा भवनवासिवानव्यन्तरज्योतिष्ककल्पवासिनः, च शब्दः समुच्चयार्थः भोगभूमा[1]—भोगभौमास्त्रिंशद्भोगभूमिजातास्तिर्यङ्मनुष्याः, असंखवासाउगा—असंख्यवर्षायुषो भोगभूमिप्रतिभागजाः, सर्वे म्लेच्छखण्डोत्पन्नाश्च [2]मनुष्याः, तिरिया—तिर्यंचः, ते होंति—ते भवन्ति, दोसु वेदेसु—द्वयोर्वेदयोर्द्वाभ्यां, वेदाभ्यां णत्थि—नास्ति न विद्यते, तेसिं—तेषां पूर्वोक्तानां तदियवेदो—तृतीयवेदो नपुंसकलिंगम् । देवा भोगभौमा असंख्यातवर्षायुषस्तिर्यंचः भोगभूमिप्रतिभागजाः च शब्दाम्लेच्छाश्च सर्वे एते स्त्रीलिंगपुंल्लिंगाभ्यां भवन्ति, नास्ति तृतीयं नपुंसकलिंगमिति ॥११३१॥

विशेषणं त्रिलिंगत्वं प्रतिपादयन्नाह—

पंचेंदिया दु सेसा सण्णि असण्णीय तिरिय मणुसा य ।
ते होंति इत्थिपुरिसा णपुंसगा चावि वेदेहिं ॥११३२॥

पंचेंदिया दु—पंचेन्द्रियास्तु, सेसा—शेषाः देवनारकभोगभूमिजभोगभूमिप्रतिभागजतिर्यङ्म्लेच्छ-वर्ज्या अन्ये, सण्णि—संज्ञिनः, असण्णीय—असंज्ञिनश्च, तिरिय—तिर्यंचः, मणुसा य—मनुष्याश्च, ते होंति—

जीव इन सबके नियम से एक नपुंसक वेद ही होता है, इसमें सन्देह नहीं करना क्योंकि यह सर्वज्ञ देव का कथन है ।

स्त्रीलिंग और पुल्लिंग के स्वामी को बताते हैं—

गाथार्थ—देव, भोगभूमिज, असंख्यवर्ष आयुवाले मनुष्य और तिर्यंच ये दो वेद में होते हैं, उनके तीसरा, नपुंसक वेद नहीं है ॥११३१॥

आचारवृत्ति—भवनवासी, वानव्यन्तर, ज्योतिष्क और कल्पवासी ये चार प्रकार के देव, तीसों भोगभूमियों में उत्पन्न होनेवाले तिर्यंच और मनुष्य, [3]भोगभूमि प्रतिभाग में उत्पन्न हुए असंख्यात वर्ष की आयुवाले तथा सभी म्लेच्छ खण्डों में उत्पन्न होनेवाले मनुष्य और तिर्यंच स्त्रीलिंग और पुल्लिंग ही होते हैं, उनमें नपुंसकलिंग नहीं होता है ।

तीन लिंग वालों को कहते हैं—

गाथार्थ—शेष संज्ञी और पंचेन्द्रिय तिर्यंच तथा मनुष्य ये वेदों की अपेक्षा स्त्री, पुरुष और नपुंसक भी होते हैं॥११३२॥

आचारवृत्ति—शेष—देव, नारकी, भोगभूमिज व भोगभूमि प्रतिभागज तिर्यंच और मनुष्य तथा म्लेच्छ को छोड़कर बाकी बचे पंचेन्द्रिय सैनी व असैनी तिर्यंच और मनुष्यों में

---

१. क भोगभोमा । २. क मणुसा य । ३. कुभोगभूमिज मनुष्य ।

ते सर्वे भवन्ति, इत्थिपुरिसा—स्त्रीपुरुषा: णपुंसगा—नपुंसकाश्चापि, वेदेहिं—वेदैर्वेदेषु वा। पूर्वोक्तानां शेषा: पंचेन्द्रिया: संज्ञिनोऽसंज्ञिनश्च ये तिर्यंचो मनुष्यास्ते सर्वेऽपि स्त्रीपुंनपुंसकास्त्रिभिर्वेदैर्भवन्ति, पुनर्वेदग्रहणं द्रव्यवेदप्रतिपादनार्थं भाववेदस्य स्त्रीपुंनपुंसकग्रहणेनैव ग्रहणादिति ॥११३२॥

ननु यथा[1]तिर्यङ्‌मनुष्येषु सर्वत्र स्त्रीलिंगमुपलभ्यते किमेवं देवेष्वपि नेत्याह—

आ ईसाणा कप्पा उववादो होइ देवदेवीणं।
तत्तो परं तु णियमा उववादो होइ देवाणं ॥११३३॥

नात्रोपपादकथनमन्याय्यं विषयभेदात्, देवेषु स्त्रीलिंगस्य भावाभावविषयककथनमेतत् नोपपाद-कथन, आ—आङ्‌यमभिविधौ गृह्यते ईसाणा—ईशानात्, कप्पो—कल्पात् उववादो—उपपादो, होइ—भवति, देवदेवीणं—देवदेवीनां देवानां देवीनां च, तत्तो ततस्तस्मादीशानात्परं ऊर्ध्वं सनत्कुमारादिषु उववादो—उपपाद उत्पत्ते: संभव:, होइ—भवति, देवाणं—देवानाम् आ ईशानात्कल्पादिति। किमुक्तं भवति—भवनव्यन्तर-ज्योतिष्केषु सौधर्मेशानयोश्च कल्पयोर्देवानां देवीनां चोपपाद: स्त्रीलिंगपुंल्लिंगयोरुत्पत्ते: संभव: परेषु कल्पेषु सनत्कुमारादिषु देवानामेवोत्पत्ते: संभवो न चात्र स्त्रीलिंगस्योत्पत्ते: संभव इति ॥११३३॥

अथ स्त्रीलिंगस्या ईशानादुत्पन्नस्य कियद्दूरगमनमित्याशंकायामाह—

जावदु आरणअच्चुद गमणागमणं च होइ देवीणं।
तत्तो परं तु णियमा देवीणं णत्थि से गमणं ॥११३४॥

स्त्री, पुरुष और नपुंसक लिंग—तीनों वेद होते हैं। गाथा में पुन: जो वेद का ग्रहण है वह द्रव्य वेद के प्रतिपादन के लिए है, क्योंकि भाववेद का तो स्त्री, पुरुष और नपुंसक के ग्रहण से ही ग्रहण हो जाता है।

जिस प्रकार से पंचेन्द्रिय तिर्यंच और मनुष्यों में सर्वत्र स्त्रीलिंग उपलब्ध होता है क्या ऐसे ही देवों में भी है, उसे ही बताते हैं—

गाथार्थ—देव और देवियों का जन्म ईशान स्वर्ग पर्यन्त होता है, इससे आगे तो नियम से देवों का ही जन्म होता है ॥११३३॥

आचारवृत्ति—यहाँ पर उपपाद का कथन विषय-भेद की अपेक्षा से अन्याय्य नहीं है, न्याययुक्त ही है। यहाँ देवों में स्त्रीलिंग के भाव और अभाव का कथन करना मुख्य है, उपपाद का कथन मुख्य नहीं है। भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क और सौधर्म-ईशान स्वर्ग तक देव और देवियों का उपपाद होता है। इससे ऊपर सनत्कुमार आदि स्वर्गों में देवों की ही उत्पत्ति सम्भव है, वहाँ देवांगनाओं की उत्पत्ति सम्भव नहीं है।

यदि देवियाँ ईशान स्वर्ग तक ही उत्पन्न होती हैं तो उनका गमन कितनी दूर पर्यन्त है? ऐसी आशंका होने पर कहते हैं—

गाथार्थ—देवियों का गमनागमन आरण-अच्युतपर्यन्त होता है। इसके आगे तो नियम से उन देवियों का गमन नहीं है ॥११३४॥

---

१. क पञ्चेन्द्रियतिर्यङ्‌मनुष्येषु।

जाव दु—यावत्, आरणअच्चुद—आरणाच्युतौ, गमणं—गमनं, आगमणं च—आगमनं च, चशब्दः समुच्चये, होदि—भवति, देवीणं—देवीनां, तत्तो—ततस्ताभ्यामूर्ध्वं परं तु—परतः, णियमा—नियमात् निश्चयात्, देवीणं—देवीनां, णत्थि—नास्ति न विद्यते, से—तासां, गमणं—गमनं । [1]यावदारणाच्युतकल्पौ तावदागमनं च भवति देवीनां ततः परेषु नवग्रैवेयकनवानुत्तर [नवानुदिश]—पंचानुत्तरेषु नास्ति तासां देवीनां गमनं कुत एतद् पूर्वागमात् ॥११३४॥

तमेवागमं प्रदर्शयतीति—

कंदप्पआभिजोग्गा देवीओ चावि आरणचुदोत्ति ।
लंतवगादो उवरिं ण संति संमोहखिब्भिसया ॥११३५॥

कंदप्प—कन्दर्पस्य भावः कान्दर्पं कान्दर्पयोगाद्देवाः कान्दर्पाः प्रहासोपप्लवशीलाः, आभिजोग्गा—आभियोग्या वाहनसुराः, देवीओ—देव्यः, चावि—चापि समुच्चयसम्भावनार्थः, आरणचुदोत्ति—आरणाच्युतौ, चशब्देन यावच्छब्दः समुच्चीयते । तेनैवमभिसम्बन्धः क्रियते । कान्दर्पा आभियोग्या देव्योऽपि यावदारणाच्युतौ, अस्मादागमाज्ज्ञायते नास्ति देवीनामूर्ध्वं गमनम् । लंतवगादो—लांतवकात्, उवरिं—उपरि ऊर्ध्वं न सन्ति न विद्यन्ते, संमोह—सम्मोहा भण्डदेवा नित्यमैथुनसेविनः श्ववत् । खिब्भिसया—किल्विषिकाः पाटहिकमौरजिकादयः वादित्रवादनपराः । लान्तवादुपरि किल्विषिकाः सम्मोहाश्च न सन्तीति ॥११३५॥

लेश्यानां स्वामित्वेन स्वरूपं प्रतिपादयन्नाह—

काऊ काऊ तह काउणील णीला य णीलकिण्हा य ।
किण्हा य परमकिण्हा लेस्सा रदणादि पुढवीसु ॥११३६॥

आचारवृत्ति—सोलहवें स्वर्गपर्यन्त ही देवियों का गमनागमन होता है। उसके ऊपर नव ग्रैवेयक, नव अनुत्तर (नव अनुदिश) और पाँच अनुत्तरों में उन देवियों का गमन नहीं है। ऐसा क्यों ? पूर्वागम में ऐसा कहा हुआ है।

उसी आगम को दिखलाते हैं—

गाथार्थ—कान्दर्प और आभियोग्य देव तथा देवियाँ आरण-अच्युत पर्यन्त ही हैं एवं लान्तव कल्प से ऊपर सम्मोह और किल्विषिक देव नहीं हैं ॥११३५॥

आचारवृत्ति—कन्दर्प का भाव कान्दर्प है। उसके योग से देव भी कान्दर्प कहलाते हैं अर्थात् हँसी-मजाक आदि करनेवाले देव, आभियोग्य—वाहन जाति के देव तथा देवियाँ सोलहवें स्वर्गपर्यन्त ही होते हैं। इसी आगम से जाना जाता है कि देवियों का गमन अच्युत स्वर्ग के ऊपर नहीं है। लान्तव नामक स्वर्ग के ऊपर संमोह जाति के देव और किल्विषिक जाति के देव नहीं होते हैं। भण्डदेव अर्थात् श्वान के समान नित्य मैथुन सेवन करनेवाले देव सम्मोह कहलाते हैं तथा पटह, मुरज आदि बाजे बजानेवाले देव किल्विषिक कहलाते हैं।

लेश्याओं का स्वामित्व पूर्वक स्वरूप प्रतिपादित करते हैं—

गाथार्थ—रत्नप्रभा आदि सातों पृथिवियों में क्रम से कापोत, कापोत, कापोत-नील, नील, नील-कृष्ण, कृष्ण और परमकृष्ण लेश्या है ॥११३६॥

---

1. क आरणाच्युतकल्पौ यावद् गमनागमनं च ।

लेश्यायाः सर्वत्र सम्बन्धः, काऊ[1] काऊ—कापोती कापोती जघन्यकापोतलेश्या, तह—तथा, काऊ—कापोती मध्यमकापोतलेश्या, णील—नीला जघन्यनीललेश्या उत्कृष्टकापोतलेश्या, णीलाय—नीला च मध्यमनीला, णीलकिण्हाय—नीलकृष्णा चोत्कृष्टनीला जघन्यकृष्णा च, किण्हाय—कृष्णा च मध्यम-कृष्णलेश्या, परमकिण्हा—परमकृष्णा सर्वोत्कृष्टकृष्णलेश्या, लेस्सा—लेश्या कषायानुरंजिता योगप्रवृत्तिः, रदणादि—रत्नादिषु पुढवीसु—धरित्रीषु रत्नप्रभादिसप्तसु नरकेषु यथासंख्येन संबन्धः। रत्नप्रभायां नार-काणां जघन्यकापोतलेश्या, द्वितीयायां शर्कराप्रभायां मध्यमकापोतलेश्या, तृतीयायां वालुकाप्रभायामुपरिष्टा-दुत्कृष्टकापोतीलेश्या अधो जघन्यनीला च, चतुर्थ्यां पंकप्रभायां मध्यमनीललेश्या, पंचम्यां धूमप्रभायाम् उपरि उत्कृष्टनीला अधो जघन्यकृष्णा च, षष्ठ्यां तमःप्रभायां मध्यमकृष्णलेश्या, सप्तम्यां [2]महातमःप्रभाया-मुत्कृष्टलेश्या सर्वत्र नारकाणामिति संबन्धः। स्वायुःप्रमाणावधृता द्रव्यलेश्याः। भावलेश्यास्तु अन्तर्मुहूर्त-परिवर्तिन्यः। न केवलमशुभलेश्याः नारकाणां किन्तु अशुभपरिणामा अशुभस्पर्शरसगन्धवर्णाः क्षेत्रविशेषनि-मित्तवशादतिदुःखहेतवो देहाश्च तेषामशुभनामोदयादत्यन्ताशुभतराः विकृताकृतयो हुण्डसंस्थाना इति ॥११३६॥

देवानां लेश्याभेदमाह—

तेऊ तेऊ तह तेऊ पम्म पम्मा य पम्मसुक्का य।
सुक्का य परमसुक्का लेस्साभेदो मुणेयव्वो ॥११३७॥

आचारवृत्ति—कषाय के उदय से अनुरंजित योग की प्रवृत्ति का नाम लेश्या है। इन कापोत आदि लेश्याओं का सातों नरकों में क्रम से सम्बन्ध करना। रत्नप्रभा नरक में नारकियों के कापोत लेश्या है। शर्कराप्रभा नरक में मध्यम कापोत लेश्या है। बालुका प्रभा में उपरिम भाग में उत्कृष्ट कापोत लेश्या है और नीचे पाथड़ों में जघन्य नील लेश्या है, पंकप्रभानरक में मध्यम नील लेश्या है, धूमप्रभा में ऊपर के पाथड़ों में उत्कृष्ट नील लेश्या है और अधोभाग में पाथड़ों में जघन्य कृष्ण लेश्या है, तमःप्रभा नरक में मध्यम कृष्ण लेश्या है और महातमःप्रभा नामक सातवें नरक में उत्कृष्ट कृष्ण लेश्या है। सभी जगह नारकियों में लेश्या का सम्बन्ध करना।

लेश्या के दो भेद हैं—द्रव्यलेश्या और भावलेश्या। शरीर के वर्ण का नाम द्रव्यलेश्या है और कषायोदय से अनुरंजित योगप्रवृत्ति रूप भावों का नाम लेश्या है। अपनी आयु प्रमाण रहने वाली द्रव्यलेश्या है और अन्तर्मुहूर्त में परिवर्तन होनेवाली भावलेश्या है। नारकियों की लेश्याएँ ही अशुभ नहीं किन्तु उनके परिणाम, स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण भी अशुभ होते हैं। ये क्षेत्रविशेष के निमित्तवश अतिदुःख में कारण होते हैं और उनके शरीर अशुभ कर्म के उदय से अत्यन्त अशुभतर विकृत आकृति रूप और हुण्डक संस्थानवाले होते हैं।

देवों के लेश्याभेद को कहते हैं—

गाथार्थ—जघन्यपीत, मध्यपीत, उत्कृष्टपीत और जघन्यपद्म, मध्यपद्म, उत्कृष्टपद्म और जघन्यशुक्ल, मध्यमशुक्ल और परमशुक्ल ये लेश्या के भेद जानना चाहिए ॥११३७॥

---

१. 'काऊ—कापोती जघन्य कापोतलेश्या काउ, कापोती मध्यमकापोतलेश्या, तह—तथा, काऊणीले—कपोतीनीले उत्कृष्टकापोतलेश्या, जघन्यनीललेश्या च, इति पैके। २. क तमस्तमःप्रभायां।

तेऊ तेऊ—तेजस्तेजः जघन्यतेजोलेश्या, तह—तथा, तेऊ—तेजः मध्यमतेजोलेश्या, पम्म—पद्मा जघन्यपद्मलेश्या उत्कृष्टतेजोलेश्या च, पम्मा य—पद्मा च मध्यमपद्मलेश्या, पम्मसुक्का य—पद्मशुक्ला च उत्कृष्टपद्मलेश्या जघन्यशुक्ललेश्या च, सुक्का य—शुक्ला च मध्यमशुक्ला, परमसुक्का—परमशुक्ला सर्वोत्कृष्टशुक्ललेश्या, लेस्साभेदो—लेश्याभेदः, मुणेयव्वो—ज्ञातव्य इति ॥११३७॥

एते सप्त लेश्याभेदाः केषामित्याशंकायामाह—

तिण्हं दोण्हं दोण्हं छण्हं दोण्हं च तेरसण्हं च।
एत्तो य चोद्दसण्हं लेस्सा भवणादिदेवाणं ॥११३८॥

तिण्हं—त्रयाणां त्रिषु वा, दोण्हं—द्वयोः, पुनरपि दोण्हं—द्वयोः, छण्हं—षण्णां, दोण्हं च—द्वयोश्च, तेरसण्हं च—त्रयोदशानां त्रयोदशसु वा, एत्तो य—इतश्चोपरि चोद्दसण्हं—चतुर्दशानां चतुर्दशसु वा लेस्सा—लेश्याः पूर्वोक्ताः सप्त लेश्याभेदाः, भवणादिदेवाणं—भवनादिदेवानाम् । भवनवानव्यन्तर-ज्योतिष्केषु त्रिषु देवानां जघन्यतेजोलेश्या, सौधर्मैशानयोर्देवानां मध्यमतेजोलेश्या, सानत्कुमारमाहेन्द्रयोर्देवाना-मुत्कृष्टतेजोलेश्या जघन्यपद्मलेश्या च, ब्रह्मब्रह्मोत्तरलान्तवकापिष्ठशुक्रमहाशुक्रेषु षट्सु देवानां मध्यमपद्म-लेश्या, शतारसहस्रारयोरुत्कृष्टपद्मलेश्या जघन्यशुक्ललेश्या च, आनतप्राणतारणाच्युतसहितेषु नवसु ग्रैवेयकेषु त्रयोदशसंख्यकेषु मध्यमशुक्ललेश्या, नवानुत्तरेषु पंचानुत्तरेषु चतुर्दशसंख्येषु परमशुक्ललेश्या, [1]सर्वत्र देवाना-मिति यथासंख्येन संबन्ध इति ॥११३८॥

तिर्यङ्मनुष्याणां लेश्याभेदमाह—

आचारवृत्ति—जघन्य तेजो लेश्या, मध्यम तेजोलेश्या, उत्कृष्ट तेजोलेश्या और जघन्य-पद्मलेश्या, मध्यमपद्मलेश्या, उत्कृष्टपद्मलेश्या और जघन्यशुक्ललेश्या, मध्यमशुक्ललेश्या, और परम शुक्ललेश्या ये लेश्याओं के भेद जानना चाहिए।

सात लेश्याओं के ये भेद किनके हैं ? ऐसी आशंका होने पर कहते हैं—

गाथार्थ—भवनवासी आदि तीन प्रकार के देवों में दो स्वर्गों में, दो स्वर्गों में, छह स्वर्गों में, दो स्वर्गों में, तेरहवें में और उसके आगे चौदहवें में ऐसे सात स्थानों में क्रम से लेश्या के सात भेद होते हैं ॥११३८॥

आचारवृत्ति—भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिषी इन तीन प्रकार के देवों में जघन्य तेजो लेश्या है। सौधर्म-ऐशान स्वर्ग में देवों के मध्यम तेजोलेश्या होती है। सानत्कुमार और माहेन्द्र में देवों के उत्कृष्ट तेजोलेश्या और जघन्य पद्मलेश्या हैं। ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर, लान्तव, कापिष्ठ, शुक्र और महाशुक्र इन छह स्वर्गों में देवों के मध्यमपद्म-लेश्या है। शतार और सहस्रार स्वर्गों में देवों के उत्कृष्ट पद्मलेश्या और जघन्य शुक्ल लेश्या है। आनत, प्राणत, आरण और अच्युत इन चार कल्प और नव ग्रैवेयक इन तेरहों में मध्यम शुक्ल-लेश्या है। नव अनुत्तर अर्थात् अनुदिश और पाँच अनुत्तर इन चौदहों में परमशुक्ल लेश्या है। ये लेश्याएँ सर्वत्र देवों के होती हैं यह यथाक्रम लगा लेना चाहिए।

तिर्यंच और मनुष्यों में लेश्याभेदों को कहते हैं—

---

१. क सर्व।

एइंदियवियलिंदियअसण्णिणो तिण्णि होंति असुहाओ।
संखादीदाऊणं तिण्णि सुहा छप्पि सेसाणं ॥११३९॥

एइंदिय—एकेन्द्रियाणां पृथिवीकायिकादिवनस्पतिकायिकान्तानां, वियलिंदिय—विकलेन्द्रियाणां द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियाणाम्, असण्णिणो—असंज्ञिनां शिक्षाऽऽलापादिग्रहणायोग्यानां पंचेन्द्रियाणां तिण्णि—तिस्रः, होंति—भवन्ति, असुहाओ—अशुभाः कापोतनीलकृष्णलेश्याः। संखादीदाऊणं—संख्यातीतायुष्काणां भोगभूमिजानां प्रतिभागजानां च, तिण्णि—तिस्रः शुभाः तेजःशुक्लपद्मलेश्याः, छप्पि—षडपि कापोतनील-कृष्णतेजःपद्मशुक्ललेश्याः, सेसाणं—शेषाणां कर्मभूमिजानां कर्मभूमिप्रतिभागजानां पंचेन्द्रियाणां संज्ञिनाम्। एकेन्द्रियविकलेन्द्रियसंज्ञिनां तिस्रोऽशुभलेश्या भवन्ति, भोगभूमिजानां भोगभूमिप्रतिभागजानां च तिर्यङ्मनुष्याणां तिस्रः शुभा लेश्या भवन्ति, शेषाणां पुनः कर्मभूमिजानां कर्मभूमिप्रतिभागजानां च तिर्यङ्मनुष्याणां षडपि लेश्या भवन्ति। अत्रापि केषांचिद्द्रव्यलेश्याः स्वायुःप्रमाणावधृता। भावलेश्याः पुनः सर्वेषामन्तर्मुहूर्तपरि-वर्तिन्यः कषायाणां हानिवृद्धिभ्यां तासां हानिवृद्धी वेदितव्ये इति ॥११३९॥

प्रवीचारकारणेन्द्रियविषयभेदं प्रतिपादयन्नाह—

कामा दुवे तिओ भोग इंदियत्था विदूहिं पण्णत्ता।
कामो रसो य फासो सेसा भोगेति आहीया ॥११४०॥

कामा—कामः स्त्रीपुंनपुंसकवेदोदयकृततद्विषयाभिलाषस्तस्य कारणत्वात्कामः कारणे कार्यो-पचारात्, दुवे—द्वौ, तिओ—त्रयः, भोग—भोगाः, इंदियत्था—इन्द्रियार्था इन्द्रियविषयाः स्पर्शरसगन्धरूप-

---

गाथार्थ—एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय और असंज्ञी जीवों के तीन अशुभ लेश्याएँ हैं। असंख्यात वर्ष की आयुवालों के तीन शुभ लेश्याएँ हैं और शेष जीवों के छहों लेश्याएँ हैं ॥११३९॥

आचारवृत्ति—पृथिवीकायिक से लेकर वनस्पतिपर्यन्त एकेन्द्रिय जीवों के, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीवों के तथा शिक्षा आलाप आदि, और ग्रहण करने में अयोग्य ऐसे असैनी पंचेन्द्रिय जीवों के कापोत, नील और कृष्ण ये तीन अशुभ लेश्याएँ ही रहती हैं। भोग-भूमिज और भोगभूमिप्रतिभागज जीव जो असंख्यात वर्ष की आयुवाले होते हैं, में तेज, पद्म और शुक्ल ये तीन शुभलेश्याएँ ही होती हैं। शेष—कर्मभूमिज और कर्मभूमिप्रतिभागज पंचेन्द्रिय सैनी तिर्यंच तथा मनुष्यों में छहों लेश्याएँ होती हैं। यहाँ पर भी किन्हीं जीवों के द्रव्यलेश्या अपने आयुप्रमाण निश्चित है। किन्तु सभी जीवों को भावलेश्या अन्तर्मुहूर्त में परि-वर्तन करनेवाली होती है, क्योंकि कषायों की हानि-वृद्धि से उनकी हानि-वृद्धि जानना चाहिए।

प्रवीचार कारण और इन्द्रिय विषयों का भेद प्रतिपादित करते हैं—

गाथार्थ—इन्द्रियों के विषय दो इन्द्रिय के कामस्वरूप और तीन के भोगस्वरूप हैं ऐसा विद्वानों ने कहा है। रस और स्पर्श ये दो इन्द्रियाँ काम हैं और शेष इन्द्रियाँ भोग हैं ऐसा कहा गया है ॥११४०॥

आचारवृत्ति—स्पर्श, रस, गन्ध, रूप और शब्द ये पाँच इन्द्रियों के विषय हैं। अथवा स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ये पाँच इन्द्रियाँ हैं तथा इनके उपर्युक्त पाँच विषय हैं। प्रत्यक्षदर्शी सर्वज्ञदेव ने इनमें से स्पर्श और रस को काम तथा शेष तीन को भोग शब्द से कहा

शब्दाः । अथवेन्द्रियाणि स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राणि तद्विषयाश्च, विदूहि—विद्वद्भिः प्रत्यक्षदर्शिभिः, पण्णत्ता—प्रज्ञप्ताः कथिताः दृष्टा वा । कामो—कामः, रसो य—रसश्च, फासो—स्पर्शश्च, सेसा—शेषाः गन्धरूपशब्दाः भोगेत्ति—भोगा इति, आहिया—आहिताः प्रतिपादिताः ज्ञाता वा । स्पर्शनेन्द्रियप्रवृत्ति-कारणत्वाद् रूपशब्दौ भोगौ, रसनेन्द्रियस्य प्रवृत्तिहेतोः स्पर्शनेन्द्रियस्य च घ्राणं भोगोऽतः अत एवं कामौ रस-स्पर्शौ, गन्धरूपशब्दा भोगाः कथिताः, अत इन्द्रियार्थाः सर्वेऽपि कामा भोगाश्च विद्वद्भिः प्रज्ञप्ता इति ॥११४०॥

इन्द्रियैर्वेदनाप्रतिकारसुखं देवानामाह—

आईसाणा कप्पा देवा खलु होंति कायपडिचारा ।
फासप्पडिचारा पुण सणक्कुमारे य माहिंदे ॥११४१ ॥

आङ्यमभिविधौ द्रष्टव्यः असंहिततया निर्देशोऽसंदेहार्थः तिर्यङ्मनुष्यभवनवासिव्यन्तरज्योतिः-सौधर्माणां ग्रहणं लब्धं भवति, ईसाणा—ईशानात्, कप्पा—कल्पाः, देवा—देवाः, खलु—स्फुटं, होंति—भवन्ति, कायपडिचारा—कायप्रतीचाराः "प्रतीचारो मैथुनोपसेवनं वेदोदयकृतपीडाप्रतीकारः" काये कायेन वा प्रतीचारो येषां ते कायप्रतीचारास्तिर्यङ्मनुष्या भवनवासिवानव्यन्तरज्योतिष्कसौधर्मैशाना देवा देव्यश्च स्फुटं भवन्ति कायप्रतीचाराः संक्लिष्टकर्मकलङ्कत्वान्मनुष्यवत्स्त्रीसुखमनुभवन्तीति । अवधिग्रहणादितरेषां सुखविभागे प्रतिज्ञाते तत्प्रतिज्ञानायाह—फासपडिचारा—स्पर्शप्रतीचाराः स्पर्शे स्पर्शनेन वा प्रतीचारो विषय-सुखानुभवनं येषां ते स्पर्शप्रतीचाराः, पुण—पुनरन्येन प्रकारेण, सणक्कुमारे य—सनत्कुमारे च कल्पे, माहिंदे—माहेन्द्रे कल्पे देवा इत्यनुवर्तते । सानत्कुमारे कल्पे माहेन्द्रकल्पे च ये देवास्ते स्पर्शप्रतीचाराः—देवांगना-

---

है अथवा वैसा देखा और जाना जाता है । स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद के उदय से जो विषयों की अभिलाषा होती है उसके लिए कारण होने से स्पर्श और रस इन दो को काम कहा है । यहाँ पर कारण में कार्य का उपचार है । स्पर्शन इन्द्रिय की प्रवृत्ति में कारण होने से रूप और शब्द भोग हैं, रसना इन्द्रिय और स्पर्शन इन्द्रिय की प्रवृत्ति में हेतु होने से घ्राण भोग है। इस प्रकार से रस और स्पर्श काम हैं तथा गन्ध, रूप और शब्द भोग कहे गये हैं । इस प्रकार विद्वानों ने सभी पाँचों इन्द्रियों के विषयों को काम और भोगरूप से कहा है ।

देवों के इन्द्रियों द्वारा वेदना के प्रतीकार का सुख है, ऐसा कहते हैं—

गाथार्थ—ईशान स्वर्ग पर्यन्त के देव निश्चित ही काय से कामसेवन करते हैं । पुनः सानत्कुमार और माहेन्द्र में स्पर्श से कामसेवन करते हैं ॥११४१॥

आचारवृत्ति—यहाँ पर 'आङ्' अव्यय अभिविधि अर्थ में ग्रहण करना चाहिए तथा गाथा में संधि न करके जो निर्देश है वह असंदेह के लिए है । इससे तिर्यंच, मनुष्य, भवनवासी व्यन्तर, ज्योतिषी तथा सौधर्मस्वर्ग के देव इनका ग्रहण हो जाता है । ये तिर्यंच आदि तथा ईशान स्वर्ग तक के देव काय से मैथुन का सेवन करते हैं अर्थात् वेद के उदय से हुई पीड़ा का प्रतीकार काय से काम-सेवन द्वारा करते हैं, क्योंकि संक्लिष्ट कर्म से कलंकित होने से ये देव भी मनुष्यों के समान स्त्री-सुख का अनुभव करते हैं । यहाँ तक देवों की मर्यादा कर देने से आगे के देवों में किस प्रकार से कामसुख है उसे ही स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि आगे सानत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्गों के देव देवांगनाओं के स्पर्शमात्र से कामकृत प्रीतिसुख का

स्पर्शमात्रकामकृतप्रीतिसुखमुपलभन्ते तथा देव्योऽपीति ॥११४१॥

तथा शेषाणां सुखप्रतिपादनार्थमाह—

बंभे कप्पे बंभुत्तरे य तह लंतवे य कापिट्ठे ।
एदेसु य जे देवा बोधव्वा रूवपडिचारा ॥११४२॥

बंभे कप्पे—ब्रह्मकल्पे, बंभुत्तरे य—ब्रह्मोत्तरे च कल्पे, तह—तथा, लंतवे य—लान्तवकल्पे, कापिट्ठे—कापिष्ठकल्पे, एदेसु य—एतेषु च कल्पेषु चान्येषु तत्प्रतिबद्धेषु, जे देवा—ये देवाः, बोधव्वा—बोद्धव्याः ज्ञातव्याः, रूवपडिचारा—रूपे रूपेण वा प्रतीचारो येषां ते रूपप्रतीचाराः। ब्रह्मब्रह्मोत्तरलान्तवकापिष्ठेषु कल्पेषु ये देवास्ते रूपप्रतीचाराः दिव्यांगनानां श्रृंगारचतुरमनोज्ञवेषरूपालोकनमात्रादेव परं सुखं प्राप्नुवन्ति देव्योऽपि चेति ॥११४२॥

शब्दप्रतीचारान् प्रतिपादयन्नाह—

सुक्कमहासुक्केसु य सदारकप्पे तहा सहस्सारे ।
कप्पे एदेसु सुरा बोधव्वा सद्दपडिचारा ॥११४३॥

सुक्कमहासुक्केसु य—शुक्रमहाशुक्रयोश्च, सदारकप्पे—शतारकल्पे, तहा—तथा, सहस्सारे—सहस्रारे च, कप्पे—कल्पे, एदेसु—एतेषु, सुरा—सुराः देवाः, बोधव्वा—बोद्धव्याः, सद्दपडिचारा—शब्दप्रतीचाराः, शब्दे शब्देन वा प्रतीचारो येषां ते शब्दप्रतीचाराः। एतेषु शुक्रमहाशुक्रशतारसहस्रारकल्पेषु ये देवा देव्योऽपि च ते शब्दप्रतीचाराः, देववनितानां मधुरसंगीतमृदुललितकथितभूषणारवश्रवणमात्रादेव परां प्रीतिमास्कन्दन्तीति ॥११४३॥

मनःप्रतीचारान् प्रतिपादयन्नाह—

अनुभव करते हैं तथा देवियाँ भी देवों के स्पर्श मात्र से कामसुख का अनुभव करती हैं।

तथा शेष देवों के सुख का प्रतिपादन करते हैं—

गाथार्थ—ब्रह्म ब्रह्मोत्तर तथा लान्तव और कापिष्ठ इन चार स्वर्गों में देव देवियों के रूप को देखकर काम-सुख प्राप्त करते हैं ऐसा जानना ॥११४२॥

आचारवृत्ति—ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर, लान्तव और कापिष्ठ स्वर्गों के देव देवांगनाओं के श्रृंगार-चतुर और मनोज्ञ वेष तथा रूप के अवलोकन मात्र से ही परम सुख को प्राप्त हो जाते हैं। तथा देवियाँ भी अपने देव के रूप अवलोकन से काम का अनुभव कर तृप्त हो जाती हैं।

शब्द से काम सेवन का प्रतिपादन करते हैं—

गाथार्थ—शुक्र, महाशुक्र, शतार और सहस्रार कल्पों में देव शब्द सुनकर कामसुख का अनुभव करनेवाले होते हैं ॥११४३॥

आचारवृत्ति—शुक्र, महाशुक्र, शतार और सहस्रार कल्पों में जो देव और देवियाँ हैं वे शब्द सुनकर कामसुख का अनुभव करते हैं। अर्थात् वहाँ के देव अपनी देवांगनाओं के मधुर संगीत, मृदु ललित कथाएँ और भूषणों की ध्वनि के सुनने मात्र से ही परमप्रीति को प्राप्त कर लेते हैं।

मन से कामसेवन का प्रतिपादन करते हैं—

आणदपाणदकप्पे आरणकप्पे य अच्चुदे य तहा।
मणपडिचारा णियमा एदेसु य होंति जे देवा ॥११४४॥

आणदपाणदकप्पे—आनतप्राणतकल्पयोः, आरणकप्पे—आरणकल्पे, अच्चुदे य तहा—अच्युते च तथैव देवयोरपि, मणपडिचारा—मनःप्रवीचाराः, णियमा—नियमान्निश्चयेन एदेसु य—एतेषु च, होंति—भवन्ति, जे देवा—ये देवाः। एतयो आनतप्राणतकल्पयोरारणाच्युतकल्पयोर्देवा मनःप्रतीचारा मानसिककामाभिलाषप्राप्तसुखाः स्वांगनामनःसंकल्पमात्रादेव परमसुखमवाप्नुवन्तीति ॥११४४॥

अथोत्तरेषां किंप्रकारं सुखमित्युक्ते तन्निश्चयार्थमाह—

तत्तो परं तु णियमा देवा खलु होंति णिप्पडीचारा।
सप्पडिचारेहिं वि ते अणंतगुणसोक्खसंजुत्ता ॥११४५॥

तत्तो—ततस्तेभ्यो भवनाद्यच्युतान्तेभ्यः, परं तु—परत ऊर्ध्वं, णियमा—नियमान्निश्चयादसंदेहात् देवा—अहमिन्द्रादयः, खलु स्फुटं व्यक्तमेतत्प्रत्यक्षज्ञानिदृष्टमेतत्, होंति—भवन्ति, णिप्पडीचारा—निष्प्रतीचारा प्रतीचारान्निर्गता निष्प्रतीचाराः कामाग्निदाहविनिर्मुक्ताः। वनिताविषयपंचेन्द्रियसुखरहिताः। यद्येवं किं तेषां सुखमित्याशंकायामाह—सप्पडिचारेहिं वि—सप्रतीचारेभ्योऽपि कायस्पर्शरूपशब्दमनःप्रवीचारेभ्योऽपि ते नवग्रैवेयकादिकेऽहमिन्द्राः, अणंतगुणसोक्खसंजुत्ता—अनन्तगुणसौख्ययुक्ता, अनन्तो गुणो गुणकारो यस्य तदनन्तगुणं अनन्तगुणं च तत्सौख्यं चानन्तगुणसौख्यं स्वायत्तसर्वप्रदेशानन्दप्रीणनं तेन संयुक्ताः सहितास्तेभ्यो भवनाद्यच्युतान्तेभ्यः परेषु नवग्रैवेयकनवानुदिशपञ्चानुत्तरेषु ये देवास्ते निश्चयेनाप्रतीचाराः सप्रतीचारेभ्यो ऽनन्तगुणसंयुक्ताः, व्यक्तमेतत् प्रतीचारो हि वेदनाप्रतीकारस्तदभावे तेषां परमसुखमनवरतमिति ॥११४५॥

गाथार्थ—आनत-प्राणत, तथा आरण-अच्युत कल्प में जो देव हैं वे नियम से मन से कामसुख का अनुभव करते हैं ॥११४४॥

आचारवृत्ति—आनत, प्राणत, आरण और अच्युत इन कल्पों में देव मानसिक काम की अभिलाषा से प्राप्त सुख का अनुभव करते हैं। अर्थात् यहाँ के देव अपनी देवांगनाओं के मन में संकल्प आने मात्र से ही परम सुख को प्राप्त कर लेते हैं।

अब आगे के देवों में किसप्रकार का सुख है ऐसा पूछने पर उसका निश्चय करने के के लिए कहते हैं—

गाथार्थ—उससे परे देव नियम से कामसेवन से रहित होते हैं। वे कामसेवन सुखवालों से भी अधिक अनन्तगुण सुख से संयुक्त होते हैं ॥११४५॥

आचारवृत्ति—भवनवासी से लेकर अच्युतपर्यन्त सोलहवें स्वर्ग के देवों के कामसुख को कहा है। इसके आगे नव ग्रैवेयक तथा नव अनुदिश तथा पाँच अनुत्तरों में जो देव हैं वे निश्चय से कामसेवन के सुख से रहित हैं। अर्थात् वे अहमिन्द्र कामाग्नि की दाह से विनिर्मुक्त हैं। फिर भी वे अनन्तगुणों से और अपने अधीन सभी आत्मप्रदेशों में उत्पन्न हुए आनन्द से संतृप्त रहते हैं, क्योंकि यह बात स्पष्ट ही है कि कामसेवन एक वेदना का प्रतीकार है, उसके अभाव में उन्हें सदा ही परमसुख रहता है। अर्थात् वहाँ देवांगनाएँ भी नहीं हैं और कामसुख की अभिलाषा भी नहीं है अतः वे स्वाधीन सुख से सुखी हैं।

कुतोऽयत:—

जं च कामसुहं लोए जं च दिव्वमहासुहं।
वीदरागसुहस्सेदे णंतभागंपि णग्घंदि ॥११४६॥

जं च—यच्च, कामसुहं—कामसुखं विषयोत्थजीवप्रदेशाह्लादकारणं मनुष्यादिभवं, लोए—लोके तिर्यगूर्ध्वाधोभागेषु, जं च दिव्वमहासुहं—दिवि भवं दिव्यं दिव्यं च तन्महासुखं च दिव्यमहासुखं भवनाद्यच्युतान्तदेवोत्थं, वीदरागसुहस्स—वीतरागसुखस्य निर्मूलितमोहनीयादिकर्मकलंकस्य, एदे—एतानि तिर्यङ्मनुष्यदेवजनितानि सुखानि, णंतभागंपि—अनन्तभागस्यापि वीतरागसुखस्यानन्तराशिना भागे कृते यल्लब्धं तस्यानन्तभागस्यापि, णग्घंति—नार्घन्ति नार्हन्ति सदृशानि न तानि तस्य मूल्यं वा नार्हन्ति। यत: सर्वाणि देवमनुष्यभोगभूमिजादिसर्वसुखानि वीतरागसुखस्यानन्तभागमपि नार्हन्ति, अतो निष्प्रतीचारेषु देवेषु महत्सुखं सर्वान् सप्रतीचारानपेक्ष्येति ॥११४६॥

स्पर्शरसौ कामाविति व्याख्यातौ तत्र स्पर्श: कामो देवानामवगतो रस: कामो नाद्यापीत्युक्ते तदर्थमाह—

जदि सागरोवमाओ तदि वाससहस्सियादु आहारो।
पक्खेहि दु उस्सासो सागरसमयेहि चेव भवे ॥११४७॥

जदि—यावत् यन्मात्रं, सागरोवमाऊ—सागरोपमायु: यावन्मात्रै: सागरोपमायु:, तदि—तावन्मात्रै:

ऐसा क्यों? सो ही बताते हैं—

गाथार्थ—लोक में जो काम-सुख हैं और जो दिव्य महासुख हैं वे वीतराग सुख के अनन्तवें भाग भी नहीं हो सकते ॥११४६॥

आचारवृत्ति—ऊर्ध्व, अध: और तिर्यग्रूप लोक में जो मनुष्य आदि में उत्पन्न होनेवाला काम-सुख है, जीव के प्रदेशों में जो विषयों से उत्पन्न हुए आह्लाद का कारणभूत है एवं जो भवनवासी से लेकर अच्युत पर्यन्त देवों के होनेवाला दिव्य महासुख है वह, जिन्होंने मोहनीय कर्म कलंक का निर्मूल नाश कर दिया है ऐसे वीतरागी महापुरुषों के सुख की अपेक्षा (इन तिर्यंच, मनुष्य और देवों में उत्पन्न होनेवाला सुख) अनन्तवाँ भाग भी नहीं है। अर्थात् वीतराग के सुख में अनन्तराशि से भाग देने पर जो लब्ध हो वह अनन्तवाँ भाग हुआ। इन जीवों का सुख उतने मात्र के सदृश भी नहीं है अथवा उसके मूल्य को प्राप्त करने में ये सुख समर्थ नहीं हैं। चूंकि सभी देव, मनुष्य और भोगभूमिज आदि के सर्वसुख के अनन्तवें भाग भी नहीं हो सकते हैं, इस कारण कामसेवन रहित इन देवों में कामसेवन सहित सभी जीवों की अपेक्षा महान् सुख है।

स्पर्श और रस ये काम हैं ऐसा कहा है और उनमें से स्पर्श काम का देवों में बोध हो गया है। रस काम है इसका अभी तक बोध नहीं हुआ ऐसा पूछने पर उसी को कहते हैं—

गाथार्थ—जितने सागर की आयु है उतने हजार वर्षों में आहार होता है और जितने सागर आयु है उतने ही पक्षों में उच्छ्वास होता है ॥११४७॥

आचारवृत्ति—जिन देवों की जितने सागर प्रमाण आयु है उतने हजार वर्षों के बीत

वाससहस्सियाहु—वर्षसहस्रै रतिक्रान्तैराहारो भोजनेच्छा आहाराभिलाषः यावन्मात्राणि सागरोपमाण्यायुस्तावन्मात्रैर्वर्षसहस्रै रतिक्रान्तैराहारो देवानां भवति । अथ गन्धस्य कथमित्युक्तेऽत आह, पक्खेहिं दु—पक्षैस्तु पंचदशाहोरात्रैः, उस्सासो—उच्छ्वासो निःश्वासश्च गन्धद्रव्याघ्राणं, सायरसमयेहिं—[1]सागरसमयसमानैः सागरोपमप्रमाणैः, चेव—चैव, हवे—भवेत् । यावन्मात्राणि सागरोपमाणि जीवन्ति देवास्तावन्मात्रैः पक्षैर्गतैरुच्छ्वासनिःश्वासौ भवतः । सौधर्मैशानयोर्देवानामाहारसंज्ञा भवति द्वयोर्वर्षसहस्रयोः साधिकयोर्गतयोस्तथा मासे साधिके गते उच्छ्वासो भवेत्, सानत्कुमारमाहेन्द्रयोर्देवानां सप्तभिर्वर्षसहस्रैः साधिकैर्गतैराहारेच्छा जायते तावद्भिः पक्षैश्चोच्छ्वासः साधिकैः । चशब्दाद्देवीनामन्तर्मुहूर्तपृथक्त्वेनैवमुत्तरत्रापि सर्वत्र योज्यमिति ।
॥११४७॥

अथ येषां पल्योपमायुस्तेषां[2]मित्याशंकायामाह—

उक्कस्सेणाहारो वाससहस्साहिएण भवणाणं ।
जोदिसियाणं पुण भिण्णमुहुत्तेणेदि सेस उक्कस्सं ॥११४८॥

उक्कस्सेण—उत्कृष्टेनाहारो भोजनाभिप्रायः, वाससहस्स—वर्षसहस्रेण, अहिएण—अधिकेन पंचदशवर्षशतैरित्यर्थः, भवणाणं—भवनानां भवनवास्यसुराणां, जोदिसियाणं—ज्योतिष्काणां चन्द्रादित्यादीनां, पुण—[3]पुनः, भिण्णमुहुत्तेण—भिण्णमुहूर्तेन, इदि—इति एवं, सेस—शेषाणां नवानां भवनवासिकुमाराणां सर्वदेवीनां च, किन्तु केषांचिन्मुहूर्तपृथक्त्वेन उक्कस्सं—उत्कृष्टम् । असुराणां वर्षसहस्रेण साधिकेनाहारग्रहणं भवति, ज्योतिषां शेषकुमाराणां व्यंतराणां सर्वदेवीनां चान्तर्मुहूर्तेन, केषांचिदन्तर्मुहूर्तपृथक्त्वेनेति[4] ॥११४८॥

जाने पर उनके मानसिक आहार होता है । इन देवों के गन्ध का क्या है ? जितने सागर प्रमाण आयु है उतने पक्षों के व्यतीत हो जाने पर उच्छ्वास-निश्वास लेते हैं । सौधर्म और ऐशान में देवों के आहारसंज्ञा कुछ अधिक दो हज़ार वर्ष के बीतने पर होती है तथा कुछ अधिक एक महीने के बीत जाने पर उच्छ्वास होता है । सानत्कुमार-माहेन्द्र स्वर्ग में देवों को कुछ अधिक सात हज़ार वर्षों के बीत जाने पर आहार की इच्छा होती है। एवं कुछ अधिक उतने ही पक्षों के बीतने पर उच्छ्वास होता है । 'च' शब्द से—देवियों का अन्तर्मुहूर्त पृथक्त्व से श्वासोच्छ्वास होता है ।

जिनकी पल्योपम की आयु है उनका कैसा है ? उसे ही बताते हैं—

गाथार्थ—भवनवासी देवों का उत्कृष्ट से कुछ अधिक हज़ार वर्ष में आहार होता है, ज्योतिषी देवों का अन्तर्मुहूर्त से होता है तथा शेष देवों का भी उत्कृष्ट से अन्तर्मुहूर्त बाद आहार होता है ॥११४८॥

आचारवृत्ति—भवनवासी देवों में से असुरकुमार जाति के देवों का आहार उत्कृष्ट की अपेक्षा पन्द्रह सौ वर्षों के बीतने पर होता है । चन्द्र, सूर्य आदि ज्योतिषी देवों का आहार अन्तर्मुहूर्त से होता है । शेष नौ प्रकार के भवनवासी देव तथा व्यन्तर देवों का एवं सर्वदेवियों का आहार अन्तर्मुहूर्त से होता है । किन्हीं-किन्हीं का अन्तर्मुहूर्त पृथक्त्व के बीतने पर आहार होता है ।

1. क सागरोपमसमानैः । 2. क तेषां कथमित्या- ।
3. क सागरोपमं साधिकमेव । 4. क दिनपृथक्त्वेनेति ।

अथोच्छ्वासः कथं तेषामित्याशंकायामाह—

उक्कस्सेणुस्सासो पक्खेणहिएण होइ भवणाणं।
मुहुत्तपुधत्तेण तहा जोइसणागाण भोमाणं ॥११४९॥

उक्कस्सेण—उत्कृष्टेन, उस्सासो—उच्छ्वासः, पक्खेण—पक्षेण, पंचदशाहोरात्रेण, अहिएण—अधिकेन, होइ—भवति, भवणाणं—भवनानामसुराणां, मुहुत्तपुधत्तेण—मुहूर्तपृथक्त्वेन, यद्यप्यत्र मुहूर्तपृथक्त्वमुक्तं तथाप्यत्रान्तर्मुहूर्तपृथक्त्वं ग्राह्यं तथोपदेशात् त्रैराशिकन्यायाद्भिन्नमुहूर्तानुवर्तनाच्च, तहा—तथा तेनैव प्रकारेण, जोइसणागाण भोमाणं—ज्योतिष्कनागभौमानां। चशब्देन शेषकुमाराणां चासुराणां पक्षेण साधिकेनोच्छ्वासो नागानां कल्पवासिदेवीनां च, अन्तर्मुहूर्तपृथक्त्वेन भिन्नमुहूर्तपृथक्त्वैर्वा ज्योतिष्कभौमानां शेषकुमाराणां तद्देवीनां भिन्नमुहूर्तेनेति ॥११४९॥

इन्द्रियविषयद्वारेणैव देवनारकाणामवधिविषयं प्रतिपादयन्नाह—

सक्कीसाणा पढमं बिदियं तु सणक्कुमारमाहिंदा।
बंभालंतव तदियं सुक्कसहस्सारया चउत्थी दु ॥११५०॥
पंचमि आणदपाणद छट्ठी आरणच्चुदा य पस्संति।
णवगेवज्जा सत्तमि अणुदिस अणुत्तरा य लोगंतं ॥११५१॥

पश्यन्तीति क्रियापदमुत्तरगाथायां तिष्ठति तेन सह संबन्धो द्रष्टव्यः। सक्कीसाणा—शक्रैशानाः सौधर्मैशानयोर्वा ये देवाः पढमं—प्रथमं प्रथमपृथिवीपर्यन्तं यावत् बिदियं तु—द्वितीयं तु द्वितीयपृथिवीपर्यन्तं,

---

अब इनका उच्छ्वास कैसे होता है, उसे ही बताते हैं—

गाथार्थ—भवनवासियों का उत्कृष्ट से कुछ अधिक एक पक्ष में उच्छ्वास होता है तथा ज्योतिषी, नागकुमार और व्यन्तर देवों का मुहूर्त पृथक्त्व से उच्छ्वास होता है ॥११४९॥

आचारवृत्ति—भवनवासियों में से असुरकुमारों का कुछ अधिक पन्द्रह दिन के बीतने पर उच्छ्वास होता है। ज्योतिषी देव, नागकुमार देव एवं कल्पवासी देवियाँ—इनका उच्छ्वास अन्तर्मुहूर्त पृथक्त्व के बीतने पर होता है। यद्यपि गाथा में 'मुहूर्त पृथक्त्व' शब्द है तो भी अन्तर्मुहूर्त पृथक्त्व ग्रहण करना, क्योंकि वैसा ही आगम में उपदेश है और त्रैराशिक न्याय से भी ऐसा ही आता है। तथा भिन्नमुहूर्त की अनिवृत्ति चली आ रही है।

इन्द्रिय विषय के द्वारा देव और नारकियों की अवधि को प्रतिपादित करते हुए कहते हैं—

गाथार्थ—सौधर्म-ऐशान स्वर्ग के देव पहली पृथिवी तक, सानत्कुमार-माहेन्द्र स्वर्ग के दूसरी तक, ब्रह्म-युगल और लान्तव-युगल स्वर्ग के देव तीसरी तक, शुक्र-युगल और शतार-सहस्रार स्वर्ग के देव चौथी पृथिवी तक अवधिज्ञान से देखते हैं ॥११५०-११५१॥

आनत-प्राणत के देव पाँचवीं तक, आरण-अच्युत के छठी तक, नव ग्रैवेयक के इन्द्र सातवीं पृथिवी तक, अनुदिश और अनुत्तर के इन्द्र लोकान्त तक देख लेते हैं।

आचारवृत्ति—यहाँ क्रियापद अगली गाथा में है उसके साथ सबका सम्बन्ध लगा लेना चाहिए। सौधर्म और ऐशान स्वर्ग के देव पहली पृथिवी-पर्यन्त अपने अवधि ज्ञान से देखते हैं। सानत्कुमार-माहेन्द्र स्वर्ग के देव दूसरी पृथिवी तक, ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर और लान्तव-कापिष्ठ स्वर्गों

सणक्कुमारमाहिंदा—सानत्कुमारमाहेन्द्रयोर्ये देवाः, बंभालंतव—ब्रह्मलान्तवा ब्रह्मब्रह्मोत्तरलान्तवकापिष्ठेषु ये ये देवास्ते, तदियं—तृतीयां तृतीयपृथिवीपर्यन्तं, सुक्कसहस्सारया—शुक्रसहस्रारकाः शुक्रमहाशुक्रशतारसहस्रारेषु कल्पेषु ये देवास्ते चउत्थी दु—चतुर्थपृथिवीपर्यन्तमेव। सौधर्मेशानयोर्देवाः [1]स्वावासमादिं कृत्वा प्रथमपृथिवीपर्यन्तं यावदवधिज्ञानेन पश्यन्ति, तथा सानत्कुमारमाहेन्द्रयोर्देवाः स्वावासमारभ्य यावद्द्वितीयावसानं तावत्पश्यन्ति, ब्रह्मब्रह्मोत्तरलान्तवकापिष्ठेषु देवाः स्वविमानमादिं कृत्वा तावत्पश्यन्ति यावत्तृतीयपृथिवीपर्यन्तं, शुक्रमहाशुक्रशतारसहस्रारेषु सुराः [2]स्वदेशमारभ्य तावत्पश्यन्ति यावच्चतुर्थीसमाप्तिरिति ॥११५०॥

पंचमि—पंचमीं पृथिवीं, आणदपाणद—आनतप्राणतान्ताः आनतप्राणतकल्पयोर्देवाः छट्ठी—षष्ठीं पृथिवीम्, आरणाच्चुदा य—आरणाच्युताश्चारणाच्युतयोः कल्पयोर्ये देवास्ते पस्संति—पश्यन्ति अवधिज्ञानेन सम्यगवलोकयन्ति, णवगेवज्जा—नव ग्रैवेयका नवग्रैवेयकविमानेषु देवाः सत्तमि—सप्तमीं पृथिवीं, अणुदिस—अनुदिशेषु नवानुत्तरेषु देवाः अणुत्तरा य—अनुत्तराश्च पंचानुत्तरेषु देवा लोयंतं—लोकान्तं अलोकातपर्यन्तम्। आनतप्राणतकल्पयोर्देवाः स्वविष्टरमारभ्य यावत्पंचमपृथिवीपर्यन्तं तावत्पश्यन्ति, आरणाच्युतकल्पयोः पुनर्देवाः स्वावस्थानमारभ्य यावत्षष्ठपृथिवीपर्यन्तं तावत्पश्यन्ति नवग्रैवेयकेषु देवाः स्वविमानमारभ्य यावत्सप्तमी तावत्पश्यन्ति। नवानुदिशेषु पंचानुत्तरेषु च देवाः स्वदेवगृहमारभ्य यावल्लोकान्तं पश्यन्ति, ऊर्ध्वं पुनः सर्वे स्वविमानध्वजाग्रं यावत्पश्यन्त्यसंख्यातयोजनानि तिर्यक् पुनरसंख्यातानि योजनानि पश्यन्तीत्यर्थः ॥११५१॥

के देव तीसरी पृथिवी तक, शुक्र-महाशुक्र, शतार-सहस्रार स्वर्गों के देव चौथी पृथिवी तक देखते हैं। अर्थात् ये देव अपने आवासस्थान से लेकर कथित नरक पृथिवी तक वस्तुओं को अपने अवधिज्ञान द्वारा देख लेते हैं।

आनत-प्राणत स्वर्ग के देव अपने सिंहासन से आरम्भ कर पाँचवीं तक विषय को अपने अवधिज्ञान से अच्छी तरह अवलोकित कर लेते हैं। आरण-अच्युत कल्प के देव अपने अवस्थान से लेकर छठी पृथिवी तक देख लेते हैं। नवग्रैवेयकों के देव अपने विमान से लेकर सातवीं भूमि तक देख लेते हैं। नव अनुदिश और पाँच अनुत्तरों के अहमिन्द्र देव अपने देवगृह से प्रारम्भ कर लोक के अन्त भाग तक देख लेते हैं। पुनः ये सभी देव अपने विमान की ध्वजा के अग्रभाग तक अथवा असंख्यात योजनों तक तथा तिर्यक् में असंख्यात योजन तक देख लेते हैं।*

---

१. क स्वस्थानमादि। २. क स्वप्रदेशमारभ्य।

* मोत्तूण मणोहारं आहारो होइ सव्वजीवाणं।
अणुसमयं अणुसमयं पोग्गलमइओ य णायव्वो॥
अमयं दिव्वाहारो मणुजीवजियं च कवलआहारो।
देवाण भोगभूमाणं चक्कजिणाण मणुयाणं॥

अर्थ—मानसिक आहार छोड़कर बाकी सभी जीवों के प्रतिसमय पुद्गलमय आहार होता है, अर्थात् देवों का मानसिक आहार प्रतिसमय न होकर उपर्युक्त काल में होता है। देवों का अमृतमय आहार है, अर्थात् उन्हें आहारेच्छा होने पर कंठ में अमृतमय सातिशय सुरभिमय आह्लादक पुद्गलों का आगमन होता है उससे उन्हें बहुतकाल के लिए तृप्ति हो जाती है। भोगभूमिज मनुष्यों को कल्पवृक्षों से दिव्याहार मिलता है। चक्रवर्ती और तीर्थंकरों को मिष्टरस युक्त कल्याणकर आहार प्राप्त होता है। अवशिष्ट मनुष्य आदिकों को नीरस आहार प्राप्त होता है।

व्यन्तरादीनामवधिविषयमाह—

पणवीस जोयणाणं ओही वितरकुमारवग्गाणं ।
संखेज्जजोयणोही जोदिसियाणं जहण्णं तु ॥११५२॥*

पणवीस—पंचविंशतिः, जोयणाणं—योजनानां, ओही—अवधिज्ञानं भवप्रत्ययजं, वितर—व्यन्तराणां किंनराद्यष्टप्रकाराणां, कुमारवग्गाणं—कुमारवर्गाणां नागकुमारादिनवानां संखेज्जजोयण—संख्यातयोजनानि सप्ताष्टादीनि ओही—अवधिः, जोदिसियाणं—ज्योतिषां चतुःप्रकाराणां, जहण्णं तु—जघन्यं एव। व्यंतराणां नागादिनवकुमाराणां च पंचविंशतियोजनान्यवधिर्जघन्यो भवति, ज्योतिष्काणां पुनर्जघन्यतोऽवधिः संख्यातयोजनानि, [1]एतावन्मात्रं वस्तु परिच्छिनत्तीति ॥११५२॥

असुरचन्द्रादित्यादीनां जघन्यं सर्वेषामुत्कृष्टं चावधिं प्रतिपादयन्नाह—

असुराणमसंखेज्जा कोडी जोइसिय सेसाणं ।
संखादीदा य खलु उक्कस्सोहीयविसओ दु ॥११५३॥

असुराणं—असुराणां प्रथमभवनवासिनां, असंखेज्जा—असंख्याताः, कोडी—कोट्यो योजनानामिति संबन्धः, जघन्योवधिरसुराणां चन्द्रादीनां चासंख्याता योजनकोटयः, इत उत्कृष्टं ज्योतिष्कादीनामाह, जोइसिय—ज्योतिष्काणां चन्द्रादीनां, सेसाणं—शेषाणां भवनवासिवानव्यन्तराणां निकृष्टकल्पवासिनां च, संखादीदा य—संख्यातीताश्च संख्यामतिक्रान्ताः असंख्याता योजनकोटिकोटयः खलु स्फुटं, उक्कस्सोही—उत्कृष्टा-

---

व्यन्तर आदि के अवधि का विषय कहते हैं—

गाथार्थ—व्यन्तर और नागादि कुमारों के अवधि पचीस योजन तक है। ज्योतिषी देवों के जघन्य अवधि संख्यात योजन तक है ॥११५२॥

आचारवृत्ति—किन्नर आदि आठ प्रकार के व्यन्तरों और नागकुमार आदि नव प्रकार के भवनवासी देवों के अवधिज्ञान का विषय कम-से-कम पचीस योजन तक है। ज्योतिषी देवों के जघन्य अवधि संख्यात योजन अर्थात् सात-आठ योजन पर्यन्त ही है। अर्थात् इतने मात्र स्थान की वस्तु को ही वे देखते हैं।

असुर, चन्द्र, सूर्य आदि की जघन्य और सभी के उत्कृष्ट अवधि का प्रतिपादन करते हैं—

गाथार्थ—असुर देवों के और शेष ज्योतिषी देवों के जघन्य अवधि असंख्यात कोटि योजन है तथा उत्कृष्ट अवधि का विषय संख्यातीत कोटि योजन है ॥११५३॥

आचारवृत्ति—भवनवासी के प्रथम भेदरूप असुरों की तथा चन्द्र, सूर्य, आदि के जघन्य अवधि असंख्यात करोड़ योजन है। इसके आगे ज्योतिष्क आदिकों के उत्कृष्ट अवधि कहते हैं—चन्द्र, सूर्य आदि ज्योतिषी देवों के तथा शेष भवनवासी, व्यन्तर और निकृष्ट कल्पवासी देवों के उत्कृष्ट अवधि का विषय असंख्यात कोड़ाकोड़ी योजन है। तात्पर्य यह है कि भवन-

---

* यह गाथा फलटन से प्रकाशित मूलाचार में दो गाथाओं के पहले है।

1. क एतावन्मात्रे व्यवस्थितं वस्तु-

वधिः विसओ—विषयः। भवनवासिव्यन्तरज्योतिष्काणामुत्कृष्टावधिविषयोऽसंख्याता योजनानां कोटि-कोटयः निकृष्टकल्पवासिनां च मिथ्यादृष्टीनां पुनर्विभंगज्ञानं संख्यातयोजनविषयमसंख्यातयोजनविषयं चेति ॥११५३॥

नारकाणामवधिविषयं निरूपयन्नाह—

रयणप्पहाय जोयणमेयं ओहीविसओ मुणेयव्वो।
पुढवीदो पुढवीदो गाऊ अद्धद्ध परिहाणी ॥११५४॥

रयणप्पहाय—रत्नप्रभायां प्रथमपृथिव्यां, जोयणमेयं—योजनमेकं चत्वारि गव्यूतानि, ओहीविसओ—अवधिविषय अवधिज्ञानस्य गोचरो, मुणेयव्वो—ज्ञातव्यः। प्रथमपृथिव्यां नारकाणामवधिविषयो योजन-प्रमाणं स्वस्थानमादिं कृत्वा यावद्योजनमात्रं पश्यन्ति, मिथ्यादृष्टीनां विभंगज्ञानं स्तोकमात्रं ततोऽपः, पुढवीदो पुढवीदो—पृथिवीतः पृथिवीतः पृथिवीं प्रति पृथिवीं प्रति, गाऊ—गव्यूतस्य, अद्धद्ध—अर्द्धस्यार्द्धस्य परिहाणी—परिहानिः गव्यूतार्द्धस्य परिक्षयः। द्वितीयायां पृथिव्यां त्रीणि गव्यूतानि गव्यूतार्द्धं च, सर्वत्र नारकाणामवधे-र्विषयः संबन्धनीयः; तृतीयायां पृथिव्यां त्रीणि गव्यूतानि, चतुर्थ्यां द्वे गव्यूते सार्द्धे, पंचम्यां द्वे गव्यूते षष्ठ्यां गव्यूतमेकं सार्द्धं, सप्तम्यामेकं गव्यूतं सम्यग्दृष्टीनामेतन् मिथ्यादृष्टीनां पुनर्विभंगज्ञानमस्मान्न्यूनमिति। ॥११५४॥

नारकाणां तावदुपपादं प्रतिपादयन्नाह—

पढमं पुढविमसण्णी पढमं बिदियं च सरिसवा जंति।
पक्खी जावदु तदियं जाव चउत्थी दु उरसप्पा ॥११५५॥

वासी, व्यन्तर और ज्योतिषी देवों के उत्कृष्ट अवधि का विषय असंख्यात कोटिकोटि योजन है और निकृष्ट कल्पवासी देव तथा मिथ्यादृष्टि देवों के विभंगावधि का विषय संख्यात योजन व असंख्यात योजन प्रमाण है।

नारकियों के अवधि का विषय कहते हैं—

गाथार्थ—रत्नप्रभा नरक में एक योजन तक अवधि का विषय जानना चाहिए। पुनः पृथिवी-पृथिवी से आधा-आधा कोश घटाना चाहिए ॥११५४॥

आचारवृत्ति—रत्नप्रभा नरक में अवधिज्ञान का विषय चार कोश प्रमाण है। दूसरी पृथ्वी में आधा कोश घटाने से साढ़े तीन कोश तक है, तीसरी पृथ्वी में तीन कोश तक है, चौथी में ढाई कोस तक, पाँचवीं में दो कोश तक, छठी में डेढ़ कोश तक और सातवीं पृथ्वी में एक कोश प्रमाण है। यह सम्यग्दृष्टि देवों के अवधि का विषय है किन्तु मिथ्यादृष्टि देवों के विभंगावधि का विषय इससे कम-कम है।

कौन-कौन जीव किस नरक तक जाते हैं—

गाथार्थ—असंज्ञी जीव पहली पृथ्वी तक, सरीसृप पहली और दूसरी पृथ्वी तक, पक्षी तीसरी पर्यन्त एवं उरःसर्प (सरक कर चलने वाले) चौथी पृथ्वी पर्यन्त जाते हैं। सिंह पाँचवीं पृथ्वी

आ पंचमित्ति सीहा इत्थीओ जंति छट्ठिपुढवित्ति।
गच्छंति माघवीत्ति य मच्छा मणुया य ये पावा ॥११५६॥*

यान्तीति क्रियापदं तेन सह संबन्धः, प्रथमां पृथिवीमसंज्ञिनोऽमनस्का यान्ति, प्रथमां द्वितीयां च पृथिवीं सरीसृपा गोधोकृकलासादयो यान्ति, पक्षिणो भेरुण्डादयः प्रथमामारभ्य यावत्तृतीयां पृथिवीं यान्ति, प्रथमामारभ्य यावच्चतुर्थी पृथिवीमुरःसर्पा अजगरादयो यान्ति। अत्र पापं कृत्वा तत्र च गत्वा दुःखमनुभवन्तीति ॥११५५॥

आङभिविधौ द्रष्टव्यः आ पंचम्या इति। प्रथमामारभ्य यावत्पंचमीं पृथिवीं सिंहव्याघ्रादयो गच्छन्ति, स्त्रियः पुनर्महापापपरिणताः प्रथमामारभ्य षष्ठी[1]पृथिव्यन्तं यान्ति, मत्स्याः मनुष्याश्च ये पापा महाहिंसादिपरिणताः माघवीं सप्तमीं पृथिवीं प्रथमामारभ्य गच्छन्ति। अयं पापशब्दः सर्वेषामभिसंबध्यते। यदि रौद्रध्यानेन हिंसादिक्रियायां परिणताः स्युस्तदा ते पापानुरूपं नरकं गत्वा दुःखमनुभवन्तीति ॥११५६॥

नारकाणामुपपादं प्रतिपाद्य तेषामुद्वर्तनं प्रतिपादयन्नाह—

उव्वट्टिदाय संता णेरइया तमतमादु पुढवीदो।
ण लहंति माणुसत्तं तिरिक्खजोणीमुवणयंति ॥११५७॥

तक, स्त्रियाँ छठी पृथ्वी तक जाते हैं तथा जो पापी मत्स्य और मनुष्य हैं वे सातवीं पृथ्वी पर्यन्त जाते हैं ॥११५५-११५६॥

आचारवृत्ति—'यान्ति' क्रिया पद का सबके साथ सम्बन्ध करना। मन रहित पंचेन्द्रिय तिर्यंच जीव पहली पृथ्वी तक जा सकते हैं। कृकलास आदि—गोह, करकेंटा आदि जीव पहली और दूसरी पृथ्वी तक जाते हैं। भेरुण्ड आदि पक्षी पहली से लेकर तीसरी पृथ्वी तक जाते हैं। अजगर आदि साँप चौथी पृथ्वी तक जाते हैं अर्थात् यहाँ पाप करके वहाँ जाकर दुःख का अनुभव करते हैं।

'आङ्' अभिविधि अर्थ में है। अतः सिंह, व्याघ्र आदि पहली पृथ्वी से लेकर पाँचवीं पृथ्वी तक जाते हैं। महापाप से परिणत हुई स्त्रियाँ पहली पृथ्वी से लेकर छठी पृथ्वी तक जाती हैं। महाहिंसा आदि पाप से परिणत हुए मत्स्य और मनुष्य पहली पृथ्वी से लेकर माघवी नाम की सातवीं पृथ्वी पर्यन्त जाते हैं। यह पाप शब्द सभी के साथ लगा लेना चाहिए। यदि ये जीव रौद्रध्यान से हिंसादि क्रिया में परिणत होते हैं तो वे अपने पाप के अनुरूप नरक में जाकर दुःख का अनुभव करते हैं।

नारकियों का उपपाद बतलाकर अब उनके निकलने का प्रतिपादन करते हैं—

गाथार्थ—तमस्तम नामक सातवीं पृथिवी से निकले हुए नारकी मनुष्यपर्याय प्राप्त नहीं कर सकते हैं, वे तिर्यंच योनि को प्राप्त करते हैं ॥११५७॥

---

* फलटन से प्रकाशित मूलाचार में यहाँ पर इन्द्रियों के विषयों की छह गाथाएँ हैं जो कि इसमें पहले गाथा १०९६ से आ चुकी हैं।

१. क षष्ठीपृथिवीं यावत्।

तमस्तमःपृथिव्या नारका उद्वर्तिताः सन्तः सप्तमनरकादागताः सन्तो मानुषत्वं मनुष्यत्वं न लभन्ते न प्राप्नुवन्ति सुष्ठु संक्लेशकारणं यतस्ततस्तिर्यग्योनिषूत्पद्यन्ते सिंहव्याघ्रादिकं पुनः पापकारणं प्राप्नुवन्ति । ॥११५७॥

अथ केषु तिर्यक्षूत्पद्यन्ते उत्पन्नाश्च क्व गच्छन्तीत्याशंकायामाह—

वालेसु य दाढीसु य पक्खीसु य जलचरेसु उववण्णा ।
संखेज्जआउठिदिया पुणोवि णिरयावहा होंति ॥११५८॥

वालेसु—व्यालेषु श्वापदभुजगेषु चशब्दादन्येष्वपि तत्समानेषु, दाढीसु य—दंष्ट्रिषु च सिंहव्याघ्रवराहादिषु, पक्खीसु य—पक्षिषु च गृध्रभेरुण्डादिषु च, जलचरेसु—जलचरेषु तिमितिमिंगिलादिमत्स्यमकरादिषु उववण्णा—उत्पन्नाः, संखेज्जआउठिदिया—संख्यातायुःस्थितिर्येषां ते संख्यातायुःस्थितिकाः कर्मभूमिजकर्मभूमिप्रतिभागजाः सन्तः, पुणोवि—पुनरपि पापवशात् णिरयावहा—नरकावहा नारका, होंति—भवन्ति, नारककर्मसमार्जका भवन्ति । सप्तमपृथिव्या आगत्य व्यालदंष्ट्रिपक्षिजलचरेषूत्पद्य पुनरपि नरकं गच्छन्तीति ॥११५८॥

अथ षष्ठ्या आगताः क्वोत्पद्यन्ते किं लभन्ते किं च न लभन्ते इत्याशंकायामाह—

छट्ठीदो पुढवीदो उव्वट्टिदा[1] अणंतरभवम्हि ।
भज्जा माणुसलंभे संजमलंभेण दु विहीणा ॥११५९॥

आचारवृत्ति—नारकी जीव तमस्तम नामक सातवें नरक से निकलकर मनुष्य पर्याय को प्राप्त नहीं कर पाते हैं, क्योंकि उनके परिणाम अत्यधिक संक्लेश के कारणभूत होते हैं, इसलिए वे पुनरपि पाप के लिए कारणभत सिंह, व्याघ्र आदि तिर्यंच योनि को ही प्राप्त करते हैं।

व किन तिर्यंचों में उत्पन्न होते हैं और वहाँ उत्पन्न हुए पुनः कहाँ जाते हैं, ऐसी आशंका होने पर कहते हैं—

गाथार्थ—वे नारकी सर्प, दाढ़वाले पशु, पक्षी और जलचरों में उत्पन्न होकर संख्यात वर्ष की आयुवाले होते हैं, पुनः मरकर नारक अवस्था को प्राप्त होते हैं ॥११५८॥

आचारवृत्ति—व्याल अर्थात् श्वापद सर्प आदि में, 'च' शब्द से, उसके समान प्राणियों में दाढ़वाले—सिंह, व्याघ्र, शूकर आदि में, गीध, भेरुण्ड आदि पक्षियों में और जलचर—मछली, तिमिंगल आदि मत्स्य, मगर आदि पर्यायों में उत्पन्न होकर संख्यात वर्ष की आयुवाले अर्थात् कर्मभूमिज और कर्मभूमिप्रतिभागज तिर्यंच ही होते हैं। पुनरपि यहाँ पर पाप करके उस पाप के वश मरकर नारकी ही होते हैं। तात्पर्य यह है कि सातवीं पृथिवी से निकलकर दाढ़वाले व्याल आदि हिंस्र जन्तु, पक्षी और जलचरों में जन्म लेकर पुनरपि नरक में जाते हैं।

छठे नरक से निकलकर कहाँ उत्पन्न होते हैं और क्या प्राप्त करते हैं, क्या नहीं प्राप्त करते हैं, ऐसी आशंका होने पर कहते हैं—

गाथार्थ—उनका छठी पृथिवी से निकलकर अगले भव में मनुष्यपर्याय-लाभ वैकल्पिक है किन्तु वे संयमप्राप्ति से हीन ही होते हैं ॥११५९॥

---

1. क उव्वट्टिदा ।

षष्ठ्याः पृथिव्याः षष्ठनरकादुद्वर्तिता आगताः सन्तोऽनन्तरभवे तस्मिन् भवे भाज्या विकल्पयुक्ताः मनुष्यलाभेन सम्यक्त्वलाभेन च, संयमलाभेन तु विहीनाः। षष्ठनरकादागतानां तस्मिन् भवे कदाचिन्मनुष्यलाभः सम्यक्त्वलाभश्च भवति नापि भवति, संयमलाभस्तु निश्चयेन न भवतीति ॥११५९॥

पंचमपृथिव्या आगता यल्लभन्ते यच्च न लभन्ते तदाह—

होज्जदु संजमलाभो[1] पंचमखिदिणिग्गदस्स जीवस्स।
णत्थि पुण अंतकिरिया णियमा भवसंकिलेसेण ॥११६०॥

पंचमपृथिव्या निर्गतस्य जीवस्य भवत्येव संयमलाभः, अन्तक्रिया मोक्षगमनं पुनर्नियमान्नास्ति भवसंक्लेशदोषेणेति। यद्यपि पंचमनरकादागतस्य संयमलाभो भवति तथापि मोक्षगमनं नास्ति भवसंक्लेशदोषेणेति ॥११६०॥

चतुर्थ्या आगतस्य यद्भवति तदाह—

होज्जदु णिव्वुदिगमणं चउत्थिखिदिणिग्गदस्स जीवस्स।
णियमा तित्थयरत्तं णत्थित्ति जिणेहि पण्णत्तं ॥११६१॥

चतुर्थीक्षितेरागतस्य जीवस्य भवत्येव निर्वृतिगमनं, तीर्थंकरत्वं पुनर्निश्चयेन नास्ति जिनैः प्रज्ञप्तमेतत्। चतुर्थनरकादागतस्य यद्यपि निर्वृतिगमनं भवति जीवस्य तथापि तीर्थंकरत्वं नास्ति, नात्र सन्देहो जिनैः प्रतिपादितत्वादिति ॥११६१॥

तत ऊर्ध्वमाह—

आचारवृत्ति—छठे नरक से निकले हुए नारकी अनन्तर भव में ही मनुष्य पर्याय लाभ और सम्यक्त्व की प्राप्ति कर भी सकते हैं और नहीं भी कर सकते हैं। किन्तु संयम की प्राप्ति उन्हें निश्चय से नहीं होती है।

पाँचवी पृथ्वी से आकर जो प्राप्त करते हैं और जो प्राप्त नहीं करते हैं, उसे कहते हैं—

गाथार्थ—पाँचवीं भूमि से निकले हुए जीव को भले ही संयम लाभ हो जावे किन्तु नियम से उसका भव संक्लेश के कारण मोक्ष गमन नहीं होता ॥११६०॥

आचारवृत्ति—पाँचवें नरक से निकले हुए जीव को संयम की प्राप्ति तो हो सकती है किन्तु भवसंक्लेश के कारण उसी भव से मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती है।

चौथी पृथ्वी से आनेवाले को जो होता है, उसे बताते हैं—

गाथार्थ—चौथी भूमि से निकले हुए जीव का मोक्ष-गमन हो जाए किन्तु नियम से तीर्थंकर पद नहीं हो सकता है, ऐसा जिनेन्द्र देव ने कहा है ॥११६१॥

आचारवृत्ति—चौथे नरक से निकले हुए जीव यद्यपि मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं किन्तु व तीर्थंकर नहीं हो सकते हैं ऐसा श्री जिनेन्द्रदेव का कथन है।

इसके ऊपर के जीवों के विषय में कहते हैं—

---

१. क लम्भो।

तेण परं पुढवीसु य भयणिज्जा उवरिमा हु णेरइया ।
णियमा अणंतरभवे तित्थयरत्तस्स उप्पत्ती ॥११६२॥

तेन परं तस्याश्च पृथिव्या ऊर्ध्वं पुढवीसु य—पृथिवीषु च प्रथमद्वितीयतृतीयप्रभासु भजणिज्जा—भाज्या विभाज्या, उवरिमा—उपरितमा, णेरइया—नारकाः, नियमादनन्तरभवेन तीर्थंकरत्वस्योत्पत्तिः। तृतीयद्वितीयप्रथमेभ्यो नरकेभ्य आगतानां नारकाणां तेनैव भवेन संयमलाभो मोक्षगतिस्तीर्थंकरत्वं च सम्भवति नात्र प्रतिषेध इति ॥११६२॥

सप्तभ्यः पृथिवीभ्य आगतास्तेनैव भवेन यन्न लभन्ते तदाह—

णिरयेहिं णिग्गदाणं अणंतरभवम्हि णत्थि णियमादो ।
बलदेववासुदेवत्तणं च तह चक्कवट्टित्तं ॥११६३॥

नरकेभ्यो निर्गतानामनन्तरभवे नास्ति नियमाद् बलदेवत्वं वासुदेवत्वं तथा सकलचक्रवर्तित्वं च। नरकादागतस्य जीवस्य तेनैव भवेन बलदेववासुदेवचक्रवर्तिभावा न सम्भवन्ति, संयमपूर्वका यतः इमे, नरके च संयमेन गमनं नास्तीति ॥११६३॥

नारकाणां गत्यागतिस्वरूपमुपसंहरन् शेषाणां च सूचयन्नाह—

उववादोवट्टणमा णेरइयाणं समासदो भणिओ ।
एत्तो सेसाणं पिय आगदिगदिमो पवक्खामी ॥११६४॥

उपपादोद्वर्तने गत्यागती नारकाणां समासतो भणिते प्रतिपादिते, इत ऊर्ध्वं शेषाणां तिर्यङ्मनुष्य-

---

गाथार्थ—इसके आगे पृथिवी से निकले हुए ऊपर के नारकी वैकल्पिक हैं। वे निश्चित ही उसी भव से तीर्थंकर पद की प्राप्ति कर सकते हैं ॥११६२॥

आचारवृत्ति—चौथी पृथिवी से परे पहली, दूसरी और तीसरी पृथिवी से निकले हुए नारकियों को उसी भव से संयम का लाभ, मोक्ष की प्राप्ति और तीर्थंकर पद सम्भव है, इसमें निषेध नहीं है।

सातों नरकों से आकर उसी भव से जो नहीं प्राप्त कर सकते, उसे बताते हैं—

गाथार्थ—सातों नरकों से निकले हुए जीवों को उसी भव से नियम से देवबल, वासुदेव पद और चक्रवर्ती पद नहीं होता है ॥११६३॥

आचारवृत्ति—सातों नरकों में से आये हुए जीवों को अनन्तर भव में ही बलदेव, नारायण, प्रतिनारायण और चक्रवर्ती पद नहीं मिलता है क्योंकि ये पद संयमपूर्वक ही होते हैं और संयमसहित जीव नरक में जा नहीं सकता है।

नारकियों की गति-आगति के स्वरूप का उपसंहार करते हुए तथा शेष जीवों की सूचना करते हुए कहते हैं—

गाथार्थ—नारकियों के जन्म लेने का और निकलने का संक्षेप से कथन किया है, इसके आगे अब शेष जीवों की भी आगति और गति कहेंगे ॥११६४॥

आचारवृत्ति—नारकियों की गति और आगति का संक्षेप से कथन किया गया है।

देवानां च ये संभवन्त्यो गत्यागती ते प्रवक्ष्याम्यागमबलात् भणिष्यामीति ॥११६४॥

सव्वमपज्जत्ताणं सुहुमकायाण सव्वतेऊणं ।
वाऊणमसण्णीणं आगमणं तिरियमणुसेहिं ॥११६५॥

सव्वं—सर्वेषां, अपज्जत्ताणं—अपर्याप्तानां, सुहुमकायाणं—सूक्ष्मकायानां, सव्वतेऊणं—सर्वतेजस्कायानां, वाऊणं—वायुकायानां, असण्णीणं—असंज्ञिनाम् अत्रापि सर्वशब्दः संबन्धनीयः सर्ववायुकायानां सर्वासंज्ञिनां चागमनमागतिः तिरियमणुसेहिं—[1]तिर्यङ्मनुष्यैः। पृथिवीकायिकाप्कायिकतेजस्कायिकवायुकायिकवनस्पतिकायिका द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियपंचेन्द्रियाणां ये लब्ध्यपर्याप्तास्तेषु मध्येषु तिर्यञ्चो मनुष्याश्चोत्पद्यन्ते तथा पृथिवीकायिकादिवनस्पतिपर्यन्तेषु सर्वसूक्ष्मेषु पर्याप्तापर्याप्तेषु तथा तेजःकायिकवायुकायिकेषु बादरेषु पर्याप्तापर्याप्तेषु असंज्ञिषु च तिर्यङ्मनुष्या एवोत्पद्यन्ते न देवा नापि नारका न चैव भोगभूमिजा भोगभूमिप्रतिभागजाश्चेति ॥११६५॥

अतः पृथिवीकायिकादयो गत्वा क्वोत्पद्यन्त इत्याशंकायामाह—

तिण्हं खलु कायाणं तहेव विगलिंदियाण सव्वेसिं ।
अविरुद्धं संकमणं माणुसतिरिएसु य भवेसु ॥११६६॥

तिण्हं—त्रयाणां, खलु स्फुटं कायाणं—कायानां पृथिवीकायाप्कायवनस्पतिकायानां तहेव—तथैव

इसके आगे अब शेष—तिर्यंच, मनुष्य और देवों की जो गति-आगति सम्भव हैं उन्हें आगम के बल से कहूँगा।

गाथार्थ—सभी अपर्याप्तक, सूक्ष्म काय, सभी अग्निकाय, वायुकाय और असंज्ञी जीवों का तिर्यंच और मनुष्य गति से आना होता है ॥११६५॥

आचारवृत्ति—पृथिवीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, और पंचेन्द्रिय ये जो लब्ध्यपर्याप्तक होते हैं इनमें मनुष्य और तिर्यंच ही आकर जन्म लेते हैं। अर्थात् सभी लब्धि-अपर्याप्त जीवों में मनुष्य और तिर्यंच ही मरकर जन्म धारण करते हैं। तथा पृथिवी से लेकर वनस्पतिपर्यन्त सभी सूक्ष्मकायिक अपर्याप्तकों में, अग्निकायिक, वायुकायिक बादर पर्याप्तक-अपर्याप्तकों में और असैनी जीवों में तिर्यंच और मनुष्य ही उत्पन्न होते हैं। इन पर्यायों में देव-नारकी, भोगभूमिज और भोगभूमिप्रतिभागज जीव उत्पन्न नहीं होते हैं।

पृथिवीकायिक आदि जीव यहाँ से जाकर कहाँ उत्पन्न होते हैं, ऐसी आशंका होने पर कहते हैं—

गाथार्थ—पृथिवी, जल, वनस्पति इन तीन कायों का तथा सर्व विकलेन्द्रियों का मनुष्य और तिर्यंच के भवों में ही आना अविरुद्ध है ॥११६६॥

आचारवृत्ति—पृथिवीकाय, जलकाय और वनस्पतिकाय इन तीनों के जीव तथा सभी

---

1. क तिर्यङ्मनुष्येभ्यः।

तिरिक्खमणुयाणं—सर्वेषां विकलेन्द्रियाणां पर्याप्तापर्याप्तानां अविरुद्धं अप्रतिषिद्धं संक्रमणं गमनं माणुस—मनुष्य-भवे तिरिय—तिर्यग्भवे च। पृथिवीकायिकाप्कायिकवनस्पतिकायिकाः सर्वे विकलेन्द्रियाश्चागत्य तिर्यक्षु मनुष्येषु चोत्पद्यन्ते नात्र विरोध इति ॥११६६॥

तेजोवायूनां संक्रमणमाह—

> सव्वेवि तेउकाया सव्वे तह वाउकाइया जीवा।
> ण लहंति माणुसत्तं णियमादु अणंतरभवेहिं ॥११६७॥

सर्वेऽपि बादरसूक्ष्मपर्याप्तापर्याप्ता तेजस्कायिकास्तथैव सर्वे बादरसूक्ष्मपर्याप्तापर्याप्ताः वायु-कायिका जीवा न लभन्ते न प्राप्नुवन्ति मनुष्यत्वं नियमात्तु अनन्तरभवे, न तेनैव भवेनेति ॥११६७॥

प्रत्येकवनस्पतिपृथिवीकायाप्कायबादरपर्याप्तानामागमनमाह—

> पत्तेयदेहा वणप्फइ बादरपज्जत्त पुढवि आऊय।
> माणुसतिरिक्खदेवेहिं चेव आइंति खलु एदे ॥११६८॥

प्रत्येकदेहाः नालिकेरादिवनस्पतयः बादराः पर्याप्ता पृथिवीकायिका अप्कायिकाश्चैतेऽपि बादराः पर्याप्ताश्च मनुष्यतिर्यग्देवेभ्य एवायान्ति स्फुटमेतन् नान्येभ्य इति। मनुष्यतिर्यग्देवाः संक्लिष्टा आर्तध्यानपरा मिथ्यादृष्टय आगत्य प्रत्येकवनस्पतिपृथिवीकायिकाप्कायिकेषूत्पद्यन्त इति ॥११६८॥

असंज्ञिपर्याप्तानां संक्रमणमाह—

पर्याप्तक और अपर्याप्तक विकलेन्द्रिय जीव मरण करके, वहाँ से आकर मनुष्य और तिर्यंच पर्यायों में ही उत्पन्न होते हैं इसमें विरोध नहीं है।

अग्निकायिक और वायुकायिक का संक्रमण कहते हैं—

सभी अग्निकाय तथा सभी वायुकाय जीव अनन्तर भव में नियम से मनुष्य पर्याय नहीं प्राप्त कर सकते हैं ॥११६७॥

आचारवृत्ति—सभी बादर-सूक्ष्म पर्याप्तक और अपर्याप्तक अग्निकायिक जीव तथा सभी बादर-सूक्ष्म पर्याप्तक, अपर्याप्तक वायुकायिक जीव उसी भव से मरणकर निश्चित ही मनुष्यपर्याय को प्राप्त नहीं कर पाते हैं।

प्रत्येकवनस्पति, पृथिवीकाय और जलकाय बादरपर्याप्तक जीवों का आगमन कहते हैं—

गाथार्थ—प्रत्येकशरीर वनस्पतिकायिक, पृथिवीकायिक और जलकायिक बादर पर्याप्तक जीव निश्चित ही मनुष्य, तिर्यंच और देवगति से ही आते हैं ॥११६८॥

आचारवृत्ति—नारियल आदि वनस्पति प्रत्येकशरीर बादर पर्याप्त वनस्पतिकायिक हैं। पृथिवीकायिक, जलकायिक, बादर, पर्याप्तक अपर्याप्तक जीव(?)मनुष्य, तिर्यंच और देवगति से ही आते हैं, अन्य गति से नहीं। संक्लेश परिणामवाले, आर्तध्यान में तत्पर हुए मिथ्यादृष्टि मनुष्य, तिर्यंच और देव मरण करके आकर प्रत्येक वनस्पतिकायिक, पृथिवीकायिक और जल-कायिक जीवों में उत्पन्न होते हैं।

असंज्ञिपर्याप्त जीवों का आगमन कहते हैं—

अविरुद्धं संकमणं असण्णिपज्जत्तयाण तिरियाणं।
माणुसतिरियसुरणारएसु ण दु सव्वभावेसु ॥११६९॥

असंज्ञिपर्याप्तकानां तिरश्चां संक्रमणं गमनमविरुद्धं न विरोधमुपयाति क्व मनुष्यतिर्यक्सुरनारकेषु चतसृषु गतिष्वपि व्रजन्ति न तु सर्वभावेषु नैव सर्वेषु नारकतिर्यङ्मनुष्यदेवपर्यायेषु यतः प्रथमायामेव पृथिव्यामुत्पद्यन्तेऽसंज्ञिनस्तथा देवेषु भवनवासिव्यंतरज्योतिष्केषूत्पद्यन्ते नान्यत्र तथा भोगभूमिजेषु तत्प्रतिभागजेष्वन्येष्वपि पुण्यवत्सु तिर्यङ्मनुष्येषु[1] नोत्पद्यन्ते ॥११६९॥

अथासंख्यातायुषः केभ्य आगच्छन्तीत्याह—

संखादीदाओ खलु माणुसतिरिया दु मणुयतिरियेहिं।
संखिज्जआउगेहिं दु णियमा सण्णीय आयंति ॥११७०॥

संख्यातीतायुषः भोगभूमिजा भोगभूमिप्रतिभागजाश्च मनुष्यास्तिर्यंचः संख्यातायुष्केभ्यो मनुष्यतिर्यग्भ्यः संज्ञिभ्योऽपि नियमेनायान्ति व्यक्तमेतत् नान्यत्र दानानुमोदोऽदत्तदानफलं च यत इति ॥११७०॥

गाथार्थ—असैनी पर्याप्तक तिर्यंचों का मनुष्य तिर्यंच, देव और नरक इन चारों में आना अविरुद्ध है किन्तु उनकी सभी पर्यायों में नहीं ॥११६९॥

आचारवृत्ति—असंज्ञी पर्याप्तक तिर्यंच जीव चारों ही गतियों में जाते हैं इसमें कोई विरोध नहीं है, किन्तु वे उनकी सभी पर्यायों में नहीं जाते हैं। अर्थात् असैनी जीव नरकों में पहली पृथिवी में ही उत्पन्न होते हैं, आगे नहीं; देवों में से भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिषी देवों में ही उत्पन्न हो सकते हैं, वैमानिको में नहीं; तथा भोगभूमिज, भोगभूमिप्रतिभागज व अन्य भी पुण्यवान् मनुष्य तिर्यंचों में उत्पन्न नहीं होते हैं।

असंख्यातवर्ष आयुवाले कहाँ से आते हैं? उसे ही बताते हैं—

गाथार्थ—असंख्यात वर्ष आयुवाले मनुष्य और तिर्यंच जीव संख्यात वर्षायुवाले सैनी मनुष्य और तिर्यंच पर्याय से ही आते हैं ॥११७०॥*

आचारवृत्ति—भोगभूमिज और भोगभूमिप्रतिभागज मनुष्य और तिर्यंच असंख्यात वर्ष की आयुवाले होते हैं। कर्मभूमिज व कर्मभूमिप्रतिभागज मनुष्य संख्यात वर्ष की आयुवाले होते हैं। संख्यात वर्ष आयुवाले सैनी तिर्यंच व मनुष्य ही मरकर असंख्यात वर्ष की आयु वालों में जन्म लेते हैं, अन्य नहीं। क्योंकि वे दान की अनुमोदना से और दिये हुए दान के फल से ही वहाँ जाते हैं। अर्थात् दान की अनुमोदना से और दान देने के फल से ही कर्मभूमिज तिर्यंच या मनुष्य भोगभूमि में जन्म लेते हैं।

---

१. क मनुष्यतिर्यक्षु

* फलटन से प्रकाशित मूलाचार में यह गाथा अधिक है—

णिरयेसु पढमणिरये तिरिए मणुएसु कम्मभूमीसु।
दीवेसु य उप्पत्ती अमराणं भवणवेंतरेसु तथा ॥

अथ संख्यातीतायुषो मृत्वा कां गतिं गच्छन्तीत्याशंकायामाह—

संखादीदाउगाणं संकमणं णियमदो दु देवेसु ।
पयडीए तणुकसाया सव्वेसिं तेण बोधव्वा ॥११७१॥

संख्यातीतायुषां भोगभूमिजानां भोगभूमिप्रतिभागजानां च संक्रमणं मृत्वोत्पादः नियमतस्तु देवेषु, कुत एतद् यतः प्रकृत्या स्वभावेन तेषां तनवोऽल्पाः कषायाः क्रोधमानमायालोभास्तेन ते देवेषूत्पद्यन्ते इति ज्ञातव्यं नात्र शंका कर्तव्येति ॥११७१॥

अथ केभ्य आगत्य शलाकापुरुषा भवन्ति केभ्यश्च न भवन्तीत्याशंकायामाह—

माणुस तिरियाय तहा सलागपुरिसा ण होंति खलु णियमा ।
तेसिं अणंतरभवे भजणिज्जं णिव्वुदीगमणं ॥११७२॥

मनुष्यास्तथा तिर्यंचश्च शलाकापुरुषास्तीर्थंकरचक्रवर्तिबलदेववासुदेवा न भवन्ति नियमात्, निर्वृतिगमनं तु भाज्यं तेषां कदाचिदनन्तरभवेन तेनैव भवेन वा भवति मनुष्याणां, न तु तिरश्चां युक्तमेतद् निर्वृतिगमनकारणं तु भवत्येव तिरश्चामपि सम्यक्त्वादिकं तेन न दोष इति ॥११७२॥

अथ मिथ्योपपादः एवम् इत्याशंकायामाह—

सण्णि असण्णीण तहा वाणेसु य तह य भवणवासीसु ।
उववादो बोधव्वो मिच्छादिट्ठीण णियमादु ॥११७३॥

असंख्यातवर्ष आयुवाले मरकर किस गति में जाते हैं, उसे ही बताते हैं—

गाथार्थ—असंख्यात वर्ष की आयु वालों का जाना नियम से देवों में ही है, क्योंकि उन सभी के स्वभाव से ही मन्दकषायें हैं, ऐसा जानना ॥११७१॥

आचारवृत्ति—असंख्यातवर्ष की आयुवाले भोगभूमिज और भोगभूमिप्रतिभागज जीव मरकर नियम से देवों में ही उत्पन्न होते हैं। ऐसा क्यों? क्योंकि वे स्वभाव से ही मन्दकषायी होते हैं। अर्थात् इनके क्रोध, मान, माया और लोभ कषायें मन्द रहती हैं इसलिए इनकी उत्पत्ति देवों में ही होती है, इसमें शंका नहीं करना चाहिए।

कहाँ से आकर शलाकापुरुष होते हैं और कहाँ से आकर नहीं होते हैं, ऐसी आशंका होने पर कहते हैं—

गाथार्थ—मनुष्य और तिर्यंच मरकर शलाकापुरुष नियम से नहीं होते हैं तथा उसी भव में उनका मोक्षगमन वैकल्पिक है ॥११७२॥

आचारवृत्ति—मनुष्य और तिर्यंच मरकर तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव और प्रतिवासुदेव अर्थात् त्रेसठ शलाकापुरुष नहीं हो सकते हैं। उनका उसी भव से मोक्ष प्राप्त करना भजनीय है, अर्थात् मनुष्यों को उसी भव से मुक्ति हो, न भी हो; अगले भव से भी हो न भी हो; किन्तु तिर्यंचों के उसी भव से मुक्ति है ही नहीं यह नियम है। वैसे तिर्यंचों में भी मुक्तिगमन के कारणभूत सम्यक्त्व आदि हो सकते हैं, इसमें कोई दोष नहीं है।

मिथ्यादृष्टियों का जन्म कहाँ होता है सो बताते हैं—

गाथार्थ—संज्ञी और असंज्ञी मिथ्यादृष्टि जीवों का जन्म नियम से व्यन्तरों और भवनवासियों में जानना चाहिए ॥११७३॥

संज्ञिनामसंज्ञिनां च मिथ्यादृष्टीनां उपपादो मृत्वोत्पत्तिः कदाचिद्वानव्यंतरेषु कदाचिद्भवनवासिषु च बोद्धव्यो नियमेन, नात्र विरोध एतेषूत्पद्यन्तेऽन्यत्र च परिणामवशादिति ।।११७३।।

अथ ज्योतिष्केषु क उत्पद्यन्त इत्याशंकायामाह—

संखादीदाऊणं मणुयतिरिक्खाण मिच्छभावेण ।
उववादो जोदिसिए उक्कस्सं तावसाणं दु ।।११७४।।

संख्यातीतायुषामसंख्यातवर्षप्रमाणायुषां मनुष्याणां तिरश्चां च मिथ्यात्वभावेनोपपादः भवनवास्यादिषु ज्योतिष्कदेवेषु कन्दफलाद्याहाराणां तापसानां चोत्कृष्ट उपपादस्तेष्वेव ज्योतिष्केषु शुभपरिणामेन नान्येनेति ।।११७४।।

अथाजीवकपरिव्राजकानां शुभपरिणामेन कियद्दूरगमनमित्याशंकायामाह—

परिव्वाय[1]गाण णियमा उक्कस्सं होदि बंभलोगम्हि ।
उक्कस्सं सहस्सार त्ति होदि य आजीवगाण तहा ।।११७५।।

परिव्राजकानां संन्यासिनां शुभपरिणामेन नियमाद् उत्कृष्ट उपपादो भवनवास्यादिब्रह्मलोके भवन्ति, आजीवकानां तथोपपादो भवनवास्यादि सहस्रारं यावद्भवति, सर्वोत्कृष्टाचरणेन मिथ्यात्वभावेन शुभपरिणा-

---

आचारवृत्ति—सैनी और असैनी मिथ्यादृष्टि जीव मरण कर कदाचित् व्यन्तरों म और कदाचित् भवनवासियों में जन्म ले सकते हैं अर्थात् उनमें उत्पन्न हो सकते हैं इसमें कोई विरोध नहीं है और परिणाम के वश से अन्यत्र भी उत्पन्न हो सकते हैं।

ज्योतिषी देवों में कौन उत्पन्न होते हैं, ऐसी आशंका होने पर कहते हैं—

गाथार्थ—असंख्यातवर्ष की आयुवाले मनुष्य, तिर्यंच का मिथ्यात्वभाव से ज्योतिष्क देवों में जन्म होता है। तापसियों का भी उपपाद ज्योतिषियों में उत्कृष्ट आयु में होता है।।११७४।।

आचारवृत्ति—असंख्यात वर्षप्रमाण आयुवाले मनुष्यों और तिर्यंचों का जन्म मिथ्यात्वभाव से भवनवासी आदि से लेकर ज्योतिषी देवों में होता है। कन्दफल आदि आहार करनेवाले तापसियों का जन्म उन्हीं ज्योतिषियों में शुभपरिणाम से उत्कृष्ट आयु लेकर होता है।

आजीवक और पारिव्राजकों का शुभपरिणाम से कितनी दूर तक गमन होता है, ऐसी आशंका होने पर कहते हैं—

गाथार्थ—पारिव्राजकों का नियम से ब्रह्मलोक में उत्कृष्ट जन्म होता है तथा आजीवकों का उत्कृष्ट जन्म सहस्रार पर्यन्त होता है।।११७५।।

आचारवृत्ति—पारिव्राजक संन्यासियों का उत्कृष्ट जन्म शुभपरिणाम से निश्चित ही भवनवासी से लेकर ब्रह्म नामक पाँचवें स्वर्गपर्यन्त होता है। तथा आजीवक साधुओं का जन्म मिथ्यात्व सहित सर्वोत्कृष्ट आचरणरूप शुभपरिणाम से भवनवासी आदि से लेकर सहस्रार

---

१. क परिव्वायगाण ।

नेनेति वक्तव्यं नान्यथेति । अन्येषां च लिंगिनां भवनादिषु च द्रष्टव्यं शुभपरिणामेनेति ॥११७५॥

अथोर्ध्वं क उत्पद्यन्त इत्याह—

तत्तो परं तु णियमा उववादो णत्थि अण्णलिंगीणं ।
णिग्गंथसावगाणं उववादो अच्चुदं जाव ॥११७६॥

ततः सहस्रारादूर्ध्वं परेषु कल्पेषु नियमादुपपादो नास्त्यन्यलिंगिनां परमोत्कृष्टाचरणेनापि, निर्ग्रन्थानां श्रावकाणां श्राविकाणाम् आर्यिकाणां च शुभपरिणामेनोत्कृष्टाचरणेनोपपादः सौधर्ममादिं कृत्वा यावदच्युतकल्पः निश्चितमेतदि ॥११७६॥

अथाभव्या जिनलिंगेन कियद्दूरं गच्छन्तीत्याशंकायामाह—

आ उवरिमगेवेज्जं उववादो अभवियाण उक्कस्सो ।
उक्कट्ठेण तवेण दु णियमा णिग्गंथलिंगेण ॥११७७॥

अभव्यानां निर्ग्रन्थलिंगेनोत्कृष्टतपसा निश्चयेनोत्पाद उत्कृष्टः भवनवासिनमादिं कृत्वोपरिमग्रैवेयकं यावन्मिथ्यात्वभावेन शुभपरिणामेन रागद्वेषाद्यभावेनेति वक्तव्यम् ॥११७७॥

अथोपरि के न गच्छन्तीत्याशंकायामाह—

तत्तो परं तु णियमा तवदंसणणाणचरणजुत्ताणं ।
णिग्गंथाणुववादो जावदु सव्वट्ठसिद्धित्ति ॥११७८॥

पर्यन्त होता है ऐसा कहना चाहिए, अन्य प्रकार से नहीं। और अन्य लिंगी—पाखण्डी साधुओं का जन्म भी शुभपरिणाम से भवनवासी आदि देवों में देखना चाहिए।

इससे ऊपर कौन उत्पन्न होते हैं, सो ही बताते हैं—

गाथार्थ—इससे परे तो नियम से अन्यलिंगियों का जन्म नहीं होता है। निर्ग्रन्थ और श्रावकों का जन्म अच्युत पर्यन्त होता है ॥११७६॥

आचारवृत्ति—उस सहस्रार स्वर्ग से आगे के कल्पों में नियम से अन्य पाखण्डियों का परम उत्कृष्ट आचरण होने पर भी जन्म नहीं होता है। निर्ग्रन्थ मुनियों का, श्रावकों का और आर्यिकाओं का जन्म शुभपरिणामरूप उत्कृष्ट आचरण से सौधर्म स्वर्ग से लेकर अच्युत नामक सोलहवें स्वर्ग पर्यन्त निश्चितरूप से होता है।

अभव्यजीव जिनलिंग से कितनी दूर तक जाते हैं, ऐसी आशंका होने पर कहते हैं—

गाथार्थ—अभव्यों का उत्कृष्ट जन्म निश्चित ही निर्ग्रन्थ लिंग द्वारा उत्कृष्ट तप से उपरिम ग्रैवेयक पर्यन्त होता है ॥११७७॥

आचारवृत्ति—अभव्य जीवों का उत्कृष्ट जन्म निर्ग्रन्थ मुद्रा धारणकर उत्कृष्ट तपश्चरण द्वारा भवनवासी से लेकर उपरिम ग्रैवेयक पर्यन्त होता है। यद्यपि मिथ्यात्व भाव उनमें है तो भी रागद्वेषादि के अभावरूप शुभपरिणाम से ही वहाँ तक जन्म होता है।

इसके ऊपर कौन नहीं जाते हैं, ऐसी आशंका होने पर कहते हैं—

गाथार्थ—इसके आगे तो नियम से दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप से युक्त निर्ग्रन्थों का उपपाद सर्वार्थसिद्धि पर्यन्त होता है ॥११७८॥

ततः तस्मादूर्ध्वग्रैवेयकादूर्ध्वं परेषु नवानुत्तरादिषु सौधर्मादिषु च निर्ग्रन्थानां सर्वसंगपरित्यागिनां तपोदर्शनज्ञानचरणयुक्तानामचरमदेहिनां शुभपरिणामिनां निश्चयेनोपपादः सर्वार्थसिद्धिं यावत्। सर्वार्थसिद्धि-मन्तं कृत्वा सर्वेषु सौधर्मादिषूत्पद्यन्त इति यावत् ॥११७८॥

अथ देवा आगत्य क्वोत्पद्यन्त इत्याशंकायामाह—

आईसाणा देवा चएत्तु एइंदिएत्तणे भज्जा।
तिरियत्तमाणुसत्ते भयणिज्जा जाव सहसारा ॥११७९॥

भवनवासिनमादिं कृत्वा आ ईशानाद् ईशानकल्पं यावद् देवाश्च्युत्वा एकेन्द्रियत्वेन भाज्याः कदा-चिदार्तध्यानेनागत्य पृथिवीकायिकाप्कायिकप्रत्येकवनस्पतिकायिकेषु बादरेषु पर्याप्तेषूत्पद्यन्ते परिणामवशेनान्येषु पंचेन्द्रियपर्याप्ततिर्यङ्मनुष्येषु भोगभूमिजादिवर्जितेषु च तत ऊर्ध्वं सहस्रारं यावद् देवाश्च्युत्वा तिर्यक्त्वेन मनुष्यत्वेन च भाज्याः नैते एकेन्द्रियेषूत्पद्यन्ते पुनस्तिर्यग्ग्रहणान्नारकदेवविकलेन्द्रियासंज्ञिसूक्ष्मसर्वपर्याप्ततेजो-वायुभोगभूमिजादिषु सर्वे देवा नोत्पद्यन्त इति च द्रष्टव्यम् ॥११७९॥

उपरितनानामागतिमाह—

तत्तो परं तु णियमा देवावि अणंतरे भवे सव्वे।
उववज्जंति मणुस्से ण तेसिं तिरिएसु उववादो ॥११८०॥

आचारवृत्ति—उस ऊर्ध्व ग्रैवेयक से ऊपर नव अनुदिश से लेकर सर्वार्थसिद्धि पर्यन्त सर्वसंग से परित्यागी निर्ग्रन्थ लिंगधारी, दर्शनज्ञानचारित्र और तप से युक्त अचरमदेही, शुभ-परिणाम वाले मुनियों का जन्म होता है। अर्थात् निर्ग्रन्थ भावलिंगी मुनि सौधर्म स्वर्ग से लेकर सर्वार्थसिद्धि तक उत्पन्न होते हैं।

देव आकर कहाँ उत्पन्न होते हैं, ऐसी आशंका होने पर कहते हैं—

गाथार्थ—ईशान स्वर्ग तक के देव च्युत होकर एकेन्द्रियरूप से वैकल्पिक हैं और सहस्रार पर्यन्त के देव तिर्यंच और मनुष्य रूप से वैकल्पिक है ॥११७९॥

आचारवृत्ति—भवनवासी से लेकर ईशान स्वर्ग तक के देव वहाँ से च्युत होकर कदा-चित् आर्तध्यान से पृथिवीकायिक जलकायिक, और प्रत्येकवनस्पतिकायिक बादर एकेन्द्रियों में उत्पन्न हो सकते है। तथा परिणाम के वश से अन्य पर्यायों में भी अर्थात् पंचेन्द्रिय पर्याप्तक तिर्यंच-मनुष्यों में उत्पन्न हो जाते हैं। किन्तु वे देव भोगभूमिज आदि मनुष्यों या तिर्यंचों में जन्म नहीं लेते हैं। उसके ऊपर तीसरे स्वर्ग से लेकर सहस्रार नामक बारहवें स्वर्ग तक के देव च्युत होकर तिर्यंच या मनुष्यों में जन्म लेते है। अर्थात् ये देव एकेन्द्रियों में उत्पन्न नहीं होते हैं। पुनः 'तिर्यक्त्व' शब्द को गाथा में लेने से ऐसा समझना कि नारकी, देव, विकलेन्द्रिय, असंज्ञी पचेन्द्रिय, सूक्ष्म, अपर्याप्तक, सर्व अग्निकायिक, वायुकायिक, भोगभूमिज आदि स्थानों में सभी देव उत्पन्न नहीं होते हैं ऐसा समझ लेना। तात्पर्य यह है कि ईशान स्वर्ग तक के देव मरकर एकेन्द्रिय पृथिवी, जल और प्रत्येकवनस्पति में जन्म ले सकते हैं। तथा बारहवें स्वर्ग तक के देव पंचेन्द्रिय पर्याप्तक तिर्यंचों में भी हो सकते हैं।

ऊपर के देवों का जन्म कहाँ तक होता है, उसे ही बताते हैं—

गाथार्थ—उसके परे सभी देव नियम से अनन्तर भव में मनुष्य पर्याय में उत्पन्न होते हैं। उनका तिर्यंचों में जन्म नहीं होता है ॥११८०॥

ततः सहस्रारादुपरि नियमाद्देवाः सर्वेऽपि अनन्तरभवेन मनुष्येषूत्पद्यन्ते न तेषां तिर्यक्षूपपादः च्यवनकाले महतः संक्लेशस्याभावो यत इति ॥११८०॥

शलाकापुरुषा आगत्य ये देवा न भवन्ति तान् प्रतिपादयन्नाह—

आजोदिसं ति देवा सलागपुरिसा ण होंति ते णियमा ।
तेसिं अणंतरभवे भजणिज्जं णिव्वुदीगमणं ॥११८१॥

आ ज्योतिषो देवा भवनवासिन आदौ कृत्वा ज्योतिष्का यावद्देवाः शलाकापुरुषा न भवन्ति तीर्थंकरचक्रवर्तिबलदेववासुदेवा न भवन्तीति निश्चयेन निर्वृतिगमनं पुनस्तेषामनन्तरभवे भाज्यं कदाचिद्भवति कदाचिन्नेति तस्य सर्वथा प्रतिषेधो नास्तीति ॥११८१॥

अथ के शलाकापुरुषा भवन्तीत्याशंकायामाह—

तत्तो परं तु गेवेज्जं भजणिज्जा सलागपुरिसा दु ।
तेसिं अणंतरभवे भजणिज्जा णिव्वुदीगमणं ॥११८२॥

ततः परं सौधर्ममारभ्य नवग्रैवेयकं यावत्तेभ्यो देवा आगत्य शलाकापुरुषा भवन्ति न भवन्तीति भाज्यास्तेषामनन्तरभवेन च निर्वृतिगमनं च भाज्यं कदाचिद्भवति कदाचिन्नेति ॥११८२॥

आचारवृत्ति—सहस्रार स्वर्ग से ऊपर के सभी देव नियम से अगले भव में मनुष्य पर्याय में ही होते हैं। वे तिर्यंचों में जन्म नहीं ले सकते हैं, क्योंकि वहाँ से च्युत होने के समय उनके अधिक संक्लेश का अभाव है।

जो देव आकर शलाकापुरुष नहीं होते हैं उनका प्रतिपादन करते हैं—

गाथार्थ—ज्योतिषी पर्यन्त जो देव हैं वे नियम से शलाकापुरुष नहीं होते हैं। उनका अनन्तर भव में मोक्षगमन वैकल्पिक है ॥११८१॥

आचारवृत्ति—भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिषी देव वहाँ से च्युत होकर तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव और प्रतिवासुदेव ऐसे शलाकापुरुष नहीं होते हैं। उनकी उसी भव से मुक्ति होती है या नहीं भी होती है (सर्वथा निषेध नहीं है)।

भावार्थ—शलाकापुरुषों में तीर्थंकर तो उसी भव से मोक्ष जाते हैं इसमें विकल्प नहीं है। चक्रवर्ती और बलदेव ये उसी भव से मुक्ति भी पा सकते हैं अथवा स्वर्ग जाते हैं। चक्रवर्ती नरक भी जा सकते हैं। वासुदेव और प्रतिवासुदेव ये नरक ही जाते हैं फिर भी ये महापुरुष स्वल्प भवों में मुक्ति प्राप्त करते ही हैं ऐसा नियम है।

शलाकापुरुष कौन होते हैं, उसे ही बताते हैं—

गाथार्थ—इसके परे ग्रैवेयक तक के देव शलाकापुरुष होते हैं, नहीं भी होते; उनको उसी भव से मोक्षगमन होता है, नहीं भी होता ॥११८२॥

आचारवृत्ति—सौधर्म स्वर्ग से लेकर नवग्रैवेयक तक के देव वहाँ से च्युत होकर शलाकापुरुष होते हैं, नहीं भी होते हैं। तथा वहाँ से आये हुए पुरुष अनन्तर भव से मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं, कदाचित् नहीं भी करते हैं।

तत ऊर्ध्वं वासुदेवा आगत्य न भवन्तीति प्रतिपादयन्नाह—

> णिव्वुदिगमणे रामत्तणे य तित्थयरचक्कवट्टित्ते ।
> अणुदिसणुत्तरवासी तदो चुदा होंति भयणिज्जा ॥११८३॥

निर्वृतिगमनेन रामत्वेन तीर्थंकरत्वेन चक्रवर्तित्वेन च भाज्याः अनुदिशानुत्तरवासिनो देवास्तेभ्यो विमानेभ्यश्च्युताः सन्तः कदाचित्तीर्थंकररामचक्रवर्तिनो मुक्ताश्च भवन्ति न भवन्ति च, वासुदेवाः पुनर्न भवन्त्येवेति ॥११८३॥

ये पुनर्निश्चयेन निर्वृतिं गच्छन्ति तान् प्रतिपादयन्नाह—

> सव्वट्ठादो य चुदा भज्जा तित्थयरचक्कवट्टित्ते ।
> रामत्तणेण भज्जा णियमा पुण णिव्वुदिं जंति ॥११८४॥

सर्वार्थात्सर्वार्थसिद्धेश्च्युता देवास्तीर्थंकरत्वेन चक्रवर्तित्वेन रामत्वेन च भाज्याः, निर्वृतिं पुनर्निश्चयेन यान्त्येव न तत्र विकल्पः सर्वे तु आगत्य चरमदेहा भवन्ति तीर्थंकरचक्रवर्तिरामविभूतिं भुक्त्वा मण्डलिकादिविभूतिं च संयममादाय नियमान्मुक्तिं गच्छन्ति ॥११८४॥

पुनरपि निश्चयेन ये ये सिद्धिं गच्छन्ति तान् प्रतिपादयन्नाह—

> सक्को सहग्गमहिसी सलोगपाला य दक्खिणिंदा य ।
> लोयंतिगा य णियमा चुदा दु खलु णिव्वुदिं जंति ॥११८५॥

इसके ऊपर से आकर वासुदेव होते हैं सो ही कहते हैं—

गाथार्थ—अनुदिश और अनुत्तरवासी देव वहाँ से च्युत होकर मुक्तिगमन, बलदेवत्व तीर्थंकरत्व और चक्रवर्तित्व पद से भजनीय होते हैं ॥११८३॥

आचारवृत्ति—अनुदिश और अनुत्तरवासी देव उन विमानों से च्युत होकर कदाचित् तीर्थंकर होते हैं, या नहीं भी होते हैं; कदाचित् बलदेव या चक्रवर्ती होते हैं, नहीं भी होते हैं। वे देव यहाँ आकर कदाचित् मुक्ति प्राप्त कर लेते हैं अथवा नहीं भी कर पाते हैं। किन्तु वहाँ से च्युत हुए देव वासुदेव अर्थात् नारायण और प्रतिनारायण नहीं होते हैं यह नियम है।

जो पुनः निश्चय से निर्वाण को प्राप्त करते हैं उनका वर्णन करते हैं—

गाथार्थ—सर्वार्थसिद्धि से च्युत हुए देव तीर्थंकर और चक्रवर्ती के रूप में भाज्य हैं एवं बलदेवपने से भाज्य हैं किन्तु वे नियम से मोक्ष प्राप्त करते हैं ॥११८४॥

आचारवृत्ति—सर्वार्थसिद्धि से च्युत हुए देव तीर्थंकर, चक्रवर्ती अथवा बलदेव होते हैं या नहीं भी होते हैं किन्तु वे नियम से मुक्ति प्राप्त करते हैं, इसमें विकल्प नहीं है। तात्पर्य यह है कि वहाँ से आये हुए सभी देव चरमशरीरी होते हैं। वे तीर्थंकर, चक्रवर्ती अथवा बलदेव के वैभव को भोगकर या मण्डलीक आदि राज्य विभूति का अनुभव कर पुनः संयम ग्रहण करके नियम से मुक्ति को प्राप्त करते ही हैं।

पुनरपि जो जो नियम से मुक्ति प्राप्त करते हैं उनका वर्णन करते हैं—

गाथार्थ—शची सहित और लोकपाल सहित सौधर्म इन्द्र, दक्षिण दिशा के इन्द्र और लौकान्तिक देव वहाँ से च्युत होकर नियम से मोक्ष जाते हैं ॥११८५॥

शक्रः सौधर्मेन्द्रः सहाग्रमहिष्या अग्रमहिषी शची तया सह वर्तत इति साग्रमहिषीकाः, सलोकपालाः लोकान् पालयन्तीति लोकपालाः चत्वारश्चिकसमानास्तैः सह वर्तन्ते इति सलोकपालाः दक्षिणेन्द्राश्च दक्षिणशब्देन पूर्वनिर्दिष्टे सौधर्मोऽन्वारभ्य वर्तते तेन सानत्कुमारब्रह्मलान्तवशुक्रशतारानतारणेन्द्राणां ग्रहणं च शब्देनान्येषां च, लौकान्तिकाश्च सारस्वतादित्यवह्न्यरुणगर्दतोयतुषिताव्याबाधारिष्टाश्चाष्टप्रकाराः ब्रह्मलोकवासिनो देवर्षयो नियमात् च्युता मनुष्यलोकमागता निर्वृतिं यान्ति। सौधर्मो मनुष्यत्वं प्राप्य मोक्षं याति तथा तस्याग्रमहिषी लोकपालाश्च मनुष्यत्वं प्राप्य नियमतो निर्वृतिं यान्ति, तथा दक्षिणेन्द्रा लौकान्तिकाश्च चरमदेहत्वं प्राप्य निश्चयेन मुक्तिं गच्छन्ति नात्र सन्देह इति ॥११८८॥

गत्यागत्यधिकारं समुपसंहरन्नाह—

एवं तु सारसमए भणिदा दु गदागदी मया किंचि।
णियमादु मणुसगदिए णिव्वुदिगमणं अणुण्णादं ॥ ११८६॥

एवं तु—अनेन प्रकारेण, सारसमए—व्याख्याप्रज्ञप्त्यां सिद्धान्ते तस्माद्वा भणिते गत्यागती भणिते भणिता आगतिश्च भणिता मया किंचित् स्तोकरूपेण। सारसमयादुद्धृत्य गत्यागतिस्वरूपं स्तोकं मया प्रतिपादितमित्यर्थः। निर्वृतिगमनं पुनर्मनुष्यगत्यामेव निश्चयेनानुज्ञातं जिनवरैरन्यासु गतिषु तत्र संयमाभावादिति ॥११८६॥

अथ कैः किम्भूताः कैः कृत्वा निर्वृतिं यान्तीत्याशंकायामाह—

आचारवृत्ति—सौधर्म स्वर्ग का प्रथम इन्द्र शक्र है, उसकी अग्र महिषी का नाम शची है। उसके चार दिशा सम्बन्धी सोम, यम, वरुण और कुबेर ये चार लोकपाल होते हैं। दक्षिण दिशा सम्बन्धी दक्षिणेन्द्र हैं, वे सौधर्म इन्द्र तथा सानत्कुमार, ब्रह्म, लान्तव, शतार, आनत और आरण के इन्द्र हैं। 'च' शब्द से अन्यों का भी ग्रहण हो जाता है। ब्रह्मलोक में निवास करने वाले लौकान्तिक कहलाते हैं। इनके आठ भेद हैं—सारस्वत, आदित्य, वह्नि, अरुण, गर्दतोय, तुषित, अव्याबाध और अरिष्ट। इन्हें देवर्षि भी कहते हैं। ये सब स्वर्ग से च्युत होकर मनुष्य भव प्राप्तकर नियम से मोक्ष पाते हैं। अर्थात् सौधर्म इन्द्र मनुष्य भव को प्राप्तकर मोक्ष चला जाता है, उसकी अग्रमहिषी और लोकपाल भी मनुष्य भव को प्राप्तकर नियम से निर्वाण प्राप्त कर लेते हैं। तथा दक्षिणेन्द्र एवं लौकन्तिक देव भी चरमशरीर प्राप्त कर निश्चय से मुक्त हो जाते हैं, यह बात स्पष्ट है इसमें सन्देह नहीं है।

अब गति-आगति अधिकार का उपसंहार करते हैं—

गाथार्थ—इस प्रकार से सारभूत सिद्धान्त में मैंने किंचित् मात्र गति-आगति को कहा है, नियम से मनुष्यगति में ही मोक्षगमन स्वीकार किया है ॥११८६॥

आचारवृत्ति—इस प्रकार से व्याख्याप्रज्ञप्ति सिद्धान्त में अथवा इस सिद्धान्त से लेकर मैंने अल्परूप से गति और आगति का वर्णन किया है। पुनः मोक्ष की प्राप्ति तो निश्चय से मनुष्य गति में ही होती है, अन्य गतियों में नहीं—ऐसा श्री जिनेन्द्रदेव ने कहा है क्योंकि अन्य गतियों में संयम का अभाव है।

कौन कैसे होकर और क्या करके मोक्ष जाते हैं? सो ही बताते हैं—

सम्मद्दंसणणाणेहिं भाविदा सयलसंजमगुणेहिं ।
णिट्ठवियसव्वकम्मा णिग्गंथा णिव्वुदिं जंति ॥११८७॥

सम्यग्दर्शनज्ञानाभ्यां भाविताः सकलसंयमगुणैश्च भाविता यथाख्यातसंयमविशुद्धिवर्द्धिता निष्ठा-पितसर्वकर्माणः विनाशितसर्वकर्मबन्धाः सन्तो निर्ग्रन्था अनन्तचतुष्टयसहाया निर्वृतिं यान्ति नात्र सन्देह इति । ॥११८७॥

अथ ते तत्र गत्वा कीदृग्भूतं सुखमनुभवन्ति कियन्तं कालमधितिष्ठन्तीत्याशंकायामाह—

ते अजरमरुजममरमसरीरमक्खयमणुवमं सोक्खं ।
अव्वाबाधमणंतं अणागदं कालमत्थंति ॥११८८॥

ते मुक्तिं प्राप्ता अजरं न विद्यते जरावस्था[1] वृद्धत्वं यत्र तदजरं, न विद्यते रुजा रोगो यत्र तदरुजं, न म्रियते यत्र तदमरम्, अशरीरम् औदारिकादिपंचशरीररहितं, अक्षयं क्षयरहितं शाश्वतं सुखं अनन्तज्ञानदर्शन-सुखवीर्यरूपं, अव्याबाधम् अन्योपघातविनिर्मुक्तं, अनन्तमनागतं कालमधितिष्ठन्ति भविष्यत्कालपर्यन्तं परमसुखे निमग्नास्तिष्ठन्तीति ॥११८८॥

गाथार्थ—सम्यग्दर्शन और ज्ञान से अपने को भावित करके सम्पूर्ण संयम और गुणों के द्वारा सर्व कर्मों को समाप्त करके निर्ग्रन्थ मुनि निर्वाण को प्राप्त कर लेते हैं। ॥११८७॥

आचारवृत्ति—सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान से अपनी आत्मा को भावित करके तथा यथाख्यातसंयम की विशुद्धि से वृद्धिंगत हुए सर्व कर्मों का विनाश करके वे निर्ग्रन्थ महामुनि अनन्तचतुष्टय से सहित होकर निर्वाण को प्राप्त कर लेते हैं, इसमें सन्देह नहीं है।

वे वहाँ जाकर सुख का अनुभव करते हुए कितने काल तक वहाँ ठहरते हैं, ऐसी आशंका होने पर कहते हैं—

गाथार्थ—वे जरारहित, रोगरहित, मरणरहित, शरीररहित, क्षयरहित, उपमा-रहित और बाधारहित अनन्त सौख्य में भविष्यत् कालपर्यन्त ठहरते हैं ॥११८८॥

आचारवृत्ति—जिसमें वृद्धावस्था नहीं है वह अजर है। जिसमें रोग नहीं है वह अरुज है। जहाँ मरण नहीं है वह अमर है। औदारिक आदि पाँच शरीरों से रहित को अशरीर कहते हैं। क्षय रहित शाश्वत को अक्षय तथा अनन्तज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्यरूप उपमा रहित को अनुपम कहते हैं। अन्य के द्वारा जिसमें बाधा न हो वह अव्याबाध है। जो मुक्ति को प्राप्त हो चुके हैं वे सिद्ध भगवान् अजर, अरुज, अमर, अशरीर, अक्षय, अनुपम, अव्याबाध और अनन्त सौख्य का अनुभव करते हैं तथा आनेवाले अनन्त भविष्य कालपर्यन्त परमसुख में निमग्न हुए स्थित रहते हैं।

---

१. क जरा ।

गत्यागतिस्वरूपं निरूप्य स्थानाधिकारं प्रतिपादयन्नाह—

एइंदियादि पाणा चोद्दस दु हवंति जीवठाणाणि।
गुणठाणाणि य चोद्दस मग्गणठाणाणिवि तहेव ॥११८९॥

जीवस्थानान्याधारभूतानेकेन्द्रियादीन् तावत् प्रतिपादयति एकेन्द्रियादय एकं सूत्रं, प्राणो द्वितीयं सूत्रं चतुर्दश जीवस्थानानि भवन्ति तृतीयं सूत्रं, गुणस्थानानि चतुर्दश चतुर्थं सूत्रं, मार्गणास्थानानि चतुर्दश भवन्ति पंचमं सूत्रं, पंचभिःसंग्रहस्थानसूत्रं व्याख्यायते—जीवास्तिष्ठन्ति येषु तानि जीवस्थानानि, गुणा मिथ्यात्वादयो निरूप्यन्ते येषु तानि गुणस्थानानि, जीवा मृग्यन्ते येषु यैर्वा तानि मार्गणास्थानानि इति। ॥११८९॥

अथ का मार्गणाऽथवा[1] जीवगुणमार्गणा का इत्याशंकायामाह—

गदिआदिमग्गणाओ परूविदाओ य चोद्दसा चेव।
एदेसिं खलु भेदा किंचि समासेण वोच्छामि ॥११९०॥*

[2]गत्यादिमार्गणाश्चतुर्दश एवागमे [3]निरूपिताः, चशब्दाद्बादरैकेन्द्रियादीनि जीवस्थानानि चतुर्दश मिथ्यादृष्ट्यादीनि गुणस्थानानि चतुर्दशेत्येषां भेदान्कियतः समासेन संक्षेपेण प्रवक्ष्यामीति ॥११९०॥

गत्यागति के स्वरूप का निरूपण करके अब स्थानाधिकार का प्रतिपादन करते हैं—

गाथार्थ—एकेन्द्रिय आदि जीव, प्राण, चौदह जीवस्थान, चौदह गुणस्थान और चौदह ही मार्गणाएँ भी होती हैं ॥११८९॥

आचारवृत्ति—जीवस्थान और उनके आधारभूत एकेन्द्रिय आदि जीवों का प्रतिपादन करते हैं—उसमें एकेन्द्रिय आदि यह एक सूत्र है, प्राण दूसरा सूत्र है, चौदह जीवस्थान तीसरा सूत्र है, चौदह गुणस्थान चौथा सूत्र है, और चौदह मार्गणास्थान यह पाँचवाँ सूत्र है। 'पंचभिः संग्रह' है उसमें से संग्रहस्थान सूत्र का व्याख्यान करते हैं—जीव जिनमें ठहरते हैं उन्हें जीवस्थान कहते हैं, मिथ्यात्व आदि गुणों का जिनमें निरूपण किया जाता है वे गुणस्थान कहलाते हैं, जिनमें अथवा जिनके द्वारा जीव खोजे जाते हैं उनको मार्गणास्थान कहते हैं।

मार्गणा क्या हैं अथवा जीवस्थान, गुणस्थान व मार्गणाएँ कौन-कौन हैं, ऐसी आशंका होने पर कहते हैं—

गाथार्थ—गति आदि मार्गणाएँ प्ररूपित की जा चुकी हैं। वे चौदह ही हैं, उनमें कितने भेद हैं इसे संक्षेप से कहूँगा ॥११९०॥

आचारवृत्ति—गत्यादि मार्गणाएँ चौदह ही हैं, ऐसा आगम में निरूपण किया गया है। 'च' शब्द से बादर एकेन्द्रिय आदि जीवस्थान चौदह हैं, मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थान चौदह हैं। इन सबके कितने-कितने भेद हैं उन्हें मैं संक्षेप से कहूँगा।

---

* यह गाथा फलटन से प्रकाशित मूलाचार में नहीं है।

१. क मार्गणादि कृत्वा। २. क गत्यादयो मार्गणाः। ३. क प्ररूपिताः।

एवं सर्वेषामादावेकेन्द्रियादिभेदांस्तावत्प्रतिपादयन्नाह—

एइंदियादि जीवा [1]पंचविधा भयवदा दु पण्णत्ता ।
पुढवीकायादीया विगला पंचेंदिया चेव ॥११६१॥*

ये एकेन्द्रियादयो जीवाः संग्रहसूत्रेण सूचितास्ते पंचविधाः पंचप्रकारा एव भगवता प्रज्ञप्ताः । के ते पंचप्रकारा इत्याशंकायामाह—पृथिवीकायिकादय एकः प्रकारः, विकलेन्द्रिया द्वीन्द्रिया द्वितीयः प्रकारः, त्रीन्द्रियास्तृतीयः प्रकारः, चतुरिन्द्रियाः चतुर्थः प्रकारः, तथा च पंचेन्द्रियाः पंचमः प्रकारः । पंच प्रकारा एव न षट्प्रकारा नापि चत्वार इति ॥११६१॥

पृथिवीकायादिभेदा उत्तरत्र प्रपंचेन प्रतिपाद्यन्त इति कृत्वा [2]द्वीन्द्रियादीन् प्रतिपादयन्नाह—

संखो गोभी भमरादिया दु विकलिंदिया मुणेदव्वा ।
पंचेंदिया दु जलथलखचरा सुरणारयणरा य ॥११६२॥

इन सभी को छोड़कर पहले एकेन्द्रिय आदि भेदों का प्रतिपादन करते हैं—

गाथार्थ—एकेन्द्रिय आदि जीव पाँच प्रकार के हैं ऐसा भगवान् ने कहा है वे पृथिवीकाय आदि एकेन्द्रिय, विकलत्रय और पंचेन्द्रिय ही हैं ॥११६१॥

आचारवृत्ति—जो एकेन्द्रिय आदि जीव संग्रहसूत्र से सूचित किये गये हैं वे पाँच प्रकार के हैं ऐसा भगवान् ने कहा है।

वे पाँच प्रकार कौन हैं ?

पृथिवीकायिक आदि एक प्रकार है, विकलेन्द्रियों में द्वीन्द्रिय द्वितीय प्रकार है, त्रीन्द्रिय तृतीय प्रकार है, चतुरिन्द्रिय चतुर्थ प्रकार है और पंचेन्द्रिय पाँचवाँ प्रकार है। ये जीव पाँच प्रकार ही हैं, न छह प्रकार हैं और न चार प्रकार हैं।

पृथिवीकाय आदि भेद आगे विस्तार से प्रतिपादित किये जायेंगे इसलिए यहाँ द्वीन्द्रिय आदि का प्रतिपादन करते हैं—

गाथार्थ—शंख, गोभी (एक प्रकार का कीड़ा) और भ्रमर आदि विकलेन्द्रिय हैं ऐसा जानना। जलचर, थलचर, नभचर, देव, नारकी और मनुष्य ये पंचेन्द्रिय हैं ॥११६२॥

---

१. क पंचविहा ।   २. क संक्षेपेण द्वीन्द्रियादिभेदान् ।

* फलटन से प्रकाशित मूलाचार की इस गाथा में अन्तर है :

एइंदियादिजीवा पंचविधा भयवदा दु पण्णत्ता ।
पुढवीकायादीया पंचविधे इंदिया चेव ॥

अर्थ—भगवान् जिनेन्द्र ने एकेन्द्रिय आदि जीव पाँच प्रकार के कहे हैं। वे हैं पृथिवीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय और वनस्पतिकाय। इस गाथा का उत्तरार्ध श्री वट्टकेराचार्य ने बदला है तथा उसी के अनुरूप टीकाकार ने टीका की है और आगे की उत्थानिका बनायी है।

[illegible] ॥११९२॥

प्राणान् प्रतिपादयन्नाह—

पंच य इंदियपाणा मणवचकाया दु तिण्णि बलपाणा।
आणप्पाणप्पाणा आउगपाणेण होंति दस पाणा ॥११९३॥

पंचेन्द्रियाणि स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राणि पंच प्राणाः मनोवचःकायास्तु बलरूपास्त्रयः प्राणाः, आनप्राणावुच्छ्वासनिःश्वासलक्षण एकः प्राणः, आयुर्भवधारणलक्षणं पुद्गलप्रचय एकः प्राणः एवमेते दश प्राणा भवन्तीति ॥११९३॥

एकेन्द्रियादीनां प्राणानां च स्वस्वामिसंबन्धं प्रतिपादयन्नाह—

इंदिय बल उस्सासा आऊ चदु छक्क सत्त अट्ठेव।
एगिंदिय विगलिंदिय असण्णि सण्णीण णव दस पाणा ॥११९४॥

इन्द्रियं स्पर्शनेन्द्रियमेकः प्राणः, बलं कायबलं द्वितीयः प्राणः, उच्छ्वासस्तृतीयः प्राणः, आयुश्चतुर्थः प्राणः, एते चत्वारः प्राणा एकेन्द्रियस्य पर्याप्तस्य भवन्ति पर्याप्तिरहितस्य पुनरुच्छ्वासरहिता भवन्ति। द्वीन्द्रि-

---

आचारवृत्ति—'आदि' शब्द प्रत्येक के साथ लगा लेना चाहिए। शंख आदि द्वीन्द्रिय हैं, गोभी (कीड़े) आदि त्रीन्द्रिय हैं और भ्रमर आदि चतुरिन्द्रिय हैं। अर्थात् शंख, कृमि, कौड़ी, सीप, गिडोला आदि दो-इन्द्रिय जीव हैं। गोभी (कीड़ा), कुन्थु, चींटी, खटमल, बिच्छू, जूं, इन्द्रगोप, जगनू आदि तीन इन्द्रिय जीव हैं। भ्रमर, मधुमक्खी, डांस, पतंगे, मक्खी आदि चार इन्द्रिय जीव हैं। जलचर, थलचर, नभचर, देव, नारकी और मनुष्य पंचेन्द्रिय जीव हैं।

प्राणों का प्रतिपादन करते हैं—

गाथार्थ—पांच इन्द्रियप्राण, मन, वचन, काय ये तीन बलप्राण तथा श्वासोच्छ्वास प्राण और आयुप्राण मिलकर दस प्राण होते हैं ॥११९३॥

आचारवृत्ति—स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ये पांच प्राण; मनोबल, वचनबल और कायबल ये तीन बलरूप प्राण तथा उच्छ्वास-निःश्वास लक्षण एक प्राण और आयु एक प्राण ये दस प्राण होते हैं। भवधारणलक्षणरूप पुद्गलप्रचय का नाम आयु है।

एकेन्द्रिय आदि जीव और प्राणों के स्वस्वामी सम्बन्ध को कहते हैं—

गाथार्थ—एकेन्द्रिय के इन्द्रिय बल, उच्छ्वास और आयु ये चार प्राण विकलेन्द्रिय में क्रम से छह, सात और आठ, असंज्ञी के नौ और संज्ञी के दस प्राण होते हैं ॥११९४॥

आचारवृत्ति—स्पर्शन इन्द्रिय एक प्राण, कायबल द्वितीय प्राण, उच्छ्वास तृतीय प्राण और आयु चतुर्थ प्राण एकेन्द्रिय पर्याप्तक के ये चार प्राण होते हैं तथा पर्याप्तिरहित के उच्छ्वास-

द्वयस्य पर्याप्तस्य स्पर्शनरसनकायबलवाग्बलोच्छ्वासायूंषि षट् प्राणा भवन्ति, अपर्याप्तस्य त एव वागुच्छ्वासरहिताश्चत्वारः। त्रीन्द्रियस्य पर्याप्तस्य स्पर्शनरसनघ्राणकायबलवाग्बलोच्छ्वासायूंषि सप्त प्राणा भवन्ति, त एव वागुच्छ्वासरहिताः पंचापर्याप्तस्य। स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःकायबलवाग्बलोच्छ्वासायूंष्यष्टौ प्राणाश्चतुरिन्द्रियस्य पर्याप्तस्य भवन्ति, वागुच्छ्वासरहितास्त एव षडपर्याप्तस्य भवन्ति। पंचेन्द्रियस्य कायबलवाग्बलोच्छ्वासायूंषि चासंज्ञिनः पर्याप्तस्य नव प्राणा भवन्ति, त एव वागुच्छ्वासरहिताः सप्त भवन्त्यपर्याप्तस्य। संज्ञिनः पर्याप्तस्य पुनः सर्वेऽपि दश प्राणा भवन्ति, अपर्याप्तस्य मनोवागुच्छ्वासरहितास्त एव सप्त भवन्तीति ॥११९४॥

जीवसमासान्निरूपयन्नाह—

सुहुमा बादरकाया ते खलु पज्जत्तया अपज्जत्ता।
एइंदिया दु जीवा जिणेहिं कहिया चदुवियप्पा ॥११९५॥

ते पुनरेकेन्द्रिया बादरसूक्ष्मपर्याप्तापर्याप्ता जिनैश्चतुर्विकल्पाः कथिता इति कृत्वा चत्वारो जीवसमासा भवन्तीति ॥११९५॥

शेषजीवसमासान् प्रतिपादयन्नाह—

पज्जत्तापज्जत्ता वि होंति विगलिंदिया दु छब्भेया।
पज्जत्तापज्जत्ता सण्णि असण्णीय सेसा दु ॥११९६॥

रहित ये ही तीन प्राण होते हैं। दो-इन्द्रिय पर्याप्तक के स्पर्शन, रसना, कायबल, वचनबल, उच्छ्वास और आयु ये छह प्राण हैं तथा अपर्याप्तक के वचनबल और उच्छ्वास रहित ये ही चार प्राण हैं। तीन इन्द्रिय पर्याप्तक जीव के स्पर्शन, रसना, घ्राण, कायबल, वचनबल, उच्छ्वास और आयु ये सात प्राण होते हैं। अपर्याप्तक के वचनबल और उच्छ्वास रहित ये ही पांच होते हैं। चार इन्द्रिय पर्याप्तक जीव के स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, कायबल, वचनबल, उच्छ्वास और आयु ये आठ प्राण होते हैं तथा अपर्याप्तक के वचन और उच्छ्वास रहित ये ही छह प्राण होते हैं। पुनः संज्ञी पंचेन्द्रिय असंज्ञी पर्याप्तक के स्पर्शन रसना घ्राण चक्षु, श्रोत्र, कायबल, वचनबल, उच्छ्वास और आयु ये नव प्राण होते हैं तथा अपर्याप्तक के वचन और उच्छ्वास रहित ये ही सात प्राण होते हैं। पर्याप्तक के सभी दश प्राण होते हैं एवं अपर्याप्तक के मनोबल, वचनबल और उच्छ्वास रहित वे ही सात प्राण होते हैं ॥

जीवसमासों का निरूपण करते हैं—

गाथार्थ—सूक्ष्म और बादर, पर्याप्तक और अपर्याप्तक ऐसे एकेन्द्रिय जीव के चार भेद जिनेन्द्रदेव ने कहे हैं ॥११९५

आचारवृत्ति—एकेन्द्रिय जीव के सूक्ष्म, बादर, पर्याप्त और अपर्याप्त के भेद से चार जीवसमास जिनेन्द्रदेव ने कहे हैं।

शेष जीवसमासों का प्रतिपादन करते हैं—

गाथार्थ—विकलेन्द्रिय भी पर्याप्तक और अपर्याप्तक होकर छह भेद रूप हो जाते हैं तथा शेष पंचेन्द्रिय के सैनी-असैनी दोनों भेद भी पर्याप्त और अपर्याप्त होते हैं ॥११९६॥

विकलेन्द्रिया द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियाः पर्याप्तापर्याप्तभेदेन षड्भेदा भवन्ति तथा पंचेन्द्रियाः संज्ञिनोऽसंज्ञिनः पर्याप्तापर्याप्तभेदेन चतुर्विकल्पा भवन्ति। एवमेते दश जीवसमासाः पूर्वोक्ताश्चत्वारः सर्वं एते चतुर्दश जीवसमासा भवन्तीति ॥११९६॥

गुणस्थानानि प्रतिपादयन्ननन्तरं सूत्रद्वयमाह—

मिच्छादिट्ठी सासादणो य मिस्सो असंजदो चेव।
देसविरदो पमत्तो अपमत्तो तह य णायव्वो ॥११९७॥

एत्तो अपुव्वकरणो अणियट्टी सुहुमसंपराओ य।
उवसंतखीणमोहो सजोगिकेवलिजिणो अजोगी य ॥११९८॥

मिथ्या वितथाऽसत्या दृष्टिर्दर्शनं विपरीतैकान्तविनयसंशयाज्ञानरूपमिथ्यात्वकर्मोदयजनिता येषां ते मिथ्यादृष्टयोऽथवा मिथ्या वितथं तत्र दृष्टी रुचिः श्रद्धा प्रत्ययो येषां ते मिथ्यादृष्टयोऽनेकान्ततत्त्वपराङ्मुखाः। आसादनं सम्यक्त्वविराधनं सहासादनेन वर्तत इति सासादनो विनाशितसम्यग्दर्शनः, अप्राप्तमिथ्यात्वकर्मोदयजनितपरिणामः मिथ्यात्वाभिमुखः। दृष्टिः श्रद्धा रुचिः एकार्थः समीचीना च मिथ्या च दृष्टिर्यस्यासौ

आचारवृत्ति—विकलेन्द्रिय—दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय और चार इन्द्रिय, में से प्रत्येक के पर्याप्तक और अपर्याप्तक भेद होने से छह हो जाते हैं। पंचेन्द्रिय के सैनी-असैनी दो भेद हैं। इनके भी पर्याप्त-अपर्याप्त भेद होने से चार भेद हो जाते हैं। इस प्रकार ये दश जीवसमास हुए। इन्हीं में पूर्वोक्त एकेन्द्रिय के चार भेद मिला देने से चौदह जीवसमास होते हैं।

गुणस्थानों का प्रतिपादन करते हुए दो सूत्र कहते हैं—

गाथार्थ—मिथ्यादृष्टि, सासादन, मिश्र, असंयत, देशविरत, प्रमत्त और अप्रमत्त ये सात जानना। इससे आगे अपूर्वकरण अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसाम्पराय, उपशान्तमोह, क्षीणमोह, सयोगिजिन और अयोगिजिन ये सब चौदह गुणस्थान हैं ॥११९७-११९८॥

आचारवृत्ति—गुणस्थान चौदह हैं। उनके नाम हैं—मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र, असंयत, देशविरत, प्रमत्त, अप्रमत्त, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, उपशान्तमोह, क्षीणमोह, सयोगिजिन और अयोगिजिन। प्रत्येक का लक्षण कहते हैं।

१. मिथ्यात्व—मिथ्या, वितथ या असत्य दृष्टि—श्रद्धान का नाम मिथ्यादृष्टि है, अर्थात् विपरीत, एकान्त, विनय, संशय और अज्ञान इन पाँच भेदरूप मिथ्यात्व कर्म के उदय से उत्पन्न हुई है असत्य श्रद्धा जिनके वे मिथ्यादृष्टि हैं। अथवा मिथ्या, वितथ या असत्य में दृष्टि, रुचि, श्रद्धा या प्रत्यय अर्थात् विश्वास है जिनको वे मिथ्यादृष्टि हैं जो अनेकान्त तत्त्व से विमुख रहते हैं।

२. सासादन—आसादना—सम्यक्त्व की विराधना के सह—साथ जो रहता है वह सासादन है, अर्थात् जिसने सम्यग्दर्शन का तो विनाश कर दिया है और मिथ्यात्वकर्म के उदय से उत्पन्न हुए परिणाम को अभी प्राप्त नहीं है किन्तु मिथ्यात्व के अभिमुख किया है वह सासादन गुणस्थानवर्ती है।

सम्यक्‌मिथ्यादृष्टिः सम्यक्‌मिथ्यात्वोदयजनितपरिणामः, सम्यक्त्वमिथ्यात्वयोरुदयप्राप्तस्पर्द्धकानां क्षयात् सतामुदयाभावलक्षणोपशमाच्च सम्यक्‌मिथ्यादृष्टिः। समीचीना दृष्टिः श्रद्धा यस्यासौ सम्यग्दृष्टिः। असंयत-श्चासौ सम्यग्दृष्टिश्चासंयतसम्यग्दृष्टिः क्षायिकक्षायोपशमिकौपशमिकदृष्टिभेदेन त्रिविधः सप्तप्रकृतीनां क्षयेण क्षयोपशमेनोपशमेन च स्यात्। संयतश्चासंयतश्च संयतासंयत', न चात्र विरोधः संयमासंयमयोरेकद्रव्यवर्तिनोः त्रसस्थावरनिबन्धनत्वात् अप्रत्याख्यानावरणस्य सर्वघातिस्पर्द्धकानामुदयक्षयात्सतां चोपशमात्प्रत्याख्यानावरणी-योदयाच्च संयमासंयमो गुणः। प्रकर्षेण प्रमादवंतः प्रमत्ताः सम्यग्यताः संयताः प्रमत्ताश्च ते संयताश्च प्रमत्त-संयताः, नात्र विरोधो यतः संयमो नाम हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्गुप्तिसमित्यनुरक्षितोऽसौ प्रमादेन विनाश्यत इति, प्रमत्तवचनम् अन्तदीपकत्वात् शेषातीतसर्वगुणेषु प्रमत्ताश्रितत्वं सूचयति, प्रमत्तसंयतः संयमोऽपि

---

३. सम्यग्‌-मिथ्यात्व—दृष्टि, श्रद्धा और रुचि ये एकार्थवाची हैं। समीचन और मिथ्या है दृष्टि—श्रद्धा जिसकी वह सम्यग्मिथ्यादृष्टि है। वह सम्यग्मिथ्यात्व नामक प्रकृति के उदय से उत्पन्न हुए परिणामों को धारण करता है। अर्थात् सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति के उदय प्राप्त स्पर्धकों का क्षय होने से और सत्ता में स्थित कर्मों का उदयाभावलक्षण उपशम होने से सम्यग्मिथ्यादृष्टि होता है।

४. असंयत—सम्यक्—समीचीन दृष्टि—श्रद्धा है जिसकी वह सम्यग्दृष्टि है और जो संयत नहीं वह असंयत है। ऐसे असंयत-सम्यग्दृष्टि के क्षायिक, क्षायोपशमिक और औपशमिक सम्यक्त्व के भेद से तीन प्रकार हो जाते हैं। चार अनन्तानुबन्धी और तीन दर्शनमोहनीय इन सात प्रकृतियों के क्षय से क्षायिक, इनके क्षयोपशम से क्षायोपशमिक और इनके उपशम से औपशमिक सम्यग्दर्शन होते हैं।

५. देशविरत—देशविरत को संयतासंयत भी कहते हैं। संयत और असंयत की मिश्र अवस्था का नाम संयतासंयत है। इसमें विरोध नहीं है क्योंकि एक जीव में एक साथ संयम और असंयम दोनों का होना त्रसस्थावरनिमित्तक है। अर्थात् एक ही समय में वह जीव त्रसहिंसा से विरत है और स्थावरहिंसा से विरत नहीं है इसलिए सयतासंयत कहलाता है। अप्रत्याख्यानावरण चतुष्क के सर्वघाति-स्पर्धकों का उदयाभावलक्षण क्षय होने से और उन्हीं का सदवस्थारूप उपशम होने से एवं प्रत्याख्यानावरण कषाय चतुष्क का उदय होने से यह संयमासंयम गुण-परिणाम होता है।

६. प्रमत्तसंयत—जो प्रकर्षरूप से प्रमादवान् है वे प्रमत्त हैं और जो सम—सम्यक् प्रकार से यत—प्रयत्नशील हैं या नियन्त्रित हैं अर्थात् व्रतसहित है वे संयत हैं। तथा जो प्रमत्त भी हैं और संयत भी हैं वे प्रमत्तसंयत कहलाते हैं। इसमें कोई विरोध नहीं है क्योंकि हिंसा, असत्य, चौर्य, अब्रह्म और परिग्रह इन पापों से विरति का नाम संयम है। तथा यह संयम गुप्ति और समिति से अनुरक्षित होने से नष्ट नहीं होता है। अर्थात् प्रमाद संयमी मुनियों का संयम का नाश नहीं कर पाता है किन्तु मलदोष उत्पन्न करता रहता है इसलिए ये प्रमत्तसंयत कहलाते हैं।

यह 'प्रमत्त' वचन अन्तदीपक है अतः पूर्व के सभी गुणस्थानों में जीव प्रमाद के आश्रित हैं ऐसा सूचित हो जाता है। यह सयम-निमित्तक प्रमत्तसंयत गुणस्थान क्षायोपशमिक है और

क्षायोपशमिकः संयमलब्धिरूपत्वात् सम्यक्त्वापेक्षया क्षायोपशमिकगुणनिबन्धनः प्रमत्तसंयतः। पूर्वोक्तलक्षणेन प्रमत्त-संयता, अप्रमत्तसंयताः पंचदशप्रमादरहिताः, एषोऽपि क्षायोपशमिकगुणः प्रत्याख्यानावरणस्य कर्मणः सर्व-घातिस्पर्द्धकानाम् उदयक्षयात् तेषामेव सतां पूर्ववदुपशमात्संज्वलनोदयाच्च । प्रत्याख्यानोत्पत्तेः आदि-दीपकत्वाच्छेषाणां सर्वेषाम् अप्रमत्तत्वम्। करणाः परिणामाः, न पूर्वा अपूर्वाः, अपूर्वाः करणा यस्यासौ अपूर्वकरणः, स द्विविधः उपशमकः, क्षपकः, कर्मणामुपशमनक्षपणनिबन्धनत्वात्, क्षपकस्य क्षायिको गुणः, उपशमकस्य क्षायिक औपशमिकश्च दर्शनमोहनीयक्षयमविनाश क्षपकश्रेण्यारोहणानुपपत्तेर्दर्शनमोहनीयक्षयोपशमाभ्यां विनोपशम-श्रेण्यारोहणानुपपत्तेश्च । समानसमयस्थितजीवपरिणामानां निर्भेदेन वृत्तिरथवा निवृत्तिर्व्यावृत्तिर्न विद्यते निवृत्तिर्येषां तेऽनिवृत्तयस्तैः सह चरितो गुणोऽनिवृत्तिर्गुणः बादरसाम्परायः, सोऽपि द्विविधः उपशमकः क्षपकः काश्चित्प्रकृतीरुपशमयति काश्चिदुपरिष्टादुपशमयिष्यतीति औपशमिकोऽत्र गुणः, काश्चित्प्रकृतीः क्षपयति काश्चित् क्षपयिष्यतीति क्षायिकोऽत्र गुणः, औपशमिकश्च क्षायिकः क्षायोपशमिकश्च । सूक्ष्मः साम्परायः कषायो येषां ते सूक्ष्मसाम्परायास्तैः सहचरितो गुणोऽपि सूक्ष्मसाम्परायः, स द्विविधः उपशमकः क्षपकः; सम्यक्त्वापेक्षया

सम्यक्त्व की अपेक्षा से भी क्षायोपशमिक है। अर्थात् यहाँ क्षायोपशमिक सम्यक्त्व भी पाया जाता है तथा चारित्र तो क्षायोपशमिक है ही अतः यह गुणस्थान क्षायोपशमिक भावरूप है।

७. अप्रमत्तसंयत—पूर्वोक्त लक्षण से रहित प्रमत्तसंयत ही अप्रमत्तसंयत कहलाते हैं। ये पन्द्रह प्रमाद से रहित होते हैं। यह गुणस्थान भी क्षायोपशमिकभावरूप है। यहाँ पर प्रत्याख्यानावरण कर्म के सर्वघाती स्पर्शकों का उदयाभावलक्षण क्षय, उन्हीं का सदवस्थारूप उपशम और संज्वलन कषाय का उदय होने से यह गुणस्थान होता है इसलिए इसमें प्रत्याख्यान - त्याग अर्थात् संयम की उत्पत्ति होती है। यहाँ 'अप्रमत्त' शब्द आदिदीपक है अतः आगे के सभी गुण-स्थानों में अप्रमत्त अवस्था है।

८. अपूर्वकरण—करण अर्थात् परिणाम, जो पूर्व में नहीं प्राप्त हुआ वह अपूर्व है। अपूर्व हैं परिणाम जिसके वह अपूर्वकरण है। उसके दो भेद हैं—उपशमक और क्षपक। ये कर्मों के उपशमन और क्षपण की अपेक्षा रखते हैं। क्षपक के क्षायिक भाव होता है और उपशमक के क्षायिक और औपशमिक दो भाव होते हैं।

दर्शनमोहनीय के क्षय के बिना क्षपक श्रेणी में आरोहण करना बन नहीं सकता इस-लिए क्षपक के क्षायिक भाव ही है। तथा दर्शनमोहनीय के क्षय या उपशम के बिना उपशमश्रेणी में आरोहण करना नहीं हो सकता है अतः उपशमक के दोनों भाव हैं।

९. अनिवृत्तिकरण—समान समय में स्थित हुए जीवों के परिणामों की बिना भेद के वृत्ति -रहना अर्थात् उनमें भेद नहीं रहने से अनिवृत्तिकरण है। अथवा निवृत्ति—व्यावृत्ति नहीं है जिनकी वे अनिवृत्ति हैं उनके साथ हुआ चारित्र परिणाम अनिवृत्तिकरण गुण-स्थान है। उसका नाम बादर-साम्पराय भी है। उसके भी दो भेद हैं—उपशमक और क्षपक। जो कुछ प्रकृतियों को उपशमित कर रहा है और कुछ प्रकृतियों का आगे करेगा ऐसे उपशमश्रेणी-वाले के औपशमिक भाव है। तथा क्षपक कुछ प्रकृतियों का क्षपण करता है और आगे कुछ प्रकृतियों का क्षपण करेगा इसलिए उसके क्षायिक भाव होता है। इन गुणस्थानों में औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक ये तीनों भाव पाये जाते हैं।

१०. सूक्ष्मसाम्पराय—सूक्ष्म हैं साम्पराय अर्थात् कषायें जिनकी वे सूक्ष्मसाम्पराय कह-

क्षपकः क्षपकस्य क्षायिको गुणः, औपशमिकस्य क्षायिको गुण, उपशमकस्य क्षायिक औपशमिकश्च काश्चिच्च प्रकृतीः क्षपयति क्षपयिष्यति क्षपिताश्चैव क्षायिकः, काश्चिदुपशमयति उपशमयिष्यति उपशमिताश्चेति औपशमिकः। मोहशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते, उपशांतो मोहो येषां ते उपशांतमोहास्तैः सहचरितो गुण उपशान्तमोह उपशमिताशेषकषायत्वादौपशमिकः। क्षीणो विनष्टो मोहो येषां ते क्षीणमोहास्तैः सहचरितो गुणः क्षीणमोहः द्रव्यभावद्विविधादुभयात्मकस्य मोहनीयस्य निरन्वयविनाशात्क्षायिकगुणा एते सर्वेऽपि छद्मस्थाः। केवलं केवलज्ञानं विद्यते येषां ते केवलिनः, सह योगेन वर्तन्त इति सयोगाः सयोगाश्च ते केवलिनश्च सयोगकेवलिनस्तैः सहचरितो गुणः सयोगकेवली, क्षपिताशेषघातिकर्मकत्वात् निःशक्तीकृतवेदनीयकर्मकत्वात् नष्टाष्टकर्मावयवकत्वात् क्षायिकगुणः केवलिजिनशब्द उत्तरत्राप्यभिसंबध्यते काकाक्षितारकवत्। न विद्यते योगो मनोवचःकाय-परिस्पंदो द्रव्यभावरूपो येषां तेऽयोगिनस्ते च ते केवलिजिनाश्चायोगिकेवलिजिनास्तैः सहचरितो गुणोऽयोग-केवलिनः क्षीणाशेषघातिकर्मकत्वात् निरस्यमानाघातिकर्मकत्वाच्च क्षायिको गुणः। च शब्दात् सिद्धा

लाते हैं उनसे सहचरित गुणस्थान सूक्ष्मसांपराय है, वह भी दो प्रकार का है, उपशमक और क्षपक। सम्यक्त्व की अपेक्षा से क्षपक होते हैं। क्षपक के क्षायिक गुण है। औपशमिक के भी क्षायिक गुण है तथा उपशमक के क्षायिक और औपशमिक दोनों भाव हैं। जो किन्हीं प्रकृतियों का क्षय कर रहे हैं, किन्हीं का करेंगे और किन्हीं का कर चुके हैं वे क्षायिक भाववाले क्षपक हैं। तथा जो किन्हीं प्रकृतियों का उपशम कर रहे हैं, किन्हीं का आगे करेंगे और किन्हीं का उपशम कर चुके हैं उनके औपशमिक भाव है।

११. उपशान्तमोह—यहाँ उपशान्त के साथ मोह शब्द लगा लेना चाहिए। इससे, उपशान्त हो गया है मोह जिनका वे उपशान्तमोह हैं। उनसे सहचरित गुणस्थान भी उपशान्तमोह कहलाता है। जिन्होंने अखिल कषायों का उपशमन कर दिया है वे औपशमिक भाववाले हैं।

१२. क्षीणमोह—क्षीण अर्थात् विनष्ट हो गया है मोह जिनका वे क्षीणमोह हैं, उनसे सहचरित गुणस्थान भी क्षीणमोह होता है। द्रव्य और भावरूप दोनों प्रकार के मोहनीय कर्म का जड़मूल से विनाश हो जाने से यहाँ पर क्षायिक भाव होते हैं। यहाँ तक के सभी जीव छद्मस्थ कहलाते हैं।

१३. सयोगकेवली—केवलज्ञान जिनके पाया जाए वे केवली हैं और जो योग के साथ रहते हैं वे सयोगकेवली जिन हैं। उनसे सहचरित गुणस्थान सयोगकेवली है। यहाँ सम्पूर्ण घातिया कर्म नष्ट हो चुके हैं, वेदनीय कर्म की फल देने की शक्ति भी समाप्त हो चुकी है तथा आठों कर्मों के अवयवरूप अन्य उत्तरप्रकृतियों का भी विनाश हो चुका है। यहाँ पर भी क्षायिक भाव हैं। काकाक्षितारक न्याय से 'केवलिजिन' शब्द को आगे के गुणस्थान के साथ भी लगा लेना चाहिए।

१४. अयोगकेवली—जिनके मन, वचन और काय के निमित्त से आत्मा के प्रदेशों में परिस्पन्दात्मक द्रव्य-भावरूप योग नहीं है वे अयोगी हैं, केवलज्ञान सहित वे अयोगी अयोग-केवलिजिन कहलाते हैं। उनसे सहचरित गुणस्थान भी अयोगकेवलिजिन कहलाता है। यहाँ पर घातिकर्म का तो नाश हो ही चुका है किन्तु सम्पूर्ण अघाति कर्म भी क्षीण हो रहे हैं। वेदनीय भी निःशामिक है इसलिए यह भी क्षायिक भावरूप है। अर्थात् ये अयोगकेवली बहुत ही अल्प काल में सर्वकर्मों का निर्मूलन करके सिद्ध अवस्था को प्राप्त होनेवाले होते हैं। यहाँ तक चौदह गुण-

निष्ठिता निष्पन्ना निराकृताशेषकर्माणो: बाह्यार्थनिरपेक्षानन्तानुपमसहजाप्रतिपक्षसुखा निःशेषगुणनिधानाः चरमदेहात् किंचिन्न्यूनस्वदेहाः कोशविनिर्गतसायकोपमा लोकशिखरवासिनः ॥११९७-९८॥

चतुर्दश गुणस्थानानि प्रतिपाद्य मार्गणास्थानानि निरूपयन्नाह—

गइ इंदिये च काये जोगे वेदे कसाय णाणे य ।
संजम दंसण लेस्सा भविया सम्मत्त सण्णि आहारे ॥११९९॥

गम्यत इति गतिः गतिकर्मोदयापादितचेष्टा, भवाद्भवांतरसंक्रांतिर्वा गतिः; सा चतुर्विधा नरकगतितिर्यग्गतिमनुष्यगतिदेवगतिभेदेन । स्वार्थनिरतानीन्द्रियाणि, अथवा इन्द्र आत्मा तस्य लिंगमिन्द्रियम् इन्द्रेण [1]दृष्टमिति चेन्द्रियं; तद्द्विविधं द्रव्येन्द्रियं भावेन्द्रियं चेति, निर्वृत्युपकरणे द्रव्येन्द्रियं, लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियं, कर्मणा या निर्वर्त्यते सा निर्वृत्तिः, सापि द्विविधा बाह्याभ्यन्तरभेदेन, तत्र लोकप्रमितविशुद्धात्मप्रदेशानां प्रतिनियतचक्षुरादीन्द्रियस्थानेनावस्थितानामुत्सेधांगुलस्यासंख्येयभागप्रमितानां वृत्तिरभ्यन्तरा निर्वृत्तिरात्म-

---

स्थानों का संक्षिप्त स्वरूप कहा है। अब इन गुणस्थानों से परे जो सिद्ध भगवान् हैं उनका स्वरूप कहते हैं।

गाथा में 'च' शब्द है उससे सिद्धों का ग्रहण होता है। वे सिद्धपरमेष्ठी निष्ठित, निष्पन्न—परिपूर्ण कृतकृत्य अवस्था को प्राप्त हो चुके हैं। उन्होंने अशेष कर्मों का नाश कर दिया है, वे बाह्य पदार्थों की अपेक्षा से रहित अनन्त, अनुपम, सहज, प्रतिपक्ष रहित सुखस्वरूप हैं और सकलगुणों के निधान हैं, चरमशरीर से किंचित् न्यून अपने शरीरप्रमाण हैं, म्यान से निकली हुई तलवार के समान शरीर से निकलकर अशरीरी हो चुके हैं और लोक के शिखर पर विराजमान हो गये हैं।

चौदह गुणस्थानों का प्रतिपादन करके मार्गणास्थानों को कहते हैं—

गाथार्थ— गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्य, सम्यक्त्व, संज्ञी और आहार ये चौदह मार्गणाएँ हैं ॥११९९॥

आचारवृत्ति—गति आदि चौदह मार्गणाओं का वर्णन करते हैं—

१. गति 'गम्यते इति गतिः' गमन किये जाने का नाम गति है। गति नाम कर्म के उदय से प्राप्त हुई चेष्टा अथवा भव से भवान्तर में संक्रमण होना गति है। उसके चार भेद हैं—नरकगति, तिर्यंचगति, मनुष्यगति और देवगति।

२. इन्द्रिय—जो अपने-अपने विषय में तत्पर हैं वे इन्द्रियाँ हैं। अथवा इन्द्र नाम आत्मा का है उसके लिंग—चिह्न को इन्द्रिय कहते हैं। या इन्द्र (नामकर्म) के द्वारा बनायी गयी होने से इन्द्रिय संज्ञा है। इन्द्रिय के दो भेद हैं—द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय। द्रव्येन्द्रिय के निर्वृत्ति और उपकरण ये दो भेद हैं। तथा भावेन्द्रिय के लब्धि और उपयोग ये दो भेद हैं। कर्म के द्वारा जो बनायी जाती है उसका नाम निर्वृत्ति है। वह भी बाह्य-अभ्यन्तर के भेद से दो प्रकार की है। लोकप्रमाण विशुद्ध आत्मा के प्रदेशों में से उत्सेधांगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण आत्मप्रदेशों का प्रतिनियत चक्षु आदि इन्द्रिय के आकार का हो जाना अभ्यन्तर निर्वृत्ति है। और उनआत्मप्रदेशों

---

१. क जुष्ट।

प्रदेशेष्विन्द्रियव्यपदेशभाक् यः प्रतिनियतचक्षुराद्याकारसंस्थानो नाम कर्मोदयापादितावस्थाविशेषः पुद्गलप्रचयः सा बाह्या निर्वृत्तिः; उपक्रियतेऽनेनेत्युपकरणं, येन निर्वृत्तेरुपकारः क्रियते तदुपकरणं, तदपि द्विविधं, बाह्याभ्यन्तर-भेदात्, तत्र अभ्यन्तरं कृष्णशुक्लमण्डलादिकं, बाह्यं अक्षिपक्ष्मपत्रद्वयादिः; इन्द्रियनिर्वृत्तिहेतुः क्षयोपशम-विशेषो लब्धिर्यत्संनिधानादात्मा द्रव्येन्द्रियं प्रति व्याप्रियते, तन्निमित्तं प्रतीत्योत्पद्यमान आत्मनः परिणाम उपयोगः कार्ये कारणोपचारात्; तदिन्द्रियं पंचविधं [1]स्पर्शनादिभेदेन तानि विद्यन्ते येषां ते एकेन्द्रियादयः। आत्मप्रवृत्त्युपचितपुद्गलपिंडः कायः, पृथिवीकायादिनामकर्मजनितपरिणामो वा सः, पृथिवीकायादिभेदेन षड्विधः। आत्मप्रवृत्तिसंकोचविकोचो योगः, मनोवाक्कायावष्टंभबलेन जीवप्रदेशपरिस्पन्दो वा योगः, सः पंच-दशभेदो मनोवचनकायचतुश्चतुःसप्तभेदेन। आत्मप्रवृत्तिमैथुनसंमोहोत्पादो वेदः स्त्रीनपुंसकभेदेन[2] त्रिविधः। [3]क्रोधादिपरिणामवशेन कषंतीति कषायाः, क्रोधमानमायालोभभेदेन चतुःप्रकाराः। भूतार्थप्रकाशकं ज्ञानम्

में इन्द्रिय नाम को प्राप्त, प्रतिनियत चक्षु आदि आकार रूप तथा नाम कर्म के उदय से प्राप्त हुई अवस्था विशेष से युक्त जो पुद्गल प्रकट होते हैं वह बाह्य निर्वृत्ति है। जिसके द्वारा निर्वृत्ति का उपकार किया जाता है वह उपकरण है, उसके भी दो भेद है—बाह्य और आभ्यन्तर। नेत्र के कृष्ण-शुक्ल मण्डल आदि आभ्यन्तर उपकरण हैं और पलक आदि बाह्य उपकरण हैं।

इन्द्रियों की रचना के लिए आत्मा में जो क्षयोपशम विशेष होता है उसे लब्धि कहते हैं। उसके सन्निधान से ही आत्मा द्रव्येन्द्रिय की रचना के प्रति व्यापार करता है। क्षयोपशम के निमित्त की अपेक्षा करके उत्पन्न होनेवाला आत्मा का परिणाम उपयोग कहलाता है। यहाँ कार्य में कारण का उपचार करके ऐसा कहा है। ये इन्द्रियाँ स्पर्शन आदि के भेद से पाँच प्रकार की हैं। ये जिनके पायी जावें वे एकेन्द्रिय आदि जीव है। इन्द्रिय मार्गणा के द्वारा इन जीवों का ही वर्णन किया जाता है।

३. काय—आत्मा की प्रवृत्ति से संचित हुए पुद्गल पिण्ड का नाम काय है। अथवा पृथिवीकाय आदि नाम कर्म के उदय से उत्पन्न हुए परिणाम को काय कहते हैं। उसके पृथिवी-काय आदि के भेद से छह प्रकार होते हैं।

४. योग—आत्मा की प्रवृत्ति से जो संकोच-विकोच विस्तार होता है वह योग है। अथवा मन, वचन, काय के अवलम्बन से जो जीव के प्रदेशों का परिस्पन्दन होता है वह योग है। उसके पन्द्रह भेद हैं—मनोयोग के चार, वचनयोग के चार और काययोग के सात, ऐसे पन्द्रह भेद होते हैं।

५. वेद—आत्मा की प्रवृत्ति—चैतन्य पर्याय में मैथुन के संमोह को उत्पन्न करनेवाला वेद है। उसके तीन भेद हैं—स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद।

६. कषाय—जो क्रोध आदि परिणामों के वश से आत्मा को कसती हैं वे कषायें हैं। उनके क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार भेद होते हैं।

७. ज्ञान—वस्तु के यथार्थस्वरूप को प्रकाशित करनेवाला ज्ञान है। अथवा जो स्व

---

१. क चक्षुरादिभेदेन २. क नपुंसकत्वेन भेदेन ३. क सुखदुःखसबहुलस्य कर्मक्षेत्रं कृषतीति कषायः क्रोधमानमाया लोभभेदेन चतुःप्रकारः।

आत्मार्थोपलंभकं वा तत्पंचविधं मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलभेदेनायथार्थोपलंभकमज्ञानं तत् त्रिविधं मत्यज्ञानं श्रुताज्ञानं विभंगज्ञानभेदेन । व्रतसमितिकषायदण्डेन्द्रियाणां रक्षणपालननिग्रहत्यागजयः संयमः, सः सप्तविधः सामायिकच्छेदोपस्थापनापरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसांपराययथाख्यातभेदेन असंयमः संयमासंयमश्च । प्रकाशवृत्तिर्दर्शनं, तच्चक्षुरचक्षुरवधिकेवलदर्शनभेदेन चतुर्विधम् । आत्मप्रवृत्तिसंश्लेषकरी लेश्या, कषायानुरंजिता योगप्रवृत्तिर्वा, सा च षड्विधा कृष्णनीलकापोततेजःपद्मशुक्ललेश्याभेदेन । निर्वाणपुरस्कृतो भव्यः सम्यग्दर्शनादिग्रहणयोग्यस्तद्विपरीतोऽभव्योऽनाद्यनिधनकर्मबन्धः । तत्त्वरुचिः सम्यक्त्वं प्रशमसंवेगानुकंपास्तिक्याभिव्यक्तिलक्षणं वा तत्क्षायिकक्षायोपशमिकौपशमिकभेदेन त्रिविधं, मिथ्यात्वसासादनसम्यङ्मिथ्यात्वभेदेन च तद्विपरीतं त्रिविधं । शिक्षाक्रियोपदेशालापग्राहिकः संज्ञी तद्विपरीतोऽसंज्ञी । शरीरप्रायोग्यपुद्गलपिंडग्रहणमाहारः स विद्यते यस्य स आहारी तद्विपरीतोऽनाहारी । अत्र सर्वोऽपि विभक्तिनिर्देशः प्रथमाविभक्त्यर्थे द्रष्टव्योऽथवा प्राकृतबलादेकारादयश्चशब्दः सर्वविशेषसंग्रहार्थः समुच्चयार्थो वा ॥११९९॥

और पर पदार्थ को उपलब्ध करनेवाला है वह ज्ञान है । उसके पाँच भेद हैं—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान । वस्तु के विपरीत स्वरूप को बतानेवाला अज्ञान है । वह मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान और विभंगज्ञान की अपेक्षा तीन भेदरूप है ।

८. संयम—व्रतों का रक्षण, समिति का पालन, कषायों का निग्रह, दण्ड—मन-वचन काय की अशुभ प्रवृत्ति का त्याग और इन्द्रियों का जय करना यह संयम है । इसके सात भेद हैं—सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय और यथाख्यात ये पाँच तो संयम हैं तथा असंयम और संयमासंयम ये सब मिलकर सात होते हैं ।

९. दर्शन— प्रकाशवृत्ति का नाम दर्शन है अर्थात् सामान्य विशेषात्मक चित्-स्वरूप आत्मा को प्रकाशित करनेवाला दर्शन है । उसके चार भेद हैं—चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधि-दर्शन और केवलदर्शन ।

१०. लेश्या—आत्मा की प्रवृत्ति में संश्लेष या बन्ध को कराने वाली लेश्या है । अथवा कषाय के उदय से अनुरंजित योगप्रवृत्ति का नाम लेश्या है । उसके छह भेद हैं—कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म और शुक्ल ।

११. भव्य—निर्वाण को प्राप्त करानेवाले सम्यग्दर्शन आदि को जो ग्रहण करने के योग्य हैं वे भव्य हैं । उससे विपरीत जीव अभव्य हैं जिनका कर्मबन्ध अनादि-अनन्त है ।

१२. सम्यक्त्व—तत्त्वरुचि सम्यक्त्व है । अथवा प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य से अभिव्यक्ति लक्षणवाला सम्यक्त्व है । उसके क्षायिक, क्षायोपशमिक और औपशमिक ये तीन भेद हैं । तथा इसके विपरीत मिथ्यात्व, सासादन और सम्यग्मिथ्यात्व ये तीन भेद हैं ।

१३. संज्ञी—शिक्षा, क्रिया, उपदेश और आलाप आदि को जो ग्रहण कर लेते हैं वे संज्ञी हैं । उनसे विपरीत जीव असंज्ञी हैं ।

१४. आहार—शरीर के योग्य पुद्गल पिण्ड का ग्रहण करना आहार है । यह आहार जिनके है वे आहारी—आहारक कहलाते हैं और उनसे विपरीत अनाहारी—अनाहारक होते हैं ।

यहाँ पर गाथा में जो भी विभक्ति का निर्देश है वह प्रथमा विभक्ति के अर्थ में लेना चाहिए । अथवा प्राकृत व्याकरण के अनुसार एकार आदि तथा 'च' शब्द सर्वविशेष के संग्रह करने के लिए या समुच्चय के लिए है ।

एवं चतुर्दश मार्गणास्थानानि प्रतिपाद्य तत्र जीवगुणस्थानानि निरूपयन्नाह —

जीवाणं खलु ठाणाणि जाणि गुणसण्णिदाणि ठाणाणि ।
एदे मग्गणठाणेसु चेव परिमग्गदव्वाणि ॥१२००॥

जीवानां यानि स्थानानि गुणसंज्ञकानि च यानि स्थानानि तान्येतानि मार्गणास्थानेषु मार्गेषु स्फुटं मार्गे कथयितव्यानि यथासम्भवं द्रष्टव्यानीत्यर्थः ॥१२००॥

तदेव दर्शयन्नाह—

तिरियगदीए चोद्दस हवंति सेसासु जाण दो दो दु ।
मग्गणठाणस्सेदं णेयाणि समासठाणाणि ॥१२०१॥

इस तरह चौदह मार्गणास्थानों का प्रतिपादन करके उनमें जीवसमास और गुणस्थानों को निरूपित करते हुए कहते हैं—

गाथार्थ—जीवों के जो स्थान हैं और जो गुण नामक स्थान—गुणस्थान हैं उनको मार्गणास्थानों में लगाना चाहिए ॥१२००॥

आचारवृत्ति—जीवस्थान—अर्थात् जीवसमासों को और गुणस्थानों को मार्गणाओं में जो जहाँ सम्भव हैं उन्हें वहाँ घटित करना चाहिए।

उसी को दिखाते हैं—

गाथार्थ—तिर्यंचगति में चौदह जीवसमास होते हैं। शेष गतियों में दो-दो हैं ऐसा जानो। मार्गणास्थानों में इन समासस्थानों को जानना चाहिए ॥१२०१॥*

---

* फलटन से प्रकाशित मूलाचार मे इस गाथा के उत्तरार्द्ध में अन्तर है, तथा सभी मार्गणाओं में जीवसमासों को बताने के लिए पृथक् ११ गाथाएँ और हैं—

तिरियगदीए चोद्दस हवंति सेसासु जाण दो दो दु ।
एइंदिएसु चउरो दो दो विगलिंदिएसु हवे ॥

अर्थ—तिर्यंच गति में चौदह जीवसमास होते हैं, शेष—तीनों गतियों में दो-दो होते हैं ऐसा जानो। एकेन्द्रियों में चार जीवसमास होते हैं एवं विकलेन्द्रियों में भी प्रत्येक के दो-दो जीवसमास होते हैं।

पंचिंदिएसु चत्तारि होंति काये तहा पुढवि आदीसु ।
दस तसकाये भणिदा मणजोगे जाण एक्केक्कं ॥

अर्थ—पंचेन्द्रिय में चार जीवसमास हैं। तथा कायमार्गणा में पृथिवी आदि, पाँच स्थावर काय मे चार जीवसमास हैं एवं त्रसकाय में दस जीवसमास होते हैं। योग मार्गणा में मनोयोग में प्रत्येक में एक-एक जीवसमास है।

तिण्हं वचिजोगाणं एक्केक्कं सच्चमोस वज्जित्ता ।
तस्स य पंचय भणिदा पज्जत्ता जिणवरिंदेहिं ॥

अर्थ—असत्य—मृषा को छोड़कर तीन वचन योग में प्रत्येक में एक-एक जीवसमास है तथा असत्य-मृषा नाम अनुभय वचनयोग मे पाँच पर्याप्तक जीवसमास होते हैं ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है।

तिरश्चां गतिस्तिर्यग्गतिस्तस्यां तिर्यग्गतौ जीवसमासस्थानानि चतुर्दशैवापि भवन्ति सर्वेकाले-केन्द्रियबादरसूक्ष्मपर्याप्तापर्याप्तद्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियपर्याप्तापर्याप्तपंचेन्द्रियसंज्ञिपर्याप्तानां संभवात् ।

आचारवृत्ति—तिर्यंचगति में चौदह ही जीवसमास होते हैं। अर्थात् एकेन्द्रिय के बादर-सूक्ष्म और उनके पर्याप्त-अपर्याप्त, दो-इन्द्रिय, तीन-इन्द्रिय, चार-इन्द्रिय के पर्याप्त-अपर्याप्त, पंचेन्द्रिय सैनी-असैनी पर्याप्त-अपर्याप्त के चौदह ही जीवसमासस्थान संभव हैं। शेष—नरकगति, मनुष्यगति और देवगति में संज्ञी पर्याप्त और अपर्याप्त ऐसे दो-दो जीवसमास

ओरालियस्स सत्त य पज्जत्ता इयर अट्ठ मिस्सस्स ।
वेउव्विय मिस्सस्स य पत्तेयं जाण एक्केक्कं ॥

अर्थ—औदारिक काय योग में सात पर्याप्तक जीवसमास हैं, औदारिक मिश्र में सातों अपर्याप्त और एक संज्ञी पर्याप्त ये आठ हैं, वैक्रियिक में और वैक्रियिकमिश्र में एक-एक जीवसमास हैं।

आहारदुगस्सेगं कम्मइए अट्ठ अपरिपुण्णा दु ।
थीपुरिसेसु य चउरो णवुंसगे चोद्दसा भणिया ॥

अर्थ—आहारक और आहारकमिश्र में एक जीवसमास है, कार्मण काययोग में सात अपर्याप्त और एक पर्याप्त ये आठ जीवसमास हैं। स्त्रीवेद और पुरुषवेद में चार-चार तथा नपुंसक वेद में चौदह ही जीवसमास हैं।

चोद्दस कसायमग्गे मदिसुदअवधिम्हि णाण दो दो दु ।
मणपज्जयम्हि एक्कं एक्कदुगे केवले णाणे ॥

अर्थ—कषायमार्गणा में चौदह जीवसमास होते हैं जबकि मति, श्रुत, अवधि में दो-दो, मनःपर्ययज्ञान में एक और केवलज्ञान में एक संज्ञी पर्याप्त है तथा समुद्घात में एक संज्ञी अपर्याप्त है।

मदिअण्णाणे चोद्दस सुदम्हि तह एक्क ओहिविवरीदो ।
सामाइयादि एक्कं असंजमे चोद्दसा होंति ॥

अर्थ—मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान में चौदह जीवसमास, कुअवधि में एक, सामायिक आदि पाँचों संयमों में एक, संयमासंयम में एक और असंयम में चौदह जीवसमास हैं।

चक्खुम्हि दंसणम्हि य तिय छा वा चोद्दसा अचक्खुम्हि ।
ओधिम्हि दोण्णि भणिया एक्कं वा दोण्णि केवलगे ॥

अर्थ—चक्षुर्दर्शन में तीन अथवा छह जीवसमास हैं अर्थात् अपर्याप्त की अपेक्षा से भी तीन होने से छह हैं, यद्यपि अपर्याप्त अवस्था में चक्षुदर्शन लब्धिरूप है, उपयोगरूप नहीं है। अचक्षुर्दर्शन में चौदह हैं, अवधिदर्शन में एक है और केवलदर्शन में एक अथवा दो हैं।

किण्हादीणं चोद्दस तेउस्स या दोण्णि होंति विण्णेया ।
पउमसुक्केसु दो दो चोद्दस भव्वे अभव्वे या ॥

अर्थ—कृष्ण, नील, कापोत में चौदह-चौदह, पीत में दो पद्म और शुक्ल में दो-दो तथा भव्य-अभव्य में चौदह जीवसमास हैं।

-जीवकांडे पुनर्वेदकमनुष्यदेवगतिषु द्वौ द्वौ संज्ञिपर्याप्तापर्याप्तौ जीवसमासौ भवतः न खलु तृतीयं सम्भवति, एवं सर्वेषु मार्गणास्थानेषु इन्द्रियादिषु एतानि जीवसमासस्थानानि परमागमानुसारेणान्वेष्टव्यानि [illegible]।

तद्यथा—एकेन्द्रियेषु बादरसूक्ष्मपर्याप्तापर्याप्ताश्चत्वारो जीवसमासाः, द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियेषु पर्याप्ता-पर्याप्तौ द्वौ स्वकीयौ जीवसमासौ, पंचेन्द्रियेषु संज्ञ्यसंज्ञिपर्याप्तापर्याप्ताश्चत्वारो जीवसमासाः, पृथिवीकायिका-प्कायिकतेजःकायिकवायुकायिकवनस्पतिकायिकेषु एकैकशो बादरसूक्ष्मपर्याप्तापर्याप्ताश्चत्वारः त्रसकायिकेषु द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियसंज्ञ्यसंज्ञिनः प्रत्येकं पर्याप्तापर्याप्ता दश जीवसमासाश्चतुर्षु मनोयोगेषु सत्यमनो-

---

हैं, इनमें तीसरा सम्भव नहीं है। इसी प्रकार सभी इन्द्रिय आदि मार्गणास्थानों में ये जीव-समासस्थान परमागम के अनुसार लगा लेना चाहिए अर्थात् सभी मार्गणाओं में जीवसमास का अन्वेषण करना चाहिए।

उसे ही कहते हैं—

एकेन्द्रिय में बादर-सूक्ष्म और इनके पर्याप्त-अपर्याप्त ऐसे चार जीवसमास हैं। श्री द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय के पर्याप्त-अपर्याप्त ये दो-दो जीवसमास हैं तथा पंचेन्द्रिय के सैनी-असैनी एवं उनके पर्याप्त-अपर्याप्त ऐसे चार जीवसमास हैं।

पृथिवीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक में एक-एक के बादर-सूक्ष्म और पर्याप्त-अपर्याप्त ये चार-चार जीवसमास हैं। त्रसकायिक में द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, संज्ञी और असंज्ञी प्रत्येक के पर्याप्त और अपर्याप्त ये दो-दो जीव-समास होने से सब मिलाकर दस जीवसमास हो जाते हैं।

उवसमवेदगखइये सम्मत्ते जाण होंति दो दो दु।
सम्मामिच्छत्तम्मि य सण्णी खलु होइ पज्जत्तो ॥

अर्थ—उपशम, वेदक, क्षायिक सम्यक्त्व में दो-दो तथा सम्यग्मिथ्यात्व में एक संज्ञी पर्याप्त जीव-समास है।

पज्जत्तापज्जत्ता सासणसम्मम्हि सत्त णायव्वा।
मिच्छत्ते चोद्दसया दो बारस सण्णि इदरम्हि ॥

अर्थ—सासादन में सूक्ष्म अपर्याप्त को छोड़कर छह अपर्याप्त और एक सैनी पर्याप्त, ऐसे सात जीव-समास हैं। मिथ्यात्व में चौदह, संज्ञी में दो और असंज्ञी में बारह जीवसमास होते हैं।

सुहुमदुगं वज्जित्ता से से पज्जत्तया य छच्चेव।
सण्णीवो पज्जत्तं पि एव सत्तेव सासणे णेया ॥

अर्थ—सासादन गुणस्थान में सूक्ष्मद्विक—पर्याप्त-अपर्याप्त को छोड़कर शेष छह अपर्याप्त, और संज्ञी पर्याप्तक, ये सात जानना।

आहारम्हि य चोद्दस इदरम्हि या अट्ठ अपरिपुण्णा दु।
जीवसमासा एवं गइयादीमग्गणे भणिया ॥

अर्थ—आहारमार्गणा में चौदह, अनाहारक में आठ अर्थात् सात अपर्याप्त और एक संज्ञी पर्याप्त ऐसे आठ जीवसमास होते हैं।

सत्यमृषामनोयोगासत्यमृषामनोयोगेषु, अनुभयमनोयोगेषु संज्ञिपर्याप्तक एको जीवसमासः, त्रिषु वचोयोगेषु सत्यमृषोभयवचोयोगेषु संज्ञिपर्याप्त एकः, अनुभयवाग्योगे द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियसंज्ञ्यसंज्ञिनः पर्याप्ताः पञ्च, औदारिककाययोगे बादरसूक्ष्मविकलेन्द्रियसंज्ञ्यसंज्ञिनः पर्याप्ताः सप्त, औदारिकमिश्रकाययोगे त एव किन्त्वपर्याप्ताः संज्ञिपर्याप्तश्चाष्टौ। वैक्रियिककाययोगे संज्ञी पर्याप्त एकः, वैक्रियिकमिश्रकाययोगे निर्वृत्यपर्याप्तापेक्षया संज्ञ्यपर्याप्तः लब्ध्यपर्याप्तापेक्षया लब्ध्यपर्याप्तः। आहाराहारमिश्रयोरेक एव संज्ञी पर्याप्तः। कार्मणकाययोगे सप्तापर्याप्ताः अष्टमः संज्ञी पर्याप्तलोकपूरणस्थः। स्त्रीवेदे पुंवेदे च संज्ञ्यसंज्ञ्यपर्याप्तपर्याप्ताश्चत्वारः। नपुंसकवेदे च चतुर्दशापि। क्रोधमानमायालोभेषु चतुर्दशापि मत्यज्ञानश्रुताज्ञानयोश्चतुर्दशापि, मतिश्रुतावधिज्ञानेषु द्वौ संज्ञिपर्याप्तापर्याप्तौ निर्वृत्यपर्याप्तापेक्षया, केवलमनःपर्ययविभंगज्ञानेषु संज्ञी पर्याप्त एकः। सामायिकच्छेदोपस्थापनपरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसांपराययथाख्यातसंयमेषु संयमासंयमे च संज्ञी पर्याप्त एक एव, असंयमे च चतुर्दशापि। चक्षुर्दर्शने चतुरिन्द्रियसंज्ञ्यसंज्ञिपर्याप्ता पर्याप्ताः षट्, अपर्याप्तकालेऽपि

सत्यमनोयोग, असत्यमनोयोग, उभयमनोयोग और अनुभयमनोयोग इन चारों में एक संज्ञी-पर्याप्त जीवसमास है। सत्य, असत्य और उभय इन तीनों वचनयोगों में एक संज्ञीपर्याप्त जीव-समास है। अनुभयवचनयोग में द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय सैनी और असैनी ये पाँचों पर्याप्तक-रूप पांच जीवसमास होते हैं। औदारिककाययोग में बादर-सूक्ष्म एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय और सैनी-असैनी के पर्याप्तक सम्बन्धी सात जीवसमास होते हैं। किन्तु औदारिकमिश्रकाययोग में ये सात अपर्याप्त रहते हैं तथा एक संज्ञी पर्याप्तक[1] ऐसे आठ जीवसमास होते हैं। वैक्रियिककाययोग में संज्ञीपर्याप्त एक है तथा वैक्रियिकमिश्रकाययोग में निर्वृत्यपर्याप्तक की अपेक्षा संज्ञीअपर्याप्त एक जीवसमास, एवं लब्ध्यपर्याप्त की अपेक्षा लब्ध्यपर्याप्त[2] एक जीवसमास होता है। आहार और आहारमिश्रयोग में एक संज्ञीपर्याप्तक जीवसमास होता है। कार्मणकाययोग में सात अपर्याप्तक एवं एक संज्ञीपर्याप्तक ऐसे आठ जीवसमास होते हैं। कार्मणकाययोग में यह संज्ञी-पर्याप्त जीवसमास केवली के लोकपूरणसमुद्घात की अवस्था में होता है।

स्त्रीवेद में संज्ञी पर्याप्त-अपर्याप्त और पुरुषवेद में असंज्ञी पर्याप्त-अपर्याप्त ये चार जीवसमास हैं। नपुंसकवेद में चौदहों जीवसमास होते हैं।

क्रोध, मान, माया और लोभ इन चारों कषायों में चौदह जीवसमास भी संभव हैं।

मति, श्रुत और अवधिज्ञान में संज्ञीपर्याप्तक और अपर्याप्तक ये दो-दो जीवसमास हैं। यहाँ अपर्याप्त जीवसमास निर्वृत्यपर्याप्त की अपेक्षा से है। केवलज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और विभंग-ज्ञान में एक संज्ञीपर्याप्तक जीवसमास है।

सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय, यथाख्यातसंयम तथा संयमासंयम में संज्ञीपर्याप्तक एक ही जीवसमास है। असंयम में चौदहों जीवसमास हैं।

चक्षुर्दर्शन में चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय के सैनी-असैनी तथा इनके पर्याप्त-अपर्याप्त ऐसे छह जीवसमास हैं। अपर्याप्तकाल में भी चक्षुर्दर्शन माना गया है, क्योंकि वहाँ भी क्षयोपशम

---

१. औदारिक मिश्र में संज्ञी पर्याप्तक का भेद समुद्घातगतकेवली की अपेक्षा से है। कुमतिज्ञान, कुश्रुतज्ञान में भी चौदह जीवसमास होते हैं।

२. यह बादर वायु-कायिक और बादर अग्निकायिक की अपेक्षा है।

चक्षुर्दर्शनं क्षयोपशमस्य सद्भावादुपयोगः पुनर्नास्त्येव अचक्षुर्दर्शने चतुर्दशाप्यवधिदर्शने द्वौ संज्ञिपर्याप्तापर्याप्तौ, केवलदर्शने त्र संज्ञिपर्याप्त एक एव, कृष्णनीलकापोतलेश्यासु चतुर्दशापि, तेजःपद्मशुक्ललेश्यासु द्वौ संज्ञिपर्याप्ता-पर्याप्तौ, अभव्यभव्यसिद्धेषु चतुर्दशापि, क्षायोपशमिकक्षायिकसासादनसम्यक्त्वकेषु उपशमश्रेण्यपेक्षया औप-शमिकसम्यक्त्वे च द्वौ संज्ञिपर्याप्तपर्याप्ता सम्यङ्मिथ्यात्वे प्रथमसम्यक्त्वे च पर्याप्तः संज्ञी एक एव, मिथ्यात्वे चतुर्दशापि, संज्ञिषु संज्ञिपर्याप्तापर्याप्तौ द्वौ,[1] आहारिषु चतुर्दशापि अनाहारिषु सप्तापर्याप्ताः अष्टमः संज्ञी -पर्याप्तः केवली। सर्वत्र जीवसमासा इति संबन्धः ॥१२०१॥

इति मार्गणास्थानेषु जीवसमासान् प्रतिपाद्य गुणस्थानानि प्रतिपादयन्नाह—

सुरणारयेसु चत्तारि होंति तिरियेसु जाण पंचेव।
मणुसगदीएवि तहा चोद्दसगुणणामधेयाणि ॥१२०२॥

सुरेषु नारकेषु च मिथ्यादृष्ट्याद्यसंयतपर्यन्तानि चत्वारि गुणस्थानानि भवन्ति, तिर्यक्षु तान्येव अधिकानि[2] संयतासंयतश्च पंच भवन्ति, मनुष्यगतौ पुनः चतुर्दशापि मिथ्यादृष्ट्याद्ययोगपर्यन्तानि गुणस्थानानि

का सद्भाव है। उस अवस्था में उपयोग तो है ही नहीं। अचक्षुर्दर्शन में चौदहों संभव हैं। अवधि-दर्शन में संज्ञीपर्याप्त और अपर्याप्त ये दो हैं और केवलदर्शन में संज्ञी पर्याप्तक ही है।

कृष्ण, नील और कापोत इन तीनों लेश्याओं में चौदहों और पीत, पद्म और शुक्ल लेश्याओं में संज्ञी पर्याप्त और अपर्याप्त ये दो हैं।

भव्यसिद्ध जीवों में तथा अभव्यों में भी चौदहों संभव हैं।

क्षायोपशमिक-सम्यक्त्व, क्षायिक-सम्यक्त्व और सासादन-सम्यक्त्व इनमें तथा उपशम श्रेणी की अपेक्षा से औपशमिक सम्यक्त्व में संज्ञीपर्याप्तक और अपर्याप्तक ये दो-दो जीवसमास हैं। सम्यग्मिथ्यात्व और प्रथमसम्यक्त्व (प्रथमोपशमसम्यक्त्व) में एक संज्ञीपर्याप्तक जीव-समास है। मिथ्यात्व में चौदहों जीवसमास हैं। असंज्ञी तथा संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों में संज्ञी-पर्याप्त और अपर्याप्त ये दो हैं।

आहारी जीवों में चौदहों जीवसमास हैं। अनाहारी जीवों में सात अपर्याप्तक तथा संज्ञीपर्याप्तक ये आठ हैं। यहाँ यह संज्ञीपर्याप्तक जीवसमास केवली के कार्मणकाययोग की अपेक्षा से है।

इस तरह सर्वत्र जीवसमासों का कथन है।

मार्गणा-स्थानों में जीवसमासों का प्रतिपादन कर अब गुणस्थानों को कहते हैं—

गाथार्थ—देव और नारकियों में चार गुणस्थान होते हैं। तिर्यंचों में पाँच गुणस्थान ही होते हैं। मनुष्यों में चौदह गुणस्थान होते हैं ॥१२०२॥

आचारवृत्ति—देव और नारकियों में मिथ्यादृष्टि से लेकर असंयत पर्यन्त चार गुण-स्थान होते हैं। तिर्यंचों में ये चार और संयतासंयत इस प्रकार पाँच होते हैं। मनुष्यों में मिथ्या-दृष्टि से लेकर अयोग पर्यन्त चौदह गुणस्थान होते हैं। इसी प्रकार से सभी मार्गणाओं में घटित

---

१. असंज्ञिषु शेषा द्वादशजीवसमासाः। २. क संयतासंयताधिकानि।

कर्तव्यमिति, इत्येवं सर्वासु मार्गणासु योज्यम्। तद्यथा—एकेन्द्रियद्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियासंज्ञिपंचेन्द्रियेषु सर्वेषु मिथ्यादृष्टिगुणस्थानमेकमेव, संज्ञिषु चतुर्दशापि गुणस्थानानीति सर्वत्र सम्बन्धः। पृथिवीकायाप्कायतेजःकाय-वायुकायवनस्पतिकायेषु मिथ्यादृष्टिसंज्ञकमेकं, द्वीन्द्रियाद्यसंज्ञिपर्यन्तत्रसेष्वेकमेव मिथ्यादृष्टिगुणस्थानं, संज्ञिषु त्रसेषु चतुर्दशानि, सत्यमनोयोगासत्यमृषामनोयोगसत्यवाग्योगासत्यमृषावाग्योगेषु मिथ्यादृष्ट्यादिसयोग-पर्यन्तानि, मृषामनोयोगसत्यमृषामनोयोगमृषावाग्योगसत्यमृषावाग्योगेषु मिथ्यादृष्ट्यादीनि क्षीणकषायान्तानि, औदारिककाययोगे मिथ्यादृष्ट्यादिसयोगान्तानि, औदारिकमिश्रकार्मणकाययोगे मिथ्यादृष्टिसासादनासंयत-सम्यग्दृष्टिसयोगकेवलिसंज्ञकानि चत्वारि, वैक्रियिककाययोगे मिथ्यादृष्ट्याद्यसंयतान्तानि, वैक्रियिकमिश्रकाययोगे तान्येव सम्यक् मिथ्यादृष्टिरहितानि, आहाराहारमिश्रयोगयोरेकं प्रमत्तगुणस्थानम्। पुंवेदे भावापेक्षया स्त्रीवेदे नपुंसकवेदे च मिथ्यादृष्ट्याद्यनिवृत्तिपर्यन्तानि स्त्रीनपुंसकयोर्द्रव्यापेक्षया मिथ्यादृष्ट्यादिसंयतान्तानि, पुंल्लिंगे सर्वाणि, क्रोधमानमायासु तान्येव लोभकषायेषु सूक्ष्मसाम्परायाधिकानि, मत्यज्ञानश्रुताज्ञानविभंगज्ञानेषु मिथ्या-दृष्टिसासादनसंज्ञके द्वे, मतिश्रुतावधिज्ञानेषु असंयतसम्यग्दृष्ट्यादिक्षीणकषायान्तानि, मनःपर्ययज्ञाने प्रमत्तादि-

---

कर लेना चाहिए। तदनुसार—एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय इन सभी में एक मिथ्यादृष्टि गुणस्थान ही है। संज्ञी पंचेन्द्रियों में चौदहों गुणस्थान होते हैं।

पृथिवीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय और वनस्पतिकाय इन पाँच स्थावर-कायों में मिथ्यादृष्टि नाम का एक ही गुणस्थान है। द्वीन्द्रिय से असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्यन्त त्रसों में भी मिथ्यात्व गुणस्थान ही है। संज्ञी त्रसकाय के चौदहों हैं।

सत्यमनोयोग और असत्यमृषामनोयोग (अनुभय) में, उसी तरह सत्यवचनयोग और असत्यमृषावचनयोग (अनुभय) इन चारों में मिथ्यादृष्टि से लेकर सयोगीपर्यन्त तेरह गुणस्थान होते हैं। असत्यमनोयोग और सत्यमृषामनोयोग (उभय) में तथा असत्यवचनयोग और सत्य-मृषावचनयोग (उभय) में मिथ्यादृष्टि से लेकर क्षीणकषायपर्यन्त बारह गुणस्थान होते हैं। औदारिककाययोग में मिथ्यादृष्टि से लेकर सयोगीपर्यन्त गुणस्थान हैं। औदारिकमिश्र और कार्मणकाययोग में मिथ्यादृष्टि, सासादन, असंयतसम्यग्दृष्टि और सयोगकेवली ये चार गुणस्थान होते हैं। वैक्रियिककाययोग में मिथ्यादृष्टि से असंयतपर्यन्त चार गुणस्थान होते हैं और वैक्रियिकमिश्रकाययोग में सम्यग्मिथ्यादृष्टिरहित ये ही तीन होते हैं। आहार और आहारमिश्रयोग में एक प्रमत्त गुणस्थान ही होता है।

पुंवेद में तथा भाववेद की अपेक्षा स्त्रीवेद और नपुंसकवेद में मिथ्यादृष्टि से लेकर अनिवृत्तिकरणपर्यन्त नौ गुणस्थान होते हैं। द्रव्य की अपेक्षा से स्त्री और नपुंसकवेद में अर्थात् द्रव्यस्त्री और द्रव्यनपुंसकवेद वालों में मिथ्यादृष्टि से लेकर संयतासंयतपर्यन्त पाँच गुणस्थान होते हैं। पुरुषवेद में सभी गुणस्थान होते हैं।

क्रोध, मान और माया इन तीन कषायों में वे ही अर्थात् मिथ्यादृष्टि से लेकर अनिवृत्तिपर्यन्त नौ गुणस्थान होते हैं और लोभकषाय में सूक्ष्मसाम्पराय अधिक अर्थात् दस गुण-स्थान होते हैं।

मति-अज्ञान, श्रुत अज्ञान और विभंगज्ञान में मिथ्यादृष्टि और सासादन ये दो ही गुण-

[illegible]क्षीणकषायान्तानि, केवलज्ञाने सयोग्ययोगिसंज्ञके द्वे अतीतगुणस्थानं च, सामायिकच्छेदोपस्थापनासंयमयोः [illegible] [illegible]वृत्त्यन्तानि चत्वारि, परिहारविशुद्धिसंयमे प्रमत्ताप्रमत्तसंज्ञके द्वे सूक्ष्मसाम्परायसंज्ञके संयमे सूक्ष्मसाम्पराय[illegible] [illegible]मेकं, यथाख्यातसंयमे उपशान्ताद्ययोगान्तानि, संयमासंयमे संयतासंयतमेकं[1], असंयमे मिथ्यादृष्ट्याद्यसंयता[illegible] [illegible]न्तानि, चक्षुर्दर्शनाचक्षुर्दर्शनयोर्मिथ्यादृष्ट्यादिक्षीणकषायान्तानि, अवधिदर्शनेऽसंयतादिक्षीणकषायान्तानि, केवलदर्शने सयोग्ययोगसंज्ञके द्वे अतीतगुणस्थानं च, कृष्णनीलकापोतलेश्यासु मिथ्यादृष्ट्याद्यसंयतान्तानि, तेजःपद्मलेश्ययोर्मिथ्यादृष्ट्याद्यप्रमत्तान्तानि, शुक्ललेश्यायां मिथ्यादृष्ट्यादिसयोगान्तानि, [illegible] [illegible] भव्यसिद्धेषु चतुर्दशापि, अभव्यासिद्धेष्वेकं मिथ्यादृष्टिसंज्ञकं, औपशमिकसम्यक्त्वेऽसंयताद्युपशान्त[illegible] [illegible]न्तानि, वेदकसम्यक्त्वे असंयताद्यप्रमत्तान्तानि, क्षायिकसम्यक्त्वेऽसंयताद्ययोगान्तानि, सासादनसंज्ञके सासादनसंज्ञकमेकं, सम्यङ्मिथ्यात्वे सम्यङ्मिथ्यादृष्टिसंज्ञकं, संज्ञिषु मिथ्यादृष्ट्यादिक्षीणकषायान्तानि,

---

स्थान हैं। मति, श्रुत और अवधिज्ञान में असंयतसम्यग्दृष्टि नामक चतुर्थ गुणस्थान से लेकर क्षीणकषाय पर्यन्त नौ गुणस्थान होते हैं। मनःपर्ययज्ञान में प्रमत्त से लेकर क्षीणकषाय पर्यन्त गुणस्थान होते हैं। केवलज्ञान में सयोगी और अयोगी ये दो गुणस्थान होते हैं। गुणस्थानों से अतीत— सिद्ध अवस्था भी होती है।

सामायिक और छेदोपस्थापना-संयम में प्रमत्त से लेकर अनिवृत्तिकरण पर्यन्त चार गुणस्थान हैं। परिहारविशुद्धिसंयम में प्रमत्त और अप्रमत्त नामक दो हैं। सूक्ष्मसाम्पराय नामक संयम में सूक्ष्मसाम्पराय नाम का एक (दशम) गुणस्थान ही है। यथाख्यातसंयम में उपशान्त से लेकर अयोगीपर्यन्त चार गुणस्थान हैं। संयमासंयम में संयतासंयत नामक एक (पाँचवाँ) गुणस्थान ही है और असंयम में मिथ्यात्व से लेकर असंयत पर्यन्त चार गुणस्थान हैं।

चक्षुर्दर्शन और अचक्षुर्दर्शन में मिथ्यात्व से लेकर क्षीणकषायपर्यन्त बारह हैं। अवधिदर्शन में असंयत से लेकर क्षीणकषायपर्यन्त नौ हैं। केवलदर्शन में सयोगी और अयोगी नामक दो गुणस्थान हैं। गुणस्थान से अतीत— सिद्ध भी हैं।

कृष्ण, नील और कापोत इन तीन लेश्याओं में मिथ्यादृष्टि से असंयतपर्यन्त चार हैं। पीत और पद्म लेश्या में मिथ्यात्व से अप्रमत्तपर्यन्त सात हैं। शुक्ल लेश्या में मिथ्यादृष्टि से लेकर सयोगीपर्यन्त तेरह गुणस्थान हैं। यहाँ जो योगप्रवृत्ति पहले कषाय सहित थी वह अब कषाय न होने पर भी है इससे उपचार से शुक्ल लेश्या मानी गयी है।

भव्य सिद्ध जीवों में चौदहों गुणस्थान हैं और अभव्य असिद्ध में एक मिथ्यादृष्टि गुणस्थान ही है।

औपशमिक सम्यक्त्व में असंयत से लेकर उपशान्तकषाय नामक ग्यारहवें गुणस्थान पर्यन्त आठ हैं। वेदकसम्यक्त्व में असंयत से अप्रमत्तपर्यन्त चार हैं। क्षायिक सम्यक्त्व में असंयत से लेकर अयोगीपर्यन्त ग्यारह गुणस्थान हैं। सासादन में सासादन नाम का एक ही गुणस्थान है। सम्यग्मिथ्यात्व में सम्यग्मिथ्यादृष्टि नामक तीसरा ही गुणस्थान है।

संज्ञी जीवों में मिथ्यादृष्टि से लेकर क्षीणकषायपर्यन्त बारह गुणस्थान हैं, असंज्ञी जीवों में मिथ्यादृष्टि नामक एक ही गुणस्थान है।

---

१. क. [illegible]

एकेन्द्रियाः पंचेन्द्रियाश्च जीवा ऊर्ध्वलोके अधोलोके तिर्यग्लोके च भवन्ति विकलेन्द्रियाः पुनः सकलाः समस्ताः द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रिय असंज्ञिपंचेन्द्रियाश्च तिर्यग्लोक एव नान्यत्र तत्रस्तेषां [illegible]

आचारवृत्ति—एकेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीव ऊर्ध्वलोक में, अधोलोक और तिर्यग्लोक में होते हैं। किन्तु दो-इन्द्रिय तीन-इन्द्रिय, चौ-इन्द्रिय और असैनी पंचेन्द्रिय ये सभी जीव तिर्यग्लोक में ही हैं, अन्यत्र नहीं है। क्योंकि इनका नरकलोक में, देवलोक और सिद्धक्षेत्र में अभाव है।

कम्मइयस्स य चउरो तिण्हं वेदाण होंति णव चेव ।
वेदे व कसायाणं लोभस्स वियाण दस ठाणं ॥

अर्थ—कार्मणकाययोग में मिथ्यात्व, सासादन, असंयत और सयोगकेवली ये चार गुणस्थान होते हैं। तीनों वेदों में भाववेद की अपेक्षा नौ गुणस्थान होते हैं। वेद के समान ही तीनों कषायों में नौ गुणस्थान एवं लोभकषाय में दस गुणस्थान होते हैं।

तिण्ण अण्णाणाणं मिच्छादिट्ठी य सासणो होदि ।
मदिसुदओहीणाणे चउत्थादो जाव खीणंता ॥

अर्थ—तीन कुज्ञान में मिथ्यात्व और सासादन ये दो होते हैं। मति, श्रुत और अवधिज्ञान में चौथे से लेकर क्षीणकषाय पर्यन्त होते हैं।

मणपज्जवम्हि णियमा सत्तेव य संजदा समुद्दिट्ठा ।
केवलणाणे णियमा जोगि अजोगी य दोण्णि भवे ॥

अर्थ—मनःपर्ययज्ञान में प्रमत्त से लेकर क्षीणकषायपर्यन्त सात ही संयत गुणस्थान हैं। केवलज्ञान मे नियम से सयोगी और अयोगी ये दो ही माने हैं।

सामायियछेदणदो जाव णियट्टि त्ति परिहारमप्पमत्तो त्ति ।
सुहुमं सुहुमसराये उवसंतादी जहाखादं ॥

अर्थ—सामायिक-छेदोपस्थापना में छठे से अनिवृत्तिकरणपर्यन्त हैं। परिहारसंयम में प्रमत्त और अप्रमत्त तक दो ही होते हैं। सूक्ष्मसरागसंयम में सूक्ष्मसाम्पराय ही है और उपशान्त से लेकर अयोगीपर्यन्त चार गुणस्थान यथाख्यातसंयम में होते हैं।

विरदाविरदं एक्कं संजमविरदस्स होदि गुणठाणं ।
हेट्ठिमगा चउरो खलु असंजमे होंति णादव्वा ॥

अर्थ—संयमासंयम में विरताविरतनामक एक गुणस्थान है, और असंयम में आदि के चार गुणस्थान होते हैं।

मिच्छादिट्ठिप्पहुदी चक्खु अचक्खुस्स होंति खीणंता ।
ओधिस्स अविरदपहुदि केवल तह दंसणे दोण्णि ॥

अर्थ—चक्षु और अचक्षु-दर्शन में मिथ्यादृष्टि से लेकर क्षीणकषायपर्यन्त, अवधिदर्शन में अविरत से लेकर क्षीणकषाय तक एवं केवलदर्शन में दो गुणस्थान हैं।

मिच्छादिट्ठिप्पहुदी चउरो सत्तेव तेरसंतं ।
तियदुग एक्कस्सेवं किण्हादीहीणलेस्साणं ॥

अर्थ—कृष्ण आदि तीन लेश्याओं में मिथ्यादृष्टि से लेकर चार गुणस्थान पर्यन्त, आगे की दो लेश्याओं में पहले से सातपर्यन्त एवं शुक्ल लेश्या में पहले से लेकर तेरहवें पर्यन्त गुणस्थान हैं।

विशिष्टलोके आश्रयः, यद्यपि पंचेन्द्रिया ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्लोकेषूक्ताः सामान्येन तथापि त्रयाणां लोकानामसंख्यात-भागे तिष्ठन्तीति, केवल्यपेक्षया पुनर्लोकस्य संख्यातभागेऽसंख्यातभागे, सर्वलोके चासंज्ञिपंचेन्द्रियेष्वपि[1] तथैवेति ॥१२०३॥

पुनरप्येकेन्द्रियाणां विशेषमाह—

एइंदियाय जीवा पंचविधा बादरा य सुहुमा य।
देसेहिं बादरा खलु सुहुमेहिं णिरंतरो लोओ ॥१२०४॥

यद्यपि पंचेन्द्रिय जीव ऊर्ध्व, अधः और तिर्यग्लोक में कहे गये हैं तो भी यह सामान्य से कथन है, क्योंकि वे तीनों लोकों के असंख्यातवें भाग में रहते हैं किन्तु केवली समुद्घात की अपेक्षा से वे लोक के संख्यातवें और असंख्यातवें भाग में रहते हैं, सम्पूर्ण लोक भी उनका क्षेत्र है। उसी प्रकार असंज्ञी पंचेन्द्रिय तथा विकलेन्द्रिय लोक के असंख्यातवें भाग में अर्थात् तिर्यग्लोक के संख्यात भाग में रहते हैं, ऐसा भी समझना चाहिए।

पुनः एकेन्द्रियों की विशेषता बतलाते हैं—

गाथार्थ—पाँचों प्रकार के एकेन्द्रिय जीव बादर और सूक्ष्म होते हैं। बादर जीव लोक के एक देश में हैं और सूक्ष्मजीवों से लोक अन्तरालरहित है ॥१२०४॥

भवसिद्धियस्स चोद्दस एक्कं इयरस्स मिच्छगुणठाणं।
उवसमसम्मत्ते सु य अविरदपहुदि य अट्ठेव ॥

अर्थ—भव्यसिद्धिक जीवों में चौदह गुणस्थान हैं। अभव्यसिद्धिक में एक गुणस्थान है। उपशम सम्यक्त्व में अविरत से लेकर उपशान्तकषाय तक आठ गुणस्थान होते हैं।

तह वेदयस्स भणिया चउरो खलु होंति अप्पमत्ताणं।
खाइयसम्मत्तम्हि य एयारस जिणवरुद्दिट्ठा ॥

अर्थ—वेदकसम्यक्त्व में चौथे से लेकर अप्रमत्तपर्यन्त चार होते हैं एवं क्षायिकसम्यक्त्व में चौथे से लेकर अयोगी तक ग्यारह गुणस्थान हैं, ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है।

मिस्से सासणसम्मे मिच्छादिट्ठिम्हि होइ एक्केक्कं।
सण्णिस्स बारस खलु हवदि असण्णीसु मिच्छत्तं ॥

अर्थ—मिश्र, सासादन और मिथ्यादृष्टि में अपने-अपने एक-एक गुणस्थान हैं। संज्ञी के बारह गुणस्थान हैं एवं असंज्ञी में मिथ्यात्व नाम का एक गुणस्थान है।

आहारयस्स य तेरस पंचेव हवंति जाण इयरस्स।
मिच्छासासण अविरद सजोगी अजोगी य बोद्धव्वा ॥

अर्थ—आहारमार्गणा में तेरह गुणस्थान हैं। अनाहार में मिथ्यात्व, सासादन, अविरति, सयोगी और अयोगी ये पाँच गुणस्थान होते हैं।

१. तथा विकलेन्द्रिया लोकस्यासंख्यातभागे तिर्यग्लोकस्य च संख्यातभागे वा संज्ञिपञ्चेन्द्रियवच्च तथैवेति।

एकेन्द्रिया जीवाः पंचप्रकाराः पृथिवीकायादिवनस्पतिपर्यन्तास्ते च प्रत्येकं बादरसूक्ष्मभेदेन भिद्यन्ते एकैकशो बादराः सूक्ष्माश्च, लोकस्यैकदेशे बादरा यतो वातवलये पृथिव्यष्टकं विमानपटलानि चाश्रित्य तिष्ठन्तीति, सूक्ष्मैः पुनर्निरन्तरो लोकः, सूक्ष्माः सर्वस्मिन् लोके तै रहितः कश्चिदपि प्रदेशो नेति ॥१२०४॥

यस्मात्—

अत्थि अणंता जीवा जेहिं ण पत्तो तसाण परिणामो ।
भावकलंकसुपउरा णिगोदवासं अमुंचंता[1] ॥१२०५॥

सन्ति विद्यन्तेऽनन्ता जीवास्ते यैः कदाचिदपि न प्राप्तस्त्रसपरिणामः द्वीन्द्रियादिस्वरूपं, भावकलंकप्रचुरा मिथ्यात्वादिकलुषिताः निगोदवासममुञ्चन्तः सर्वकालम् । सूक्ष्मवनस्पतिस्वरूपेण व्यवस्थिता ये जीवास्तत्प्रभूता अनन्ताः सन्तीति ॥१२०५॥

सर्वलोके तावत्तिष्ठन्ति किन्तु—

आचारवृत्ति—एकेन्द्रिय के पृथिवीकाय से लेकर वनस्पतिपर्यन्त पाँच भेद हैं। इन प्रत्येक के बादर और सूक्ष्म के भेद से दो-दो प्रकार हो जाते हैं। बादर जीव लोक के एकदेश में हैं क्योंकि ये वातवलयों में हैं, आठों पृथिवियों का एवं विमानपटलों का आश्रय लेकर ये रहते हैं तथा सूक्ष्म जीव इस सर्वलोक में पूर्णरूप से भरे हुए हैं, लोक का एक प्रदेश भी उनसे रहित नहीं है।

क्योंकि—

गाथार्थ—ऐसे अनन्त जीव हैं जिन्होंने त्रसों की पर्याय को प्राप्त नहीं किया है। भावकलंक की अधिकता से युक्त होने से वे निगोदवास को नहीं छोड़ते हैं ॥१२०५॥

आचारवृत्ति—ऐसे अनन्तजीव विद्यमान हैं जिन्होंने कभी भी द्वीन्द्रिय आदि रूप त्रसपर्याय नहीं प्राप्त की है। ये मिथ्यात्व आदि भावों से कलुषित हो सर्वकाल निगोदवास नहीं छोड़ते हैं तथा जो सूक्ष्म वनस्पतिकायिकरूप से व्यवस्थित उस प्रकार से अनन्त हैं।

विशेषार्थ—निगोदके दो भेद हैं[2]—नित्यनिगोद और चतुर्गतिनिगोद या इतरनिगोद। जिसने कभी त्रसपर्याय प्राप्त कर ली हो उसे चतुर्गतिनिगोद कहते हैं और जिसने अभी तक कभी भी त्रसपर्याय नहीं पायी हो अथवा जो भविष्य में भी कभी त्रसपर्याय नहीं पायेगा उसे नित्यनिगोद कहते हैं। क्योंकि नित्य शब्द के दोनों ही अर्थ होते हैं—एक अनादि और दूसरा अनादि-अनन्त, इसलिए इन दोनों ही प्रकार के जीवों की संख्या अनन्तानन्त है।

गाथा में आया हुआ 'प्रचुर' शब्द प्रायः अथवा अभीक्ष्ण अर्थ सूचित करता है। अतएव छह मास आठ समय में छह सौ आठ जीवों के उसमें से निकलकर मोक्ष चले जाने पर भी कोई बाधा नहीं आती।

ये सर्वलोक में रहते हैं किन्तु—

---

१. गोम्मटसार में 'ण मुंचंति' ऐसा पाठ है। २. गोम्मटसार, जीवकाण्ड की गाथा १९७ का भावार्थ।

एगणिगोदसरीरे जीवा दव्वप्पमाणदो दिट्ठा ।
सिद्धेहिं अणंतगुणा सव्वेण वितीदकालेण ॥१२०६॥

एकनिगोदशरीरे गुडूच्यादिवनस्पतिसाधारणकाये जीवा अनन्तकायिका द्रव्यप्रमाणतः संख्यया दृष्टाः जिनैः प्रतिपादिताः सिद्धैरनन्तगुणाः सर्वेणातीतकालेन । एकनिगोदशरीरे ये तिष्ठन्ति ते सिद्धैरनन्तगुणा अवगाह्यावगाहनमाहात्म्यादसंख्यातप्रदेशे लोके कथमनन्तास्तिष्ठन्तीति नाशंकनीयमिति, एवं सर्वासु मार्गणासु अस्तित्वपूर्वकं क्षेत्रप्रमाणं द्रष्टव्यं स्पर्शनमप्यत्रापि द्रष्टव्यं यतोऽतीतविषयं स्पर्शनं वर्तमानविषयं क्षेत्रमिति ॥१२०६॥

द्रव्यप्रमाणं निरूपयन्नाह—

एइंदिया अणंता वणप्फदीकायिगा णिगोदेसु ।
पुढवी आऊ तेऊ वाऊ लोया असंखिज्जा ॥१२०७॥

निगोदेषु ये वनस्पतिकायिकैकेन्द्रिया जीवास्तेऽनंतास्तथा पृथिवीकायिका अप्कायिकास्तेजस्कायिका वायुकायिकाः सर्व एते सूक्ष्माः प्रत्येकमसंख्यातलोकप्रमाणा असंख्याता लोकानां यावन्तः प्रदेशास्तावन्मात्रा

गाथार्थ—एकनिगोद शरीर में जीव द्रव्यप्रमाण से सभी अतीत काल के सिद्धों से अनन्तगुणे देखे गये हैं ॥१२०६॥

आचारवृत्ति—गुरुच आदि वनस्पतिकायिक के साधारणकाय में एक निगोदजीव के शरीर में अनन्तकायिक जीव द्रव्यप्रमाणरूप संख्या से सभी अतीतकाल के सिद्धों से भी अनन्तगुणे हैं ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है। अर्थात् भूतकाल में जो अनन्त जीव सिद्ध हो चुके हैं उनसे भी अनन्तगुणे जीव एक निगोदिया जीव के शरीर में रहते हैं अर्थात् एक निगोदिया के शरीर में जो जीव रहते हैं वे सिद्धों से अनन्तगुणे हैं। इसमें अवगाह्य और अवगाहक का ही माहात्म्य है, अर्थात् ये सूक्ष्म जीव स्वयं अवकाशग्रहण में योग्य या समर्थ हैं और दूसरे अनन्त जीवों को भी अवकाश देने में समर्थ हैं। इस माहात्म्य से ही बाधा नहीं आती है।

असंख्यातप्रदेशी लोक में ये अनन्त जीव कैसे रहते हैं—ऐसी आशंका करना ठीक नहीं है, क्योंकि उपर्युक्त अवगाह्य और अवगाहन की सामर्थ्य के माहात्म्य से ही ये अनन्त जीव असंख्यात प्रदेशवाले लोकाकाश में रह जाते हैं।

इसी प्रकार से सभी मार्गणाओं में अस्तित्वपूर्वक क्षेत्रप्रमाण भी समझ लेना चाहिए। इसी तरह स्पर्शन को भी यहाँ जान लेना चाहिए। तात्पर्य यह कि अतीत को विषय करनेवाला स्पर्शन है और वर्तमान को विषय करनेवाला क्षेत्र है।

द्रव्यप्रमाण का निरूपण करते हैं—

गाथार्थ—निगोदों में वनस्पतिकायिक एकेन्द्रिय जीव अनन्त हैं। पृथ्वी, जल, अग्नि और वायुकाय जीव असंख्यात लोकप्रमाण हैं ॥१२०७॥

आचारवृत्ति—निगोदजीवों में जो वनस्पतिकायिक एकेन्द्रिय जीव हैं वे अनन्त हैं, तथा पृथिवीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक और वायुकायिक ये सभी सूक्ष्मजीव प्रत्येक असंख्यात लोकप्रमाण हैं। अर्थात् असंख्यात लोकों के जितने प्रदेश हैं उतने प्रमाण हैं। किन्तु ये

बादराः पुनः प्रतरासंख्यातभागमात्राः, विशेषः परमागमतो द्रष्टव्य इति ॥१२०७॥

त्रसकायिकानां संख्यामाह—

तसकाइया असंखा सेढीओ पदरछेदणिप्पण्णा।
सेसासु मग्गणासु वि णेदव्वा जीवसमासेज्ज ॥१२०८॥

त्रसकायिका द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियाः प्रत्येकमसंख्याताः श्रेणयः प्रतरच्छेदनिष्पन्नाः प्रतरासंख्येय-भागप्रमिताः त्रसकायिकाः प्रतरासंख्येयभागमात्राः, स च प्रतरासंख्यातभागः असंख्याताः श्रेणयः प्रतरांगुलस्या-संख्यातभागेन जगच्छ्रेणेः भागे हृते यल्लब्धं तावन्मात्राः। श्रेणय इति एवं शेषास्वपि मार्गणासु जीवानाश्रित्य प्रमाणं नेतव्यं ज्ञातव्यमिति आगमानुसारेण। तद्यथा नरकगतौ नारकाः प्रथमपृथिव्यां मिथ्यादृष्टयोऽसंख्याताः श्रेणयः घनांगुलकिंचिन्न्यूनद्वितीयवर्गमूलमात्राः, द्वितीयादिषु सप्तम्यन्तासु श्रेण्यसंख्येयभागमात्राः। द्वितीयादिषु सर्वासु पुनः सासादनसम्यङ्मिथ्यादृष्ट्यसंयताः पल्योपमासंख्यातभागमात्राः। तिर्यग्गतौ मिथ्यादृष्टयोऽनन्तानन्ताः सासादनादिसंयतासंयतान्ताः पल्योपमासंख्येयभागप्रमिताः। मनुष्यगतौ मिथ्यादृष्टयो मनुष्याः श्रेण्यसंख्येयभाग-प्रमिताः स चासंख्येयभागः असंख्याताः योजनकोटीकोट्यः। सासादनसम्यग्दृष्टयो द्विपंचाशत्कोटीमात्राः सम्यङ्-मिथ्यादृष्टयश्चतुरुत्तरैककोटीशतमात्राः, असंयतसम्यग्दृष्टयः सप्तकोटीशतमात्राः। संयतासंयतास्त्रयोदशकोटी-

---

चारों प्रकार के बादर जीव प्रतर के असंख्यात भागमात्र हैं। इनका विशेष विस्तार परमागम से जानना चाहिए।

त्रसकायिकों की संख्या कहते हैं—

गाथार्थ—त्रसकायिक जीव प्रतर के असंख्यात भाग प्रमाण ऐसी असंख्यात श्रेणी मात्र हैं। शेष मार्गणाओं में भी जीवों को आश्रय लेकर घटित कर लेना चाहिए ॥१२०८॥

आचारवृत्ति—द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय ये त्रसकायिक हैं। इनमें से प्रत्येक असंख्यात श्रेणी प्रमाण हैं। अर्थात् प्रतर के असंख्यातवें भाग प्रमाण हैं। प्रतरांगुल के असंख्यातवें भाग से जगत्-श्रेणी को भाग देने पर जो लब्ध आता है वह असंख्यातश्रेणी मात्र है। इसी प्रकार से शेष मार्गणाओं में भी आगम के अनुसार जीवों का आश्रय लेकर प्रमाण जान लेना चाहिए। उसी का स्पष्टीकरण करते हैं।

नरकगति में पहली पृथिवी में मिथ्यादृष्टि नारकी जीव असंख्यात श्रेणीप्रमाण हैं, अर्थात् घनांगुल का जो कुछ कम द्वितीय वर्गमूल है उतने मात्र हैं। द्वितीय पृथिवी से लेकर सातवीं पृथिवीपर्यन्त वे मिथ्यादृष्टि नारकी श्रेणी के असंख्यातवें भागमात्र हैं। दूसरी आदि सभी पृथिवियों में सासादन गुणस्थानवर्ती, सम्यङ्मिथ्यादृष्टि और असंयतसम्यग्दृष्टि पल्योपम के असंख्यातवें भागमात्र हैं।

तिर्यंचगति में मिथ्यादृष्टि जीव अनन्तानन्त हैं और सासादन से लेकर संयतासंयत-पर्यन्त जीव पल्योपम के असंख्यातवें भागप्रमाण हैं।

मनुष्य गति में मिथ्यादृष्टि मनुष्य श्रेणी के असंख्यातवें भाग प्रमाण हैं, वह असंख्यातवां भाग असंख्यात कोटाकोटि योजन है। सासादन सम्यग्दृष्टि जीव बावन करोड़ मात्र हैं। सम्यङ्-मिथ्यादृष्टि एक सौ चार करोड़ हैं। असंयत सम्यग्दृष्टि सात सौ करोड़ मात्र हैं। संयतासंयत

त्रयोदश कोट्यः । प्रमत्ताः पंचकोट्यस्त्रिनवतिलक्षाधिका अष्टानवतिसहस्राधिकाः षडुत्तरद्विशताधिकाश्च । अप्रमत्ता द्वे कोट्यौ षण्णवतिलक्षाधिके नवनवतिसहस्राधिके त्र्यधिकशते च । चत्वार उपशमकाः प्रत्येकं प्रवेशेन एको वा द्वौ वा त्रयो वोत्कर्षेण चतुःपंचाशत्स्वकालेन समुदिता द्वे शते नवनवत्यधिके । चत्वारः क्षपका अयोगिकेवलिनश्च प्रत्येकं एको वा द्वौ वा त्रयो वोत्कृष्टेनाष्टोत्तरशतं, स्वकालेन समुदिताः पंचशतान्यष्टानवत्यधिकानि, सयोगिकेवलिन अष्टशतसहस्राण्यष्टानवतिसहस्राधिकानि द्व्यधिकपंचशताधिकानि च । अष्ट सिद्ध-समया भवन्ति, तत्रोपशमश्रेण्यां प्रवेशेन जघन्येनैकेनादिं कृत्वोत्कृष्टेनैकैकसमये षोडश चतुर्विंशतिस्त्रिंशत् षट्त्रिंशद्द्विचत्वारिंशदष्टचत्वारिंशच्चतुःपंचाशदिति । एवं क्षपकश्रेण्यामेतदेव द्विगुणं द्वात्रिंशदष्टचत्वारिंशत्षष्टिः द्वासप्ततिश्चतुरशीतिः षण्णवतिरष्टोत्तरशतं च वेदितव्यं प्रत्येकं सिद्धसमयं प्रति । देवगतौ देवा मिथ्यादृष्टयो ज्योतिष्कव्यन्तरा असंख्याताः श्रेणयः, प्रतरासंख्येयभागप्रमिताः श्रेणेः संख्येयप्रमितांगुलैर्भागे हृते यल्लब्धं तावन्मात्राः श्रेणयः । भवनवासिन असंख्याताः श्रेणयः, घनांगुलप्रथमवर्गमूलमात्राः । सौधर्मा देवा मिथ्यादृष्टयोऽसंख्येयाः श्रेणयः, घनांगुलतृतीयवर्गमूलमात्राः । सनत्कुमारादिषु देवा मिथ्यादृष्टयः श्रेण्याः संख्येयभागप्रमिता, असंख्यातयोजनकोटीकोटीप्रदेशमात्राः । सर्वेष्वेतेषु सासादनसम्यङ्मिथ्यादृष्ट्यसंयताः प्रत्येकं पल्योपमासंख्येय-भागप्रमिताः[1] । शेषासु मार्गणासु नपुंसकमत्यज्ञानश्रुताज्ञानकाययोग्यचक्षुर्दर्शनकृष्णनीलकापोतलेश्याऽसंयमक्रोध-

---

जीव तेरह करोड़ हैं। प्रमत्त मुनि पाँच करोड़ तिरानवे लाख अट्ठानवे हज़ार दो सौ छह हैं, जब कि अप्रमत्त मुनि दो करोड़ छियानवे लाख निन्यानवे हजार एक सौ तीन ही हैं। चारों उपशमकों में प्रत्येक प्रवेश की अपेक्षा एक, दो अथवा तीन हैं और उत्कृष्ट से चौवन हैं। ये अपने काल से समुदायरूप दो सौ निन्यानवे हैं। चारोंक्षपक और अयोगकेवली—इनमें से प्रत्येक एक या दो अथवा तीन हैं, उत्कृष्ट से एक सौ आठ हैं। अपने काल से समुदायरूप ये पाँच सौ अट्ठानवे हैं। सयोगकेवली आठ लाख, अट्ठानवे हजार, पाँच सौ दो हैं। सिद्ध होने के समय आठ हैं। उसमें उपशम श्रेणी में प्रवेश की अपेक्षा जघन्य से एक से लेकर उत्कृष्ट तक एक-एक समय में क्रमशः सोलह, चौबीस, तीस, छत्तीस, बयालीस, अड़तालीस ,चौवन और चौवन हैं। इसी तरह क्षपकश्रेणी में यह संख्या दुगुनी है अर्थात् बत्तीस, अड़तालीस, साठ, बहत्तर, चौरासी, छ्यानवें, एस सौ आठ और एक सौ आठ, ये संख्याएँ प्रत्येक सिद्धसमय के प्रति जानना चाहिए।[2]

देवगति में ज्योतिषी और व्यन्तर मिथ्यादृष्टि देव असंख्यात श्रेणी प्रमाण हैं अर्थात् प्रतर के असंख्यातवें भाग प्रमाण हैं। श्रेणी में संख्यात प्रमिति अंगुल का भाग देने पर जो लब्ध आये उतने मात्र असंख्यात श्रेणी प्रमाण हैं ये। भवनवासी देव असंख्यात श्रेणी प्रमाण हैं अर्थात् घनांगुल के प्रथम-वर्गमूलमात्र हैं। सौधर्म स्वर्ग के मिथ्यादृष्टि देव असंख्यात श्रेणी प्रमाण हैं, अर्थात् घनांगुल के तृतीय वर्गमूलमात्र हैं। सानत्कुमार आदि स्वर्गों में मिथ्यादृष्टि देव श्रेणी के संख्यातवें भाग प्रमाण हैं अर्थात् असंख्यात कोटाकोटि योजन के जितने प्रदेश हैं उतने मात्र हैं। इन सभी में सासादन, सम्यङ्मिथ्यादृष्टि और असंयत देव—ये प्रत्येक पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण हैं।

शेष मार्गणाओं में नपुंसकवेद, मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान, काययोग, अचक्षुर्दर्शन,

---

1. क असंख्यातयोजनकोटीकोटीप्रदेशमात्रा।

2. इसमें आठवें समय की संख्या का स्पष्टीकरण नहीं है किन्तु गोम्मटसार जीवकाण्ड में (गाथा ६२७, ६२८) में उपशम श्रेणी में आठवें समय मे ५४ और क्षपक श्रेणी में आठवें समय में १०८ संख्या है।

मानमायालोभमिथ्यादृष्टिभव्याहारानाहारिणः प्रत्येकमनन्तानन्ताः । केवलज्ञानिकेवलदर्शिनोऽनन्ताः । चक्षुर्दर्शनिनः स्त्रीपुंवेदिनो मनोवाग्योगिसंज्ञिविभंगज्ञानितेजोलेश्यापद्मलेश्याः प्रतरासंख्येयभागप्रमिताः । शेषाः क्षायिकक्षायोपशमिकौपशमिकसम्यग्दृष्टिसासादनसम्यक् मिथ्यादृष्टिसंयतासंयतशुक्ललेश्याः पल्योपमासंख्येयभागप्रमिताः । आहाराहारमिश्रसामायिकच्छेदोपस्थापनपरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसाम्पराययथाख्यातसंयताः संख्याता भवन्तीति । ॥१२०८॥

कुलानि प्रतिपादयन्नाह—

बावीस सत्त तिण्णि य सत्त य कुलकोडि सदसहस्साइं ।
णेया पुढविदगागणिवाऊकायाण परिसंखा ॥१२०९॥

कोडिसदसहस्साइं सत्तट्ठ य णव य अट्ठवीसं च ।
बेइंदियतेइंदियचउरिंदियहरिदकायाणं ॥१२१०॥

अद्धत्तेरस बारस दसयं कुलकोडिसदसहस्साइं ।
जलचरपक्खिचउप्पयउरपरिसप्पेसु णव होंति ॥१२११॥

छव्वीसं पणवीसं चउदस कुलकोडिसदसहस्साइं ।
सुरणेरइयणराणं जहाकमं होइ णायव्वं ॥१२१२॥

एतानि गाथासूत्राणि पंचाचारे व्याख्यातानि, अतो नेह पुनर्व्याख्यायन्ते पुनरुक्तत्वादिति ॥१२०९-१२॥

कृष्ण, नील और कापोत लेश्याएँ, असंयम, क्रोध, मान, माया, लोभ, मिथ्यादृष्टि, भव्य, आहारी और अनाहारी ये प्रत्येक अनन्तानन्त हैं। केवलज्ञानी और केवलदर्शनी अनन्त[1] हैं।

चक्षुर्दर्शनी स्त्रीवेदी, पुरुषवेदी, मनोयोगी, वचनयोगी, संज्ञी, विभंगज्ञानी, तेजोलेश्या, पद्मलेश्यावाले जीव प्रत्येक प्रतर के असंख्यातवें भाग प्रमाण हैं।

शेष क्षायिक, क्षायोपशमिक, औपशमिक-सम्यग्दृष्टि, सासादन-सम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, संयतासंयत और शुक्ललेश्यावाले जीव प्रत्येक पल्योपम के असंख्यातवें भागप्रमाण हैं।

आहार, आहारमिश्र, सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय और यथाख्यातसंयत—ये सभी संख्यात होते हैं।

कुलों का वर्णन करते हैं—

गाथार्थ—पृथ्वी, जल, अग्नि और वायुकाय के कुलों की संख्या क्रमशः बाईस लाख करोड़, सात लाख करोड़, तीन लाख करोड़ और सात लाख करोड़ जानना। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और वनस्पतिकाय—इनके कुल सातकोटिलक्ष आठ कोटि लक्ष, नौ कोटिलक्ष और अट्ठाईस कोटिलक्ष हैं। जलचरों के कुल साढ़े बारह कोटिलक्ष, पक्षियों के बारह कोटिलक्ष, चतुष्पद-पशुओं के दश कोटिलक्ष और छाती के सहारे चलनेवाले गोधा-सर्प आदि जीवों के कुल नौ कोटिलक्ष होते हैं। देव, नारकी और मनुष्य के कुल क्रम से छब्बीस करोड़ लाख, पच्चीस करोड़ लाख और बारह करोड़ लाख होते हैं ॥१२०९-१२॥

आचारवृत्ति—इन गाथा-सूत्रों का पंचाचार में व्याख्यान कर दिया है इसलिए यहाँ

---

१. केवलज्ञानी और केवलदर्शनी संख्यात हैं ऐसा अन्यत्र पाठ है। वह संसारी जीवों की अपेक्षा से है किन्तु यहाँ यह पाठ सिद्धों की अपेक्षा से है।

अल्पबहुत्वं प्रतिपादयन्नाह—

> मणुसगदीए थोवा तेहिं असंखिज्जसंगुणा णिरये।
> तेहिं असंखिज्जगुणा देवगदीए हवे जीवा ॥१२१३॥

मनुष्यगतौ सर्वस्तोका मनुष्याः श्रेण्यसंख्येयभागमात्राः, ११ (?)। तेभ्यो मनुष्येभ्योऽसंख्यातगुणाः जीवाः, १२ (?) नरकगतौ नारकाः तेभ्यश्च नारकेभ्यो देवगतौ देवा असंख्यातगुणाः प्रतरासंख्येयभागमात्राः, ४१ (?) इति ॥१२१३॥

तथा—

> तेहिंतो णंतगुणा सिद्धिगदीए भवंति भवरहिया।
> तेहिंतो णंतगुणा तिरयगदीए किलेसंता ॥१२१४॥

तेभ्यो देवेभ्यः सकाशात्सिद्धिगतौ भवरहिताः सिद्धा अनन्तगुणास्तेभ्यः [1]सिद्धेभ्यस्तिर्यग्गतौ तिर्यञ्चः क्लिश्यन्तोऽनन्तगुणाः ॥१२१४॥

सामान्येनाल्पबहुत्वं प्रतिपाद्य विशेषेण प्रतिपादयन्नाह—

पुनः उनका व्याख्यान नहीं करते हैं अन्यथा पुनरुक्त दोष हो जाएगा।

अल्पबहुत्व का प्रतिपादन करते हैं—

गाथार्थ—मनुष्यगति में सबसे कम जीव हैं। नरक में उनसे असंख्यात गुणे हैं और देवगति में उनसे भी असंख्यात गुणे जीव हैं ॥१२१३॥*

आचारवृत्ति—मनुष्यगति में सबसे कम जीव अर्थात् मनुष्य हैं। वे जगच्छ्रेणी के असंख्यातवें भागमात्र हैं जिसकी संदृष्टि ११ (?) है। मनुष्यों से असंख्यातगुणे जगच्छ्रेणी प्रमाण नारकी हैं जिसकी संदृष्टि १२ (?) है। देवगति में जीव नारकियों से असंख्यातगुणे हैं, अर्थात् वे प्रतर के असंख्यातवें भागमात्र हैं जिनकी संदृष्टि ४१ (?) है, ऐसा समझना।

आगे और कहते हैं—

गाथार्थ—सिद्ध गति में भवरहित जीव देवों से अनन्तगुणे हैं और तिर्यंचगति में क्लेशित होते हुए जीव उनसे भी अनन्तगुणे हैं ॥१२१४॥

आचारवृत्ति—सिद्धगति में भवरहित सिद्ध जीव उन देवों से अनन्तगुणे अधिक हैं। तिर्यंचगति में क्लेश को भोगते हुए तिर्यंच जीव उन सिद्धों से भी अनन्तगुणे अधिक हैं।

सामान्य से अल्पबहुत्व को कहकर अब उसका विस्तार कहते हैं—

---

1. क सिद्धेभ्य अनेक।

* फलटन से प्रकाशित मूलाचार में यह गाथा अधिक है—

> एया य कोडिकोडी सत्ताणउदी य सदसहस्साइं।
> पण्णं कोडिसहस्सा सव्वंगीणं कुलाण दु ॥

अर्थ—सम्पूर्ण जीवों के कुलों की संख्या एक कोड़ाकोड़ी, सत्तानवे लाख, पचास हजार करोड़ है। अर्थात् सम्पूर्ण कुलों की संख्या एक करोड़, सत्तानवे लाख, पचास हजार को एक करोड़ से गुणा करने पर जितनी आए उतनी (१९७५००००००००००) है। भिन्न-भिन्न शरीर की उत्पत्ति के लिए कारणभूत नोकर्मवर्गणाओं के भेदों को कुल कहा जाता है।

थोवा दु तमतमाए अणंतराणंतरे दु चरमासु ।
होंति असंखिज्जगुणा णारइया छासु पुढवीसु ॥१२१५॥

स्वस्थानगतमल्पबहुत्वमुच्यते—सप्तमपृथिव्यां नारकाः सर्वस्तोकाः श्रेण्यसंख्येयभागप्रमिताः, श्रेणिद्वितीयवर्गमूलेन खंडिता श्रेणिमात्राः १/२ । तेभ्यश्च सप्तमपृथिवीनारकेभ्यः षष्ठीपृथिवीनारका असंख्यातगुणाः श्रेणितृतीयवर्गमूलेनाहतश्रेणिमात्राः १/३ । तेभ्यश्च षष्ठपृथिवीनारकेभ्यः पंचमपृथिवीनारका असंख्यातगुणाः श्रेणिषड्वर्ग[1]मूलापहृतश्रेणिलब्धमात्रा. १/६ । तेभ्यश्च पंचमपृथिवीनारकेभ्यश्चतुर्थपृथिवी-नारका असंख्यातगुणाः श्रेण्यष्टवर्ग[2]मूलापहृतश्रेणिपरिमिताः १/८ । तेभ्यश्चतुर्थपृथिवीनारकेभ्यस्तृतीयपृथिवी-नारका असंख्यातगुणाः श्रेणिदशवर्गमूलापहृतश्रेणिलब्धमात्राः १/१० । तेभ्यस्तृतीयपृथिवीनारकेभ्यो द्वितीय-पृथिवीनारका असंख्येयगुणाः श्रेणिद्वादशवर्गमूलखण्डितश्रेण्येकभागमात्राः १/१२ । तेभ्यश्च द्वितीयपृथिवीनार-केभ्यः प्रथमपृथिवीनारका असंख्यातगुणा घनांगुलद्वितीयवर्गमूलमात्राः श्रेणयः १/२ । इति ॥१२१५॥

तिर्यग्गतावल्पबहुत्वमाह—

थोवा तिरिया पंचेंदिया दु चउरिंदिया विसेसहिया ।
वेइंदिया दु जीवा तत्तो अहिया विसेसेण ॥१२१६॥

गाथार्थ—सातवीं पृथिवी में नारकी सबसे थोड़े हैं। इस अन्तिम से अनन्तर-अनन्तर छहों पृथिवियों में नारकी असंख्यातगुणे-असंख्यातगुणे होते हैं ॥१२१५।

आचारवृत्ति—स्वस्थानगत अल्पबहुत्व को कहते हैं - सातवीं पृथ्वी में नारकी जीव सबसे थोड़े हैं जो कि श्रेणी के असंख्यातवें भाग प्रमाण हैं। अर्थात् श्रेणी के द्वितीय वर्गमूल से भाजित श्रेणी प्रमाण हैं जिसकी संदृष्टि १/२ है। उन सातवीं पृथिवी के नारकियों से असंख्यात गुणे अधिक नारकी जीव छठी पृथिवी में हैं जो कि श्रेणी के तृतीय वर्गमूल से भाजित श्रेणीप्रमाण है, उनकी संदृष्टि १/३ है। पाँचवीं पृथिवी के नारकी उन छठी पृथिवी के नारकी जीवों से असंख्यातगुणे अधिक हैं। अर्थात् वे श्रेणी के छठे वर्गमूल से भाजित श्रेणीमात्र हैं। उनकी संदृष्टि १/६ है। चतुर्थ पृथिवी के नारकी उन पाँचवीं पृथिवी के नारकीयों से असंख्यातगुणे हैं जो श्रेणी के आठवें वर्गमूल से भाजित श्रेणी प्रमाण हैं और जिनकी संदृष्टि १/८ है। उन चतुर्थ पृथिवी के नारकियों से असंख्यातगुणे अधिक नारकी जीव तृतीय पृथिवी में हैं जो कि श्रेणी के दशवें वर्गमूल से भाजित श्रेणी प्रमाण है और जिनकी संदृष्टि १/१० है। उन तृतीय पृथिवी के नारकियों से असंख्यातगुणे अधिक जीव द्वितीय पृथिवी में हैं जो कि श्रेणी के बारहवें वर्गमूल से भाजित श्रेणी के एक भाग मात्र हैं, उनकी संदृष्टि १/१२ है। उन द्वितीय पृथिवी के नारकियों से असंख्यातगुणे नारकी प्रथम पृथिवी में हैं जो घनांगुल के द्वितीय वर्गमूलमात्र श्रेणीप्रमाण हैं, और उनकी संदृष्टि १/२ है।

तिर्यंचगति में अल्पबहुत्व को कहते हैं—

गाथार्थ—पंचेन्द्रिय तिर्यंच सबसे थोड़े हैं, चौइन्द्रिय जीव उनसे विशेष अधिक हैं, और

---

१. क षष्ठवर्ग । २. क श्रेण्यष्टमवर्ग ।

तत्तो विसेसअहिया जीवा तेइंदिया दु णायव्वा ।
तेहिंतोणंतगुणा भवंति एइंदिया जीवा ॥१२१७॥

तिर्यंचः पंचेन्द्रियाः स्तोकाः प्रतरासंख्यातभागमात्राः १/२। तेभ्यश्च पंचेन्द्रियेभ्यश्चतुरिन्द्रिया विशेषाधिकाः स्वराश्यसंख्यातभागमात्रेण १/२/४/१/६। तेभ्यश्चतुरिन्द्रियेभ्यो द्वीन्द्रिया विशेषाधिकाः ४/७। विशेषः पुनः स्वराश्यसंख्यातभागमात्राः १/१/४/६। तेभ्यश्च द्वीन्द्रियेभ्यस्त्रीन्द्रिया विशेषाधिकाः। विशेषः पुनः स्वराश्यसंख्यातभागमात्रः १/१/४/६। तेभ्यश्च त्रीन्द्रियेभ्योऽनन्त गुणाः भवन्त्येकेन्द्रिया जीवा ज्ञातव्याः ३/१/४/२ इति ॥१२१६-१७॥

मनुष्यगताबल्पबहुत्वमाह—

अंतरदीवे मणुया थोवा मणुयेसु होंति णायव्वा ।
कुरवेसु दससु मणुया संखेज्जगुणा तहा होंति ॥१२१८॥
तत्तो संखेज्जगुणा मणुया हरिरम्मएसु वस्सेसु ।
तत्तो संखिज्जगुणा हेमवदहरिण्णवस्साय ॥१२१९॥
भरहेरावदमणुया संखेज्जगुणा[1] हवंति खलु तत्तो ।
तत्तो संखिज्जगुणा णियमादु विदेहगा मणुया ॥१२२०॥
सम्मुच्छिमा य मणुया होंति असंखिज्जगुणा य तत्तो दु ।
ते चेव अपज्जत्ता सेसा पज्जत्तया सव्वे ॥१२२१॥

दोइन्द्रिय जीव उनसे विशेष अधिक हैं। उनसे विशेष अधिक तीन-इन्द्रिय जीव जानना चाहिए और उनसे भी अनन्तगुणे एकेन्द्रिय जीव होते हैं ॥१२१६-१७॥

आचारवृत्ति - पंचेन्द्रिय तिर्यंच जीव सबसे थोड़े हैं। अर्थात् वे प्रतर के असंख्यातवें भागमात्र हैं, उनकी संदृष्टि १/२ है। उन पंचेन्द्रिय तिर्यंच जीवों से चतुरिन्द्रिय जीव विशेष अधिक हैं अर्थात् वे उस राशि के असंख्यातवें भाग मात्र हैं। उन चतुरिन्द्रिय जीवों से द्वीन्द्रिय जीव विशेष अधिक हैं। यह विशेष पुनः उस राशि के असंख्यातवें भाग मात्र अधिक है। इसी प्रकार, इन दो-इन्द्रियों से तीन-इन्द्रिय जीव विशेष अधिक हैं। यह विशेष पुनः उक्त राशि के असंख्यातवें भाग मात्र अधिक है। इन तीन इन्द्रियों से एकेन्द्रिय जीव अनन्त गुणे हैं ऐसा जानना चाहिए। (इनसे सम्बन्धित सभी संदृष्टियाँ ऊपर टीका में देखें)।

अब मनुष्य गति में अल्पबहुत्व को कहते हैं—

गाथार्थ—मनुष्यों में अन्तर्द्वीपों में सबसे थोड़े मनुष्य होते हैं ऐसा जानना तथा पाँच देवकुरु, पाँच उत्तरकुरु में मनुष्य संख्यातगुणे होते हैं। पुनः पाँच हरिक्षेत्र और पाँच रम्यकक्षेत्रों में मनुष्य संख्यातगुणे अधिक हैं। पाँच हैमवत और पाँच हैरण्यवत क्षेत्रों के मनुष्य इनसे संख्यातगुणे हैं। उनसे संख्यातगुणे पाँच भरत और पाँच ऐरावत के मनुष्य होते हैं तथा पाँचों विदेहक्षेत्रों के मनुष्य नियम से उनसे संख्यातगुणे हैं। उनसे असंख्यातगुणे संमूर्च्छन मनुष्य होते हैं, ये ही अपर्याप्तक हैं, जबकि शेष सभी पर्याप्तक हैं ॥१२१८-१२२१॥

---

1. क गुणा य होंति तत्तो।

मनुष्यगतौ सर्वस्तोकाः संख्याताः सर्वान्तर्द्वीपेषु मनुष्याः, ऊ। तेभ्यश्च दशसु कुरूपभोगभूमिषु मनुष्याः संख्यातगुणा भवन्ति ज्ञातव्याः, ऊऊ। तेभ्यश्च दशसु भोगभूमिषु हरिरम्यकवर्षेषु मनुष्याः संख्यातगुणाः, ऊऊऊ। तेभ्यश्च दशसु जघन्यभोगभूमिषु हैमवतहैरण्यवतसंज्ञकासु मनुष्याः संख्यातगुणाः, ऊऊऊऊ। तेभ्यश्च पंचसु भरतेषु पंचस्वैरावतेषु च मनुष्याः संख्यातगुणाः, ऊऊऊऊऊ। तेभ्यश्च निश्चयेन मनुष्या विदेहेषु संख्यातगुणा भवन्ति, ऊऊऊऊऊऊ। ज्ञातव्याः स्फुटं। तेभ्यश्च सम्मूर्च्छनजा मनुष्या असंख्यातगुणाः श्रेण्यसंख्यातैकभागमात्राः, स च श्रेण्यसंख्यातभागः असंख्यातयोजनकोटीकोटीप्रदेशमात्रः सूच्यंगुलप्रथमवर्गमूलेन सूच्यंगुलतृतीयवर्गमूलगुणितेन श्रेणेर्भागे हृते यल्लब्धं [1]तावन्मात्रा १/१३। त एते अपर्याप्ता लब्ध्यपर्याप्ता एव। शेषाः पुनः संख्याता ये मनुष्यास्ते सर्वे पर्याप्ता, नास्ति तेषां लब्ध्यपर्याप्तत्वम्। एवं देवनारकाणामपि सर्वेषां लब्ध्यपर्याप्तत्वं नास्ति निर्वृत्यपर्याप्तत्वं पुनर्विद्यत एवेति ॥१२१८-२१॥

देवगतावल्पबहुत्वमाह—

थोवा विमाणवासी देवा देवी य होंति सव्वेवि।
तेहिं असंखेज्जगुणा भवणेसु य दसविहा देवा ॥१२२२॥

आचारवृत्ति—मनुष्य गति में सभी अन्तर्द्वीपों में होनेवाले मनुष्य सबसे थोड़े हैं अर्थात् संख्यात हैं। उनकी अर्थ-संदृष्टि 'ऊ' है।

उनसे संख्यातगुणे मनुष्य पाँच देवकुरु और पाँच उत्तरकुरु नामक भोगभूमियों में हैं। उनकी संदृष्टि 'ऊऊ' है। उनसे संख्यातगुणे मनुष्य पाँच हरिक्षेत्र और पाँच रम्यकक्षेत्र, इन दस मध्यम भोगभूमियों के हैं। इनकी संदृष्टि 'ऊऊऊ' है। इनसे संख्यातगुणे मनुष्य पाँच हैमवत और पाँच हैरण्यवत नामक दस जघन्य भोगभूमियों में होते हैं। उनकी संदृष्टि 'ऊऊऊऊ' है। उनसे संख्यातगुणे मनुष्य पाँच भरतक्षेत्र और पाँच ऐरावत, इन दश कर्मभूमियों में होते हैं। इनकी संदृष्टि 'ऊऊऊऊऊ' है। इनसे संख्यातगुणे मनुष्य निश्चित ही पाँच महाविदेहों में होते हैं। इनकी संदृष्टि 'ऊऊऊऊऊऊ' है।

संमूर्च्छन मनुष्य उनसे असंख्यातगुणे होते हैं, अर्थात् वे श्रेणी के असंख्यात भाग में से एक भागमात्र हैं। वह श्रेणी का असंख्यावाँ भाग असंख्यात योजन कोड़ाकोड़ी प्रदेश मात्र सूच्यंगुल के तृतीय वर्गमूल से गुणित जो सूच्यंगुल का प्रथम वर्गमूल है, उससे श्रेणी में भाग देने पर जो लब्ध आये अर्थात् उतने मात्र वे हैं। ये जीव अपर्याप्तक और लब्ध्यपर्याप्तक ही हैं। पुनः शेष जो पर्याप्तक मनुष्य हैं वे सब संख्यात ही हैं क्योंकि उनमें लब्ध्यपर्याप्तक अवस्था नहीं है। इसी प्रकार सभी देव और नारकियों में भी लब्ध्यपर्याप्तक नहीं हैं किन्तु उनमें निर्वृत्यपर्याप्तक ही हैं।

देवगति में अल्पबहुत्व को कहते हैं—

गाथार्थ—विमानवासी देव और देवियाँ, ये सभी थोड़े होते हैं, उनसे असंख्यात गुणे

---

१. क १/३

तेहिं असंखेज्जगुणा देवा खलु होंति वाणवेंतरिया।
तेहिं असंखेज्जगुणा देवा सव्वेवि जोदिसिया ॥१२२३॥

देवगतौ देवा देव्यश्च सर्वस्तोकाः सौधर्मादिविमानवासिनः असंख्यातश्रेणिमात्रा घनांगुलतृतीय-वर्गमूलमात्राः साधिकाः श्रेणयः १/३। तेभ्यश्चासंख्यातगुणा भवनेषु दशविधा भवनवासिनः असंख्याताः श्रेणयः घनांगुलप्रथमवर्गमूलमात्राः श्रेणयः १/१। तेभ्यश्चासंख्यातगुणाः स्फुटमष्टप्रकारा व्यन्तराः प्रतरा-संख्यातभागमात्राः संख्यातप्रतरांगुलैः श्रेणेर्भागे हृते यल्लब्धं तावन्मात्राः श्रेणयः १/१/४। तेभ्यश्च पंचप्रकारा ज्योतिष्का असंख्यातगुणाः प्रतरासंख्यातभागमात्राः[1] पूर्वोक्तसंख्यागुणितैरसंख्येयप्रतरांगुलैः श्रेणेर्भागे हृते यल्लब्धं तावन्मात्राः श्रेणयः १/१/४/९।

अथ वा सर्वतः स्तोकाः सर्वार्थसिद्धिदेवाः संख्याताः। ततो विजयवैजयन्तजयन्तापराजितनवानुत्त-रस्था असंख्यातगुणाः पल्योपमासंख्यातभागप्रमितास्ततो नव ग्रैवेयका आनतप्राणतारणाच्युतास्चा-संख्यातगुणाः पल्योपमासंख्यातभागप्रमिताः, ९। ततः शतारसहस्रारदेवा असंख्यातगुणाः श्रेणिचतुर्थवर्गमूल-खण्डितश्रेण्येकभागमात्राः १/४। ततः शुक्रमहाशुक्रदेवा असंख्यातगुणाः श्रेणिपंचमवर्गमूलखण्डितश्रेण्येकभाग-

---

भवनवासियों में दश प्रकार के देव हैं। उनसे असंख्यातगुणे व्यंतर देव होते हैं। उनसे असंख्यात-गुणे सभी ज्योतिष्क देव हैं ॥१२२२-२३॥

आचारवृत्ति—देवगति में सौधर्म आदि स्वर्ग के विमानवासी देव और देवियाँ सब से थोड़े हैं जो कि असंख्यात श्रेणी मात्र हैं अर्थात् घनांगुल के तृतीय वर्गमूलमात्र कुछ अधिक श्रेणी प्रमाण हैं जिनकी संदृष्टि १/३ है। उनसे असंख्यात गुणे भवनों में रहने वाले दस प्रकार के भवनवासी देव हैं। अर्थात् ये असंख्यात श्रेणी प्रमाण हैं। ये श्रेणियाँ घनांगुल के प्रथम वर्ग मूल मात्र हैं जिनकी संदृष्टि १/१ है। उनसे असंख्यातगुणे अष्ट प्रकार के व्यन्तर देव हैं। ये प्रतर के असंख्यातवें भाग मात्र हैं अर्थात् श्रेणी में संख्यात प्रतरांगुलों का भाग देने पर जो लब्ध हो उतने मात्र श्रेणी प्रमाण हैं। इनकी संदृष्टि भी १/१/४ है। पाँच प्रकार के ज्योतिषी देव इनसे असंख्यातगुणे हैं। अर्थात् ये भी प्रतर के असंख्यातवें भाग मात्र हैं जो कि पूर्वोक्त संख्या से गुणित असंख्यात प्रतरांगुलों से श्रेणी में भाग देने पर जो लब्ध आवे उतने मात्र श्रेणी प्रमाण हैं जिनकी संदृष्टि १/१/४/९ है।

किन्तु सबसे कम सर्वार्थसिद्धि के देव हैं जो कि संख्यात हैं। विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित अनुत्तरों के देव और नव अनुदिशों के देव सर्वार्थसिद्धि के देवों से असंख्यातगुणे हैं अर्थात् पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण हैं। इनसे असंख्यातगुणे नव ग्रैवेयक के देव और आनत, प्राणत, आरण और अच्युत के देव हैं। अर्थात् ये असंख्यातगुणा भी पल्योपम के असंख्यात वे भाग प्रमाण हैं जिसकी संदृष्टि ९ है। इससे असंख्यातगुणे शतार और सहस्रार स्वर्ग के देव हैं जो कि श्रेणी के चतुर्थ वर्गमूल से भाजित श्रेणी के एक भागमात्र हैं जिनकी संदृष्टि १/४ है। शुक्र-महाशुक्र के देव इनसे असंख्यात गुणे हैं। ये श्रेणी के पंचम-

---

1. क पूर्वोक्तसंख्यातगुणहीन।

मात्राः, १/५। ततो लांतवकापिष्ठदेवा असंख्यातगुणाः श्रेणिसप्तमवर्गमूलभाजितश्रेण्येकभागमात्राः, १/७। ततो ब्रह्मब्रह्मोत्तरदेवा असंख्यातगुणाः श्रेणिनवमवर्गमूलगुणाः श्रेणिचतुर्थवर्गमूलखण्डितश्रेण्येकभागमात्राः, १/४। नवमवर्गमूलखण्डितश्रेण्येकभागमात्राः, १/९। ततः सानत्कुमारमाहेन्द्रदेवा असंख्यातगुणाः श्रेण्येकादशवर्गमूलखण्डितश्रेण्येकभागमात्राः, १/११। ततः सौधर्मैशानदेवा असंख्यातगुणाः, १/१३। शेषं पूर्ववत् द्रष्टव्यमिति।

अथ वा सर्वस्तोका अयोगिनश्चत्वार उपशमकाः संख्यातगुणाः। ततः सयोगिनः संख्यातगुणास्ततोऽप्रमत्ताः संख्यातगुणास्ततः संयतासंयतास्तिर्यङ्मनुष्या असंख्यातगुणाः पल्योपमासंख्यातभागमात्राः, ५९९९९। ततश्चतसृषु गतिषु सासादनसम्यग्दृष्टयोऽसंख्यातगुणाः ५०। ततश्चतसृषु गतिषु सम्यङ्मिथ्यादृष्टयः संख्यातगुणाः पल्यं, ९०। ततश्चतसृषु गतिषु असंयतसम्यग्दृष्टयोऽसंख्यातगुणाः। एतैः सिद्धा अनंतगुणास्ततः सर्वे मिथ्यादृष्टयोऽनन्तानन्तगुणाः स्युरिति ॥१२२२-२३॥

पुनरपि देवान् गुणेन निरूपयन्नाह—

अणुदिसणुत्तरदेवा सम्मादिट्ठीय होंति बोधव्वा।
तत्तो खलु हेट्ठिमया सम्मामिस्सा य तह सेसा ॥१२२४॥

वर्गमूल से भाजित श्रेणी के एक भागमात्र हैं। इनकी संदृष्टि १/५ है। लांतव-कापिष्ठ के देव इनसे असंख्यातगुणे हैं। अर्थात् श्रेणी के सातवें वर्गमूल से भाजित श्रेणी के एक भागमात्र हैं, जिनकी संदृष्टि १/७ है। ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर स्वर्ग के देव उनसे असंख्यातगुणे हैं। वे श्रेणी के नवमें वर्गमूल से गुणित और श्रेणी के चतुर्थ वर्गमूल से भाजित श्रेणी के एक भागमात्र हैं। उनकी संदृष्टि १/४ है। ये श्रेणी के नवमें वर्गमूल से भाजित श्रेणी के एक भागमात्र हैं जिनकी संदृष्टि १/९ है। उनके असंख्यातगुणे सानत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्ग के देव हैं। ये श्रेणी के ग्यारहवें वर्गमूल से भाजित श्रेणी के एक भागमात्र हैं जिनकी संदृष्टि १/११ है। उनसे असंख्यातगुणे सौधर्म और ईशान स्वर्ग के देव हैं, जिनकी संदृष्टि १/३ है। शेष पूर्ववत् हैं।

अथवा सबसे कम अयोगकेवली हैं। चारों उपशमक उन अयोगियों से संख्यातगुणे हैं। इनसे संख्यातगुणे सयोगकेवली हैं। इनके संख्यात गुणे अप्रमत्त मुनि हैं। इनसे असंख्यात गुणे संयतासंयत तिर्यंच और मनुष्य हैं। ये पल्योपम के असंख्यातवें भागमात्र हैं जिनकी संदृष्टि ५९९९९ है। इनसे असंख्यातगुणे चारों गतियों के सासादन सम्यग्दृष्टि हैं, इनकी संदृष्टि ५० है। इनसे संख्यातगुणे चारों गतियों के सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव हैं जिनकी संदृष्टि पल्य ९० है। इनसे असंख्यातगुणे चारों गतियों से असंयत सम्यग्दृष्टि जीव हैं। इनसे अनंतगुणे सिद्ध हैं। सभी मिथ्यादृष्टि जीव इन सिद्धों से भी अनन्तानन्तगुणे हैं।

पुनरपि देवों का गुणस्थान द्वारा निरूपण करते हैं—

गाथार्थ—अनुदिश और अनुत्तर के देव सम्यग्दृष्टि होते हैं ऐसा जानना। इनसे नीचे के देव सम्यक्त्व और मिथ्यात्व इन दोनोंवाले होते हैं तथा शेष जीव भी दोनों से मिश्रित होते हैं ॥१२२४॥

पंचानुत्तरनवानुदिशदेवाः सम्यग्दृष्टयो निश्चयेन ज्ञातव्याः अनन्तरदेवेभ्यः [1]पुनरधो मिथ्यादृष्टयः सासादनाः सम्यङ्मिथ्यादृष्टयोऽसंयतसम्यग्दृष्टयो भवन्ति। तथा शेषाश्च नारकतिर्यङ्मनुष्या मिश्रा ज्ञातव्या इति ॥१२२४॥

अल्पबहुत्वं प्रतिपाद्य बन्धकारणं प्रतिपादयन्नाह—

मिच्छादंसणअविरदिकसायजोगा हवंति बंधस्स।
आऊसज्झवसाणं हेदवो ते दु णायव्वा ॥१२२५॥

मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगास्त एव हेतवो बंधस्यायुषो भवन्ति पुनरध्यवसायः परिणामः हेतुर्भवतीति ज्ञातव्याः। पंच मिथ्यात्वानि पंचेन्द्रियाणि मनःषट्कायविराधनानि त्रयोदश योगाः षोडश कषाया नव नोकषायाश्च सर्वे एते पंचपंचाशत्प्रत्ययाः कर्मबन्धस्य हेतवो बोद्धव्या भवन्ति, अन्ये भेदा अत्रैवान्तर्भवन्तीति ॥१२२५॥

बन्धस्वरूपं प्रतिपादयन्नाह—

आचारवृत्ति—नव अनुदिश और पाँच अनुत्तर के देव निश्चय से सम्यग्दृष्टि ही होते हैं, ऐसा जानना। इनसे नीचे के देव मिथ्यादृष्टि सासादन, सम्यग्मिथ्यादृष्टि और असंयत-सम्यग्दृष्टि होते हैं।

तथा शेष नारकी, तिर्यंच और मनुष्य अर्थात् मिश्र होते हैं अर्थात् इनमें यथा-योग्य जितने भी गुणस्थान हैं वे सभी पाये जाते हैं। ये केवल सम्यग्दृष्टि ही हों अथवा मिथ्या-दृष्टि ही हों ऐसा नियम न होने से ही ये मिश्र कहलाते हैं। तात्पर्य यही है कि इनमें मिथ्यादृष्टि भी हैं और सम्यग्दृष्टि भी हैं।

अल्पबहुत्व का प्रतिपादन करके अब बन्ध के कारणों को कहते हैं—

गाथार्थ—मिथ्यादर्शन, अविरति, कषाय और योग ये बन्ध के कारण हैं। ये परिणाम आयु के भी कारण हैं ऐसा जानना ॥१२२५॥

आचारवृत्ति—मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग ये बन्ध के कारण हैं और ये ही आयु बन्ध के भी कारण हैं। पुनः अध्यवसाय-परिणाम भी आयु के लिए हेतु है। पाँच मिथ्यात्व, पाँच इन्द्रियों और मन तथा छह कायों की विराधना ये बारह अविरति, तेरह योग, सोलह कषाय और नव नोकषाय ये पच्चीस कषाय, ये सभी पचपन प्रत्यय कर्मबन्ध के कारण हैं, ऐसा जानना। अन्य और भेद भी इन्हीं में अन्तर्भूत हो जाते हैं।

भावार्थ—योग पन्द्रह होते हैं किन्तु यहाँ तेरह ही लिये गये हैं, आहारक और आहारकमिश्र योग नहीं लिये हैं। अतः सत्तावन आस्रव में से दो घट जाने से पचपन रह जाते हैं। मिथ्यादृष्टि को आहारक, आहारक मिश्र न होने से ५५ प्रत्यय ही बन्ध के हैं।

बन्ध के स्वरूप का प्रतिपादन करते हैं—

---

१. क पुनरस्येऽधो।

जीवो कसायजुत्तो जोगादो कम्मणो दु जे जोग्गा ।
गेण्हइ पोग्गलदव्वे बंधो सो होदि णायव्वो ॥१२२६॥

जीवः कषाययुक्तः क्रोधादिपरिणतः योगान्मनोवाक्कायक्रियाभ्यः कर्मणो योग्यानि यानि पुद्गल-द्रव्याणि गृह्णाति स बन्धः कषाययुक्त इति पुनर्हेतुनिर्देशस्तीव्रमन्दमध्यमकषायानुरूपस्थित्यनुभवविशेषप्रतिपत्त्यर्थमाह—स्वत आत्मा कषति कर्मादत्त इति चेत् नैष दोषो जीवत्वात् जीवो [1]नामप्राणधारणादायुःसम्बन्धात्, न पुनरायुर्विरहाज्जीवो येन आत्मना पुरतः पुद्गलानादत्ते कर्मयोग्यानिति लघुनिर्देशात्सिद्धे कर्मणो योग्यानिति पृथग्विभक्त्युच्चारणं वाक्यान्तरज्ञापनार्थं, किं पुनस्तद्वाक्यान्तरमत आह—कर्मणो जीवः सकषायो भवतीत्येकम् । वाक्यम्, एतदुक्तं भवति कर्मण इति हेतुनिर्देशः, कर्मणो हेतोर्जीवः कषायपरिणितो भवति नाकर्मकस्य कषायलेपोऽस्ति ततो जीवः कर्मणो योग्यानिति, तयारेनादिसम्बन्ध इत्युक्तं भवति ततोऽमूर्तः जीवः मूर्तेन कर्मणा कथं बध्यत इति [2]चोद्यमपाकृतं भवति, इतरथा हि बन्धस्यादिमत्त्वे

गाथार्थ—कषाय सहित जीव योग से कर्म के जो योग्य हैं ऐसे पुद्गल द्रव्यों को ग्रहण करता है वह बन्ध है ऐसा जानना ॥१२२६॥

आचारवृत्ति—क्रोधादि से परिणत हुआ जीव मन, वचन और काय की क्रियारूप योग से कर्मों के योग्य जो पुद्गलद्रव्य हैं उनको ग्रहण करता है अतः वह बन्ध कषाय से युक्त होता है। इस तरह से पुनः हेतु का निर्देश किया है। तीव्र, मन्द और मध्यम कषायों के अनुरूप स्थिति और अनुभाग में भेद होता है इसका ज्ञान कराने के लिए कहते हैं—

स्वयं आत्मा अपने को कसता है - कर्मों को ग्रहण करता है यदि ऐसा माना जाए तो इसमें कोई दोष नहीं होगा क्योंकि वह जीव है और 'जीव' यह संज्ञा प्राणों को धारण करने से और आयु के सम्बन्ध से होती है। किन्तु आयु के अभाव में जीव की यह संज्ञा सार्थक नहीं है। इसलिए यह सकषायी प्राणों का धारक संसारी जीव ही कर्मयोग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है।

'कर्म योग्यान्' ऐसा लघु निर्देश होने से भी 'कर्म के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है' यह बात सिद्ध हो जाती। पुनः 'कर्मणः योग्यान्' ऐसा क्यों कहा, ऐसी जिज्ञासा होने पर कहा जाएगा, यहाँ पर पृथक् विभक्ति करना अर्थात् समास न करना भिन्न वाक्य को बतलाने के लिए है। वह भिन्न वाक्य क्या है, इस जिज्ञासा के समाधान में कहा जाएगा कि 'कर्म से' जीव कषायसहित होता है यह भिन्न वाक्य है। अर्थात् 'कर्मणः' इसमें हेतु अर्थ में पंचमी विभक्ति का निर्देश है। 'कर्म' हेतु से जीव कषाय से परिणत होता है और कर्म रहित जीव के कषाय का अभाव है। और कषाय से सहित हुआ यह जीव 'कर्म के योग्य' पुद्गलों को ग्रहण करता है। यहाँ 'कर्मणः' को षष्ठी विभक्त्यन्त मानकर अर्थ किया जाता है। इस तरह यह 'कर्मणः' पद दोनों तरफ लगता है, इस बात को बतलाने के लिए ही यहाँ समास नहीं किया गया है। इससे यह भी अर्थ स्पष्ट हो जाता है कि जीव और पुद्गल कर्म का सम्बन्ध अनादि काल से चला आ रहा है।

---

१. क जीवनात् प्राणधारणादायुःसंबन्धात् ।   २. क चोद्यं ।

आत्यन्तिकीं शुद्धिं दधतः सिद्धस्येव बन्धाभावः प्रसज्येत इति द्वितीयवाक्यं योग्यान् पुद्गलान् गृह्णातीति। अर्थवशाद्विभक्तिपरिणाम इति पूर्वं हेतुसम्बन्धं त्यक्त्वा षष्ठीसंबन्धमुपैति कर्मणो योग्यानिति। पुद्गलवचनं कर्मणस्तादात्म्यख्यापनार्थं तेनात्मगुणोऽदृष्टो निराकृतो भवति। संसारहेतुर्न भवति यतो गृह्णातीति हेतुहेतुमद्भावख्यापनार्थः। अतो मिथ्यादर्शनाद्यावेशादार्द्रीकृतस्यात्मनः 'सर्वयोगविशेषसूक्ष्मैकक्षेत्रावगाहिनामनन्तप्रदेशानां पुद्गलानां कर्मभावयोग्यानामविभागेनोपश्लेषो बन्ध इत्याख्यायते। यथा भाजनविशेषक्षिप्तानां विविधरसपुष्प-फलानां मदिराभावेन परिणामस्तथा पुद्गलानामप्यात्मनि स्थितानां योगकषायवशात्कर्मभावेन परिणामो वेदितव्यः, स वचनमन्यनिवृ त्यर्थं। स एव बन्धो नान्योऽस्ति तेन गुणगुणिबन्धो निर्वर्तितो भवति। तुबन्धोऽबकार-

---

उपर्युक्त कथन से अर्थात् जीव और पुद्गल का अनादि सम्बन्ध स्वीकार कर लेने से इस आशंका का निरसन हो जाता है, कि अमूर्तिक जीव मूर्तिक कर्म से कैसे बंधता है ? क्योंकि कर्म से सहित जीव मूर्तिक भी माना गया है। जीव एकान्त से अमूर्तिक नहीं है। अतएव मूर्तिक कर्मों से बँधता रहता है।

बन्ध को अनादि न मानने से क्या हानि है ?

यदि बन्ध को आदिमान् स्वीकार किया जाये तब तो, जीव पहले कभी शुद्ध था किन्तु कर्मबन्ध होने पर अशुद्ध हो गया ऐसा अर्थ हो जाएगा। और तब तो आत्यन्तिक शुद्धि को धारण करते हुए सिद्ध जीवों के जैसे पुनः कभी बन्ध नहीं होता है ऐसा उनके भी नहीं होना चाहिए। परन्तु ऐसा है नहीं। अतः 'कर्म से सहित जीव कर्म के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है' ऐसा द्वितीय वाक्य है। 'अर्थ के वश से विभक्ति बदल जाती है' इस नियम के अनुसार 'कर्मणः' शब्द पहले की पचम्यन्त हेतु वाच्य विभक्ति को छोड़कर षष्ठी सम्बन्ध को प्राप्त कर लेता है इससे 'कर्म के योग्य' ऐसा अर्थ हो जाता है।

यहाँ पर 'पुद्गल' शब्द कर्म से तादात्म्य को बतलाने के लिए है अर्थात् 'पुद्गलान्' ऐसे शब्द से यह समझना कि कर्म पौद्गलिक ही हैं, कर्मों का पुद्गल के साथ तादात्म्य सम्बन्ध है। इस कथन से जो अदृष्टकर्म को आत्मा का गुण मानते हैं उनका निराकरण हो जाता है। क्योंकि आत्मा का गुण कभी भी संसार का कारण नहीं हो सकता है। इसलिए 'गृह्णाति' यह क्रिया कारण और कार्य भाव को बतलाने के लिए है। अर्थात् जीव का कषाय परिणाम कारण है और पुद्गल कर्मों का आना कार्य है अतः जीव कर्मरूप परिणत न होकर कर्मरूप से परिणत पुद्गलों को ग्रहण कर लेता है। इससे जीव और कर्म का संयोग सम्बन्ध स्पष्ट हो जाता है।

अतः मिथ्यादर्शन आदि के आवेश से आर्द्र हुए आत्मा के सर्व योग विशेष से सूक्ष्म और एकक्षेत्रावगाही, अनन्त प्रदेशरूप, कर्म भाव के योग्य पुद्गलों का निर्विभाग रूप जो संश्लेष सम्बन्ध हो जाता है वह बन्ध कहलाता है। जिस प्रकार से वर्तन विशेष में रखे गये विविध रस युक्त पुष्प और फलों का मदिरा भाव से परिणमन हो जाता है उसी प्रकार से आत्मा में स्थित पुद्गलों का भी योग और कषाय के वश से कर्मभाव से परिणमन हो जाता है, ऐसा समझना चाहिए।

'स बन्धः' इसमें जो 'स' शब्द है वह अन्य की निवृत्ति के लिए है अर्थात् बन्ध तो बस यही

---

1. ब सर्वतोयोगविशेषात्।

वार्थः। कर्मादिसाधनो बन्धशब्दो व्याख्यात इति ॥१२२६॥

आह, किमयं बन्ध एकरूप एवाहोस्वित्प्रकारा अप्यस्य सन्तीत्युच्यते—

पयडिट्ठिदिअणुभागप्पदेसबंधो य चदुविहो होइ।
दुविहो य पयडिबंधो मूलो तह उत्तरो चेव ॥१२२७॥

बन्धशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते। प्रकृतिबन्धः, स्थितिबन्धः, अनुभागबन्धः, प्रदेशबन्ध इति चतुर्विधो बन्धो भवति। प्रकृतिबन्धस्तु द्विविधः मूलस्तथोत्तरो, मूलप्रकृतिबन्ध उत्तरप्रकृतिबन्धश्चेति। प्रकृतिः स्वभावः निम्बस्य का प्रकृतिस्तिक्तता, गुडस्य का प्रकृतिर्मधुरता तथा ज्ञानावरणस्य का प्रकृतिरर्थानवगमः, दर्शनावरणस्यार्थानालोकनं, वेद्यस्य सदसल्लक्षणस्य सुखदुःखसंवेदनं, दर्शनमोहस्य तत्त्वार्थाश्रद्धानं, चारित्रमोहस्यासंयमः, आयुषो भवधारणं, नाम्नो नरकादिनामकरणं, गोत्रस्योच्चैर्नीचैः स्थानसंशब्दनम्, अन्तरायस्य दानादिविघ्नकरणम्। तदेव लक्षणं कार्यं प्रक्रियते प्रभवत्यस्या इति प्रकृतिः। तत्स्वभावाप्रच्युतिः स्थितिः, यथाऽजागोमहिष्यादिक्षीराणां माधुर्यस्वभावादप्रच्युतिः स्थितिः। तद्रसविशेषोऽनुभवः यथाऽजागोमहिष्यादिक्षीराणां तीव्रमन्दादिभावेन रसविशेषस्तथा कर्मपुद्गलानां स्वगतसामर्थ्यविशेषोऽनुभवः। इयत्तावधारणं प्रदेशः कर्म-

---

है अन्य कुछ बन्ध नहीं है। अर्थात् जीव के कर्मपुद्गलों के साथ सम्बन्ध होना बन्ध कहलाता है, इस कथन से जो गुण और गुणी में बन्ध मानते हैं उनका निराकरण हो जाता है। गाथा में 'तु' शब्द अवधारण—निश्चय के लिए समझना। यहाँ कर्मादि साधनवाला बन्ध शब्द कहा गया है।

यह बध एकरूप है अथवा इसके प्रकार भी है, इसे ही बताते हैं—

गाथार्थ—प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश रूप से बन्ध चार प्रकार का होता है, और प्रकृतिबन्ध दो प्रकार का है—मूलप्रकृतिबन्ध तथा उत्तरप्रकृतिबन्ध ॥१२२७॥

आचारवृत्ति—बन्ध शब्द का प्रत्येक के साथ सम्बन्ध करना। प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्ध, इस प्रकार से बन्ध चार भेद रूप है। मूलप्रकृतिबन्ध और उत्तर-प्रकृतिबन्ध ये प्रकृतिबन्ध के दो भेद हैं।

प्रकृति स्वभाव है, जैसे नीम का स्वभाव तिक्तता—कड़ुवापन है और गुड़ का स्वभाव मधुरता है। वैसे ही ज्ञानावरण का स्वभाव पदार्थों का ज्ञान नहीं होने देना है। दर्शनावरण का स्वभाव पदार्थों का अवलोकन रूप दर्शन नहीं होने देना, साता-असाता रूप वेदनीय का स्वभाव है सुख-दुःख का संवेदन कराना, दर्शनमोह का स्वभाव है तत्त्वार्थ का श्रद्धान नहीं होने देना, चारित्रमोह का स्वभाव है संयम नहीं होने देना। भवधारण कराना आयु का स्वभाव है। नरक आदि नाम के लिए कारण होना नामकर्म का स्वभाव है। ऊँच-नीच स्थान को कहलाना गोत्र का स्वभाव है। दान आदि में विघ्न करना अन्तराय का स्वभाव है। वही-वही लक्षण रूप कार्य जिसके द्वारा प्रकर्षरूप से किया जाता है अथवा जिससे वह ही कार्य उत्पन्न होता है वह 'प्रकृति' कहलाती है। अपने स्वभाव से च्युत नहीं होना स्थिति है। जैसे बकरी, गाय, भैंस आदि के दूध का अपने माधुर्य स्वभाव से च्युत नहीं होना उनकी स्थिति है। उनका रस विशेष अनुभव है। जैसे बकरी, गाय, भैंस आदि के दूध में तीव्र, मन्द आदि भाव से रसविशेष या मधुरता होती है, वैसे ही कर्मपुद्गलों में अपने में होनेवाली सामर्थ्यविशेष का नाम अनुभव या

भावपरिणतपुद्गलस्कन्धानां परमाणुपरिच्छेदेनावधारणं प्रदेश इति। एवं चतुर्विधः एव बन्ध इति ॥१२२७॥

तत्राद्यस्य मूलप्रकृतिबन्धस्य भेददर्शनार्थमाह—

णाणस्स दंसणस्स य आवरणं वेदणीय मोहणियं।
आउगणामा गोदं तहंतरायं च मूलाओ ॥१२२८॥

आवृणोत्याव्रियतेऽनेनेति वाऽऽवरणं तत्प्रत्येकमभिसंबध्यते, ज्ञानस्यावरणं दर्शनस्यावरणम्। वेदयति वेद्यतेऽनेनेति वा वेदनीयम्। मोहयति मुह्यतेऽनेनेति वा मोहनीयम्। एत्यनेन नरकादिभवमित्यायुः। नमयत्यात्मानं नम्यतेऽनेनेति वा नाम। उच्चैर्नीचैश्च गूयते शब्दयते गोत्रम्। दातृदेयादीनामन्तरम् मध्यमे[1] यातीत्यन्तरायः। तथा तेन प्रकारेण मूला उत्तरप्रकृत्याधारभूता अष्टौ प्रकृतयो भवन्तीति। स एषः मूलः प्रकृतिबन्ध इति।
॥१२२८॥

इदानीमुत्तरप्रकृतिबन्धमाह—

पंच णव दोण्णि अट्ठावीसं चदुरो तहेव बादालं।
दोण्णि य पंच य भणिया पयडीओ उत्तरा चेव ॥१२२९॥

अनुभाग है। इयत्ता—'इतना है' ऐसा निश्चय होना प्रदेश है। कर्मभाव से परिणत हुए पद्गलों में पुद्गलस्कन्धों का परमाणु की गणना से निश्चय करना प्रदेश है। इस तरह ये चार प्रकार बन्ध के हैं।

उनमें आदि के मूल प्रकृतिबन्ध के भेदों को दिखलाते हैं—

गाथार्थ—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय ये आठ मूलप्रकृतियाँ हैं ॥१२२८॥

आचारवृत्ति—जो ढकता है अथवा जिसके द्वारा ढका जाता है वह आवरण है। उसे ज्ञान और दर्शन इन दोनों में लगाने से ज्ञानावरण और दर्शनावरण ये दो भेद हो जाते हैं। जो वेदन करता है अथवा जिसके द्वारा वेदन—अनुभव कराया जाता है वह वेदनीय है। जो मोहित करता है अथवा जिसके द्वारा मोहित किया जाता है वह मोहनीय है। जिसके द्वारा नरक आदि भव प्राप्त किया जाता है वह आयु है। जो आत्मा को नमाता है—अनेक नाम प्राप्त कराता अथवा जिसके द्वारा आत्मा झुकाई जाती है वह नाम है। जिसके द्वारा ऊँच-नीच शब्द से पुकारा जाता है वह गोत्र है। जो दाता और देय—देनेयोग्य पात्र आदि में अन्तर डाल देता है अर्थात् इनके मध्य में आ जाता है वह अन्तराय है। इस प्रकार ये आठ मूलप्रकृतियाँ हैं जो कि उत्तरप्रकृतियों के लिए आधारभूत हैं। ये मूलप्रकृतिबन्ध के आठ भेद हैं।

अब उत्तरप्रकृतिबन्ध कहते हैं—

गाथार्थ—पाँच, नौ, दो, अट्ठाईस, चार, ब्यालीस, दो और पाँच ये उत्तरप्रकृतियाँ कही गयी हैं ॥१२२९॥

---

1. क मध्यमेत्यन्तरायः।

ज्ञानावरणस्य पंच प्रकृतयः, दर्शनावरणस्य नव प्रकृतयः, वेदनीयस्य द्वे प्रकृती, मोहनीयस्याष्टाविंशतिः प्रकृतयः, आयुषश्चतस्रः प्रकृतयः, नाम्नो द्विचत्वारिंशत्प्रकृतयः, गोत्रस्य द्वे प्रकृती, अन्तरायस्य पंच प्रकृतयः। अथवा पंचप्रकृतयो ज्ञानावरणमित्येवमादि। इत्येवं नामत्रिनवत्यपेक्षयाऽष्टचत्वारिंशच्छतमुत्तरप्रकृतयो भवन्तीति वेदितव्यम् ॥१२२९॥

के ते ज्ञानावरणस्य पंच भेदा इत्याशंकायामाह—

आभिणिबोहियसुदओहीमणपज्जयकेवलाणं च।
आवरणं णाणाणं णादव्वं सव्वभेदाणं ॥१२३०॥

अभिमुखो नियतो बोध अभिनिबोधः, स्थूलवर्तमानानन्तरिता अर्था अभिमुखाश्चक्षुरिंद्रिये रूपं नियमितं श्रोत्रेन्द्रिये शब्दः घ्राणेन्द्रिये गन्धः रसनेन्द्रिये रसः स्पर्शनेन्द्रिये स्पर्शः नोइन्द्रिये दृष्टश्रुतानुभूता नियमिताः, अभिमुखेषु नियमितेष्वर्थेषु यो बोधः स अभिनिबोधः। अभिनिबोध एवाभिनिबोधकं ज्ञानमत्र विशेषस्य सामान्यरूपत्वात्। आभिनिबोधिकं विशेषेणान्येभ्योऽवच्छेदकमतो न पुनरुक्तदोषः। श्रुतं मतिपूर्वमिन्द्रियगृहीतार्थात्पृथग्भूतमर्थग्रहणं यथा घटशब्दाद् घटार्थप्रतिपत्तिर्धूमाच्चाग्न्युपलम्भ इति। [3]अवधानादवधिः

आचारवृत्ति—ज्ञानावरण की पाँच प्रकृतियाँ हैं, दर्शनावरण की नौ प्रकृतियाँ हैं, वेदनीय की दो प्रकृतियाँ हैं, मोहनीय की अट्ठाईस प्रकृतियाँ है, आयु की चार प्रकृतियाँ हैं, नामकर्म की ब्यालीस प्रकृतियाँ हैं, गोत्र की दो प्रकृतियाँ हैं, और अन्तराय की पाँच प्रकृतियाँ हैं। अथवा पाँच प्रकृतिरूप ज्ञानावरण है इत्यादि रूप से समझ लेना। इस प्रकार से नामकर्म की तिरानवें प्रकृतियों की अपेक्षा करने से एक सौ अड़तालीस उत्तरप्रकृतियाँ होती हैं।

ज्ञानावरण के वे पाँच भेद कौन हैं, ऐसी आशंका होने पर कहते हैं—

गाथार्थ—आभिनिबोधिक, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल इन सर्वभेदरूप ज्ञानों का आवरण जानना ॥१२३०॥

आचारवृत्ति—अभिमुख और नियत का बोध—ज्ञान आभिनिबोधिक ज्ञान है। स्थूल वर्तमान और अनन्तरित—योग्य क्षेत्र में अवस्थित पदार्थों को अभिमुख कहते हैं और जिस-जिस इन्द्रिय का जो विषय नियमित है—निश्चित है उसे नियत कहते हैं। जैसे चक्षु इन्द्रिय का विषय रूप नियमित है, श्रोत्रेन्द्रिय का शब्द, घ्राणेन्द्रिय का गन्ध, रसनेन्द्रिय का रस, स्पर्शनेन्द्रिय का स्पर्श और नोइन्द्रिय के देखे-सुने और अनुभव में आये हुए पदार्थ नियमित हैं। इन आभिमुख और नियमित पदार्थों का जो ज्ञान है वह अभिनिबोध है। यह अभिनिबोध ही आभिनिबोधिक ज्ञान है। यहाँ पर विशेष को सामान्यरूप कहा है। अर्थात् आभिनिबोधिक ज्ञान विशेष होने से अन्य ज्ञानों से अपने को अवच्छेदक—पृथक् करनेवाला है इसलिए पुनरुक्त दोष नहीं आता है। इसे ही मतिज्ञान कहते हैं।

श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक होता है और यह इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण किये गये विषय से भिन्न विषय को ग्रहण करता है। जैसे घट शब्द से घट अर्थ का ज्ञान होना और धूम से अग्नि

---

१. क नियमितो। २. क विशेष्यं तस्य। ३. क अवाग्धानादवधिः।

पुद्गलमर्यादावबोधः। परकीयमनोगतार्थो मन इत्युच्यते तत्परि समन्तादयत इति मनःपर्ययः। त्रिकालगोचरानन्तपर्यायाणाम् अवबोधः केवलं सर्वथा शुद्धः। ज्ञानशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते। आभिनिबोधिकज्ञानं, श्रुतज्ञानं, अवधिज्ञानं, मनःपर्ययज्ञानं चेति। आवरणशब्दोऽपि प्रत्येकमभिसंबध्यते; आभिनिबोधिकज्ञानावरणं, श्रुतज्ञानावरणं, अवधिज्ञानावरणं, मनःपर्ययज्ञानावरणं, केवलज्ञानावरणं चेति। एतेषां सर्वभेदानामावरणं ज्ञातव्यम्। आभिनिबोधिकं ज्ञानमवग्रहेहावायधारणाभेदेन चतुर्विधम्, विषयविषयिसन्निपातानन्तरम[1]वग्रहणमवग्रहः। सोऽप्यर्थव्यंजनावग्रहभेदेन द्विविधः। अप्राप्तार्थग्रहणमर्थावग्रहो यथा चक्षुरिन्द्रियेण रूपग्रहणं, प्राप्तार्थग्रहणं। व्यंजनावग्रहो यथा स्पर्शनेन्द्रियेण स्पर्शग्रहणम्। अवगृहीतस्यार्थस्य विशेषाकांक्षणमीहा, योऽवग्रहेण गृहीतोऽर्थस्तस्य विशेषाकांक्षणं भवितव्यता [2]प्रत्ययं। यथा कंचिद् दृष्ट्वा किमेषो भव्य, उत अभव्यः, भव्येन भवितव्यमिति विशेषाकांक्षणमीहा। ईहितस्यार्थस्य भवितव्यतारूपस्य संदेहापोहनमवायः। भव्यएवायं नाभव्यः भव्यत्वाविनाभाविसम्यग्-

---

का ज्ञान होना। अर्थात् घट शब्द सुना यह मतिज्ञान है, पुनः घट के अर्थ को समझा यह श्रुतज्ञान है। धुआँ देखकर अग्नि को जाना यह भी श्रुतज्ञान है।

अवधान से जानना अवधिज्ञान है यह मर्यादा से युक्त पुद्गल पदार्थ के ज्ञानरूप है।

दूसरे के मन में स्थित पदार्थ मन कहलाता है। उसको चारों तरफ से जो 'अयते' जानता है वह मनःपर्ययज्ञान है।

त्रिकालगोचर अनन्त पर्यायों को जानना केवलज्ञान है। यह ज्ञान सर्वथा शुद्ध है।

ज्ञान शब्द प्रत्येक के साथ लगाने से आभिनिबोधिकज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान ये पाँच ज्ञान होते हैं।

आवरण शब्द भी प्रत्येक के साथ लगाने से आभिनिबोधिकज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मनःपर्ययज्ञानावरण और केवलज्ञानावरण ये पाँच ज्ञानावरण के भेद हो जाते हैं।

अभिनिबोधिकज्ञान अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा के भेद से चार प्रकार का है। विषय पदार्थ और विषयी—इन्द्रिय के सम्बन्ध होने के अनन्तर जो अवग्रहण —ज्ञान होता है वह अवग्रह है इसके भी अर्थावग्रह और व्यंजनावग्रह की अपेक्षा दो भेद हो जाते हैं। अप्राप्त अर्थ को ग्रहण करना अर्थावग्रह है। जैसे चक्षु इन्द्रिय से रूप को ग्रहण करना, अर्थात् चक्षु इन्द्रिय अप्राप्यकारी है। तथा प्राप्त अर्थ को ग्रहण करना व्यंजनावग्रह है। जैसे स्पर्शन इन्द्रिय से स्पर्श का ग्रहण करना। यहाँ स्पर्शनेन्द्रिय से स्पर्श का जो ज्ञान होता है वह वस्तु से सम्बन्ध होने पर होता है, बिना स्पर्श के स्पर्शज्ञान, रसज्ञान, गन्धज्ञान और शब्दज्ञान नहीं होता है।

गृहीत पदार्थ के विशेष की आकांक्षा होना ईहा है, अर्थात् अवग्रह ने जिस पदार्थ को ग्रहण किया है उसके विशेष धर्म को जानने का इच्छा का होना ईहा है—यह भवितव्यता प्रत्यय सम्भवात्मक ज्ञान रूप है। जैसे किसी को देखकर यह भव्य है अथवा अभव्य है, ऐसी जिज्ञासा होने पर यह भव्य होगा ऐसा जो भवितव्यतारूप ज्ञान है वह विशेषाकांक्षारूप है। इसी का नाम ईहा है।

ईहा से जाने गये पदार्थ में जो कि भवितव्यतारूप है, उसमें सन्देह का दूर हो जाना

---

१. क मावग्रहण-। २. क प्रत्ययः।

दर्शनज्ञानचारित्राणामुपलम्भात् । निर्णीतस्यार्थस्य कालान्तरेऽविस्मृतिर्धारणा, यस्माज्ज्ञानात्कालान्तरेऽप्य-विस्मरणहेतुभूतो जीवे संस्कार उत्पद्यते तज्ज्ञानं धारणा । न चैतेषामवग्रहादीनां चतुर्णां सर्वत्र क्रमेणैवोत्पत्ति-रवग्रहानुपलंभात् ततः क्वचिदवग्रह एव, क्वचिदवग्रहो धारणा च, क्वचिदवग्रह ईहा च, क्वचिदवग्रहेहावाय-धारणा इति । तत्र बहुबहुविधक्षिप्रानि:सृतानुक्तध्रुवसेतरभेदेनैकैको द्वादशविधः । तत्र बहूनामेकवारेण ग्रहणं बह्ववग्रहः युगपत्पंचांगुलिग्रहणवत् । एकस्यैवोपलम्भ [एकावग्रह.] एकाङ्गुलिग्रहणवत् । बहुप्रकाराणां हस्त्यश्वगोमहिष्यादीनां नानाजातीनां ग्रहणं बहुविधावग्रहः । एकजातिग्रहणमेकविधावग्रहः । आशु ग्रहणं क्षिप्रावग्रहः । चिरकालग्रहणमक्षिप्रावग्रहः । अभिमुखार्थग्रहणं नि:सृतावग्रहः । अनभिमुखार्थग्रहणमनि:सृताव-ग्रहः । अथवोपमानोपमेयभावेन ग्रहणं नि:सृतावग्रहस्तद्विपरीतोऽन्यथा, यथा कमलदलनेत्रा तद्विपरीतो वा । नियमितगुणविशिष्टार्थग्रहणमुक्तावग्रहो, यथा चक्षुरिन्द्रियेण धवलग्रहणं अनियमितगुणविशिष्टद्रव्यग्रहण-मनुक्तावग्रहः यथा चक्षुरिन्द्रियेण द्रव्यान्तरस्य । निर्णयेन ग्रहणं ध्रुवावग्रहस्तद्विपरीतोऽध्रुवावग्रहः । एवमीहा-

---

अवाय है । जैसे यह भव्य ही है, अभव्य नहीं है क्योंकि इसमें भव्यत्व के अविनाभावी सम्यग्दर्शन ज्ञान और चारित्र का सद्भाव है । यह निश्चय ज्ञान अवाय है ।

अवाय से निर्णीत पदार्थ को कालान्तर में भी नहीं भूलना धारणा है । जिस ज्ञान से कालान्तर में भी अविस्मरण में कारणभूत ऐसा संस्कार जीव में उत्पन्न हो जाता है वह ज्ञान धारणा है ।

इन अवग्रह आदि चारों ज्ञानों की सभी जीवों में क्रमसे उत्पत्ति होती ही हो ऐसा नियम नहीं देखा जाता है । इसलिए किसी जीव के अवग्रह ही होता है, किसी के अवग्रह और धारणा हो जाते हैं, किसी में अवग्रह और ईहा हो जाते हैं और किसी जीव के अवग्रह, ईहा, अवाय और धारण ये चारों ही होते हैं ।

अवग्रह के विषय बहु, बहुविध, क्षिप्र, अनि:सृत, अनुक्त और ध्रुव ये छह भेद तथा उनसे उल्टे एक, एकविध, अक्षिप्र, नि:सृत, उक्त और अध्रुव ये छह ऐसे बारह भेद होते हैं । ईहा आदि एक-एक के भी ये बारह भेद होते हैं ।

बहुत से पदार्थों का एक बार मे ग्रहण करना बहुअवग्रह है; जैसे एक साथ पाँचों अंगुलियों को ग्रहण करना । बहु प्रकार के पदार्थो का अर्थात् हाथी, घोड़ा, गाय, भैंस आदि अनेक जातिवाले जीवों का ग्रहण करना बहुविध अवग्रह है । एक वस्तु को ग्रहण करना एक अवग्रह है और एक जाति के जीवों का ग्रहण करना एकविध अवग्रह है । शीघ्र ग्रहण करना क्षिप्र अवग्रह है, चिरकाल से ग्रहण करना अक्षिप्र अवग्रह है । अभिमुख—सन्मुख पदार्थ को ग्रहण करना नि:सृत अवग्रह है, अनभिमुख पदार्थ का ग्रहण अनि:सृत अवग्रह है । अथवा उपमान और उपमेय भाव रूप से ग्रहण करना नि:सृत अवग्रह है और उससे विपरीत ग्रहण करना अनि:सृत अवग्रह है । जैसे कि कमलदलनेत्रा—कमल के दल के समान जिसके नेत्र हैं ऐसी स्त्री को कमलदलनेत्रा कहते हैं । यहाँ कमल उपमान है और नेत्र उपमेय । सुन्दर नेत्रवाली स्त्री को देखकर उपमान उपमेय भाव से उसे कमलदलनेत्रा कहना यह नि:सृत अवग्रह है । इससे विपरीत—बिना देखे ही ज्ञान हो जाना अनि:सृत अवग्रह है । नियमित गुणों से विशिष्ट अर्थ को ग्रहण करना उक्त अवग्रह है; जैसे चक्षु इन्द्रिय के द्वारा धवल पदार्थ का ग्रहण । अनियमित गुण से विशिष्ट

ईहादयोऽपि द्वादशभेदा ज्ञातव्याः। [यथा चक्षुरिन्द्रियस्याष्टचत्वारिंशद्भेदास्तथा पंचानामिन्द्रियाणां मनसश्च मिलित्वाष्टाशीत्युत्तरद्विशतभेदा भवन्ति तेषु व्यंजनावग्रहस्याष्टचत्वारिंशद्भेदानां मिश्रणे कृते सति षट्त्रिंशदुत्तरत्रिशतभेदा आभिनिबोधिकस्य ज्ञानस्य भवन्ति] ज्ञानभेदादावरणस्यापि भेदो द्रष्टव्य इति। श्रुतज्ञानमपि पर्यायादिभेदेन विंशतिभेदम्। पर्यायः, पर्यायसमासः, अक्षरम्, अक्षरसमासः, पदं, पदसमासः, संघातः, संघातसमासः, प्रतिपत्तिः, प्रतिपत्तिसमासः, अनियोगः, अनियोगसमासः, प्राभृतकः, प्राभृतकसमासः प्राभृतकप्राभृतकः, प्राभृतकप्राभृतकसमासः, वस्तु, वस्तुसमासः, पूर्वं, पूर्वसमासः। तत्राक्षराणां सद्भावात् अक्षरं केवलज्ञानं तस्यानन्तभागः पर्यायलब्ध्यक्षरसंज्ञकं केवलज्ञानमिव निरावरणं सूक्ष्मनिगोदस्य लब्धि भवति तस्यानन्तभागेनाधिकं पर्यायसंज्ञकं भवति ज्ञानं तस्मादुत्पन्नं श्रुतमपि पर्यायसंज्ञकं कार्ये कारणोपचारात्। तदनन्तभागेन स्वकीयेनाधिकं पर्यायसमासः। एवमनन्तभागासंख्यातगुणानन्तगुणवृद्ध्या चैकाक्षरं भवति

पदार्थ को ग्रहण करना अनुक्त अवग्रह है; जैसे चक्षु इन्द्रिय से द्रव्यान्तर को ग्रहण करना। निर्णय से ग्रहण करना ध्रुव अवग्रह है और उससे विपरीत अध्रुव अवग्रह है। ये बारह भेद जिस प्रकार से अवग्रह में लगाये हैं उसी प्रकार से ये ईहा आदि के भी बारह-बारह भेद जानना चाहिए। तथा जिस प्रकार से ये अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा के बारह-बारह भेद करके अड़तालीस भेद चक्षु इन्द्रिय के बताये गये हैं वैसे ही पाँचों इन्द्रिय अर्थात् शेष चार इन्द्रियों के और छठे मन के अड़तालीस-अड़तालीस भेद होने से सब मिलकर दो सौ अठासी भेद हो जाते हैं। इनमें व्यंजनावग्रह के अड़तालीस भेद मिला देने पर आभिनिबोधिक ज्ञान के तीन सौ छत्तीस भेद हो जाते हैं। अर्थात् व्यंजनावग्रह चक्षु और मन से नहीं होता है अतः उस अवग्रह को चार इन्द्रिय से गुणा करके बहु आदि बारह भेदों से गुणा कर देने पर अड़तालीस भेद हो जाते हैं, सो २८८+४८=३३६ कुल मिलकर मतिज्ञान के भेद होते हैं। इन ज्ञान के भेदों से आवरण के भी उतने ही भेद जानना चाहिए।

श्रुतज्ञान भी 'पर्याय' आदि के भेदों से बीस प्रकार का है। पर्याय, पर्यायसमास, अक्षर, अक्षरसमास, पद, पदसमास, संघात, संघातसमास, प्रतिपत्ति, प्रतिपत्तिसमास, अनियोग, अनियोगसमास, प्राभृतक, प्राभृतकसमास, प्राभृतकप्राभृतक प्राभृतकप्राभृतकसमास, वस्तु, वस्तुसमास, पूर्व और पूर्वसमास।

उनमें से अक्षरों का सद्भाव होने से केवलज्ञान अक्षर है। उसके अनन्तवें भाग का पर्याय लब्ध्यक्षर नाम है। यह ज्ञान केवलज्ञान के समान निरावरण है। यह ज्ञान सूक्ष्म निगोद जीव के होता है। यह अपने अनन्तभाग से अधिक पर्यायसंज्ञक ज्ञान कहलाता है। उससे उत्पन्न हुए श्रुत की भी पर्याय संज्ञा है चूँकि यहाँ कार्य में कारण का उपचार है। अर्थात् लब्धि नाम श्रुतज्ञानावरण के क्षयोपशम का है और अक्षर नाम अविनश्वर का है इसलिए इस ज्ञान को लब्ध्यक्षर कहते हैं क्योंकि इतने इस क्षयोपशम का जीव के कभी भी विनाश नहीं होता है। यह सूक्ष्मनिगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीव के उत्पन्न होने के प्रथम समय में स्पर्शन-इन्द्रियजन्य मतिज्ञान पूर्वक लब्ध्यक्षर रूप श्रुतज्ञान होता है।

यही ज्ञान जब अपने अनन्त भाग से अधिक होता है तब पर्यायसमास होता है।

वृद्धीरीदृशी: असंख्यातलोकमात्रा: षड्वृद्धीरतिक्रम्य पर्यायाक्षरसमासस्य सर्वपश्चिमो विकल्पो भवति तदनन्त- भागाधिकमक्षरं नाम श्रुतज्ञानं भवति। कथं ? द्रव्यश्रुतप्रतिबद्धैकाक्षरोत्पन्नस्योपचारेणाक्षरव्यपदेशात्। तस्योपर्येकाक्षरे वृद्धिं गतेऽक्षरसमास: अक्षरस्यानन्तभागे वा वृद्धिं गतेऽक्षरसमासो भवति एवं यावत्पदं न प्राप्तं तावदक्षरसमास:। तस्योपर्येकाक्षरे वृद्धिं गते पदं षोडशशतचतुस्त्रिंशत्कोटीभिस्त्र्यशीतिलक्षाधिकाभिरष्ट- सप्ततिशताधिकाभिरष्टाशीत्यक्षराधिकाभिश्चाक्षराणां गृहीताभिरेकं द्रव्यं श्रुतपदं तस्मादुत्पन्नज्ञानमप्युप- चारेण पदसंज्ञकं श्रुतम्। तस्योपर्येकाक्षरे वृद्धिं गते पदसमास:। एवमेकैकाक्षरवृद्धिक्रमेण नेतव्यं यावत्संघातं न प्राप्नोति एक विकल्पोनं तत्सर्वं पदसमास:। तत एकाक्षरे वृद्धिं गते संघात:। संख्यातपदैर्भवति यावद्भि: पदैर्नरकगति: प्ररूप्यते तावद्भिर्भवति तस्मादुत्पन्नं ज्ञानमपि संघातसंज्ञकं, एतस्योपर्येकाक्षरे वृद्धिं गते संघातसमास:। एकाक्षरे प्रविष्टे प्रतिपत्ति: स्यात् यावद्भि: पदैरेकगतीन्द्रियकाययोगादय: प्ररूप्यन्ते तावद्भि: पदैर्गृहीतै: प्रतिपत्तिश्रुतं भवति, तस्योपर्येकाक्षरे वृद्धिं गते प्रतिपत्तिसमास: यावदनुयोगो न भवति। एकाक्षरे वृद्धिं गतेऽनियोगो भवति चतुर्दशमार्गणाप्ररूपकस्तत एकाक्षरे वृद्धेऽनियोगसमास:। एकाक्षरेण प्राभृतकं भवति संख्यातानियोगद्वारैस्तत एकैकाक्षरवृद्धिक्रमेण यावत्प्राभृतकं न परिपूर्णं तत्सर्वं

इस प्रकार अनन्तभाग, असंख्यातगुण और अनन्तगुण वृद्धि से एक अक्षर होता है। इस प्रकार की असंख्यात लोक मात्र बार षट् स्थान वृद्धि के हो जाने पर उसके अनन्तर जो पर्यायाक्षर समास का अन्तिम विकल्प हो जाता है उसके अनन्तवें भाग अधिक अक्षर नाम का श्रुतज्ञान होता है।

वह कैसे ? क्योंकि द्रव्यश्रुत से संबन्धित ऐसे एकाक्षर से उत्पन्न हुए ज्ञान को उपचार से अक्षर कहते हैं। इसके ऊपर एक अक्षर की वृद्धि हो जाने पर अक्षरसमास होता है। अथवा अक्षर के अनन्तवें भाग प्रमाण वृद्धि के हो जाने पर अक्षरसमास होता है। इस तरह जब तक पदज्ञान प्राप्त न हो तब तक अक्षरसमास ज्ञान ही रहता है। इसके ऊपर एक अक्षर की वृद्धि होने पर पदज्ञान होता है। सोलह सौ चौंतीस करोड़ तिरासी लाख अठत्तर सौ अठासी अक्षरों का एक द्रव्य श्रुतपद होता है, उससे उत्पन्न हुए ज्ञान को भी उपचार से पद नामक श्रुत- ज्ञान कहा है। उसके ऊपर एक अक्षर की वृद्धि होने पर पदसमास ज्ञान होता है।

इस तरह एक-एक अक्षर की वृद्धि के क्रम से जब तक संघात ज्ञान नहीं हो जाता है तब तक सभी को पदसमास कहते हैं। उससे ऊपर एक अक्षर के वृद्धि होने से संघात ज्ञान होता है। जितने पदों से नरकगति का निरूपण होता है उतने पदों का नाम संघात है। इससे उत्पन्न हुए ज्ञान को भी संघात ज्ञान कहते हैं। इसके ऊपर एक अक्षर की वृद्धि होने पर संघातसमास होता है। इसमें एकाक्षर मिला देने पर प्रतिपत्ति नाम का श्रुतज्ञान होता है। जितने पदों से एकगति, इन्द्रिय, काय, योग आदि मार्गणाओं का निरूपण किया जाता है उतने पदों का प्रतिपत्ति नामक श्रुत- ज्ञान होता है। उसके ऊपर एक अक्षर की वृद्धि करने पर प्रतिपत्तिसमास ज्ञान होता है। जब तक अनुयोग ज्ञान नहीं हो जावे तब तक प्रतिपत्तिसमास ही कहलाता है। अन्तिम प्रतिपत्तिसमास के ऊपर एक अक्षर की वृद्धि करने पर अनुयोग श्रुतज्ञान होता है। यह चौदह मार्गणाओं का प्ररूपण करता है। इसके ऊपर एक अक्षर की वृद्धि करने पर अनुयोगसमास ज्ञान होता है। अंतिम अनुयोगसमास के ऊपर एक अक्षर की वृद्धि करने पर प्राभृतक-ज्ञान होता है। संख्यात अनियोग द्वारों से यह ज्ञान होता है। उसके ऊपर एक-एक अक्षर की वृद्धि के

प्राभृतकप्राभृतकसमासस्तत एकाक्षरेण प्राभृतप्राभृतकं भवति, तत एकाक्षरेण वृद्धिर्यावद्वस्तु एकाक्षरेणोनं तत्सर्वं प्राभृतकप्राभृतकसमासः एकाक्षरेण वस्तु विंशतिप्राभृतकैस्तत एकाक्षरवृद्ध्या नेतव्यं यावत्पूर्वमेकाक्षरेणोनं तत्सर्वं वस्तुसमासः । तत एकाक्षरेण पूर्वं भवति संख्यातवस्तुभिस्तत एकैकाक्षरवृद्ध्या तावन्नेतव्यं यावल्लोकबिन्दुसारश्रुतं एकाक्षरेणोनं, तेनाधिकं पूर्वम् पूर्वसमासः । एतस्य श्रुतस्यावरणं श्रुतावरणं श्रुतज्ञानभेदावरणस्यापि भेद इति । अवधिज्ञानं देशावधिपरमावधिसर्वावधिभेदेन त्रिविधमेकैकमपि जघन्योत्कृष्टभेदेन द्विविधम् । तत्र जघन्यदेशावधिर्द्रव्यत एकजीवौदारिकशरीरस्य लोकेन भागे हृत एकभागम् जानाति, क्षेत्रतः घनांगुलस्यासंख्यातभागं जानाति, कालत आवल्या असंख्यातभागं जानाति । भावतो जघन्यद्रव्यपर्यायेषु आवल्यसंख्यातभागेषु कृतेषु तत्रैकखण्डं जानाति । उत्कृष्टदेशावधिर्द्रव्यतः कार्मणवर्गणाया मनोवर्गणानन्तभागेन भागे हृते तत्रैकखण्डं जानाति, क्षेत्रतः संख्यातलोकं जानाति, कालतः पल्योपमं जानाति, भावतोऽसंख्यातलोकपर्यायान् जानाति । तत्र परमावधिर्जघन्यद्रव्यतो देशावधेरुत्कृष्टद्रव्यस्य मनोवर्गणानन्तभागस्यानन्तभागेन···(?)

क्रम से जब तक प्राभृतकप्राभृतक ज्ञान न आ जावे तब तक प्राभृतकसमास ज्ञान कहलाता है। उसके ऊपर एक अक्षर की वृद्धि करने से प्राभृतक प्राभृतकसमास होता है। इसके ऊपर एक-एक अक्षर की वृद्धि करने से जब एक अक्षर से कम वस्तु ज्ञान हो जाता है तब तक के सभी ज्ञान को प्राभृतक-प्राभृतकसमास कहते हैं। अन्तिम प्राभृतक प्राभृतकसमास में एक अक्षर मिलाने से वस्तु ज्ञान होता है यह बीस प्राभृतों से उत्पन्न होता है।

इसके अनन्तर एक-एक अक्षर की वृद्धि करने से एक अक्षर कम पूर्व ज्ञान के आने तक सभी भेद वस्तुसमास के होते हैं। उसमें एक अक्षर मिलाने से पूर्व नाम का ज्ञान होता है। संख्यात वस्तु ज्ञानों से यह पूर्वज्ञान होता है। इसमें एक-एक अक्षर की वृद्धि तब तक करना चाहिए कि जब तक लोकबिंदुसार नाम का श्रुतज्ञान न हो जावे।

यह एक अक्षर से कम पूर्वश्रुत ज्ञान था। उसमें एक अक्षर मिला देने पर पूर्वसमास ज्ञान हो जाता है। इन श्रुत के ऊपर आवरण को श्रुतावरण कहते हैं। श्रुतज्ञान के जितने भेद हैं उतने ही भेद श्रुतज्ञानावरण के जानना चाहिए।

अवधिज्ञान के तीन भेद हैं—देशावधि, परमावधि और सर्वावधि। प्रत्येक के जघन्य और उत्कृष्ट ऐसे दो-दो भेद भी होते हैं। उसमें से जघन्य देशावधि द्रव्य से एक जीव के औदारिक शरीर के जितने प्रदेश हैं उसमें लोक का भाग देने पर जो लब्ध आवे उसके एक भाग को जानता है। क्षेत्र से घनांगुल के असंख्यातवें भाग को जानता है। काल से आवली के असंख्यातवें भाग को जानता है। भाव से द्रव्य की जघन्य पर्याय में आवली के असंख्यात भाग करने पर उसके एक खण्ड को जानता है। उत्कृष्ट देशावधि द्रव्य से कार्मण वर्गणा में मनोवर्गणा के अनन्तवें भाग से भाजित करने पर उसमें से एक खण्ड को जानता है। क्षेत्र से संख्यात लोक को जानता है। काल से पल्योपम को जानता है। भाव से असंख्यात लोकप्रमाण पर्यायों को जानता है।

जघन्य परमावधि द्रव्य की अपेक्षा से देशावधि का जो उत्कृष्ट द्रव्य है उसमें मनोवर्गणा के अनन्त भाग करके उसमें से एक भाग के द्वारा भाजित करने पर लब्ध के एक भाग को

मात्रे हि घनीकृतं जानाति, क्षेत्रतोऽसंख्यातलोकं[1] जानाति, कालतः पल्योपमं जानाति, भावतोऽसंख्यात-लोकपर्यायान् जानाति। उत्कृष्टो द्रव्यतो मनोवर्गणाया अनन्तभागं जानाति, क्षेत्रतोऽसंख्यातांल्लोकान् जानाति, कालतोऽसंख्यातलोकसमयान् जानाति, भावतोऽसंख्यातलोकपर्यायान् जानाति। सर्वावधिर्द्रव्यत एकं परमाणुं जानाति, क्षेत्रतोऽसंख्यातांल्लोकान् जानाति, कालतोऽसंख्यातलोकसमयान् जानाति, भावतोऽसंख्यात-लोकपर्यायान् जानाति। सर्वत्रासंख्यातगुणो गुणकारो द्रष्टव्यः पूर्वपूर्वापेक्षया अनुगाम्यननुगामिवर्द्धमानहीय-मानावस्थितभेदात् षड्विधो वावधिः, एतस्यावधिज्ञानस्यावरणमवधिज्ञानावरणम्। मनःपर्ययज्ञानमृजुविपुल-मतिभेदेन द्विविधमृजुमतिमनःपर्ययज्ञानं विपुलमतिमनःपर्ययज्ञानम् चेति। ऋज्वी प्रगुणा निर्वर्तिता मतिः ऋजुमतिः वाक्कायमनस्कृतार्थस्य परमनोगतस्य विज्ञानं निर्वर्तिता, अनिर्वर्तिता कुटिला विपुला च मतिर्वि-पुलमति, अनिर्वर्तिता वाक्कायमनस्कृतार्थस्य परकीयमनोगतस्य विज्ञानात्, अथवा ऋज्वी मतिर्यस्य ज्ञान-विशेषस्यासौ ऋजुमतिर्विपुला मतिर्यस्यासौ विपुलमतिः। ऋजुमतिर्विपुलमतिश्च मनःपर्ययः। तत्र ऋजुमति-र्द्रव्यतो जघन्येनैकसामयिकीं औदारिकशरीरनिर्जरां जानात्युत्कृष्टत एकसामयिकीं चक्षुरिन्द्रियनिर्जरां जानाति,

---

जानता है। क्षेत्र की अपेक्षा असंख्यात लोक प्रमाण क्षेत्र को जानता है। काल से पल्योपम प्रमाण काल को जानता है और भाव से असंख्यात लोक प्रमाण पर्यायों को जानता है।

यह परमावधि उत्कृष्ट से द्रव्य की अपेक्षा मनोवर्गणा के अनन्तवें भाग को जानता है। क्षेत्र से असंख्यात लोकों को जानता है। काल से असंख्यात लोक के समयों को जानता है और भाव से असंख्यात लोकप्रमाण पर्यायों को जानता है। सर्वावधि ज्ञान भी द्रव्य से एक परमाणु मात्र को जानता है। क्षेत्र से असंख्यात लोक प्रमाण को जानता है। काल से असंख्यात लोकप्रमाण समयों को जानता है और भाव से असंख्यात लोकप्रमाण पर्यायों को जानता है। यहाँ पर जो असंख्यातगुणा है वह पूर्व पूर्व की अपेक्षा असंख्यात गुणे अधिक ही समझना। इस सर्वावधि में जघन्य भेद नहीं होता है। जिस ज्ञान विशेष की वह ज्ञान विपुल-मति मनःपर्यय है। यहाँ सर्वत्र असंख्यात गुणा गुणकार है। अर्थात् पूर्व पूर्व की अपेक्षा से उत्तर भेद में असंख्यात गुणित गुणाकार समझना चाहिए।

अवधिज्ञान के अनुगामी, अननुगामी, वर्धमान, हीयमान, अवस्थित और अनवस्थित ऐसे छह भेद भी होते हैं। इस अवधिज्ञान के आवरण को अवधिज्ञानावरण कहते हैं। अतः जितने अवधिज्ञान के भेद हैं उतने ही आवरण के भेद समझ लेना चाहिये।

मनःपर्ययज्ञान के दो भेद हैं—ऋजुमति और विपुलमति। ऋज्वी—सरल मन-वचन-काय से रची हुई मति ऋजुमति है। अर्थात् पर के मन में स्थित जो पदार्थ हैं उनको उसने सरल मन-वचन-काय से चिन्तन किया है, उसे जो जान लेते हैं। उनके ऋजुमति मनःपर्ययज्ञान है। अथवा ऋज्वी—सरल मति है जिस ज्ञान विशेष की वह ऋजुमति है। विपुला—कुटिल मन-वचन-काय से अनिर्वर्तित मति विपुला है। जो मुनि कुटिल मन-वचन-काय से सोचे गये पर के मन में स्थित पदार्थ को जान लेता है उसके विपुलमति मनःपर्ययज्ञान होता है, अथवा विपुला—कुटिल मति है जिसकी वह विपुलमति है।

ऋजुमति मनःपर्ययज्ञान जघन्य से द्रव्य की अपेक्षा एक समय में होनेवाली औदारिक

---

१. क असंख्यातान् लोकान्।

क्षेत्रतो जघन्येन गव्यूतिपृथक्त्वम, उत्कृष्टतो योजनपृथक्त्वं जानाति। कालतो जघन्येन द्वौ वा त्रीन्वा भवान्, उत्कृष्टत. सप्ताष्टौ भवान् जानाति। भावतो जघन्येनोत्कृष्टेन चासंख्यातभावान् जानाति किं तु जघन्यात्कृष्टानां साधिकत्वम् इति। विपुलमतिर्द्रव्यतो जघन्येनैकसामयिकी चक्षुरिन्द्रियनिर्जरां जानाति उत्कृष्टेनैकसमयप्रबद्धकर्मद्रव्यस्य मनोवर्गणाया अनन्तभागेन भागे हृत एकखण्डं जानाति। क्षेत्रतो जघन्येन योजनपृथक्त्वं सातिरेकं जानाति। उत्कृष्टतो मनुष्यक्षेत्रं जानाति। कालतो जघन्येन सप्ताष्टभवान् जानात्युत्कृष्टतोऽसंख्यातान् एतस्य भवान् जानाति। भावतो जघन्येनासंख्यातपर्यायान् जानाति, उत्कृष्टतस्ततोऽधिकान् पर्यायान् जानाति। मनःपर्ययस्यावरणं मनःपर्ययावरणम्। केवलज्ञानमसहायमन्यनिरपेक्षं, तस्यावरणं केवलज्ञानावरणम्। एवं पंचप्रकारमावरणं; ज्ञानावारकः पुद्गलस्कन्धनिचयः प्रवाहस्वरूपेणानादिबद्धः ज्ञानावरणमिति। ॥१२३०॥

दर्शनावरणप्रकृतिभेदानाह—

णिद्दाणिद्दा पयलापयला तह थीणगिद्धि णिद्दा य।
पयला चक्खू अचक्खू ओहीणं केवलस्सेदं ॥१२३१॥

शरीर की निर्जरा प्रमाण द्रव्य को जान लेता है और उत्कृष्ट से एक समय में होनेवाली चक्षु-इन्द्रिय की निर्जरा प्रमाण द्रव्य को जान लेता है। क्षेत्र की अपेक्षा जघन्य से कोश पृथक्त्व—तीन कोश से लेकर सात-आठ कोश तक को जान लेता है। उत्कृष्ट से योजन पृथक्त्व को जान लेता है। काल की अपेक्षा जघन्य से दो अथवा तीन भवों को जान लेता है तथा उत्कृष्ट से सात-आठ भवों को जान लेता है। भाव की अपेक्षा जघन्य से असंख्यात भावों को जानता है और उत्कृष्ट से भी असंख्यात भावों को जानता है। जघन्य की अपेक्षा उत्कृष्ट में अधिक भाव होते हैं।

विपुलमति द्रव्य की अपेक्षा जघन्य से एक समय में होनेवाले चक्षु-इन्द्रिय की निर्जरा प्रमाण को जानता है, उत्कृष्ट से एक समयप्रबद्ध प्रमाण कर्मद्रव्य में मनोवर्गणा के अनन्तवें भाग से भाग देने पर जो द्रव्य आया उसके एक खण्ड को जानता है। क्षेत्र की अपेक्षा जघन्य से कुछ अधिक योजन पृथक्त्व को जानता है और उत्कृष्ट से मनुष्यक्षेत्र को जानता है। काल की अपेक्षा जघन्य से सात-आठ भवों को जानता है और उत्कृष्ट से असंख्यात भवों को जानता है। भाव की अपेक्षा जघन्य से असंख्यात पर्यायों को जानता है और उत्कृष्ट से उससे अधिक असंख्यात पर्यायों को जानता है। इस मनःपर्ययज्ञान का जो आवरण है वह मनःपर्ययज्ञानावरण है।

केवल—असहाय अर्थात् अन्य की अपेक्षा से रहित जो ज्ञान है वह केवलज्ञान है। उसके आवरण का नाम केवलज्ञानावरण है।

इस तरह पाँच प्रकार का आवरण होता है। यह ज्ञान के ऊपर आवरण डालने वाला पुद्गलस्कन्धों का समूह प्रवाहरूप से अनादि काल से जीव के साथ बद्ध है इसलिए यह ज्ञानावरण सार्थक नामवाला है।

दर्शनावरण की प्रकृति के भेदों को कहते हैं—

गाथार्थ—निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला, स्त्यानगृद्धि, निद्रा और प्रचला तथा चक्षु, अचक्षु, अवधि और केवल ये चार दर्शनावरण, ऐसे नौ भेद दर्शनावरण के हैं ॥१२३१॥

आवरणमित्यनुवर्तते तेन सह संबन्धः। निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला, स्त्यानगृद्धिः, निद्रा, प्रचला, अत्र दर्शनावरणं सामानाधिकरण्येन दृश्यते[1], निद्रानिद्रा चासौ दर्शनावरण च, एवं प्रचलाप्रचला दर्शनावरणं, स्त्यानगृद्धिर्दर्शनावरणं, निद्रा दर्शनावरणं, प्रचला दर्शनावरणं, उत्तरत्र वैयधिकरण्येन चक्षुर्दर्शनावरणमचक्षुर्दर्शनावरणमवधिदर्शनावरणं केवलदर्शनावरणं चेति नवविधं दर्शनावरणमेतदिति। तत्र मन्दखेदक्लमविनोदार्थं स्वापो निद्रा, तस्या उपर्युपरि वृत्तिर्निद्रानिद्रा। स्वापक्रिययात्मानं प्रचलयति सा प्रचला। शोकश्रममदादिप्रभवा आसीनस्यापि नेत्रगात्रविकृतिसूचिकासौ च पुनः पुनर्वर्तमाना प्रचलाप्रचला। स्वप्ने वीर्यविशेषाविर्भावः सा स्त्यानगृद्धिः स्त्यायतेरनेकार्थत्वात् स्वापार्थ इह गृह्यते, गृधेरपि[2] दृप्तिः स्त्याने स्वप्ने गृध्यते दृप्यते[3] यदुदयादात्मा रौद्रं बहुकर्म करोति स्त्यानगृद्धिः। तत्र, निद्रानिद्रादर्शनावरणोदयेन वृक्षाग्रे समभूमौ यत्र तत्र देशे घोरं रवं घोरयन्निर्भरम स्वपिति। प्रचलाप्रचलातीव्रोदयेन आसीन उत्थितो वा गलल्लालामुखं पुनः पुनः शरीरं शिरश्च कम्पयन् निर्भरं स्वपिति। स्त्यानगृद्धिदर्शनावरणोदयेन उत्थितोऽपि पुनः स्वपिति, सुप्तोऽपि कर्म करोति, दन्तान् कटकटायमानः शेते इति। निद्रायास्तीव्रोदयेनाल्पकालं स्वपिति, उत्थाप्यमानः सोऽपि शीघ्रमुत्तिष्ठति,

---

आचारवृत्ति—आवरण शब्द पिछली गाथा में है, वहाँ से इसका सम्बन्ध कर लेना। निद्रानिद्रा आदि पाँचों में दर्शनावरण सामानाधिकरण्य से देखा जाता है इसलिए उसको सबके साथ लगाना तथा आगे चक्षु आदि चार में वैयधिकरण्य से दर्शनावरण है अतः उनके साथ भी उसे लगा लेना चाहिए। तब निद्रानिद्रादर्शनावरण, प्रचलाप्रचलादर्शनावरण, स्त्यानगृद्धिदर्शनावरण, निद्रादर्शनावरण, प्रचलादर्शनावरण, चक्षुर्दर्शनावरण, अचक्षुर्दर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण और केवलदर्शनावरण ये नौ भेद दर्शनावरण के होते हैं।

मद, खेद और श्रम को दूर करने के लिए सोना निद्रा है। उसकी अधिक से अधिक प्रवृत्ति निद्रानिद्रा है। सोने को क्रिया से अपने को चलायमान करना प्रचला है। शोक, श्रम, मद आदि से उत्पन्न होती है और बैठा होने पर भी नेत्र और शरीर में विकृति सूचित करती है। इसके आगे पुनःपुनः होनेवाली प्रचलाप्रचला है। सोने में शक्तिविशेष को प्रकट करनेवाली स्त्यानगृद्धि है। 'स्त्याय' धातु अनेकार्थवाची है अतः यहाँ उसका सोना अर्थ विवक्षित है। 'गृध्' धातु दृप्ति अर्थ में है, इसलिए स्त्यान—सोने में जो प्रकट होती है अर्थात् जिसके उदय से आत्मा सोता-सोता भी बहुत-से रौद्र कार्य कर लेता है वह स्त्यानगृद्धि है।

१. निद्रानिद्रादर्शनावरण के उदय से यह जीव वृक्ष के अग्र भाग पर या समभूमि पर अर्थात् जिस किसी भी स्थान पर घोर शब्द करता हुआ, खुर्राटे भरता हुआ, खूब सोता है।

२. प्रचलाप्रचला के तीव्र उदय से यह जीव बैठा हुआ अथवा खड़ा हुआ ही शरीर और मस्तक को कँपाता हुआ, ऊँघता हुआ अतिशय रूप से सोता रहता है तथा उसके मुख से लार भी बहती रहती है।

३. स्त्यानगृद्धि दर्शनावरण के उदय से वह जागकर भी पुनः सो जाता है और सोते-सोते भी कार्य कर लेता है अर्थात् नींद में ही उठकर कार्य कर आता है, पुनः सो जाता है, उसे पता नहीं चल पाता है। यह सोते समय दाँत भी कटकटाता रहता है।

४. निद्रा के तीव्र उदय से यह अल्पकाल ही सोता है, जगाने पर शीघ्र ही उठ जाता है तथा अल्पशब्दों से ही अर्थात् जरा-सी आवाज से ही जग जाता है।

---

१. क संबध्यते। २. क दीप्तिः। ३. क दीप्यते।

अल्पशब्देन चेतयते । प्रचलायास्तीव्रोदयेन वालुकाभृते इव लोचने भवतः, गुरुभारावष्टब्धमिव शिरो भवति, पुनः पुनर्लोचने उन्मीलयति स्वपन्तमात्मानं वारयति । चक्षुर्ज्ञानोत्पादकप्रयत्नानुविद्धगुणीभूतविशेषसामान्यालोचनं चक्षुर्दर्शनरूपं दर्शनक्षमं, तस्यावरणं चक्षुर्दर्शनावरणम् । शेषेन्द्रियज्ञानोत्पादकप्रयत्नानुविद्धगुणीभूतविशेषसामान्यालोचनमचक्षुर्दर्शनं, तस्यावरणमचक्षुर्दर्शनावरणम् । अवधिज्ञानोत्पादकप्रयत्नानुविद्धसन्निपातगुणीभूतविशेषकपिवस्तुसामान्यालोचनमवधिदर्शनं, तस्यावरणमवधिदर्शनावरणम् । युगपत्सर्वद्रव्यपर्यायसामान्यविशेषप्रकाशकं केवलज्ञानाविनाभाविकेवलदर्शनं तस्यावरणं केवलदर्शनावरणम् । मिथ्यात्वासंयमकषाययोगैकरूपेण परिणतो जीवसमवेतदर्शनगुणप्रतिबन्धकस्तद्दर्शनावरणमिति ॥१२३१॥

वेदनीयमोहनीययोरुत्तरप्रकृतीः प्रतिपादयन्नाह—

सादमसादं दुविहं वेदणियं तहेव मोहणीयं च ।
दंसणचरित्तमोहं कसाय तह णोकसायं च ॥१२३२॥
तिण्णिय दुवेय सोलस णवभेदा जहाकमेण णायव्वा ।
मिच्छत्तं सम्मत्तं सम्मामिच्छत्तमिदि तिण्णि ॥१२३३॥

---

५ प्रचला के तीव्र उदय से उसके नेत्र बालू से भरे हुए के समान भारी हो जाते हैं, सिर भी बहुत भारी भार को धारण किये हुए के समान हो जाता है। यह पुन-पुनः नेत्र खोलता रहता है और सोते हुए अपने को रोकता रहता है।

६. चक्षु के ज्ञान को उत्पन्न करनेवाले प्रयत्न के साथ अविनाभावी, और जिसमें विशेष धर्म गौण है ऐसे सामान्य मात्र को अवलोकन करने में समर्थ चक्षुर्दर्शन है, उसके आवरण का नाम चक्षुर्दर्शनावरण है।

७ चक्षु के अतिरिक्त शेष इन्द्रियों के ज्ञान को उत्पन्न करनेवाले प्रयत्न से अविनाभावी, और जिसमें विशेष धर्म गौण है ऐसा सामान्यमात्र का अवलोकन करनेवाला अचक्षुर्दर्शन है, उसके आवरण का नाम अचक्षुर्दर्शनावरण है।

८. अवधिज्ञान के उत्पादक प्रयत्न के साथ अविनाभाव से रहित, और जिसमें विशेष गौण है ऐसी रूपी वस्तु का जो सामान्य अवलोकन करना है वह अवधिदर्शन है। उसके आवरण का नाम अवधिदर्शनावरण है।

९. जो युगपत् सर्वद्रव्यों और पर्यायों के सामान्य-विशेष को प्रकाशित करनेवाला केवलज्ञानाविनाभावी है उस का दर्शन केवलदर्शन है, उसके आवरण का नाम केवलदर्शनावरण है।

मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योग के साथ एकरूप से परिणत, और जीव के साथ समन्वित दर्शन गुण को जो रोकनेवाला है वह दर्शनावरण है, ऐसा समझना।

वेदनीय और मोहनीय की उत्तरप्रकृतियों का प्रतिपादन करते हैं—

गाथार्थ—साता और असाता से वेदनीय के दो भेद हैं। मोहनीय के दर्शनमोह और चारित्रमोह ये दो भेद हैं। तथा क्रम से दर्शनमोहनीय के तीन एवं चारित्रमोह के कषाय और नोकषाय ये दो भेद हैं। कषाय के सोलह और नोकषाय के नौ भेद जानना चाहिए। दर्शनमोह के मिथ्यात्व, सम्यक्त्व तथा सम्यग्मिथ्यात्व ये तीन भेद भी होते हैं। १२३२-३३॥

सातमसातं द्विविधं वेदनीयं, तथैव मोहनीयमपि द्विविधं दर्शनमोहनीयं चारित्रमोहनीयं च, द्विविध-मुत्तरत्र भणति तेन सह संबन्धः। चारित्रमोहनीयमपि द्विविधं कषायमोहनीयनोकषायमोहनीयभेदेन। सातं सुखं सांसारिकं, तद्भोजयति वेदयति जीवं सातवेदनीयम्। असातं दुःख, तद्भोजयति वेदयति जीवमसातवेदनीयम्। यदुदयाद्देवादिगतिषु शारीरिकमानसिकसुखप्राप्तिस्तत्सातवेदनीयं, यदुदयान्नरकादिगतिषु शारीरमानस-दुःखानुभवनं तदसातवेदनीयम्। एवं वेदनीयकर्मणो द्वे प्रकृती सुखदुःखानुभवननिबन्धनः पुद्गलस्कन्धप्रचयो मिथ्यात्वादिप्रत्ययवशेन कर्मपर्यायपरिणतो जीवसमवेतो वेदनीयमिति। आप्तसमयपदार्थेषु रुचिः श्रद्धा दर्शनं, तन्मोहयति परतन्त्रं करोति दर्शनमोहनीयम्। पापक्रियानिवृत्तिश्चारित्रम्। तत्र, घातिकर्माणि पापं, तेषां क्रिया मिथ्यात्वासंयमकषायास्तेषामभावश्चारित्रम्। दुःखसस्यं कर्मक्षेत्रं कृषन्ति फलवत्कुर्वन्तीति कषायाः। ईषत्कषाया नोकषायाः, स्थित्यनुभागोदये कषायेभ्य एतेषां स्तोकत्वं यत ईषत्कषायत्वं युक्तमिति ॥१२३०॥

दर्शनमोहनीयस्य कषायनोकषायाणां च भेदानाह—

त्रयो, द्वौ, षोडश, नव भेदा यथाक्रमेण ज्ञातव्याः। दर्शनमोहनीयस्य त्रयो भेदाः। चारित्रमोहनीयस्य द्वौ भेदौ। चारित्रकषायमोहनीयस्य षोडश भेदाः। चारित्रनोकषायमोहनीयस्य नव भेदाः। अथ दर्शनमोहनीयस्य के ते त्रयो भेदा इत्याशंकायामाह—मिथ्यात्वं, सम्यक्त्वं, सम्यङ्मिथ्यात्वमिति त्रयो भेदाः दर्शनमोहनीयस्य,

---

आचारवृत्ति—साता और असाता के भेद से वेदनीय के दो भेद होते हैं। जो सांसारिक सुख का जीव को अनुभव कराता है वह सातावेदनीय है और जो असाता अर्थात् दुःख का जीव को अनुभव कराता है वह असातावेदनीय है। अर्थात् जिसके उदय से जीव को देव आदि गतियों में शारीरिक और मानसिक सुख की प्राप्ति होती है वह सातावेदनीय है तथा जिसके उदय से नरक आदि गतियों में शारीरिक और मानसिक दुःखों का अनुभव होता है वह असातावेदनीय है। इस प्रकार से वेदनीय कर्म की दो प्रकृतियाँ हैं।

सुख-दुःख के अनुभव करने में निमित्तभूत पुद्गलस्कन्धों का समूह रूप तथा मिथ्यात्व आदि प्रत्यय के निमित्त से कर्मपर्याय से परिणत हुआ जीव उनसे समन्वित होने से वेदनीयहै।

मोहनीय के दो भेद हैं—दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय। 'द्विविधं' शब्द आगे की गाथा में है उसीसे सम्बन्ध कर लेना। चारित्रमोहनीय के भी दो भेद हैं—कषायमोहनीय और नोकषायमोहनीय।

आप्त, आगम और पदार्थों में रुचि अर्थात् श्रद्धा दर्शन है, उसे जो मोहित करता है—परतन्त्र करता है वह दर्शनमोहनीय है। पापक्रिया से निवृत्ति चारित्र है। उसमें घातिकर्मों को पाप कहा गया है, उनकी क्रियाएँ मिथ्यात्व, असंयम और कषाय हैं। उनका अभाव होना चारित्र है। दुःखरूपी धान्य के लिए कारणभूत कर्मरूपी खेत का जो कर्षण करती हैं—जोतती हैं और उसे फलित करती हैं वे कषाय हैं। ईषत्—किंचित् कषाय को नोकषाय कहते हैं। स्थिति और अनुभाग के उदय के समय इनमें कषायों की अपेक्षा अल्पता रहती है इसीलिए इन्हें ईषत्कषाय या नोकषाय कहना युक्त है।

दर्शनमोहनीय के तीन, चारित्रमोहनीय के दो, चारित्रकषायमोहनीय के सोलह और चारित्रनोकषायमोहनीय के नौ भेद हैं। दर्शनमोहनीय के तीन भेद कौन-से हैं उन्हें यहाँ बताते हैं—मिथ्यात्व, सम्यक्त्व और सम्यक्मिथ्यात्व ये तीन भेद हैं।

यस्योदयेनाप्तागमपदार्थेषु श्रद्धा न भवति तन्मिथ्यात्वं, कोद्रवतुषरूपम् । यस्योदयेनाप्तागमपदार्थेषु श्रद्धायाः शैथिल्यं तत्सम्यक्त्वं, कोद्रवतन्दुलसदृशम् । यस्योदयेनाप्तानाप्तागमपदार्थेषु अक्रमेण श्रद्धे उत्पद्यते तत्सम्यङ्मिथ्यात्वं, दर्शनमोहनीयस्य अपूर्वा पूर्वादिकरणैर्दलितस्य कोद्रवस्येव त्रिधा गतिर्भवति । तच्च बन्धं प्रत्येकं सत्ताकर्म प्रति त्रिविधं तत्सम्यङ्मिथ्यात्वस्यैककारणत्वादिति ॥१२३३॥

षोडशकषायभेदं प्रतिपादयन्नाह—

कोहो माणो माया लोहोणंताणुबंधिसण्णा य ।
अप्पच्चक्खाण तहा पच्चक्खाणो य संजलणो ॥१२३४॥

कोधो रोषसंरम्भः, मानो गर्वः स्तब्धत्वं, माया निकृतिर्वंचना, असृजुत्वं लोभो [1]गृहमूर्च्छा । अनन्ता[2]नुभवान्मिथ्यात्वासंयमावो अनुबन्धः शीलं येषां तेऽनन्तानुबन्धिनस्ते च ते क्रोधमानमायालोभा अनन्तानुबन्धिक्रोधमानमायालोभाः । अथ वाऽनन्तेषु भवेष्वनुबन्धो विद्यते येषां तेऽनन्तानुबन्धिनः संसारापेक्षयानन्तकालत्वम् एते सम्यक्त्वचारित्रविरोधिनः [3]शक्तिद्वयापनोदायेति, अथ वाऽनन्तानुबन्धिन इति संज्ञा भवन्ति एव इति । प्रत्याख्यान संयमः । ईषत्प्रत्याख्यानं अप्रत्याख्यानम् संयमासंयम इत्यर्थः, अत्रावरणशब्दो द्रष्टव्यः । अप्रत्याख्यान-

---

जिसके उदय से आप्त, आगम और पदार्थों में श्रद्धा नहीं होती है वह मिथ्यात्व है। यह कोदों के तुष की तरह है। जिसके उदय से आप्त, आगम और पदार्थों में श्रद्धा की शिथिलता रहती है वह सम्यक्त्व नामक प्रकृति है। यह कोदों के चावल के सदृश है। जिसके उदय से आप्त, आगम, पदार्थ और अनाप्त, अनागम, अपदार्थ इन सच्चे और झूठे दोनों प्रकार के आप्त, आगम पदार्थों में एक साथ श्रद्धा उत्पन्न होती है उसका नाम सम्यङ्मिथ्यात्व है। इस तरह दर्शनमोहनीय की अधःकरण, अपूर्वकरण आदि परिणामों के द्वारा यन्त्र से दले हुए कोदों के समान तीन अवस्थाएँ हो जाती हैं। वह दर्शनमोहनीय बन्ध के प्रति एक है और सत्ता कर्म के प्रति तीन प्रकार का है, इसलिए ये मिथ्यात्व, सम्यक्त्व और सम्यङ्मिथ्यात्व एक कारण से ही होते हैं।

सोलह कषायभेदों का कथन करते हैं—

गाथार्थ—क्रोध, मान, माया और लोभ ये चारों अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान और संज्वलन रूप होने से सोलह हो जाते हैं ॥१२३४॥

आचारवृत्ति—क्रोध—रोष का संरम्भ, मान—गर्व—स्तब्धता, माया—निकृति, वंचना अर्थात् सरलता का न होना, लोभ—गृहमूर्च्छा, ये चार कषायें हैं। अनन्तभवपर्यन्त रहने से तथा मिथ्यात्व, असंयम आदि में अनुबन्ध—अविनाभावी स्वभाववाली होने से इनका अनन्तानुबन्धी नाम सार्थक है। अथवा अनन्तभवों से जिनका अनुबन्ध—सम्बन्ध है वे अनन्तानुबन्धी हैं। इनके चार भेद हैं—क्रोध, मान, माया और लोभ। ये संसार की अपेक्षा से अनन्तकालपर्यन्त रहती हैं, सम्यक्त्व और चारित्र दोनों की विरोधिनी हैं अर्थात् सम्यक्त्व और चारित्र को घात करने की शक्ति से युक्त हैं।

प्रत्याख्यान—संयम और ईषत्प्रत्याख्यान—संयमासंयम, इन दोनों के साथ आवरण शब्द लगाना चाहिए।

---

१. क गृद्धिमूर्च्छा। २. क अनन्तान्भवान्। ३. शक्तिद्वयोपेता यतः।

मावृण्वन्तीत्यप्रत्याख्यानावरणाः। प्रत्याख्यानं संयममावृण्वन्तीति प्रत्याख्यानावरणाः। अथवा येषु सत्सु [1]प्रत्याख्यानसंयमादिसंयमासंयमादिरहितं सम्यक्त्वं भवतीति अप्रत्याख्यानसंज्ञाः क्रोधमानमायालोभास्ता-दर्थ्यात्ताच्छब्द्यमिति। तथा येषु सत्सु प्रत्याख्यानं सम्यक्त्वसहितः संयमासंयमो भवति क्रोधमानमायालोभाः प्रत्याख्यानसंज्ञा भवन्त्यत्रापि तादर्थ्यात्ताच्छब्द्यमिति। तथा संयमेन सहैकीभूय संज्वलन्ति संयमो वा ज्वलत्येषु सत्स्वपि वा संज्वलनाः क्रोधमानमायालोभा इति। आद्याः सम्यक्त्वसंयमघातिनः, द्वितीया देशसंयमघातिनः, तृतीयाः संयमघातिनः, चतुर्थाः यथाख्यातसंयमघातिन इति ॥१२३४॥

नोकषायभेदान्प्रतिपादयन्नाह—

इत्थीपुरिसणउंसयवेदा हास रदि अरदि सोगो य।
भयमेदो य दुगंछा णवविह तह णोकसायभेयं तु ॥१२३५॥

स्तृणाति छादयति दोषैरात्मानं परं च स्त्री। पुरौ प्रकृष्टे कर्मणि शेते प्रमादयति तानि करोतीति वा पुरुषः। न पुमान् न स्त्री नपुंसकम्। येषां पुद्गलस्कन्धानामुदयेन पुरुषे आकांक्षोत्पद्यते तेषां स्त्रीवेद इति

जो किंचित् भी संयम न होने दें, उस पर आवरण करें वे अप्रत्याख्यानावरण कहलाती हैं और जो प्रत्याख्यान—संयम पर आवरण करती हैं वे प्रत्याख्यानकषायें हैं। अथवा जिनके रहने पर प्रत्याख्यान—संयम तथा संयमासंयम आदि रहित सम्यक्त्व होता है उनको अप्रत्याख्यान संज्ञा है। इनके क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार भेद हैं। जिसके होने पर प्रत्याख्यान—सम्यक्त्व सहित संयमासंयम होता है उसकी प्रत्याख्यानावरण संज्ञा है। अर्थात् यह प्रत्याख्यानपूर्ण संयम का आवरण करती है। इसके क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार भेद हैं। जो संयम के साथ एकमय होकर सम्यक्प्रकार से ज्वलित—प्रकाशित होती हैं अथवा जिनके रहने पर भी संयम विद्यमान रहता है उसे संज्वलन कहते हैं। इनके भी क्रोध, मान, माया और लोभ चार भेद होते हैं। इस तरह ये सोलह कषायें हैं।

आदि की अनन्तानुबन्धी क्रोध-मान-माया-लोभ कषायें सम्यक्त्व संयम का घात करती हैं। दूसरी अप्रत्याख्यानावरण कषायें देशसंयम का घात करती हैं। तीसरी प्रत्याख्यानावरण कषायें संयम का घात करनेवाली हैं और चौथी संज्वलन कषायें यथाख्यातसंयम का घात करनेवाली हैं।

नोकषाय-भेदों का प्रतिपादन करते हैं—

गाथार्थ—स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद, हास्य, रति, अरति, शोक, भय और जुगुप्सा से नोकषाय के नौ भेद हो जाते हैं ॥१२३५॥

आचारवृत्ति—जो दोषों द्वारा स्वयं को और पर को आच्छादित करती है वह स्त्री है। पुरु अर्थात् प्रकृष्ट कर्म में जो सोता है अर्थात् उन गुणों में प्रमाद करता है वह पुरुष है। जो न पुरुष है और न स्त्री है वह नपुंसक है।

जिन पुद्गल स्कन्धों के उदय से पुरुष के प्रति आकांक्षा होती है उन पुद्गलस्कन्धों

---

१. क प्रत्याख्यानसंयमासंयमविरहितं।

संज्ञा। येषामुदयेन पुद्गलस्कन्धानां वनितायामाकांक्षा जायते तेषां पुंवेद इति संज्ञा। येषां च पुद्गलस्कन्धानामुदयेनेष्टकाग्निसदृशेन द्वयोराकांक्षा जायते तेषां नपुंसकवेद इति संज्ञा। हसनं हासो, यस्य कर्मस्कन्धस्योदयेन हास्यनिमित्तो जीवस्य राग उत्पद्यते तस्य हास इति संज्ञा, कारणे कार्योपचारात्। रम्यतेऽनयेति रमणं वा रतिः, कुत्सिते रमते येषां कर्मस्कन्धानामुदयेन द्रव्यक्षेत्रकालभावेषु रतिरुत्पद्यते तेषां रतिरिति संज्ञा। न रमते न रम्यते वा यया साऽरतिर्यस्य पुद्गलस्कन्धस्योदयेन द्रव्यादिष्वरतिर्जायते तस्यारतिरिति संज्ञा। शोचनं शोचयतीति वा शोकः, यस्य कर्मस्कन्धस्योदयेन शोकः समुत्पद्यते जीवस्य तस्य शोक इति संज्ञा। भीतिर्यस्मादुद्विभेति वा भयं, यैः कर्मस्कन्धैरुदयमागतैर्जीवस्य भयमुत्पद्यते तेषां भयमिति संज्ञा। जुगुप्सनं जुगुप्सा येषां कर्मस्कन्धानामुदयेन द्रव्यादिषु जुगुप्सा उत्पद्यते तेषां जुगुप्सेति संज्ञा। एवं नवविधमेव नोकषायवेदनीयं ज्ञातव्यमिति। कषायवेदनीयाख्यभेदास्तु पूर्वमेतस्मादेवागमाज्ज्ञातव्या इति ॥१२३५॥

आयुषो नाम्नश्च प्रकृतिभेदान् प्रतिपादयन्नाह—

णिरियाऊ तिरियाऊ माणुसदेवाण होंति आऊणी।
गदिजादिसरीराणि य बंधणसंघादसंठाणा ॥१२३६॥

की स्त्रीवेद संज्ञा है। जिन पुद्गलस्कन्धों के उदय से स्त्री के प्रति आकांक्षा उत्पन्न होती है उनकी पुंवेद संज्ञा है। जिन पुद्गल स्कन्धों के उदय से ईंट के अवे की अग्नि के सदृश दोनों में आकांक्षा उत्पन्न होती है उनकी नपुंसकवेद संज्ञा है।

हँसना हास है। जिस कर्मस्कन्ध के उदय से जीव के हास्य में निमित्तभूत राग उत्पन्न होता है उसकी हास संज्ञा है। यहाँ पर कारण में कार्य का उपचार किया गया है।

जिसके द्वारा रमता है उसका अथवा रमणमात्र का नाम रति है। जिन कर्मस्कन्धों के उदय से कुत्सित में रमता है या जिनके उदय से द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावों मे रति उत्पन्न होती है उनका नाम रति है।

जो रमता नहीं है अथवा जिसके द्वारा रति को प्राप्त नहीं किया जाता है वह अरति है। जिस पुद्गलस्कन्ध के उदय से द्रव्य आदि में अरति—अप्रीति उत्पन्न होती है वह अरति है।

शोक करना अथवा जो शोक किया जाता है वह शोक है। जिस कर्मस्कन्ध के उदय से जीव के शोक उत्पन्न होता है उसका नाम शोक है।

जिस कारण से डरता है उसे भय कहते हैं। अथवा जिन स्कन्धों के उदय में आने पर जीव में भय उत्पन्न होता है उन्हें भय कहते हैं।

ग्लानि करना जुगुप्सा है। जिन कर्मस्कन्धों के उदय से द्रव्य आदि में ग्लानि उत्पन्न होती है उनका जुगुप्सा यह नाम है।

इस तरह नोकषाय वेदनीय के नौ भेद जानना चाहिए। कषाय वेदनीय के भेद तो इसी ग्रन्थ में पूर्व गाथा में कहे जा चुके हैं।

आयु और नाम कर्म की प्रकृतियों के भेदों का कथन करते हैं—

गाथार्थ—नरकायु, तिर्यंचायु, मानुषायु और देवायु ये आयु के चार भेद हैं। १. गति, २. जाति, ३. शरीर, ४. बन्धन, ५. संघात, ६. संस्थान, ७. संहनन, ८. अंगोपांग, ९. वर्ण,

संठाणं संघडणं वण्णरसगंधफासमणुपुव्वी।
अगुरुगलहुगुवघादं परघादमुस्सास णामं च ॥१२३७॥
आदावुज्जोदविहायगइजुयलतस सुहुमणामं च।
पज्जत्तसाहरणजुग थिरसुह सुहगं च आदेज्जं ॥१२३८॥
अथिरअसुहदुब्भगयाणादेज्जं दुस्सरं अजसकित्ती।
सुस्सरजसकित्ती विय णिमिणं तित्थयर णामबादालं ॥१२३९॥

नारकादिषु संबन्धत्वेनायुषो भेदव्यपदेशः क्रियते। नारकेषु भवं नारकायुः, तिर्यक्षु भवं तैरश्चायुः, मनुष्येषु भवं मानुष्यायुः, देवेषु भवं दैवायुः, एवमायूंषि चत्वारि। येषां कर्मस्कन्धानामुदयेन जीवस्याधोगतिस्वभावेषु नरकेषु तीव्रशीतोष्णवेदनेषु दीर्घजीवनेनावस्थानं भवति तेषां नारकायुरिति संज्ञा येषां। पुद्गलस्कन्धानामुदयेन तिर्यङ्मनुष्यदेवभवानामवस्थानं भवति तेषां तैरश्चमानुषदैवायूंषि इति संज्ञेति। गतिर्भवः संसारः, यदुदयादात्मा भवान्तरं गच्छति सा गतिर्यदि गतिनाम कर्म न स्यात्तदाऽगतिर्जीवः स्यात्। यस्मिन् जीवभावे सत्यायुःकर्मणो यथावस्थानं शरीरादीनि कर्माणि उदयं गच्छन्ति स भावो यस्य पुद्गलस्कन्धस्य मिथ्यात्वादिकारणैः प्राप्तकर्मण उदयाद्भवति तस्या गतिरिति संज्ञा। सा चतुर्विधा—नरकगतिः, तिर्यग्गतिः, मनुष्यगतिः, देवगतिश्चेति। येषां कर्मस्कन्धानामुदयादात्मनः नारकादिभावस्तेषां नरकगत्यादयः संज्ञाश्चतस्रो

---

१०. रस, ११. गन्ध, १२. स्पर्श, १३. आनुपूर्वी, १४. अगुरुलघु, १५. उपघात, १६. परघात, १७. उच्छ्वास, १८. आतप, १९. उद्योत, २०. विहायोगति, २१. त्रस, २२. स्थावर, २३. सूक्ष्म, २४. बादर, २५. पर्याप्त, २६. अपर्याप्त, २७. साधारण, २८. प्रत्येक, २९. स्थिर, ३०. शुभ, ३१. सुभग, ३२. आदेय, ३३. अस्थिर, ३४. अशुभ, ३५. दुर्भग, ३६. अनादेय, ३७. दुःस्वर, ३८. अयशस्कीर्ति, ३९. सुस्वर, ४०. यशस्कीर्ति, ४१. निर्माण और ४२. तीर्थकरत्व—ये ब्यालीस भेद नामकर्म के हैं ॥१२३६-३९॥

आचारवृत्ति—नारक आदि से सम्बन्धित होने से आयु के भेद होते हैं। नारकियों में होनेवाले भवधारण के कारण को नरकायु कहते हैं। तिर्यंचों में होनेवाली तिर्यंचायु, मनुष्यों में होनेवाली मनुष्यायु और देवों में होनेवाली देवायु है, आयु के ऐसे चार भेद हैं। जिन कर्मस्कन्धों के उदय से तीव्र, शीत, उष्ण वेदना से युक्त, अधोगति स्वभाववाले नरकों में दीर्घकाल तक जीते हुए जीवों का जो वहाँ पर अवस्थान होता है उनकी संज्ञा नारकायु है। जिन पुद्गल स्कन्धों के उदय से तिर्यंच, मनुष्य और देव के भवों में अवस्थान होता है उन्हें क्रमशः तिर्यंचायु, मनुष्यायु और देवायु कहते हैं।

अब आगे नामकर्म के सर्वभेद और उनके लक्षणों को कहते हैं—

(१) गति, भव और संसार एकार्थवाची हैं। जिसके उदय से आत्मा भवान्तर को जाता है वह गति है। यदि गति नामकर्म न हो तो जीव गतिरहित हो जायेगा। जिस कर्म के उदय से जीव में रहने से आयु कर्म की स्थिति रहती है और शरीर आदि कर्म उदय को प्राप्त होते हैं उसे गति कहते हैं। अर्थात् मिथ्यात्व आदि कारणों से कर्म-अवस्था को प्राप्त जिन पुद्गल-स्कन्धों के उदय से वह भवान्तर गमनरूप अवस्था होती है उसका गति नाम सार्थक है। उसके चार भेद हैं—नरकगति, तिर्यंचगति, मनुष्यगति और देवगति। जिन कर्मस्कन्धों के

भवन्ति। नरकादिगतिषु तदव्यभिचारिणा सादृश्येनैकीकृतात्मा जातिर्जीवानां सदृशः परिणामः। यदि जाति-नामकर्म न स्यात्तदा मत्कुणा मत्कुणैर्वृश्चिका वृश्चिकैर्व्रीहयो व्रीहिभिः समाना न जायेरन्, दृश्यते च सादृश्यं तस्माद्यतः कर्मस्कन्धा जातिसादृश्यं तस्य जातिरिति संज्ञा। सा च पंचविधा, एकेन्द्रियद्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतु-रिन्द्रियपंचेन्द्रियजातिभेदेन। यदुदयादात्मा एकेन्द्रियः स्यात्तदेकेन्द्रियजातिनामकर्म। एवं शेषेष्वपि योज्यम्। यदुदयादात्मनः शरीरनिर्वृ तिस्तच्छरीरनाम, यस्य कर्मस्कन्धस्योदयेनाहारतेजःकार्मणवर्गणापुद्गलस्कन्धाः शरीरयोग्यपरिणामैः परिणता जीवेन संबध्यन्ते तस्य शरीरमिति संज्ञा। यदि शरीरनामकर्म न स्यादात्मा विमुक्तः स्यात्। तच्छरीरं पंचविधं, औदारिकवैक्रियिकाहारकतैजसकार्मणशरीरभेदेन। यदुदयादाहारवर्ग-णागतपुद्गलस्कन्धा जीवगृहीता रसरुधिरमांसास्थिमज्जाशुक्रस्वभावौदारिकशरीरं भवन्ति तदौदारिकशरीर-नाम। एवं सर्वत्र। यदुदयादाहारवर्गणापुद्गलस्कन्धाः सर्वशुभावयवाहारशरीरस्वरूपेण परिणमन्ति तदाहारक-शरीरं नामकर्म। तथा यदुदयात्तैजसवर्गणापुद्गलस्कन्धा निःसरणानिःसरणप्रकारप्राप्तसमस्तप्रत्येकशरीर-स्वरूपेण भवन्ति तत्तैजसशरीरं नाम। तथा यदुदयाहारवर्गणागतपुद्गलस्कन्धा अणिमादिगुणोपलक्षिता वै-क्रियिक शरीरम्। यदुदयात्कूष्मांडफलवृन्तवत्सर्वकर्माश्रयभूतं तत्कार्मणशरीरम्। शरीरार्थागतपुद्गलस्कन्धानां

उदय से आत्मा को नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव भव प्राप्त होते हैं उनसे युक्त जीवों को उन-उन गतियों में नरकगति, तिर्यंचगति आदि संज्ञाएँ प्राप्त होती हैं।

(२) उन गतियों में अव्यभिचारी सादृश से एकीभूत स्वभाव को जाति कहते हैं, अर्थात् जीवों के सदृश परिणाम का नाम जाति है। यदि जाति नामकर्म न हो तो खटमल खट-मल के समान, बिच्छू बिच्छू के समान और व्रीहितन्दुल व्रीहितन्दुल के समान नहीं हो सकते, जबकि इनमें सदृशता दिख रही है, इसलिए जिन कर्मस्कन्धों से सदृशता प्राप्त होती है उनकी संज्ञा जाति है। उस जाति के पाँच भेद हैं—एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय। जिसके उदय से आत्मा एकेन्द्रिय होता है वह एकेन्द्रिय जाति नामकर्म है। इसी प्रकार सब में घटितकर लेना चाहिए।

(३) जिसके उदय से आत्मा के लिए शरीर की रचना होती है वह शरीरनामकर्म है, अर्थात् जिस कर्मस्कन्ध के उदय से आहारवर्गणा, तैजसवर्गणा और कार्मणवर्गणा रूप पुद्गल-स्कन्ध शरीर के योग्य परिणाम से परिणत होकर जीव के साथ सम्बन्धित होते हैं उसकी शरीर संज्ञा है। यदि शरीर-नामकर्म न हो तो आत्मा मुक्त हो जावे। इस शरीर के पाँच भेद हैं—औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस और कार्मण। जिसके उदय से जीव के द्वारा ग्रहण किये गये आहारवर्गणारूप पुद्गलस्कन्ध रस, रुधिर, मांस, अस्थि, मज्जा और शुक्र स्वभाव से परिणत होकर औदारिक शरीर रूप हो जाते हैं उसका नाम औदारिक शरीर है। ऐसे ही जिनके उदय से जीव द्वारा ग्रहण किये आहारवर्गणारूप पुद्गलस्कन्ध अणिमा आदि गुणों से उपलक्षित वैक्रियिक शरीररूप परिणत हो जाते हैं उसका नाम वैक्रियिकशरीर है। जिसके उदय से आहार वर्गणारूप पुद्गलस्कन्ध सभी शुभ अवयववाले आहारकशरीररूप से परिणमन कर जाते हैं उसका नाम आहारकशरीर है। जिसके उदय से तैजसवर्गणारूप पुद्गलस्कन्ध निःसरण और अनिःसरणरूप प्रत्येक ढंग से परिणत हो जाते हैं उसका तैजसशरीर नाम है, अर्थात् तैजसशरीर के दो भेद हैं—निःसरणात्मक और अनिःसरणात्मक। निःसरणात्मक के भी शुभ और अशुभ की की अपेक्षा दो भेद हैं। ये औदारिक शरीरवाले तैजस ऋद्धिधारी मुनियों के निकलते हैं।

जीवसंबन्धानां यैः पुद्गलस्कन्धैः प्राप्तोदयैरन्योन्यसंश्लेषणसंबन्धो भवति तच्छरीरबन्धनं नामकर्म। यदि शरीरबन्धननामकर्म न स्याद्वालुकाकृतपुरुषशरीरमिव शरीरं स्यात्। तदौदारिकशरीरबन्धनादिभेदेन पंचविधम्। यदुदयादौदारिकादिशरीराणां विवरविरहितान्योन्यप्रवेशानुप्रवेशेनैकत्वापादनं भवति तत्संघातनाम। यदि संघातनामकर्म न स्यात्तिलमोदक इव जीवशरीरं स्यात्। तच्चौदारिकशरीरसंघातादिभेदेन पंचविधम्। यदुदयादौदारिकादिशरीराकृतेर्निर्वृतिर्भवति तत्संस्थाननाम, येषां कर्मस्कन्धानामुदयेन जातिकर्मोदयपरतन्त्रेण शरीरस्य संस्थानं क्रियते तच्छरीरसंस्थानम्। यदि तन्न स्याज्जीवशरीरमसंस्थानं स्यात्। तच्च षोढा विभज्यते—समचतुरस्रसंस्थाननाम, न्यग्रोधपरिमण्डलसंस्थाननाम, स्वातिशरीरसंस्थाननाम, वामनसंस्थाननाम, कुब्जसंस्थाननाम, हुंडकसंस्थाननाम। समचतुरस्रं समचतुरस्रसमविभक्तमित्यर्थः। न्यग्रोधो वृक्षस्तस्य परिमण्डलमिव परिमण्डलं यस्य तन्न्यग्रोधपरिमण्डलं नाभेरूर्ध्वं सर्वावयवपरमाणुबहुत्वं न्यग्रोधपरिमण्डलमिव न्यग्रोधपरिमण्डलशरीरसंस्थानमायतवृत्तमित्यर्थः। स्वाति वाल्मीकं शाल्मलिर्वा तस्य संस्थानमिव संस्थानं यस्य तत्स्वातिशरीरसंस्थानं नाभेरधोवयवानां विशालत्वमूर्ध्वं सौक्ष्म्यम्। कुब्जस्य शरीरं कुब्जशरीरं तस्य संस्थान-

---

शुभ से सुभिक्ष होता है और अशुभ से द्वादश योजन भूमि के जीव भस्मसात् हो जाते हैं। अनिःसरणात्मक तैजस सभी संसारी जीवों के साथ रहता है, वह शरीर में कान्ति का कारण है। जिसके उदय से कूष्माण्डफल अथवा बैंगन फल के समान सभी कर्मों के लिए आश्रयभूत शरीर-पिण्ड होता है उसको कार्मणशरीर नाम कहते हैं।

(४) जो शरीर की रचना के लिए आये हों अर्थात् जीव से सम्बन्ध को प्राप्त हो चुके हों, उदयप्राप्त पुद्गलस्कन्धों का परस्पर में संश्लेष—सम्बन्ध होना शरीरबन्धन नामकर्म है। यदि शरीरबन्धन नामकर्म न हो तो यह शरीर बालू द्वारा बनाये हुए पुरुष के शरीर के समान हो जाय। इसके भी औदारिकशरीरबन्धन, वैक्रियिकशरीरबन्धन आदि पाँच भेद हैं।

(५) जिसके उदय से औदारिक आदि शरीरों के परमाणुओं का परस्पर में छिद्र-रहित प्रवेशानुप्रवेश होकर एकरूपता आ जावे उसे संघात नामकर्म कहते हैं। यदि संघात नामकर्म न हो तो जीव का शरीर तिल के लड्डू के समान हो जाये। इसके भी पाँच भेद हैं—औदारिकशरीरसंघात, वैक्रियिकशरीरसंघात आदि।

(६) जिसके उदय से औदारिक आदि शरीर के आकार की रचना हो वह संस्थान नामकर्म है, अर्थात् जातिकर्म के उदय के आधीन जिन कर्मस्कन्धों के उदय से शरीर का संस्थान किया जाता है वह शरीरसंस्थान है। यदि यह कर्म न हो तो जीव का शरीर संस्थान रहित हो जावे। उसके छह भेद हैं—समचतुरस्रसंस्थान, न्यग्रोधपरिमण्डलसंस्थान, स्वातिशरीर-संस्थान, वामनसंस्थान, कुब्जसंस्थान और हुण्डकसंस्थान। समान चौकोन वस्तु के समान समचतुरस्र है, अर्थात् यह कर्म शरीर के सभी अवयवों को समप्रमाण उत्पन्न करनेवाला है। न्यग्रोध वटवृक्ष को कहते हैं। उसके सघन घेरे के समान जिसका आकार हो अर्थात् जिसके नाभि के ऊपर के सभी अवयवों में बहुत परमाणु रहते हैं ऐसा वटवृक्ष के आकार सदृश न्यग्रोध-परिमण्डल शरीर का आकार होता है। स्वाति शब्द का अर्थ है बामी अथवा शाल्मलिवृक्ष, उसके आकार के सदृश जिसका आकार हो वह स्वातिसंस्थान है। इसमें नाभि के नीचे के अवयव बड़े होते हैं और ऊपर के अवयव छोटे रहते हैं। कुब्ज—कूबड़े का शरीर कुब्जशरीर है। उसके आकार के समान जिसका आकार हो अर्थात् जिस कर्म के उदय से शाखाओं में

मिव संस्थानं यस्य तत्कुब्जशरीरसंस्थानं[1], यस्योदयेन शाखानां दीर्घत्वं मध्यस्य ह्रस्वत्वं भवति तत्कुब्जशरीरसंस्थाननाम। वामनस्य शरीरं वामनशरीरं तस्य संस्थानं वामनशरीरसंस्थाननाम, यस्योदयात् शाखानां ह्रस्वत्वं कायस्य च दीर्घत्वं भवति। विषमपाषाणभृताद्रिरिव विषमं हुण्डं यस्य शरीरं तस्य संस्थानमिव संस्थानं यस्य तद्धुण्डकशरीरसंस्थानं, यस्योदयेन पूर्वोक्तपंचसंस्थानेभ्योऽन्यद्बीभत्सं संस्थानं भवति। अथ बन्धनसंघातसंस्थानेषु को भेद इति चेन्नैष दोषो यस्य कर्मण उदयेनौदारिकशरीरपरमाणवोऽन्योन्यं बन्धमागच्छन्ति तदौदारिकशरीरबन्धनं नाम। यस्य कर्मण उदयेनौदारिकशरीरस्कन्धानां शरीरभावमुपगतानां बन्धनामकर्मोदयेनैकबन्धनबद्धानामौदार्यं भवति तदौदारिकशरीरसंघातनाम। यस्य च कर्मण उदयेन शरीरस्कन्धानामाकृतिर्भवति तत्संस्थानमिति महान्भेदो यतः। एवं सर्वत्र द्रष्टव्यमिति ॥१२३६॥

तथा—

यस्योदयादस्थिसंधिबन्धविशेषो भवति तत्संहननं नाम, एतस्याभावे शरीरसंहननं न भवेत्। तत् षड्विधं; वज्रर्षभनाराचसंहननं, वज्रनाराचसंहननं, नाराचसंहननं, अर्द्धनाराचसंहननं, कीलकसंहननं, असंप्राप्तासृपाटिकासंहननं चेति। संहननम् अस्थिसंचयं ऋषभो वेष्टनं वज्रवदभेद्यत्वादृषभो वज्रनाराचश्च वज्रवद्

दीर्घपना हो वह कुब्जशरीरसंस्थान है। वामन का शरीर वामनशरीर है। उसका संस्थान वामनसंस्थान है। इस कर्म के उदय से शाखाओं में दीर्घपना और शरीर में ह्रस्वपना रहता है, अर्थात् वामनशरीरवालों के हाथ-पैर आदि अवयव छोटे-छोटे होते हैं और सारा शरीर मोटा-गठीला रहता है। ये बौने कहलाते हैं। विषम पत्थरों से भरे हुए पर्वत के समान जिसका विषम—हुण्ड आकार हो वह हुण्डकशरीरसंस्थान है। इसके उदय से पूर्वोक्त पाँच संस्थानों के अतिरिक्त बीभत्स संस्थान होता है।

बन्धन, संघात और संस्थान में अन्तर क्या अन्तर है?

यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि जिस कर्म के उदय से औदारिक शरीर के परमाणु परस्पर बन्ध को प्राप्त होते हैं—मिल जाते हैं वह औदारिकशरीरबन्धन नामकर्म है और इस बन्धन नामकर्म के उदय से एकरूप बन्धन से बँधे हुए शरीरभाव को प्राप्त हुए परमाणुओं का—औदारिक शरीरस्कन्धों का जिस कर्म के उदय से औदार्य—चिकने रूप से एकमेक हो जाना प्राप्त होता है वह औदारिक-शरीरसंघात नामकर्म है, और जिसकर्म के उदय से शरीरस्कन्धों की आकृति बनती है वह संस्थान नामकर्म है। इस प्रकार इनमें महान् अन्तर है, अर्थात् बन्धन नामकर्म के उदय से परमाणु मिल जाते हैं परन्तु तिल के लड्डू के समान छिद्र सहित रहते हैं, संघात के उदय से वे चिकने आटे के लड्डू के समान सर्वत्र एकमेक हो जाते हैं, जबकि संस्थानकर्म शरीर का आकार बनाता है। ऐसे ही सब शरीरों के बारे में समझ लेना चाहिए।

(७) जिसके उदय से हड्डियों की सन्धि में बन्धविशेष होता है वह संहनन नामकर्म है। इसके अभाव में शरीर में संहनन ही नहीं रहेगा। इसके भी छह भेद हैं—वज्रर्षभनाराचसंहनन, वज्रनाराचसंहनन, नाराचसंहनन, अर्द्धनाराचसंहनन, कीलकसंहनन और असंप्राप्तासृपाटिका संहनन। जिस कर्म के उदय से अस्थिसमूह और स्नायुवेष्टन वज्र के समान

---

१. कुब्जशरीर संस्थान वाले मनुष्यों के पृष्ठ के भाग में बहुत-सा मांस पिण्डरूप रहता है। वे लोक में कुबड़े कहलाते हैं।

वज्रनाराचौ तौ द्वावपि यस्मिन् शरीरसंहनने तद्वज्रर्षभनाराचसंहननं, यस्य कर्मण उदयेन [1]वज्रास्थीनि वज्र-वेष्टनेन वेष्टितानि वज्रनाराचेन च कीलितानि भवन्ति । एष एवास्थिबन्धो ऋषभरहितो यस्योदयेन भवति तद् द्वितीयम् । यस्य कर्मण उदयेन वज्रविशेषणरहितोऽस्थिबन्धो नाराचकीलितो भवति तत्तृतीयम् । यस्य कर्मण उदयेनास्थिसंचयो नाराचेनार्द्धकीलितो तच्चतुर्थम् । यस्य कर्मण उदयेन वज्रास्थीनि वज्रवेष्टनेन वेष्टितानि वज्रनाराचेनैव कीलितानि न भवन्ति तत्पंचमम् । यस्य कर्मण उदयेनान्योन्यासंप्राप्तानि सृपाटिकाः सिराबद्धानि भवन्ति तत् षष्ठमिति । यदुदयादंगोपांगविवेकनिष्पत्ति तदंगोपांगनाम, यस्य कर्मण उदयेन-नलककाहूरूदरनितम्बोरःपृष्ठशिरांस्यष्टावंगानि उपांगानि च मूर्द्धकरोटिमस्तकललाटसंधिभ्रूकर्णनासिकानयना-नाक्षिकूपहनुकपोलाधरोष्ठसृक्ताल्वजिह्वाग्रीवास्तनचूचुकांगुल्यादीनि भवन्ति । तदंगोपांग त्रिविधमौदारिकशरी-रांगोपांगं, वैक्रियिकशरीरांगोपांगम्, आहारकशरीरांगोपांगं चेति । यस्य कर्मण उदयेनौदारिकांगोपांगानि भवन्ति तदौदारिकांगोपांगंनामैवमन्यत्रापि योज्यम् । यदुदयाच्छरीरे वर्णविभागनिष्पत्तिस्तद्वर्णनाम स्यात्तदभावे शरीरम-वर्णं स्यात् । तत्पंचविधं कृष्णवर्णनाम, नीलवर्णनाम, रक्तवर्णनाम, हरितवर्णनाम, शुक्लवर्णनाम चेति । यस्य कर्मण उदयेन शरीरपुद्गलानां कृष्णवर्णता भवति तत्कृष्णवर्णनामैवं शेषाणामपि द्रष्टव्यम् । यस्य कर्मस्कन्धस्यो-

---

अभेद्य हों और नाराच—कीली भी वज्र की हों, अर्थात् वज्र की हड्डियाँ वज्र के वेष्टन से वेष्टित हों और वज्र की कीलियों से कीलित हों वह वज्रर्षभनाराचसंहनन है । जिस कर्म के उदय से हड्डियों के बन्धन तो वज्र की कीलियों से कीलित हों किन्तु ऋषभ—स्नायु-वेष्टन न हो वह वज्रनाराचसंहनन है । जिसकर्म के उदय से हड्डियों का बन्धन वज्र विशेषण से रहित, साधारण नाराच—कीलियों से कीलित हो वह नाराचसंहनन है । जिसकर्म के उदय से हड्डियों का समूह नाराच से आधा कीलित हो अर्थात् एक तरफ कीलित हो, दूसरी तरफ नहीं, वह अर्धनाराचसंहनन, चौथा है । जिसके उदय से हड्डियाँ वज्र के वेष्टन से वेष्टित न हों और वज्रनाराच से कीलित भी न हों वह कीलकसंहनन, पाँचवाँ है । जिस कर्म के उदय से अन्दर हड्डियों में परस्पर में सन्धि न हों और वे बाहर भी सिरा और स्नायु से जुड़ी हुई न हों, हड्डियों के ऐसे बन्धन को असंप्राप्तसृपाटिका संहनन कहते हैं ।

(८) जिस कर्म के उदय से अंग और उपांगों की स्पष्ट रचना हो वह अंगोपांगकर्म है । नलक हाथ, पैर, पेट, नितम्ब, छाती, पीठ और शिर ये आठ अंग हैं । मस्तक की हडडी, मस्तक, ललाट, भुजसन्धि, कान, नाक, नेत्र, अक्षिकूप, ठुड्डी, गाल, ओंठ, ओंठ के किनारे, तालु, जीभ, गर्दन, स्तन, चूचुक, अंगुलि आदि उपांग हैं । इस अंगोपांगकर्म के तीन भेद हैं—औदारिक-शरीर-अंगोपांग, वैक्रियिकशरीर-अंगोपांग और आहारकशरीर-अंगोपांग । जिसके उदय से औदारिकशरीर के अंग और उपांगों की रचना होती है वह औदारिकशरीर अंगोपांग है । ऐसे ही अन्य दोनों में घटित कर लेना चाहिए ।

(९) जिस कर्म के उदय से शरीर में वर्ण उत्पन्न होता है वह वर्णनाम कर्म है । इसके अभाव में शरीर वर्णशून्य हो जाएगा । इसके पाँच भेद हैं—कृष्णवर्ण, नीलवर्ण, रक्तवर्ण, हरित-वर्ण और शुक्लवर्ण । जिस कर्म के उदय से शरीर के पुद्गलों को कृष्णता प्राप्त होती है वह कृष्णवर्ण नामकर्म है । इसी तरह सर्वत्र समझना ।

---

१. क उदयेन यान्यस्थीनि ।

यस्य कर्मस्कन्धस्योदयेन जीवशरीरे जातिप्रतिनियततिक्तादिरसो भवति तद्रस इति संज्ञा, एतस्य कर्मणोऽभावे जातिप्रतिनियतरसो न भवेत् न चैवं निम्बादीनां प्रतिनियतरसोपलंभात्। तत्पंचविधं तिक्तनाम, कटुकनाम, कषायनाम, अम्लनाम, मधुरनाम चेति। यस्य कर्मण उदयेन शरीरपुद्गलास्तिक्तरसस्वरूपेण परिणमन्ति तत्तिक्तनामैवं, शेषाणामप्यर्थो वाच्य इति। यस्य कर्मस्कन्धस्योदयेन जीवशरीरे जातिप्रतिनियतो गन्ध उत्पद्यते तस्य गन्ध इति। संज्ञा, न च तस्याभावो हस्त्यजादिषु प्रतिनियतगन्धोपलम्भात्। तद् द्विविधं सुरभिगन्धनामासुरभिगन्धनाम चेति। यस्य कर्मस्कन्धस्योदयेन शरीरपुद्गलाः सुरभिगन्धयुक्ता भवन्ति तत्सुरभिगन्धनाम, यस्य कर्मस्कन्धस्योदयेन शरीरपुद्गला दुर्गन्धा भवन्ति तद्दुर्गन्धनामेति। यस्य कर्मस्कंधस्योदयेन जीवशरीरे जातिप्रतिनियतः स्पर्श उत्पद्यते तत्स्पर्शनाम, न चैतस्याभावः सर्वोत्पलकमलादिषु प्रतिनियतस्पर्शदर्शनात्, तदष्टविधं कर्कशनाम, मृदुनाम, गुरुनाम, लघुनाम, स्निग्धनाम, रूक्षनाम, शीतनाम, उष्णनाम चेति। यस्य कर्मस्कन्धस्योदयेन शरीरपुद्गलानां कर्कशभावो भवति तत्कर्कशनामैवं शेषस्पर्शानामप्यर्थो वाच्यः। पूर्वोत्तरशरीरयोरन्तराले एकद्वित्रिसमयेषु वर्तमानस्य यस्य कर्मस्कन्धस्योदयेन जीवप्रदेशानां विशिष्टः संस्थानविशेषो भवति तदानुपूर्व्यं नाम, न च तस्याभावो विग्रहगतौ जातिप्रतिनियतसंस्थानोपलम्भाद् उत्तरशरीरग्रहणं प्रति गमनोपलम्भात्। तच्चतुर्विधं नरकगतिप्रायोग्यानुपूर्व्यं, तिर्यग्गतिप्रायोग्यानुपूर्व्यं, मनुष्यगतिप्रायोग्यानुपूर्व्यं, देवगतिप्रायोग्यानुपूर्व्यं चेति।

---

(१०) जिस कर्मस्कन्ध के उदय से जीव के शरीर में जाति के अनुसार तिक्त आदि रस उत्पन्न होते हैं उसको रस नामकर्म कहते हैं। इस कर्म के अभाव में जाति के अनुरूप निश्चित रस नहीं हो सकेगा। किन्तु नीम आदि में प्रतिनियत रस पाया जाता है। इस रस के भी पाँच भेद हैं—तिक्त, कटुक, कषाय, अम्ल और मधुर। जिस कर्म के उदय से शरीर के पुद्गल परमाणु तिक्तरस स्वरूप परिणत हो जावें वह तिक्त रस नामकर्म है। इसी तरह शेष रसों का भी अर्थ कर लेना चाहिए।

(११) जिस कर्मस्कन्ध के उदय से जीव के शरीर में जाति के अनुसार गन्ध उत्पन्न होती है उसकी संज्ञा गन्ध है। इस कर्म का अभाव नहीं कहा जा सकता क्योंकि हाथी, बकरी आदि के शरीर में उस जाति के अनुरूप गन्ध पायी जाती है। इसके दो भेद हैं—सुरभिगन्ध और असुरभि गन्ध। जिस कर्मस्कन्ध के उदय से शरीर के पुद्गल परमाणु सुरभिगन्ध से युक्त हों वह सुरभिगन्ध नामकर्म है और जिस कर्मस्कन्ध के उदय से शरीर के पुद्गल दुर्गन्धित हो जाएँ वह असुरभिनामकर्म है।

(१२) जिस कर्मस्कन्ध के उदय से जीव के शरीर में जाति के अनुरूप स्पर्श उत्पन्न होता है वह स्पर्श नामकर्म है। इस कर्म का अभाव नहीं कहा जा सकता है क्योंकि सभी उत्पल, कमल आदि में प्रतिनियत स्पर्श देखा जाता है। इसके आठ भेद हैं—कर्कश, मृदु, गुरु, लघु, स्निग्ध, रूक्ष, शीत और उष्ण। जिस कर्मस्कन्ध के उदय से शरीर के पुद्गल कठोर होते हैं वह कर्कश नामकर्म है। इसी प्रकार से शेष स्पर्शों का भी अर्थ कर लेना चाहिए।

(१३) पूर्व और उत्तर शरीर के अन्तराल में एक, दो अथवा तीन समय तक होनेवाला जो जीव के प्रदेशों का आकार विशेष जिस कर्मस्कन्ध के उदय से होता है उसका नाम आनुपूर्वी है। इस कर्म का अभाव नहीं कहा जा सकता है क्योंकि विग्रहगति में उस अवस्था के लिए निश्चित आकार उपलब्ध होता है, और उत्तम शरीर ग्रहण करने के प्रति गमन की उपलब्धि भी पायी जाती है। इसके चार भेद हैं—नरकगतिप्रायोग्यानुपूर्व्य, तिर्यग्गतिप्रायोग्यानुपूर्व्य,

यस्य कर्मस्कन्धस्योदयेन नरकगतिं गतस्य जीवस्य विग्रहगतौ वर्तमानस्य नरकगतिप्रायोग्यसंस्थानं भवति तन्न-रकगतिप्रायोग्यानुपूर्व्यं नामैवं शेषाणामप्यर्थो वाच्य इति। यस्य कर्मस्कन्धस्योदयाज्जीवोऽनन्तानन्तपुद्गल-पूर्णोऽयःपिण्डवद्गुरुत्वान्नाधः पतति न चार्कतूलवल्लघुत्वादूर्ध्वं गच्छति तदगुरुलघुनाम। उपेत्य घात उपघातः आत्मघात इत्यर्थः। स्वयंकृतोद्बन्धनमरुत्पतनादिनिमित्त उपघातो भवति तदुपघातनाम, अथ वा यत्कर्म जीवस्य स्वपीडाहेतूनवयवान्महाशृंगलम्बस्तनतुन्दादीन् करोति तदुपघातम्। परेषां घातः परघातः, यस्य कर्मण उदयात्परघातहेतवः शरीरपुद्गलाः सर्पदंष्ट्रावृश्चिकपुच्छादिगताः परशस्त्राद्याघाता वा भवन्ति तत्परघातनाम। उच्छ्वसनमुच्छ्वासः, यस्य कर्मण उदयेन जीव उच्छ्वासनिःश्वासकार्योत्पादनसमर्थः स्यात्तदुच्छ्वासनिःश्वास-नाम। अयं नामशब्दः सर्वत्राभिसंबध्यत इति ॥१२३७॥

तथा—

आतपनमातपः, यस्य कर्मस्कन्धस्योदयेन जीवशरीरे आतपो भवति तदातापनाम, न च तस्याभावः सूर्यमण्डलादिषु पृथिवीकायिकादिषु चातापोपलम्भात्। उद्योतनमुद्योतः यस्य कर्मस्कन्धस्योदयाज्जीवशरीरे उद्योत उत्पद्यते तदुद्योतनाम, न चास्याभावः चन्द्रनक्षत्रविमण्डलेषु खद्योतादिषु च पृथिवीकायिकशरीराणामुद्योत-

---

मनुष्यगतिप्रायोग्यानुपूर्व्य और देवगतिप्रायोग्यानुपूर्व्य। जिस कर्मस्कन्ध के उदय से नरक गति में जाता हुआ जीव जब विग्रहगति में रहता है उस समय नरक गति के योग्य आकार होता है। अर्थात् नरक गति में पहुँचने तक छोड़ी हुई पूर्व गति के आकार को बनाये रखना इस आनुपूर्व्य का काम है। ऐसे ही शेष आनुपूर्व्यों में समझना चाहिए।

(१४) जिस कर्मस्कन्ध के उदय से यह जीव अनन्तानन्त पुद्गलों से पूर्ण होकर भी लोहपिण्ड के समान गुरु होकर न तो नीचे ही गिर जाता है और न रुई के समान हल्का होकर ऊपर ही चला जाता है वह अगुरुलघु नामकर्म है।

(१५) पास आकर घात होना उपघात है। जिस कर्म के उदय से अपने द्वारा ही किये गये गलपाश आदि बन्धन और पर्वत से गिरना आदि निमित्तों से अपना घात हो जाता है वह उपघात नाम कर्म है। अथवा जो कर्म जीव के अपने ही पीड़ा में कारणभूत बड़े-बड़े सींग, उदर आदि अवयवों को रचता है वह उपघात है।

(१६) परजीवों का घात परघात है। जिस कर्म के उदय से पर के घात के लिए कारण साँप की दाढ़ और बिच्छू की पूँछ आदि रूप से उत्पन्न हुए शरीर के पुद्गल होते हैं। अथवा पर शस्त्र आदि के द्वारा जो आघात होता है वह परघात नामकर्म है।

(१७) उच्छ्वसित होना उच्छ्वास है। जिस कर्म के उदय से जीव उच्छ्वास और निःश्वास कार्य को उत्पन्न करने में समर्थ होता है वह उच्छ्वास-निःश्वास नामकर्म है।

(१८) सब तरफ से तपना आतप है। जिस कर्मस्कन्ध के उदय से जीव का शरीर आतप रूप होता है अर्थात् उसमें अन्य को संतप्त करनेवाला प्रकाश उत्पन्न होता है वह आतप नामकर्म है। इस कर्म का अभाव नहीं कहा जा सकता क्योंकि सूर्य के विमान आदिकों में होने वाले पृथिवीकायिकों में ऐसा तापकारी प्रकाश दिखता है।

(१९) उद्योतित होना—चमकना उद्योत है। जिस कर्मस्कन्ध के उदय से जीव के शरीर में उद्योत—ठण्डा प्रकाश उत्पन्न होता है वह उद्योत नामकर्म है। इसका भी अभाव नहीं कह सकते क्योंकि चन्द्रमा और नक्षत्रों के विमानों में होनेवाले पृथिवीकायिक जीवों के शरीरों

दर्शनात्। विहाय आकाशं विहायसि गतिर्विहायोगतिर्येषां कर्मस्कन्धानामुदयेन जीवस्याकाशे गमनं तद्विहायोगतिनाम, न चास्याभावो वितस्तिमात्रपादजीवप्रदेशैर्भूमिमवगाह्य सकलजीवप्रदेशानामाकाशे गमनोपलम्भात्। तत् द्विविधं प्रशस्तविहायोगतिनामाप्रशस्तविहायोगतिभेदेन। यस्य कर्मण उदयेन सिंहकुंजरहंसवृषभादीनामिव प्रशस्ता गतिर्भवति तत्प्रशस्तविहायोगतिनाम। यस्य कर्मण उदयेनोष्ट्रशृगालश्वादीनामिवाप्रशस्ता गतिर्भवति तत्प्रशस्तविहायोगतिनाम।* यस्य कर्मण उदयेन जीवः स्थावरेषूत्पद्यते तत्स्थावरनामान्यथा स्थावराणामभावः स्यात्। यस्य कर्मण उदयादन्यबाधाकरशरीरेषूत्पद्यते जीवस्तद्बादरनामान्यथाऽप्रतिहतशरीरा जीवाः स्युः। यस्य कर्मण उदयेन सूक्ष्मेषूत्पद्यते जीवस्तत् सूक्ष्मशरीरनिर्वर्तकम्। यदुदयादाहारादिषट्पर्याप्तिनिर्वृत्तिस्तत्पर्याप्तिनाम। तत् षड्विधं, तद्यथा—शरीरनामकर्मोदयात्पुद्गलविपाकिन आहारवर्गणागतपुद्गलस्कन्धाः समवेतानन्तपरमाणुनिष्पादिता आत्मावष्टब्धक्षेत्रस्थाः कर्मस्कन्धसंबन्धतो मूर्ति-

---

में तथा जुगनू आदि जीवों के शरीरों में उद्योत देखा जाता है।

(२०) विहायस्—आकाश में जो गति है वह विहायोगति है। जिन कर्मस्कन्धों के उदय से जीव का आकाश में गमन होता है वह विहायोगति नामकर्म है। इस कर्म का भी अभाव नहीं हो सकता, क्योंकि एक वितस्ति मात्र पैर में स्थित ऐसे जीव के प्रदेशों से भूमि का अवगाहन करके सम्पूर्ण जीव प्रदेशों का आकाश में गमन देखा जाता है। अर्थात् पैर प्रायः एक विलास्त मात्र के होते हैं उनमें जो भी आत्मा के प्रदेश हैं, चलते समय वे तो भूमि का अवलम्बन लेते हैं, बाकी के शरीर के सारे प्रदेशों का तो आकाश में ही गमन रहता है। इस कर्म के दो भेद हैं—प्रशस्तविहायोगति और अप्रशस्तविहायोगति। जिस कर्म के उदय से सिंह, हाथी, हंस, बैल आदि के समान प्रशस्त गमन होता है वह प्रशस्तविहायोगति नामकर्म है। तथा जिस कर्म के उदय से ऊँट, सियार, कुत्ते आदि के समान अप्रशस्त गमन होता है वह अप्रशस्तविहायोगति नामकर्म है।

(२१) जिस कर्म के उदय से जीव त्रसों में उत्पन्न होता है वह त्रसनामकर्म है। यदि यह कर्म न हो तो द्वीन्द्रिय आदि जीवों का अभाव हो जाय। (यह पाठ छूटा हुआ प्रतीत होता है।)

(२२) जिस कर्म के उदय से जीव स्थावर कायों में उत्पन्न होता है वह स्थावर नामकर्म है। यदि यह कर्म न हो तो स्थावर जीवों का अभाव हो हो जाएगा, किन्तु ऐसा है नहीं।

(२३) जिसकर्म के उदय से अन्य को बाधा देनेवाले शरीरों में जीव जन्म लेता है वह बादर नामकर्म है। यदि यह कर्म न हो तो सभी जीव एक-दूसरे से बाधा रहित शरीरवाले हो जावें, किन्तु ऐसा दिखता नहीं है।

(२४) जिस कर्म के उदय से जीव सूक्ष्मों में उत्पन्न होता है वह सूक्ष्म नामकर्म है।

(२५) जिस कर्म के उदय से आहार आदि छह पर्याप्तियों की रचना होती वह पर्याप्ति नामकर्म है। उसके आहारपर्याप्ति आदि छह भेद हैं। पुद्गलविपाकी शरीर-नामकर्म के उदय से आहारवर्गणा रूप आये हुए पुद्गलस्कन्ध, जो कि अनन्तपरमाणु रूप होकर भी स्कन्ध

---

* [यस्य कर्मण उदयेन जीवः त्रसेषूत्पद्यते तत्त्रसनामान्यथा द्वीन्द्रियादिजीवानामभावः स्यात्]

मूर्तभावमापन्नं समवेतत्वेन समाश्रयन्ति तेषामपतानां पुद्गलस्कन्धानां खलरसपर्यायैः परिणमनशक्तिराहार-पर्याप्तिः। सा च नान्तर्मुहूर्तमन्तरेण समयेनैकेन जायते शरीरोपादानात्प्रथमसमयादारभ्यान्तर्मुहूर्तेनाहारपर्याप्तिर्निष्पद्यते। खलभागं तिलखलोपमास्थ्यादिस्थिरावयवैस्तिलतैलसमानं रसभागं रसरुधिरवसाशुक्रादिद्रवावयवैः परिणमनशक्तिनिष्पत्तिः शरीरपर्याप्तिः, साहारपर्याप्तेः पश्चादन्तर्मुहूर्तेन निष्पद्यते। योग्यदेशस्थितरूपादिविशिष्टार्थग्रहणशक्तेर्निष्पत्तिरिन्द्रियपर्याप्तिः, सापि ततः पश्चादन्तर्मुहूर्तादुपजायते, न चेन्द्रियनिष्पत्तौ सत्यामपि तस्मिन् क्षणे बाह्यार्थविषयज्ञानमुत्पद्यते तदा तदुपकरणाभावात्। उच्छ्वासनिःसारणशक्तेर्निष्पत्तिरानपानपर्याप्तिरेषापि तदन्तर्मुहूर्तकाले समतीते भवति। भाषावर्गणायाश्चतुर्विधभाषाकारपरिणमनशक्तेः परिसमाप्तिर्भाषापर्याप्तिरेषापि पश्चादन्तर्मुहूर्तादुपजायते। मनोवर्गणाभिर्निष्पन्नद्रव्यमनोवष्टम्भेनानुभूतार्थस्मरणशक्तेरुत्पत्तिर्मनःपर्याप्तिः। एतासां प्रारम्भोऽक्रमेण जन्मसमयादारभ्य तासां सत्त्वाभ्युपगमान्निष्पत्तिस्तु पुनः क्रमेणैतासामनिष्पत्तिरपर्याप्तिः। न च पर्याप्तिप्राणयोरभेदो यत आहारादिशक्तीनां निष्पत्तिः पर्याप्तिः प्राणित्येभिरात्मेति प्राणः। षड्विधपर्याप्तिहेतुर्यत्कर्म तत्पर्याप्तिनाम। शरीरनामकर्मोदयान्निर्वर्त्यमानं शरीरमेकात्मोप-

---

अवस्था को प्राप्त हुए है, और आत्मा के द्वारा रोके गये क्षेत्र मे ही स्थित हैं, जो अमूर्तिक होकर भी इन कर्मस्कन्धों के सम्बन्ध में मूर्तिक भाव को प्राप्त हो रहा है ऐसी आत्मा का समवेतरूप से जो पुद्गल स्कन्ध का एक क्षेत्रावगाहीरूप से आश्रय कर रहे हैं उन पुद्गलस्कन्धों में खल और रस पर्याय से परिणमन करने की शक्ति का नाम आहारपर्याप्ति है। वह अन्तर्मुहूर्त के बिना एक समय में ही नहीं हो सकती है, शरीरग्रहण के प्रथम समय से लेकर अन्तर्मुहूर्त काल में वह पूर्ण होती है। आहारपर्याप्ति में जो पुद्गल खल और रस रूप हुए हैं उनमें से खल भाग को तो तिल की खली के समान हड्डी आदि स्थिर अवयवरूप से एवं रस भाग को तिल के तेल के समान रस, रुधिर, मज्जा, वीर्य आदि द्रव अवयव पदार्थरूप से परिणमन कराने की शक्ति की सामर्थ्य का होना शरीरपर्याप्ति है। वह आहारपर्याप्ति के पश्चात् अन्तर्मुहूर्त में निष्पन्न होती है। योग्य देश में स्थित जो रूप आदि से विशिष्ट पदार्थ हैं उनको ग्रहण करने की शक्ति का निष्पन्न होना इन्द्रियपर्याप्ति है। यह भी शरीरपर्याप्ति के पश्चात् अन्तर्मुहूर्त काल में होती है। इन्द्रियों की निष्पत्ति हो जाने पर भी उसी क्षण मे बाह्य पदार्थों का ज्ञान उत्पन्न नहीं होता है, क्योंकि उस समय उनके उपकरणों का अभाव है। उच्छ्वास निकलने की शक्ति की पूर्णता का नाम आनपान-पर्याप्ति है। यह भी पूर्वपर्याप्ति के अन्तर्मुहूर्त काल के बाद पूर्ण होती है। भाषा-वर्गणाओं का प्रचार की भाषा के आकार से परिणमन करने की शक्ति की पूर्णता का होना भाषापर्याप्ति है। यह भी पूर्णपर्याप्ति के पश्चात् अन्तर्मुहूर्त से पूर्ण होती है। मनोवर्गणा द्वारा निष्पन्न हुए द्रव्यमन अवलम्बन से अनुभूत पदार्थ के स्मरण की शक्ति की उत्पत्ति मनःपर्याप्ति है। इन पर्याप्तियों का प्रारम्भ एक साथ होता है क्योंकि जन्म के समय से लेकर ही उनका सत्त्व स्वीकार किया गया है किन्तु इनकी पूर्णता क्रम से ही होती है।

इन छह प्रकार की पर्याप्तियों के लिए कारणभूत कर्म को पर्याप्ति कहते हैं।

(२६) इन पर्याप्तियों की पूर्णता का न होना अपर्याप्ति है।

पर्याप्ति और प्राण में अभेद है? ऐसी बात नहीं है, क्योंकि आहार, शरीर आदि की शक्तियों की पूर्णता का होना पर्याप्ति है और जिनसे आत्मा जीवित रहता है (शरीर में बना रहता है) वे प्राण हैं।

भोगकारणं यतो भवति तत्प्रत्येकशरीरनाम । बहूनामात्मनामुपभोगहेतुत्वेन साधारणशरीरं यतो भवति तत्सा-धारणशरीरनाम । यस्य कर्मण उदयाद् रसरुधिरमेदमज्जास्थिमांसशुक्राणां सप्तधातूनां स्थिरत्वं भवति तत्स्थिरनाम । यदुदयादेतेषामस्थिरत्वमुत्तरपरिणामो भवति तदस्थिरनाम । यदुदयादंगोपांगनामकर्मजनिता-नामंगानामुपांगानां च रमणीयत्वं तच्छुभनाम, तद्विपरीतमशुभनाम । यदुदयात्स्त्रीपुंसयोरन्योन्यप्रीतिप्रभवं सौभाग्यं भवति तत्सुभगनाम । यदुदयाद्रूपादिगुणोपेतोऽप्यप्रीतिकरस्तद्दुर्भगनाम । चशब्दो नामशब्दस्य समुच्च-यार्थः । यस्य कर्मण उदयेनादेयत्वं प्रभोपेतशरीर भवति तदादेयनाम । यदुदयादनादेयत्वं निष्प्रभशरीरं तदना-देयनाम, अथवा यदुदयादादेयवाक्यं तदादेयं तद्विपरीतमनादेयमिति । शोभनः स्वर. मधुरस्वरः यस्योदयात्सुस्व-रत्वं मनोज्ञस्वरनिर्वर्तनं भवति तत्सुस्वरनाम । यदुदयात् दुःस्वरताऽमनोज्ञस्वरनिर्वर्तनं तद् दुःस्वरनाम । पुण्यगुणाख्यापनकारणं यशःकीर्तिनाम, अथवा यस्य कर्मण उदयात्सद्भूतानामसद्भूतानां च ख्यापनं

---

(२७) शरीर नामकर्म के उदय से रचा हुआ और एक आत्मा के लिए उपभोग का कारण शरीर जिससे होता है वह प्रत्येकशरीर नामकर्म है।

(२८) अनेक आत्माओं के लिए उपभोगहेतुक शरीर जिससे होता है वह साधारण-शरीर नामकर्म ह।

(२९) जिस कर्म के उदय से रस, रुधिर, मेद, मज्जा, हड्डी, मांस और शुक्र इन सात धातुओं की स्थिरता होती है वह स्थिर नामकर्म है।

(३०) जिस कर्म के उदय से इन धातुओं में उत्तरोत्तर अस्थिररूप परिणमन होता रहता है वह अस्थिर नामकर्म है।

(३१) जिसके उदय से अंगोपांग नामकर्म से उत्पन्न हुए अंगों और उपांगों में रमणी-यता आती है वह शुभ नामकर्म है।

(३२) इससे विपरीत को अशुभ नामकर्म कहते हैं।

(३३) जिसके उदय से स्त्री और पुरुष में परस्पर प्रीति से उत्पन्न हुआ सौभाग्य होता है वह सुभग नामकर्म है।

(३४) रूपादि गुणों से सहित होते हुए भी लोगों को जिसके उदय से अप्रीतिकर प्रतीत होता है उसे दुर्भग नामकर्म कहते हैं।

(३५) जिस कर्म के उदय से आदेय—प्रभासहित शरीर होता है वह आदेय नाम-कर्म है।

(३६) जिसके उदय से अनादेय—निष्प्रभ शरीर होता है वह अनादेय है। अथवा जिसके उदय से जीव आदेयवाक्य—मान्यवचनवाला होता है वह आदेय है और उससे विपरीत अनादेय है।

(३७) जिसके उदय से स्वर शोभन—मधुर अर्थात् मनोज्ञ होता है वह सुस्वर नामकर्म है।

(३८) जिसके उदय से अमनोज्ञ स्वर होता है वह दुःस्वर नामकर्म है।

(३९) पुण्य गुणों का ख्यापन करनेवाला यशःकीर्ति नामकर्म है। अथवा जिस कर्म के उदय से विद्यमान या अविद्यमान गुणों की ख्याति होती है वह यशःकीर्ति है।

भवति तद्यशःकीर्तनं नाम। तत्प्रत्यनीकमपरमयशःकीर्तिनाम, यदुदयात् सद्भूतानामसद्भूतानां चाप्यगुणानां ख्यापनं तदयशस्कीर्तिनाम। नियतं मानं निमानं, तद् द्विविधं प्रमाणनिमानं स्थाननिमानं चेति, यस्य कर्मण उदयेन द्वे अपि निमाने भवतस्तन्निमाननाम, अन्यथा कर्णनयननासिकादीनां स्वजातिप्रतिरूपणमात्मनः स्थानेन प्रमाणेन च नियमो न स्यात्। यस्य कर्मण उदयेन परममार्हन्त्यं त्रैलोक्यपूजाहेतुर्भवति तत्परमोत्कृष्टं तीर्थंकरनाम। एवं पिण्डप्रकृतीनां द्वाचत्वारिंशन्नाम्न एकैकापेक्षया त्रिनवतिर्वा भेदा भवन्तीति ॥१२३८-३९॥

गोत्रप्रकृतिभेदमन्तरायप्रकृतिभेदं चाह—

उच्चाणिच्चागोदं दाणं लाभंतराय भोगो य।
परिभोगो विरियं चेव अंतरायं च पंचविहं ॥१२४०॥

---

(४१) इससे विपरीत अयशःकीर्ति नामकर्म है। अर्थात् जिसके उदय से विद्यमान अथवा अविद्यमान भी दोषों की प्रसिद्धि हो जावे वह अयशःकीर्ति नामकर्म है।

(४१) नियत—निश्चित, मान—माप को निमान कहते हैं। उसके दो भेद हैं—प्रमाणनिमान और स्थाननिमान। जिस कर्म के उदय से दोनों निमान होते हैं वह निमान नामकर्म है। यदि यह कर्म न हो तो आत्मा कान, नेत्र, नाक आदि अवयवों का अपनी जाति के अनुरूप स्थान का और प्रमाण का नियम न हो सकेगा। अर्थात् आकार के जितने आँख, कान आदि और जिस स्थान पर चाहिए उन्हें उतने आकार के अपने-अपने स्थान पर बनाना निमान या निर्माण नामकर्म का काम है।

(४२) जिसकर्म के उदय से तीनों लोक में पूजा का हेतु परम आर्हन्त्य पद प्राप्त होता है वह परमोत्कृष्ट तीर्थंकर नामकर्म है।

इस प्रकार नामकर्म की ये पिण्ड प्रकृतियाँ ब्यालीस हैं और ये ही एक-एक की अपेक्षा से तिरानवे भेदरूप हो जाती हैं।

भावार्थ—पिण्डरूप प्रकृतियाँ ४२ हैं। ये ही अपिण्डरूप से अर्थात् पृथक्-पृथक् करके लेने से ९३ हो जाती हैं। यथा—गति ४, जाति ५, शरीर ५, बन्धन ५, संघात ५, संस्थान ६, संहनन ६, अंगोपांग ३, वर्ण ५, रस ५, गन्ध २, स्पर्श ८, आनुपूर्व्य ४, अगुरुलघु १, उपघात १, परघात १, उच्छ्वास १, आतप १, उद्योत १, विहायोगति २, त्रस १, स्थावर १, सूक्ष्म १, बादर १, पर्याप्त १, अपर्याप्त १, साधारण १, प्रत्येक १, स्थिर १, शुभ १, सुभग १, आदेय १, अस्थिर १, अशुभ १, दुर्भग १, अनादेय १, दुःस्वर १, सुस्वर १, यशस्कीर्ति १, अयशस्कीर्ति १, निर्माण १, और तीर्थंकर १ ये सब मिलकर ९३ हो जाती हैं।

गोत्र और अन्तराय प्रकृतियों के भेद बतलाते हैं—

गाथार्थ—गोत्र के उच्च गोत्र और नीचगोत्र ऐसे दो भेद हैं। अन्तराय के दान, लाभ, भोग और वीर्य ऐसे पाँच भेद हैं ॥१२४०॥*

---

* फलटन से प्रकाशित मूलाचार में उसके पूर्व की गाथा का पूर्वार्ध मात्र है। अगली गाथा बदली हुई है।

एदे पिंडापिंडपयडी णिच्चुच्चयगोदं च।"

अर्थ—ऊपर कथित ये नामकर्म की पिण्डप्रकृतियाँ हैं। इनमें भेद करने से अपिण्डप्रकृतियाँ ९३ हो जाती हैं। गोत्र के नीचगोत्र और उच्चगोत्र ये दो भेद हैं।

(शेष अगले पृष्ठ पर)

गोत्रशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते, उच्चैर्गोत्रं, नीचैर्गोत्रं, द्विविधम् । यदुदयाल्लोकपूजितेषु कुलेषु जन्म तदुच्चैर्गोत्रम्, यदुदयाद्गर्हितेषु कुलेषु जन्म तन्नीचैर्गोत्रम् । अन्तरायशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते काकाक्षिवच्चो-भयमानुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानम् । तस्यान्तरायो दातृदेयादीनामन्तरायो दानान्तरायः, लाभः समीप्सितवस्तु तस्यान्तरायो लाभान्तरायः, सकृद् भुज्यते भोगस्तस्यान्तरायो भोगान्तरायः, पुनर्भुज्यते परिभोगस्तस्यान्तरायः परिभोगान्तरायः, वीर्यंशक्तिरुत्साहस्तस्यान्तरायो वीर्यान्तरायः। दानादिपरिणामव्याघातहेतुत्वात् तद्व्यप-देशः । यदुदयाद्दातुकामोऽपि न ददाति, लब्धुकामोऽपि न लभते, भोक्तुमिच्छन्नपि न भुंक्ते, उपभोक्तुमभि-वांछन्नपि न परिभुंक्ते, उत्सहितुकामोऽपि नोत्सहते, इत्येवमन्तरायः पंचविधो भवति उत्तरप्रकृतिभेदेन। ॥१२४०॥

एवमुत्तरप्रकृतिभेदोऽष्टचत्वारिंशच्छतं भवति।

आचारवृत्ति—गोत्र शब्द दोनों में लगाना अर्थात् गोत्र के उच्चगोत्र और नीचगोत्र ऐसे दो भेद हैं। जिसके उदय से लोकपूजित कुलों में जन्म हो वह उच्चगोत्र है। जिसके उदय से गर्हित—निन्द्य कुलों में जन्म हो वह नीचगोत्र है।

अन्तराय शब्द भी प्रत्येक के साथ लगा लेना चाहिए। स्वपर के अनुग्रह के लिए अपनी वस्तु का त्याग करना दान है। उसका अन्तराय अर्थात् दाता और देय आदि के मध्य विघ्न का होना दानान्तरायकर्म है। इच्छित वस्तु की प्राप्ति लाभ है। उसका अन्तराय होना लाभान्त-राय है। जो एक बार ही भोगी जा सकती है वह वस्तु भोग कहलाती है। उसमें विघ्न आ जाना भोगान्तराय है। जो वस्तु पुनःपुनः भोगी जा सकती है वह परिभोग है। उसकी प्राप्ति में विघ्न आ जाना परिभोगान्तराय है। शक्ति या उत्साह का नाम वीर्य है। उसमें विघ्न आ पड़ना वीर्यान्तराय है।

ये दानादि परिणाम में विघ्न के हेतु हैं, इनका वैसा ही नाम है। अर्थात् जिनके उदय से देने की इच्छा होते हुए भी नहीं दे पाता है, प्राप्त करने की इच्छा होते हुए भी नहीं प्राप्त कर पाता है, भोगने की इच्छा होते हुए भी नहीं भोग पाता है, उपभोग करने की इच्छा रखते हुए भी उपभोग नहीं कर पाता है और उत्साह की इच्छा रखते हुए भी उत्साहित नहीं हो पाता है ऐसे पाँचों अन्तरायों के उदय से ही ऐसा होता है। इस तरह उत्तर प्रकृतियों के भेद से अन्त-राय पाँच प्रकार का होता है।

इस प्रकार सर्वभेद मिलाकर उत्तरप्रकृतियों के एक सौ अड़तालीस भेद हो जाते हैं।

भावार्थ—ज्ञानावरण के ५, दर्शनावरण के ६, वेदनीय के २, मोहनीय के २८, आयु के ४, नाम के ९३, गोत्र के २, और अन्तराय के ५ ऐसे १४८ भेद उत्तरप्रकृतियों के होते हैं।

दाणंतरायलाहो भोगुवभोगं च वीरियं चेव।

एवं तु पयडिबंध वीसहियसयं वियाणाहि ॥

अर्थ—दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय और वीर्यान्तराय ये पाँच अन्त-राय के भेद हैं। इस प्रकार से प्रकृतिबन्ध के एक सौ बीस भेदों को जानो। अर्थात् सर्व अपिण्डप्रकृतियाँ १४८ हैं। उनमें से बन्ध के योग्य १२० हैं, ऐसा जानो।

१. क न प्रयच्छति।

प्रकृतिस्वामित्वं प्रतिपादयन्नाह—

सयअडयालपईणं बंधं गच्छंति वीसअहियसयं।
सव्वे मिच्छादिट्ठी बंधदि णाहारतित्थयरा ॥१२४१॥*

अष्टचत्वारिंशच्छतप्रकृतीनां मध्ये शतं विंशत्युत्तरं बन्धप्रकृतयो भवन्ति, अष्टाविंशतिरबन्धप्रकृतयः। पंच शरीरबन्धनानि पंच शरीरसंघातानि चत्वारो वर्णाः चत्वारो रसाः एको गन्धः सप्त स्पर्शाः सम्यक्त्वसम्यङ्मिथ्यात्वे द्वे इत्येवमष्टाविंशतिः। एताभ्यः शेषाणां प्रकृतीनामाहारद्वयतीर्थंकररहितानां सप्तदशाधिकं शतं मिथ्यादृष्टिर्बध्नाति। एतासां मिथ्यादृष्टिः स्वामीति। तीर्थंकरत्वं सम्यक्त्वेन आहारद्वयं च संयमेनातो न मिथ्यादृष्टिर्बध्नाति, आहारकाहारकांगोपांगतीर्थंकरनामानीति ॥१२४१॥

सासादनादीनां बन्धप्रकृतीः प्रतिपादयन्नाह—

अब प्रकृतियों के स्वामी का प्रतिपादन करते हैं—

गाथार्थ—एक सौ अड़तालीस प्रकृतियों में से एक सौ बीस प्रकृतियाँ बन्धयोग्य होती हैं। मिथ्यादृष्टि जीव सभी को बाँधते हैं किन्तु आहारक द्विक और तीर्थंकर को नहीं बाँधते हैं ॥१२४१॥

आचारवृत्ति—एक सौ अड़तालीस प्रकृतियों में से एक सौ बीस प्रकृतियाँ बन्धयोग्य हैं। अट्ठाईस अबन्ध प्रकृतियाँ हैं। पाँच शरीरबन्धन, पाँच शरीरसंघात, चार वर्ण, चार रस, एक गन्ध, सात स्पर्श तथा सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्व इस प्रकार ये अट्ठाईस प्रकृतियाँ बन्धयोग्य नहीं हैं।

इनके अतिरिक्त शेष एक-सौ-बीस प्रकृतियों में से आहारद्विक और तीर्थंकर ये तीन प्रकृतियां कम करने से मिथ्यादृष्टि जीव एक सौ सत्रह प्रकृतियाँ बाँधता है, अर्थात् मिथ्यादृष्टि इन प्रकृतियों का स्वामी है। तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध सम्यक्त्व से होता है और आहारकद्वय का संयम से होता है इसीलिए मिथ्यादृष्टि जीव इन्हें नहीं बाँधते हैं।

सासादन आदि की बन्धप्रकृतियों को कहते है—

---

* यह गाथा बदली हुई है—

सव्वे मिच्छादिट्ठी बंधंइ णाहारदुगं तित्थयरं।
उगवीसं छादालं सासण सम्मो य मिस्सो य॥

अर्थ—सभी मिथ्यादृष्टि जीव आहारद्विक और तीर्थंकर इन तीन प्रकृतियों का बन्ध नहीं करते हैं। सासादन सम्यक्त्वी उन्नीस का एवं मिश्रगुणस्थानवर्ती छयालीस प्रकृतियों का बन्ध नही करते हैं। अर्थात् मिथ्यात्वी १२० में से तीन को न बाँधकर ११७ को बाँधते है। सासादनवर्ती मिथ्यात्व गुणस्थान की सोलह व्युच्छिन्न प्रकृतियाँ और तीन ये ऐसी १०१ छोड़कर शेष ११ का बन्ध करते हैं। मिश्रकाले सासादन की व्युच्छिन्न हुई २५ और इन १६ ऐसी ४४ और मनुष्य-आयु एवं देव-आयु ऐसी कुल ४६ प्रकृतियों को नहीं बाँधते हैं।

अवसेसं तेदालीसं तेवण्णं पंचवण्णं च ।
बंधइ सम्मादिट्ठी दु सावओ संजदो तहा चेव ॥१२४२॥

चशब्देन सूचिताः सासादनसम्यङ् मिथ्यादृष्टयोर्बंधप्रकृतीस्तावन्निरूपयामः—मिथ्यात्वनपुंसकवेद-नरकायुर्नरकगत्येकद्वित्रिचतुरिन्द्रियजातिहुंडसंप्राप्तासृपाटिकासंहननरकगतिप्रायोग्यानुपूर्व्यातपस्थावरसूक्ष्मा-पर्याप्तकसाधारणशरीरसंज्ञकाः षोडश प्रकृतीस्त्यक्त्वा शेषा मिथ्यादृष्टिबन्धप्रकृतीरेकोत्तरशतं सासादनसम्यग्-दृष्टिर्बध्नातीति । सम्यङ् मिथ्यादृष्टिः सम्यग्दृष्टिबन्धप्रकृतीस्तीर्थंकरदेवमनुष्यायुरहिताश्चतुःसप्ततिसंख्या [illegible] बध्नातीति । निद्रानिद्राप्रचलाप्रचलास्त्यानगृद्ध्यनन्तानुबन्धिक्रोधमानमायालोभस्त्रीवेदतिर्यगायुस्तिर्यग्गति-मध्यमचतुःसंस्थान—मध्यमचतुःसंहनन—तिर्यग्गतिप्रायोग्यानुपूर्व्योद्योताप्रशस्तविहायोगतिदुर्भगदुःस्वरानादेयनीचै-र्गोत्रसंज्ञकाः पंचविंशतिप्रकृतीः परिहृत्य तीर्थंकरसहिताः सासादनबन्धप्रकृतीर्वा सप्तसप्ततिप्रकृतीरसंयत-सम्यग्दृष्टिर्बध्नाति । अप्रत्याख्यानावरणक्रोधमानमायालोभमनुष्यगत्यौदारिकशरीरांगोपांगमनुष्यायुर्वज्रर्षभ-नाराचसंहननमनुष्यगतिप्रायोग्यानुपूर्व्यनाम्नी दशप्रकृतीः परिहृत्य शेषा असंयतसम्यग्दृष्टिबन्धप्रकृतीस्त्रिसप्तत्या-

---

गाथार्थ—क्रम से तेतालीस, त्रेपन और पचपन छोड़कर शेष प्रकृतियों को सम्यग्दृष्टि, श्रावक और संयत बाँधते हैं ॥१२४२॥

आचारवृत्ति—'च' शब्द से सूचित सासादन सम्यग्दृष्टि और समयङ्‌मिथ्यादृष्टि की बन्धप्रकृतियों का निरूपण पहले करते हैं ।

मिथ्यात्व, नपुंसकवेद, नरकआयु, नरकगति, एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जाति, हुण्डसंस्थान, असंप्राप्तसृपाटिका-संहनन, नरकगति प्रायोग्यानुपूर्व्य, आतप, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्तक और साधारण शरीर इन सोलह प्रकृतियों को छोड़कर शेष रहीं मिथ्यादृष्टि की एक सौ एक बन्धप्रकृतियों को सासादन सम्यग्दृष्टि जीव बाँधते हैं । सम्यग्-मिथ्यादृष्टि जीव सम्यग्दृष्टि के बन्ध योग्य तीर्थंकर, देवायु और मनुष्यायु इन तीन से रहित चौहत्तर प्रकृतियों को बाँधते हैं । अर्थात् सासादन में पच्चीस प्रकृतियाँ व्युच्छिन्न होती हैं । १०१ में से २५ और आयु की २, ऐसी २७ प्रकृतियों के घटाने से ७४ प्रकृतियाँ बंधती हैं । सासादन में व्युच्छिन्न होनेवाली इन २५ प्रकृतियों को आगे कहते हैं ।

निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला, स्त्यानगृद्धि, अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, स्त्रीवेद, तिर्यंचायु, तिर्यंचगति, मध्य के चार संस्थान, मध्य के चार संहनन, तिर्यंचगतिप्रायोग्यानुपूर्व्य, उद्योत, अप्रशस्तविहायोगति, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय और नीचगोत्र इन पच्चीस प्रकृतियों को छोड़कर तथा तीर्थंकर प्रकृति मिलाकर ऐसी सासादन प्रकृतियों को अर्थात् सतत्तर प्रकृतियों को असंयत सम्यग्दृष्टि जीव बाँधते हैं । अर्थात् १०१ में से २५ घटाकर और १ मिलाकर ७७ प्रकृतियों का चतुर्थगुणस्थानवर्ती बन्ध करते हैं ।

अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ, मनुष्यगति, औदारिक शरीर, औदारिक अंगोपांग, मनुष्यायु, वज्रर्षभनाराचसंहनन और मनुष्यगतिप्रायोग्यानुपूर्व्य इन दश प्रकृतियों को छोड़कर शेष असंयतसम्यग्दृष्टि की बन्धप्रकृतियों को अर्थात् त्रेपनरहित और तीर्थंकर,

---

१. अथवा मिथ्या. गुणस्थान में बँधनेवाली ११७ में ३ अबन्धप्रकृति जोड़ देने पर सामान्यबन्ध योग्य १२० प्रकृतियाँ हैं । इनमें से प्रथम गुणस्थान में व्युच्छिन्न १६, द्वितीय गुणस्थान में व्युच्छिन्न २५, चौथे गुणस्थान में व्युच्छिन्न प्रकृति १० तीनों मिलाकर ५१ हुए, तथा आहारकद्विक का यहाँ बन्ध नहीं है । अतः इन २ को मिलाकर ५३ प्रकृति को छोड़कर ६७ प्रकृतियाँ पंचम गुणस्थान में बँधी हैं ।

शद्रहिततीर्थंकराहारद्वयसहितमिथ्यादृष्टिप्रकृतीर्वा सप्तषष्टिसंज्ञकाः संयतासंयतो बध्नाति। प्रत्याख्यानावरण-क्रोधमानमायालोभसंज्ञकाश्चतस्रः प्रकृतीः परिहृत्य शेषाः संयतासंयतबन्धप्रकृतीः पंचपंचाशद्रहितमिथ्यादृष्टि-बन्धप्रकृतीर्वा तीर्थंकराहारद्वयबन्धसहिताः पंचषष्टिप्रकृतीः प्रमत्तसंयतो बध्नाति। तथा तेनैव प्रकारेणाप्रमत्ता-दीनां बन्धप्रकृतयो द्रष्टव्यास्तद्यथा असद्वेद्यारतिशोकास्थिराशुभायशस्कीर्तिसंज्ञकाः षट् प्रकृतीः परिहृत्य शेषा अप्रमत्तो बध्नातीति। अप्रमत्तप्रकृतीस्त्यक्तदेवायुःप्रकृतीरष्टापंचाशत्संज्ञका अपूर्वकरणो बध्नातीति। आद्य-भागेन ता एव निद्राप्रचलारहिताः षट्पंचाशत्प्रकृतीः स एवापूर्वकरणसंख्यातभागेषु बध्नाति। तत ऊर्ध्वं संख्येय-भागे पंचेन्द्रियजातिवैक्रियिकाहारतैजसकार्मणशरीरसमचतुरस्रसंस्थानवैक्रियिकाहारकशरीरांगोपांगवर्णगन्धरस-स्पर्शदेवगति-देवगतिप्रायोग्यानुपूर्व्यागुरुलघूपघातपरघातोच्छ्वासविहायोगति-त्रसबादरपर्याप्तकप्रत्येकशरीर-स्थिरशुभसुभगसुस्वरादेयनिर्माणतीर्थंकराख्याः प्रकृतीः परिहृत्य शेषाः षड्विंशतिप्रकृतीः स एवापूर्वकरणो बध्नाति, ततोऽनिवृत्तिप्रथमभागे ता एव प्रकृतीर्हास्यरतिभयजुगुप्सारहिता द्वाविंशतिसंख्याका बध्नाति अनिवृत्तिबादरः।

आहारकद्वय से सहित मिथ्यादृष्टि की प्रकृतियों को, अर्थात् सड़सठ प्रकृतियों को संयतासंयत जीव बाँधते हैं। अर्थात् मिथ्यात्वी की ६७ (११७-५३ = ६४+३) प्रकृतियों का पंचमगुण-स्थानवर्ती जीव बन्ध करते हैं।

प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ इन चार प्रकृतियों को छोड़कर शेष संयता-संयत की बन्ध प्रकृतियों को अथवा पचपन प्रकृति रहित मिथ्यादृष्टि प्रकृतियों में तीर्थंकर और आहारकद्वय ये तीन मिलाकर ऐसी पैंसठ प्रकृतियों को प्रमत्तसंयत बाँधते हैं। अर्थात् ११७ में ५५ घटाकर और ३ मिलाकर ६५ होती हैं।

इसी प्रकार अप्रमत्तसंयत आदिकों की बन्ध प्रकृतियों को समझ लेना चाहिए। उन्हीं का स्पष्टीकरण—

असातावेदनीय, अरति, शोक, अस्थिर, अशुभ और अयशःकीर्ति इन छह प्रकृतियो को छोड़कर शेष उनसठ प्रकृतियां का अप्रमत्तसंयत जीव बन्ध करते हैं।

इन अप्रमत्त की प्रकृतियों से एक देवायु को घटाकर शेष अट्ठावन प्रकृतियों को अपूर्वकरणसंयत बाँधता है। निद्रा और प्रचला से रहित इन्हीं छप्पन प्रकृतियों को वही संयत अपूर्वकरण के संख्यात भाग जाने पर बाँधता है। पुनः इसके ऊपर संख्यात भाग व्यतीत होने पर पंचेन्द्रिय जाति, वैक्रियिक, आहारक, तैजस और कार्मण शरीर, समचतुरस्र-संस्थान, वैक्रियिक शरीरांगोपांग, आहारशरीरांगोपांग, वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, देवगति, देवगतिप्रायोग्यानु-पूर्व्य, अगुरुलघु, उपघात, परघात, उच्छ्वास, विहायोगति, त्रस, बादर, पर्याप्तक, प्रत्येकशरीर, स्थिर, (शुभ) सुभग, सुस्वर, आदेय, निर्माण और तीर्थंकर इन ३० प्रकृतियों को छोड़कर शेष छब्बीस प्रकृतियों को वही अपूर्वकरण बाँधता है। अर्थात् अपूर्वकरण के प्रथम भाग में ५८ का संख्यात भाग के अनन्तर ५६ का और पुनः संख्यातवें भाग के अनन्तर २६ का बन्ध होता है।[1]

इसके अनन्तर अनिवृत्तिकरण के प्रथम भाग में इन्हीं प्रकृतियों में से हास्य, रति, भय, जुगुप्सा रहित बाईस प्रकृतियों को अनिवृत्तिबादर नामक संयत बाँधता है। पुनः इसके ऊपर

---

१. कर्मकाण्ड में छठे में आहारक द्वय का बन्ध न मानकर ६३ का बन्ध माना है।

तत ऊर्ध्वं पुंवेदरहिता एकविंशतिप्रकृतीरनिवृत्तिद्वितीयभागे बध्नाति। ततः संज्वलनक्रोधरहिता विंशतिप्रकृतीस्तृतीयभागे बध्नाति। ततः संज्वलनमानरहिता एकोनविंशतिप्रकृतीश्चतुर्थभागे बध्नाति। तत ऊर्ध्वं मायारहिता अष्टादशप्रकृतीः पंचभागे बध्नाति। तत ऊर्ध्वं ता एव लोभरहिताः सप्तदशप्रकृतीः सूक्ष्मसांपरायो बध्नाति। ज्ञानान्तरायदशकदर्शनचतुष्कोच्चैर्गोत्रयशःकीर्तिषोडशप्रकृतीर्मुक्त्वैकं सद्वेद्यं द्वितीयभागे सूक्ष्मसांपरायो बध्नाति। तत ऊर्ध्वं सातवेदनीयाख्यामेकाम् प्रकृतिमुपशान्तकषायक्षीणकषाययोगिकेवलिनो बध्नन्ति। अयोगकेवली अबन्धको न किंचित्कर्म बध्नातीति ॥१२४२॥

व्याख्यातः प्रकृतिबन्धविकल्पः, इदानीं स्थितिबन्धविकल्पो वक्तव्यः, सा च स्थितिर्द्विविधोत्कृष्टा जघन्या च; तत्र यासां कर्मप्रकृतीनामुत्कृष्टा स्थितिः समाना तासां निर्देशार्थमुच्यते—

तिण्हं खलु पढमाणं उक्कस्सं अंतरायस्सेव।
तीसं कोडाकोडी सायरणामाणमेव ठिदी ॥१२४३॥*

अनिवृत्तिकरण के द्वितीय भाग में वही संयत पुंवेदरहित इक्कीस का बन्ध करता है, तृतीय भाग में संज्वलन क्रोध रहित बीस प्रकृतियों का, चतुर्थ भाग में संज्वलन मान रहित उन्नीस प्रकृतियों का और पाँचवें भाग में संज्वलन माया रहित अठारह प्रकृतियों का बन्ध करता है।

इसके ऊपर सूक्ष्मसाम्पराय मुनि लोभकषाय रहित इन्हीं सत्रह प्रकृतियों का बन्ध करता है। वही सूक्ष्मसाम्पराय संयत अपने गुणस्थान के द्वितीय भाग में ज्ञानावरण की ५, अन्तराय की ५ दर्शनावरण की ४, उच्चगोत्र और यशःकीर्ति इन सोलह प्रकृतियों को छोड़कर मात्र एक सातावेदनीय का ही बन्ध करता है।

इसके अनन्तर उपशान्तकषाय संयत, क्षीणकषायसंयत और सयोगकेवलिजिन एक सातावेदनीय का ही बन्ध करते हैं।

अयोगकेवलीजिन अबन्धक हैं, वे किंचित् मात्र भी कर्म का बन्ध नहीं करते हैं।

प्रकृतिबन्ध के भेदों का व्याख्यान हुआ। अब स्थितिबन्ध के भेद कहना चाहिए। स्थिति के दो भेद हैं—उत्कृष्ट और जघन्य। उनमें से जिन कर्मप्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति समान है उनका कथन करते हैं—

गाथार्थ—आदि के तीन कर्म और अन्तरायकर्म इन चारों की तीस कोड़ा-कोड़ी सागर प्रमाण ही उत्कृष्ट स्थिति है ॥१२४३॥

* फलटन से प्रकाशित मूलाचार में अप्रमत्त से लेकर अयोगी तक बन्ध की प्रकृतियाँ आगे दो गाथाओं में कही हैं जबकि इस संस्करण में यह विषय टीका में ले लिया गया है।

एगट्ठी बासट्ठी अट्ठावणी तिण्णिसहिय सयरहियं।
बंधंति अप्पमत्ता पुव्व णियट्टी य सुहुमो य ॥

अर्थ—अप्रमत्तसंयत इकसठ रहित शेष उनसठ प्रकृतियों का बन्ध करते हैं। अपूर्वकरणसंयत बासठ प्रकृति रहित शेष अट्ठावन प्रकृतियों का बन्ध करते हैं। अनिवृत्तिकरण संयत अट्ठानवे प्रकृतियों को छोड़कर शेष बाईस प्रकृतियों का बन्ध करते हैं और सूक्ष्म साम्पराय संयत एक-सौ-तीन प्रकृतियों को छोड़कर शेष सत्रह प्रकृतियाँ बाँधते हैं।

प्रथमानां प्रथमता ज्ञानावरणदर्शनावरणवेदनीयानां सामीप्यात्साहचर्याद्वा सर्वेषां प्रथमत्वमन्तरायस्य च उत्कृष्टा स्थितिः सागरनाम्नां त्रिंशत्कोटीकोट्यो नाधिका। पंचानां ज्ञानावरणीयानां नवानां दर्शनावरणीयानां सातवेदनीयस्यासातवेदनीयस्य पंचान्तरायाणां चोत्कृष्टः स्थितिबन्धः स्फुटं त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोट्यः। एते कर्मरूपपुद्गला एतावता कालेन कर्मस्वरूपाभावे क्षयमुपव्रजंतीति ॥१२४३॥

तथा—

मोहस्स सत्तरिं खलु बीसं णामस्स चेव गोदस्स।
तेत्तीसमाउगाणं उवमाओ सायराणं तु ॥१२४४॥

मोहस्य मिथ्यात्वस्य सागरोपमानां कोटीकोटीनां सप्ततिरुत्कृष्टा स्थितिः, नामगोत्रयोः कर्मणोरुत्कृष्टस्थितिः सागराणां कोटीकोटीनां विंशतिः पूर्वोक्तेन सागरनाम्नां कोटीकोटी इत्यनेन सम्बन्धः। आयुषः पुनः कोटीकोटीशब्देन नास्ति सम्बन्धः। तथानभिधानादागमे इत्यतः सागरशब्देनैव सम्बन्धः। कुतः पुनः? सागरोपमग्रहणादायुष उत्कृष्टस्थितिः उपमा सागराणां त्रयस्त्रिंशत्स्थितेः सागरैस्त्रयस्त्रिंशद्भिरुपमा।

आचारवृत्ति—प्रथम तीन ज्ञानावरण, दर्शनावरण और वेदनीय (समीपता से अथवा साहचर्य से तीनों को प्रथमपना प्राप्त हो जाता है) और अन्तराय की उत्कृष्ट स्थिति तीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम है, इससे अधिक नहीं है। अर्थात् पाँचों ज्ञानावरणीय, नवों दर्शनावरणीय, सातावेदनीय और असातावेदनीय तथा पाँचों अन्तराय इन सबकी उत्कृष्ट स्थिति तीस कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण है। तात्पर्य यह है कि ये कर्मरूप हुए पुद्गल इतने काल तक कर्म अवस्था में रहते हैं और इसके बाद कर्मस्वरूपता को छोड़कर निर्जीर्ण हो जाते हैं।

शेष कर्मों की स्थिति कहते हैं—

गाथार्थ—मोह की सत्तर कोड़ाकोड़ी सागरोपम, नाम और गोत्र की बीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम और आयु की तेतीस सागरोपम उत्कृष्ट स्थिति है ॥१२४४॥

आचारवृत्ति—मोह अर्थात् मिथ्यात्वकर्म की उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोड़ाकोड़ी सागरोपम है। नाम और गोत्र की उत्कृष्ट स्थिति बीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम है। पूर्वोक्त गाथा में कथित 'सागरनाम्नां कोटीकोटयः' अर्थात् कोड़ाकोड़ी सागर वाक्य है उसका यहाँ तक सम्बन्ध कर लेना। पुनः आयु के साथ कोड़ाकोड़ी का सम्बन्ध नहीं करना है, क्योंकि आगम में सिद्धान्त ग्रन्थों में आयु के साथ कोड़ाकोड़ी का सम्बन्ध नहीं है अतः यहाँ सागर शब्द से ही सम्बन्ध करना है।

आयु की उत्कृष्ट स्थिति में सागरोपम को कैसे लें?

'उपमा सागराणां' इसी गाथा के उत्तरार्ध में है। उसी से ऐसा समझें कि आयु की उत्कृष्ट स्थिति तेतीस सागरोपम मात्र है।

उवसंतखीणमोही उजोगि सतरेहि रहियपयडीणं।
बीसत्तं पयडिविणा जोगविहीणा दु बंधंति॥

अर्थ—उपशान्तकषाय संयत, क्षीणकषाय संयत और सयोगकेवलिजिन ये तीनों ही एक सौ उन्नीस प्रकृतियों से रहित शेष एक साताप्रकृति का ही बन्ध करते हैं। अयोगकेवलिजिन एक सौ बीस प्रकृतियों से भी रहित अबन्धक होते हैं।

तुशब्दः सर्वविशेषणसंग्रहार्थः। तद्यथा, सातवेदनीय-स्त्रीवेद-मनुष्यगति-मनुष्यगतिप्रायोग्यानुपूर्व्यनाम्नामुत्कृष्टा स्थितिः पञ्चदशसागरोपमकोटीकोट्यः। षोडशकषायाणामुत्कृष्टः स्थितिबन्धश्चत्वारिंशत्कोटीकोट्यः सागराणाम्। पुंवेद-हास्य-रति-देवगतिसमचतुरस्रसंस्थान-वज्रर्षभनाराचसंहनन-देवगतिप्रायोग्यानुपूर्व्य-प्रशस्तविहायोगति-स्थिरसुभगशुभसुस्वरादेययशःकीर्त्युच्चैर्गोत्राणामुत्कृष्टः स्थितिबन्धः दशसागरोपमकोटीकोट्यः।

नपुंसकवेदारतिशोकभयजुगुप्सानरकगति-तिर्यग्गत्येकेन्द्रियपंचेन्द्रियजात्यौदारिकवैक्रियिकतैजसकार्मणशरीर-हुण्डसंस्थानौदारिकवैक्रियिकांगोपांगासंप्राप्तसृपाटिकासंहनन-वर्णरसगन्धस्पर्श-नरकगति-तिर्यग्गतिप्रायोग्यानुपूर्व्यागुरुलघूपघातपरघातोच्छ्वासातपोद्योताप्रशस्तविहायोगतित्रसस्थावरबादरपर्याप्तप्रत्येकशरीरास्थिराशुभदुर्भगदुःस्वरानादेयायशस्कीर्तिनाम्नां नीचैर्गोत्राणामुत्कृष्टः स्थितिबन्धो विंशतिसागरोपमकोटीकोट्यः।

नरकदेवायुषोस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाण्युत्कृष्टा स्थितिः। तिर्यङ्मनुष्यायुषो उत्कृष्टा स्थितिस्त्रीणि पल्योपमानि। द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियजातिवामनसंस्थानकीलकसंहननसूक्ष्मापर्याप्तसाधारणनाम्नामुत्कृष्टस्थितिः अष्टादशसागरोपमकोटीकोट्यः। आहारशरीरांगोपांगतीर्थंकरनाम्नामुत्कृष्टस्थितिः अन्तःकोटीकोट्यः। न्यग्रोधसंस्थानवज्रनाराचसंहननयोरुत्कृष्टस्थितिर्द्वादशसागरोपमकोटीकोट्यः। स्वातिसंस्थाननाराचसंहननयोरुत्कृष्टा स्थितिः चतुर्दशसागरोपमकोटीकोट्यः। कुब्जकसंस्थानार्द्धनाराचसंहननयोरुत्कृष्टा स्थितिः षोडश

गाथा मे जो 'तु' शब्द है वह सर्व विशेषों को ग्रहण कर लेता है, अतः इन कर्मों के उत्तर भेदों को उत्कृष्ट स्थिति कहते हैं—

साता वेदनीय, स्त्रीवेद, मनुष्यगति, मनुष्यगति-प्रायोग्यानुपूर्व्य की उत्कृष्ट स्थिति पन्द्रह कोड़ाकोड़ी सागर है। सोलह कषायों की उत्कृष्ट स्थिति चालीस कोड़ाकोड़ी सागर है। पुंवेद, हास्य, रति, देवगति, समचतुरस्रसंस्थान, वज्रवृषभनाराचसंहनन, देवगति-प्रायोग्यानुपूर्व्य, प्रशस्त विहायोगति, स्थिर, सुभग, शुभ, सुस्वर, आदेय, यशस्कोर्ति और उच्चगोत्र—इनकी उत्कृष्ट-स्थिति दस कोड़ाकोड़ी सागर है।

नपुंसकवेद, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, नरकगति, तिर्यंचगति, एकेन्द्रियजाति, पंचेन्द्रियजाति, औदारिकशरीर, वैक्रियिकशरीर, तैजसशरीर, कार्मणशरीर, हुण्डसंस्थान, औदारिक अगोपांग, वैक्रियिक अगोपांग, असंप्राप्तसृपाटिकासंहनन, वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, नरकगतिप्रायोग्यानुपूर्व्य, तिर्यंचगतिप्रयोग्यानुपूर्व्य, अगुरुलघु, उपघात, परघात, उच्छ्वास, आतप, उद्योत, अप्रशस्तविहायोगति, त्रस, स्थावर, बादर, पर्याप्त, प्रत्येकशरीर, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग दुःस्वर, अनादेय, अयशस्कीर्ति और नीचगोत्र—का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध बीस कोड़ाकोड़ो सागर है।

नरकायु व देवायु की उत्कृष्ट स्थिति तेतीस सागर है। तिर्यंचायु और मनुष्यायु की उत्कृष्ट स्थिति तीन पल्यप्रमाण है। द्वीन्द्रियजाति त्रीन्द्रियजाति, चतुरिन्द्रियजाति, वामन-संस्थान, कोलक संहनन, सूक्ष्म, अपर्याप्त और साधारण की उत्कृष्ट स्थिति अठारह कोड़ाकोड़ी सागर है। आहारक शरीर, आहारक अंगोपांग और तीर्थंकर की उत्कृष्ट स्थिति अन्तः-कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण है। न्यग्रोध संस्थान और वज्रनाराचसंहनन की उत्कृष्ट स्थिति बारह कोड़ाकोड़ो सागर है। तथा स्वाति संस्थान और नाराच संहनन की उत्कृष्ट स्थिति चौदह कोड़ाकोड़ी सागर है। कुब्जकसंस्थान और अर्धनाराचसंहनन की उत्कृष्ट स्थिति सोलह

सागरोपमकोटीकोट्यः ।

सर्वत्र यावंत्यः सागरोपमकोटीकोट्यस्तावंति वर्षशतान्याबाधा । आबाधा हीनकर्मस्थितिः कर्म-निषेकः । येषां तु अन्तःकोटीकोट्यः स्थितिस्तेषामन्तर्मुहूर्तं आबाधा । आयुषः पूर्वकोटीत्रिभाग उत्कृष्टाबाधा, [illegible] कर्मस्थितिः, कर्मस्थितिकर्मनिषेधक इति ।

इयं संज्ञिपंचेन्द्रियस्योत्कृष्टा स्थितिरेकेन्द्रियस्य ।

पुनर्मिथ्यात्वस्योत्कृष्टः स्थितिबन्ध एकं सागरोपमम् । कषायाणां सप्त चत्वारो भागा, ज्ञानावरण-दर्शनावरणान्तरायसातवेदनीयानामुत्कृष्टः स्थितिबन्धः सागरोपमस्य त्रयः सप्तमभागाः, नामगोत्रनोकषायाणां सागरोपमस्य द्वौ सप्तभागौ । एवं शेषाणां त्रैराशिकक्रमेणैकेन्द्रियस्योत्कृष्टा स्थितिः साध्या, तस्याः संदृष्टिरेवं १, ४/७ ३/७ २/७ एवं द्वीन्द्रियाद्यसंज्ञिपंचेन्द्रियपर्यन्तानामुत्कृष्टा स्थितिः साध्या ।

द्वीन्द्रियस्य मिथ्यात्वस्योत्कृष्टा स्थितिः पंचविंशतिः सागरोपमाणां, त्रीन्द्रियस्य पंचाशत्, चतु-रिन्द्रियस्य शतम् । असंज्ञिपंचेन्द्रियस्य सहस्रम् ।

तद्विभागेनैव शेषकर्मणामप्युत्कृष्टा स्थितिः साध्या त्रैराशिकक्रमेण । तेषां संदृष्टयः द्वीन्द्रियस्य मिथ्यात्वादीनां २५, १००/७, ७५/७, ५०/७; त्रीन्द्रियस्य मिथ्यात्वादीनां ५०, २००/७, १५०/७, १००/७;

कोड़ाकोड़ी सागर है ।

इन सभी कर्मों में जिस कर्म की जितने कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण स्थिति है उसकर्म की उतने सौ वर्ष प्रमाण आबाधास्थिति है। वह आबाधाहीन कर्म-स्थिति प्रमाण कर्मों की निषेधक है। जितने काल की आबाधा है उतने काल तक कर्म उदय में नहीं आते हैं। जिन कर्मों की अन्तः कोड़ाकोड़ी प्रमाण स्थिति है उनकी आबाधा अन्तर्मुहूर्त मात्र है। आयुकर्म की उत्कृष्ट आबाधा पूर्वकोटी के त्रिभागप्रमाण है। अर्थात् उतने काल तक वह आयुकर्म उदय में नहीं आ सकता है।

यहाँ तक संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों की उत्कृष्ट स्थिति कही गयी है।

एकेन्द्रिय जीव के मिथ्यात्व का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध एक सागर है। कषायों का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध एक सागर के सात भाग में से चार भाग प्रमाण है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय और सातावेदनीय का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध सागर के सात भाग में से तीन भाग प्रमाण है। नाम, गोत्र और कुछ नोकषायों का सागर के सात भाग में से दो भागप्रमाण है। इसी प्रकार एकेन्द्रिय जीव के शेष कर्मों की भी उत्कृष्ट स्थिति त्रैराशिक के क्रम से निकाल लेना चाहिए। उसकी संदृष्टि इस प्रकार है—दो इन्द्रिय के—मिथ्यात्व १, कषाय ४/७, ज्ञानावरण ३/७, नामगोत्र २/७ ।

इसी तरह द्वीन्द्रिय से असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्यन्त जीवों की उत्कृष्ट स्थिति निकाल लेना चाहिए। अर्थात् द्वीन्द्रिय जीव के मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति पच्चीस सागर प्रमाण है। त्रीन्द्रिय के पचास सागर, चतुरिन्द्रिय जीव के सौ सागर और असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति हजार सागर प्रमाण है।

इन जीवों के शेष कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति भी इस विभाग के द्वारा ही त्रैराशिक के क्रम से जान लेनी चाहिए। अर्थात्

	मि०	कषाय	ज्ञानावरणादि	नाम-गोत्र
द्वीन्द्रिय जीव के	२५	१००/७	७५/७	५०/७
त्रीन्द्रिय जीव के	५०	२००/७	१५०/७	१००/७

चतुरिन्द्रियस्य मिथ्यात्वादीनां १००, ४००/७, ३००/७, २००/७; असंज्ञिनां पंचेन्द्रियस्य मिथ्यात्वादीनां १०००, ४०००/७, ३०००/७, २०००/७ मिथ्यात्वादीनामुत्कृष्टः स्थितिबन्धः। सर्वत्र चावल्या संख्यातभाग एव आबाधा इति ॥१२४४॥

उत्कृष्टस्थितिबन्धं प्रतिपाद्य जघन्यस्थितिबन्धं प्रतिपादयन्नाह—

बारस य वेदणीए णामगोदाणमट्ठय मुहुत्ता।
भिण्णमुहुत्तं तु ठिदी जहण्णयं सेस पंचण्हं ॥१२४५॥

वेदनीयस्य कर्मणो जघन्या स्थितिः द्वादश मुहूर्ताः। नामगोत्रयोः कर्मणोरष्टौ मुहूर्ताः जघन्या स्थितिः। शेषाणां पुनः पंचानां ज्ञानावरणदर्शनावरणमोहनीयायुरन्तरायाणां जघन्या स्थितिरन्तर्मुहूर्तमात्रमिति च। जघन्यस्थितेर्विशेषं प्रतिपादयन्नाह।

पंचज्ञानावरणचतुर्दर्शनावरणलोभसंज्वलनपंचान्तरायाणां जघन्या स्थितिरन्तर्मुहूर्ता। सातवेद्यस्य द्वादशमुहूर्ता। यशःकीर्त्युच्चगोत्रयोरष्टौ मुहूर्ताः। क्रोधसंज्वलनस्य द्वौ मासौ। मानसंज्वलनस्यैकमासः। मायासंज्वलनस्यार्धमासः पुरुषवेदस्याष्टौ संवत्सराः। निद्रानिद्राप्रचलाप्रचलास्त्यानगृद्धिनिद्राप्रचलाऽसातवेदनीयानां सागरोपमस्य त्रयः सप्तभागाः पल्योपमासंख्यातभागहीनाः। मिथ्यात्वस्य सागरोपमस्य

चतुरिन्द्रिय जीव के	१००	४००/७	३००/७	२००/७
असंज्ञिपंचेन्द्रिय के	१०००	४०००/७	३०००/७	२०००/७

इस संदृष्टि के अनुसार द्वीन्द्रिय जीव के मिथ्यात्व आदि की उत्कृष्ट स्थिति, त्रीन्द्रिय जीव के मिथ्यात्व आदि की उत्कृष्ट स्थिति, चतुरिन्द्रिय जीव के मिथ्यात्व आदि की उत्कृष्ट स्थिति और असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीव के मिथ्यात्व आदि की उत्कृष्ट स्थिति का त्रैराशिक से कथन है। सर्वत्र आबाधा आवली के जघन्य संख्यातवें भाग प्रमाण ही है।

उत्कृष्ट स्थितिबन्ध का प्रतिपादन करके अब जघन्य स्थिति बन्ध कहते हैं—

गाथार्थ—वेदनीय की बारह मुहूर्त और नामगोत्र की आठ मुहूर्त तथा शेष पाँच कर्मों की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त है ॥१२४५॥

आचारवृत्ति—वेदनीयकर्म की जघन्य स्थिति बारह मुहूर्त है। नाम और गोत्रकर्म की जघन्य स्थिति आठ मुहूर्त है। शेष ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, आयु और अन्तराय इन पाँच कर्मों की जघन्य स्थिति अन्तमुहूर्त मात्र है। जघन्य स्थिति में विशेष—भेदों का प्रतिपादन करते हैं।

पाँच ज्ञानावरण, चार दर्शनावरण, लोभ-संज्वलन और पाँच अन्तराय, इन कर्मों की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त है। सातावेदनीय की बारह मुहूर्त है। यशस्कीर्ति और उच्चगोत्र की आठ मुहूर्त है। संज्वलन-क्रोध की दो मास, संज्वलन-मान की एक मास, संज्वलन-माया की पन्द्रह दिन और पुरुषवेद की आठ वर्ष प्रमाण जघन्य स्थिति है। निद्रा-निद्रा, प्रचला-प्रचला, स्त्यानगृद्धि, निद्रा, प्रचला और असातावेदनीय की जघन्य स्थिति एक सागर के तीन सातवें भागों में से पल्योपम के असंख्यातवें भागहीन प्रमाण है। मिथ्यात्व की सागरोपम के सात दशवें भाग

सप्तचतुर्भागा: पल्योपमासंख्यातभागहीना: । अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानानां सागरोपमस्य चत्वार: सप्तभागा: पल्योपमासंख्यातभागहीना अष्टानां नोकषायाणां सागरोपमस्य द्वौ सप्तभागौ पल्योपमासंख्यातभागहीनौ।

नरकदेवायुषो दशवर्षसहस्राणि । तिर्यङ्मनुष्यायुषोरन्तर्मुहूर्त: । नरकगतिदेवगतिवैक्रियिकशरीरांगोपांगनरकगतिप्रायोग्यानुपूर्व्यदेवगतिप्रायोग्यानुपूर्व्याणां सागरोपमस्य द्वौ सप्तभागौ पल्योपमासंख्यातभागहीनौ आहाराहारांगोपांगतीर्थंकराणां सागरोपमाणां कोटीकोट्योऽन्त:कोटीकोटी । शेषाणां सागरोपमस्य द्वौ सप्तभागौ पल्योपमासंख्यातभागहीनौ । सर्वत्र जघन्या स्थितिरिति संबन्धनीया ।

सर्वत्र चान्तर्मुहूर्तमाबाधा । आबाधोना कर्मस्थिति:, कर्मनिषेधक: ।

सर्वोऽयं जघन्यस्थितिबन्ध: सामान्यापेक्षया संज्ञिपंचेन्द्रियस्यैकेन्द्रियद्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियासंज्ञिपंचेन्द्रियाणां सर्वकर्मणां जघन्यस्थितिबन्ध: य एवोत्कृष्ट उक्त: स एव पल्योपमासंख्यातभागहीनो द्रष्टव्य इति ॥१२४५॥

अनुभागबन्धं निरूपयन्नाह—

कम्माणं जो दु रसो अज्झवसाणजणिद सुह असुहो वा ।
बंधो सो अणुभागो पदेसबंधो इमो होइ ॥१२४६॥

कर्मणां ज्ञानावरणादीनां यस्तु रस: सोऽनुभवोऽध्यवसानै: परिणामैर्जनित:, अध्यवसानजनित:। क्रोध-

---

है और पल्योपम के असंख्यातवें भाग हीन है। अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान और प्रत्याख्यान की सागर के सात भाग में से चार भाग और पल्योपम के असंख्यात भागहीन है। हास्य आदि आठ (पुरुषवेदरहित) नोकषायों की सागरोपम के सात भाग में से दो भाग और पल्योपम के असंख्यात भाग से हीन है।

नरक आयु और देव आयु की जघन्य स्थिति दश हजार वर्ष है। तिर्यंच और मनुष्य की अन्तर्मुहूर्त है। नरकगति, देवगति, वैक्रियिकशरीर, वैक्रियिक अंगोपांग, नरकगति प्रायोग्यानुपूर्व्य, देवगति प्रायोग्यानुपूर्व्य—इनकी सागर के सात भाग में से दो भाग और पल्योपम के असंख्यातभागहीन है। आहारक, आहारक-अंगोपांग और तीर्थंकर की जघन्य स्थिति अन्त: कोड़ाकोड़ी सागर है। शेष कर्मों की जघन्य स्थिति सागर के सात भाग में से दो भाग तथा पल्योपम के असंख्यातवें भागहीन है।

सभी कर्मों के जघन्य स्थितिबन्ध की आबाधा अन्तमुहूर्त मात्र है।

यह जघन्य स्थिति बन्ध सामान्य की अपेक्षा से सज्ञिपंचेन्द्रिय की है। एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के सभी कर्मों का जो उत्कृष्ट स्थितिबन्ध कहा गया है वही पल्योपम के असंख्यातवें भाग हीन होकर जघन्य स्थितिबन्ध होता है ऐसा समझना।

अब अनुभागबन्ध का निरूपण करते हैं—

गाथार्थ—कर्मों का परिणाम से उत्पन्न हुआ शुभ अथवा अशुभरूप रस अनुभाग बन्ध है। प्रदेशबन्ध आगे कहेंगे ॥१२४६॥

आचारवृत्ति—ज्ञानावरण आदि कर्मों का परिणामों से होनेवाला जो रस—अनुभव है वह अनुभागबन्ध है। अर्थात् क्रोध-मान-माया-लोभ कषायों की तीव्रता आदि परिणामों से

मानमायालोभतीव्रतादिपरिणामभावतः शुभः सुखदः अशुभः असुखदः वा विकल्पार्थः सोऽनुभागबन्धः। यथा अजागोमहिष्यादीनां क्षीराणां तीव्रमन्दादिभावेन रसविशेषस्तथा कर्मपुद्गलानां तीव्रादिभावेन स्वगतसामर्थ्यविशेषः शुभोऽशुभो वा यः सोऽनुभागबन्धः। शुभपरिणामाना प्रकर्षभावाच्छुभप्रकृतीनां प्रकृष्टोऽनुभवोऽशुभप्रकृतीनां निकृष्टः, अशुभपरिणामानां प्रकृष्टभावादशुभप्रकृतीनां प्रकृष्टोऽनुभवः शुभप्रकृतीनां निकृष्टः। स एवं [1]प्रकृतिवशादुत्पन्नो रसविशेषः द्विधा प्रवर्त्तते स्वमुखेन परमुखेन चैवं सर्वासां मूलप्रकृतीनां स्वमुखेनैवानुभवः तुल्यजातीनां परमुखे नापि आयुर्दर्शनचारित्रमोहवर्ज्यानां, न हि नरकायुर्मुखेन तिर्यगायुर्मनुष्यायुर्वा विपच्यते नापि दर्शनमोहश्चारित्रमोहमुखेन चारित्रमोहो वा दर्शनमोहमुखेनेति। तथा देशघातिसर्वघातिभेदेनानुभागो द्विविधः, देशं घातयतीति देशघाती, सर्वं घातयतीति सर्वघाती। केवलज्ञानावरण-केवलदर्शनावरण-निद्रानिद्राप्रचलाप्रचलास्त्यानगृद्धिप्रचलानिद्राः चतुःसंज्वलनवर्ज्या द्वादश कषाया मिथ्यात्वादीनां विंशति-प्रकृतीनामनुभागः सर्वघाती ज्ञानादिगुणं सर्वं घातयतीति वनदाह इव। मतिज्ञानश्रुतज्ञानावधिज्ञानमनःपर्ययज्ञानावरणपंचान्तरायसंज्वलनक्रोधमानमायालोभनवनोकषायाणामुत्कृष्टानुभागबन्धः सर्वघाती वा जघन्यो देश-

---

उत्पन्न होनेवाला सुखदायक और दुःखदायक अनुभव अनुभागबन्ध कहलाता है। जैसे बकरी, गाय, भैंस आदि के दूध में तीव्र, मन्द भाव से रस—माधुर्य विशेष होता है वैसे ही कर्म पुद्गलों में तीव्र आदि भाव से जो शुभ अथवा अशुभ अपने में होनेवाली सामर्थ्य विशेष है वह अनुभाग बन्ध है।

शुभ परिणामों की प्रकर्षता से शुभप्रकृतियों में प्रकृष्ट अनुभाग पड़ता है और अशुभ प्रकृतियों में निकृष्ट—जघन्य अनुभाग पड़ता है। अशुभ परिणामों की प्रकर्षता से अशुभ प्रकृतियों में प्रकृष्ट अनुभाग और शुभ प्रकृतियों में जघन्य अनुभाग होता है। इस प्रकार से प्रकृति विशेष से उत्पन्न हुआ यह रसविशेष दो प्रकार का हो जाता है—स्वमुख से और परमुख से। सम्पूर्ण मूल प्रकृतियों का अनुभव स्वमुख से ही होता है और उत्तर प्रकृतियों में तुल्यजातीय प्रकृतियों का अनुभव परमुख से भी होता है। किन्तु समस्त आयु, दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय का आपस में परमुख से उदय नहीं होता है। अर्थात् नरकायु मुख से तिर्यंचायु अथवा मनुष्यायु रूप फल नहीं दे सकती है। वैसे ही दर्शनमोह चारित्रमोहरूप से अथवा चारित्रमोह दर्शनमोहरूप से अपना फल नहीं दे सकता है। देशघाती और सर्वघाती के भेद से अनुभाग के दो भेद हैं। जो देश—आत्मा के अल्पगुणों का घात करता है वह देशघाती है और जो सर्व—सकल गुणों का घात करता है वह सर्वघाती है। केवलज्ञानावरण, केवलदर्शनावरण, निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला, स्त्यानगृद्धि, प्रचला, निद्रा, चार संज्वलन को छोड़कर बारह कषाय और मिथ्यात्व इन बीस प्रकृतियों का अनुभाग सर्वघाती है। अर्थात् वह सर्वज्ञानादिगुणों का घात करता है, वन की दावानल के समान। मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मनः-पर्ययज्ञानावरण, पाँच अन्तराय, संज्वलन क्रोध-मान-माया-लोभ और नौ नोकषाय, चक्षुर्दर्शनावरण, अचक्षुर्दर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण और सम्यक्त्व प्रकृति—इन छब्बीस का उत्कृष्ट अनुभाग सर्वघाती है और जघन्य अनुभाग देशघाती है।

---

१. क प्रत्यय।

घाती । सातासातचतुरायु:सर्वनामप्रकृत्युच्चैर्नीचैर्गोत्राणामुत्कृष्टाद्यनुभागबन्धः घातिनां प्रतिभागो देशघाती, घातिविनाशे स्वकार्यकरणसामर्थ्याभावात् । एता अघातिप्रकृतयः पुण्यपापसंज्ञाः । शेषाः पुनः पूर्वोक्ता घातिसंज्ञाः पापा भवन्तीति । अशुभप्रकृतीनां चत्वारि स्थानानि निंबकांजीरविषकालकूटानीति, शुभप्रकृतीनां च चत्वारि स्थानानि गुडखण्डशर्करामृतानीति । मोहनीयान्तरायवर्जितानां षण्णां कर्मणामुत्कृष्टानुभागबन्धः चतुःस्थानिको, जघन्यानुभागबन्धो द्विस्थानिकः, शेषः द्वित्रिचतुःस्थानिकः । मोहनीयान्तरायमोरुत्कृष्टानुभागबन्धश्चतुःस्थानिको जघन्यानुभागबन्ध एकस्थानिकः, शेषा एकद्वित्रिचतुः स्थानिकाः । चतुर्ज्ञानावरणत्रिदर्शनावरणपुंवेदचतुःसंज्वलन-पंचांतरायाणां सप्तदशप्रकृतीनामुत्कृष्टानुभागबन्धश्चतुःस्थानिको जघन्यानुभागबन्ध एकस्थानिकः । शेषाः सर्वेऽपि केवलज्ञानावरणकेवलदर्शनावरणसातासातमिथ्यात्वद्वादशकषायाष्टनोकषायचतुरायुःसर्वनामप्रकृत्युच्चै-र्नीचैर्गोत्राणामुत्कृष्टानुभागबन्धश्चतुःस्थानिको जघन्यो द्विस्थानिकः, शेषो द्वित्रिचतुःस्थानिकः । घातिनामेकस्थानं नास्ति । पुंवेदरहितानां नोकषायाणामेकस्थानं नास्ति, निम्बवदेकस्थानं, कांजीरवद् द्विस्थानं, विषवत् त्रिस्थानं, कालकूटवच् चतुःस्थानम् अशुभप्रकृतीनामेतत् । गुडवदेकस्थानं, खण्डवद् द्विस्थानं, शर्करावत् त्रिस्थानम्, अमृतवद्

सातावेदनीय, असातावेदनीय, चार आयु, नामकर्म की समस्त ६३ प्रकृतियाँ, उच्च-गोत्र और नीचगोत्र—इनका उत्कृष्ट आदि अनुभाग घातिया के प्रतिभागरूप देशघाती है; क्योंकि घाती कर्मों का नाश हो जाने पर इनका अनुभाग अपने कार्य को करने की सामर्थ्य नहीं रखता है।

इन अघाती प्रकृतियों के पुण्य और पाप ऐसे दो भेद होते हैं। पुनः पूर्वकथित घाति प्रकृतियाँ पापरूप ही होती हैं।

अशुभ प्रकृतियों के चार स्थान हैं--नीम, कांजीर, विष और कालकूट। शुभ प्रकृतियों के भी चार स्थान हैं—गुड़, खांड, शर्करा और अमृत।

मोहनीय और अन्तराय को छोड़कर शेष छह कर्मों का उत्कृष्ट अनुभागबन्ध चार स्थान वाला होता है और इनका जघन्य अनुभागबन्ध दो स्थानरूप होता है। शेष—अनुत्कृष्ट और अजघन्य अनुभागबन्ध दो, तीन और चार स्थानवाला है। मोहनीय और अन्तराय का उत्कृष्ट अनुभागबन्ध चार स्थानवाला है और जघन्य अनुभागबन्ध एक स्थानवाला है। शेष—अनुत्कृष्ट और अजघन्य अनुभागबन्ध एक, दो. तीन और चार स्थानवाला भी होता है।

चार ज्ञानावरण, तीन दर्शनावरण, पुंवेद, चार संज्वलन और पाँच अन्तराय इन सत्रह प्रकृतियों का उत्कृष्ट अनुभागबन्ध चार स्थानवाला होता है और जघन्य अनुभागबन्ध एक-स्थानिक है। शेष दोनों का अर्थात अनुत्कृष्ट और अजघन्य का एक, दो. तीन व चार स्थानों का है। केवलज्ञानावरण, केवलदर्शनावरण, सातावेदनीय, असातावेदनीय, मिथ्यात्व, संज्वलन के अतिरिक्त बारह कषाय, पुंवेद क अतिरिक्त आठ नोकषाय, चार आयु, नामकर्म की सभी प्रकृतियाँ, उच्चगोत्र और नीचगोत्र—इनका उत्कृष्ट अनुभागबन्ध चतुःस्थानिक है और जघन्य द्विस्थानिक है। शेष अनुत्कृष्ट और अजघन्य अनुभागबन्ध दो, तीन और चार स्थानों वाला है। घातिया कर्मों में एकस्थानिक अनुभागबन्ध नहीं होता है। पुंवेदरहित आठ नोकषायों का भी एक स्थानिक अनुभागबन्ध नहीं है।

नीम के समान एकस्थान अनुभागबन्ध, कांजीर के समान द्वि स्थान अनुभागबन्ध, विष के समान त्रिस्थान अनुभागबन्ध और कालकूट के समान चतुःस्थान अनुभागबन्ध होता है। ये

चतुःस्थानं शुभप्रकृतीनामेतदिति ।

पंचशरीरषट्संस्थानत्र्यंगोपांगषट्संहननपंचवर्णद्विगन्धपंचरसाष्टस्पर्शा गुरुलघूपघातपरघातात- पोद्योतनिमानप्रत्येकसाधारणस्थिरास्थिरशुभाशुभा एता प्रकृतयः पुद्गलविपाकाः, पुद्गलपरिणामिन्यो यत इति । चत्वार्यायूंषि भवविपाकानि भवधारणत्वाच्चत्वार्यानुपूर्व्याणि क्षेत्रविपाकानि क्षेत्रमाश्रित्य फलदानात् । शेषास्तु प्रकृतयो जीवविपाका जीवपरिणामनिमित्तत्वादिति ॥१२४६॥

अनुभागबन्धं व्याख्याय प्रदेशबन्धं प्रतिपादयन्नाह—

सुहुमे जोगविसेसेण एगखेत्तावगाढठिदियाणं ।
एक्केक्के दु पदेसे कम्मपदेसा अणंता दु ॥१२४७॥

सुहुमे—सूक्ष्माः न स्थूला, **जोगविसेसेण**—योगविशेषेण मनोवचनकायविशिष्टव्यापाराद् **एग-खेत्तावगाढ**—एकक्षेत्रावगाहिनो न क्षेत्रान्तरावगाहिनः यस्मिन्नेवात्मा कर्मादानरतस्ततः परस्मिन् क्षेत्रे ये पुद्गलास्ते इति **ठिदियाणं**—स्थिताः न गच्छन्तः **एक्केक्के दु पदेसे** —सर्वात्मप्रदेशेषु **कम्मपदेसा**—कर्मप्रदेशाः ज्ञानावरणादिनिमित्तपरमाणवः **अणन्ता दु**—अनन्तास्तु । सूक्ष्मग्रहणं ग्रहणयोग्यपुद्गलस्वभावानुवर्णनार्थं वर्ण- ग्रहणयोग्याः पुद्गलाः सूक्ष्माः, न स्थूलाः । एकक्षेत्रावगाहवचन क्षेत्रान्तरनिवृत्त्यर्थम् एकक्षेत्रे कर्मादानशक्तियुक्त जीवसहचरितप्रदेशे अवगाहो येषां एकक्षेत्रावगाहः, स्थिता इति क्रियान्तरनिवृत्त्यर्थम्, स्थिता न गच्छन्तः,

---

अशुभ प्रकृतियों के स्थान हैं। गुडवत् एकस्थान, खण्डवत् द्विस्थान, शर्करावत् त्रिस्थान और अमृतवत् चतुःस्थान ये शुभ प्रकृतियों के अनुभागबन्ध के स्थान हैं।

पाँच शरीर, छह संस्थान, तीन अंगोपांग, छह संहनन, पाँच वर्ण, दो गन्ध, पाँच रस, आठ स्पर्श, अगुरुलघु, उपघात, परघात, आतप, उद्योत, निमान (निर्माण), प्रत्येक, साधारण, स्थिर, अस्थिर, शुभ और अशुभ ये बावन[1] प्रकृतियाँ पुद्गलविपाकी हैं; क्योंकि ये पुद्गलों में परिणमन करती हैं अर्थात् इनके उदय से पुद्गलों में परिणमन होता है। चारों आयु भवविपाकी हैं, क्योंकि ये भव को धारण करती हैं। चारों आनुपूर्व्य क्षेत्रविपाकी हैं, क्योंकि वे क्षेत्र के आश्रय से फल देती हैं। शेष प्रकृतियाँ जीवविपाकी हैं, क्योंकि ये जीव के परिणाम में निमित्त हैं।

अनुभागबन्ध का व्याख्यान करके अब प्रदेशबन्ध को कहते हैं—

गाथार्थ—जो सूक्ष्म हैं, योगविशेष से एक क्षेत्र में स्थित है आत्मा के ऐसे एक-एक प्रदेश पर अनन्त कर्मप्रदेश हैं ॥१२४७॥

आचारवृत्ति—जो पुद्गल सूक्ष्म हैं, स्थूल नहीं हैं, मन-वचन-काय के विशिष्ट व्यापार रूप योग विशेष से आत्मा के साथ एक क्षेत्रावगाही हैं अर्थात् जिस क्षेत्र में आत्मा कर्मों को ग्रहण करने में तत्पर है उसी क्षेत्र में, आत्मा के प्रत्येक प्रदेश में, स्थित हैं। ज्ञानावरण आदि के निमित्तरूप वे परमाणु अनन्त हैं। कर्मरूप से ग्रहण करने योग्य पुद्गल का स्वभाव बताने के लिए गाथा में 'सूक्ष्म' शब्द का ग्रहण है। ये कर्मपुद्गल सूक्ष्म ही हैं, स्थूल नहीं हैं। 'एकक्षेत्रावगाह' शब्द का ग्रहण भिन्न क्षेत्र की निवृत्ति के लिए है। एक क्षेत्र में— कर्म के ग्रहण करने की शक्ति से युक्त जीव के सम्पूर्ण प्रदेशों में इनका अवगाह है अर्थात् ये जीव के प्रदेश में एकमेक रूप होकर

---

1. पाँच बन्धन और पाँच संघात की भेदविवक्षा करने से ये बासठ हो जाती हैं।

एकैकप्रदेशे इत्यत्र वीप्सानिर्देशेन सर्वात्मप्रदेशसंग्रहः कृतस्तेनाधारनिर्देशः कृतस्तेनैकप्रदेशादिषु न कर्मप्रदेशाः प्रवर्तन्ते ।

क्व तर्हि ऊर्ध्वमधः[1]स्थितास्तिर्यक् च सर्वेष्वात्मप्रदेशेषु व्याप्य स्थिता इति । कर्मग्रहणं सर्वकर्मप्रकृतिसंग्रहार्थम् । अनेनोपादानहेतुसंग्रहः कृतः । प्रदेशा इति पुद्गलग्रहणं तेनाकाशादिप्रदेशनिवृत्तिः । अनन्तानन्त इति परिमाणान्तरव्यपोहार्थम् । तुशब्दः अनुक्तसर्वविशेषसंग्रहार्थः । न संख्येया, न चासंख्येयाः, नाप्यनन्तास्ते पुद्गलस्कन्धाः, किन्तु अभव्यानन्तगुणाः[2] सिद्धानन्तभागप्रमिताः[3] घनांगुलस्यासंख्येयभागावगाहिनः । एकद्वित्रिचतुः समयस्थितिकाः । पंचवर्णरसद्विगंधचतुःस्पर्शभवाः । सूक्ष्माः । अष्टविधकर्मप्रकृतियोग्या एकक्षेत्रावगाहिनः स्थिता सर्वात्मप्रदेशेषु योगवशादात्मना प्रदेशाः कर्मरूपेणात्मसात्क्रियन्ते । अयं प्रदेशबन्धः । अथवाऽऽत्मनो योगवशादष्टविधकर्महेतवोऽनन्तानन्तप्रदेशा एकैकप्रदेशे ये स्थितास्ते प्रदेशबन्ध इति । अष्टविधकर्मयोग्यपुद्गलानाम् एकैकसमयेन बन्धनमागतानां मध्ये आयुर्भाग एकः । नामगोत्रयोरन्योन्यसमोऽधिक एकतरो भाग आयु-

---

चिपक जाते हैं इसलिए इन्हें एकक्षेत्रावगाही कहते हैं। 'स्थिता' यह क्रियापद अन्यक्रिया के निराकरण हेतु है अर्थात् ये आत्मा के प्रदेशों पर स्थित रहते हैं, अन्यत्र गमन नहीं करते है । 'एकैकप्रदेशे' इस वीप्सा निर्देश से सम्पूर्ण आत्मा के प्रदेशों का संग्रह हो जाता है । अर्थात् आत्मा के सर्व प्रदेश इन कर्मों के लिए आधारभूत हैं । इससे एक-दो आदि प्रदेशों में ही कर्मपरमाणु चिपके हैं सबमें नहीं, ऐसी बात नहीं, किन्तु ऐसी बात है कि वे सम्पूर्ण प्रदेशों में चिपके हैं ।

तो वे कर्मपरमाणु आत्मा के ऊपरी भाग में स्थित हैं अथवा नीचे हैं या मध्य में हैं, ऐसा प्रश्न नहीं हो सकता क्योंकि वे आत्मा के सभी प्रदेशों में व्याप्त होकर स्थित हैं । गाथा में जो 'कर्म' का ग्रहण है वह सम्पूर्ण कर्मों की सर्वप्रकृतियों का संग्रह कर लेता है, इससे उपादान हेतु का भी ग्रहण हो जाता है । 'प्रदेशाः' शब्द से पुद्गल के प्रदेशरूप परमाणु का ग्रहण होता है अतएव आकाश आदि के प्रदेशों का निराकरण हो जाता है । 'अनन्त' शब्द अनन्तानन्तपरिमाण को ग्रहण करता है । 'तु' शब्द अन्य परिमाणों की निवृत्ति के लिए सभी अनुक्त का संग्रह करने के लिए है, अर्थात् ये कर्म परमाणु न संख्यात हैं, न असख्यात हैं और न अनन्त हैं, किन्तु ये अभव्य राशि से अनन्तगुणे और सिद्धराशि के अनन्तवें भाग प्रमाण होने से अनन्तानन्त हैं । ये घनांगुल के असंख्यात भाग में अवगाही हैं । ये एक, दो, तीन, चार आदि समय की स्थितिवाले हैं । इनमें पाँच वर्ण, पाँच रस, दोगन्ध और चार स्पर्श होते है । ये सूक्ष्म हैं । आठ प्रकार की कर्म प्रकृतियों के योग्य हैं और जीव के साथ एक क्षेत्रावगाही होकर सम्पूर्ण जीवप्रदेशों में रहते हैं, अर्थात् योग के वशीभूत हुए आत्मा के द्वारा ये अनन्तानन्त पुद्गल कर्मरूप से आत्मसात् कर लिये जाते है । इसी का नाम प्रदेशबन्ध है । अथवा जो योग के वश से आते हैं, आठ प्रकार के कर्म के कारणभूत हैं और जो आत्मा के एक-एक प्रदेश पर रहते हैं उन अनन्तानन्त पुद्गल परमाणुओं को प्रदेशबन्ध कहते हैं ।

एक समय में बन्धे हुए कर्मपरमाणु को समयप्रबद्ध कहते हैं । एक-एक समय में बन्धन को प्राप्त हुए अष्टविध कर्मयोग्य पुद्गल परमाणुओं का आठों ही कर्मों में बटवारा हो जाता है । उसमें आयु को एकभाग मिलता है । नाम और गोत्र को परस्पर में समान भाग किन्तु आयु से

---

१. क ऊर्ध्वमधस्तियंक् सर्वेष्वात्म । २. क अभव्यानामनन्तगुणाः । ३. क सिद्धानामनन्तगुणाः ।

भागात् ज्ञानावरणदर्शनावरणान्तरायाणां भागोऽन्योन्यसदृश एकतरः, नामगोत्रयोरेकतरभागादधिकः मोहस्य भाग आवरणान्तरायैकतरभागादधिकः मोहभागाद्वेदनीयभागोऽधिकः। सर्वत्र आवल्या असंख्यातभागेन भागे हृते यल्लब्धं तेनाधिक इति। एवं सप्तविधबन्धकानां षड्विधबन्धकानां च ज्ञातव्यम्। ज्ञानावरणादीनामात्मप्रदेशभाग आत्मात्मेतरप्रकृतयो यावंत्यस्तावद्भागैरभिगच्छन्ति ॥१२४७॥

एवं बन्धपदार्थो व्याख्यातः संक्षेपतः, इत ऊर्ध्वमुपशमनविधिं क्षपणविधिं च प्रपंचयन्नाह—

मोहस्सावरणाणं खयेण अह अंतरायस्स य एव।
उप्पज्जइ केवलयं पयासयं सव्वभावाणं ॥१२४८॥

मोहस्यावरणयोरन्तरायस्य च क्षयेण विनाशेनैवोत्पद्यते केवलं केवलज्ञानं प्रकाशकं सर्वभावानां सर्वद्रव्यपर्यायपरिच्छेदकम्। अथशब्देन सूत्रेणैवमुपशमनविधिं तावत्प्रतिपादयामि—अनन्तानुबन्धिक्रोधमानमायालोभसम्यक्त्वमिथ्यात्वसम्यङ्मिथ्यात्वानीत्येताः सप्त प्रकृतीः असंयतसम्यग्दृष्टिसंयतासंयतप्रमत्ताप्रमत्तादीनां मध्ये कोऽप्येक उपशमयति। तत्राधःप्रवृत्यपूर्वनिवृत्तिकरणानि कृत्वा अनिवृत्तिकरणकालस्य संख्येयेषु भागेषु गतेषु विशेषघातेन हन्यमानमनन्तानुबन्धिचतुष्कं स्थितिसत्कर्मोपशमं याति, स्वस्वरूपं परित्यज्यान्यस्य

अधिक एक-एक भाग मिलता है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय को परस्पर में सदृश किन्तु नामगोत्र के भाग की अपेक्षा अधिक एक-एक भाग मिलता है। मोहकर्म को इन आवरणों और अन्तराय की अपेक्षा अधिक एक-एक भाग मिलता है। और मोहकर्म के भाग की अपेक्षा अधिक भाग वेदनीय कर्म को मिलता है। आवली के असंख्यातवें भाग से भाग देने पर जो लब्ध आवे उतना एक भाग सर्वत्र अधिक जानना चाहिए।

इसी तरह सात प्रकार के कर्मों का बन्ध जिन्हें होता है अर्थात् जिन्हें आयु का बन्ध नहीं होता है उनके लिए सात कर्मों में उपर्युक्त कथित क्रम से ही बटवारा होता है। जिनके छह कर्मों का बन्ध हो रहा है, मोहनीय और आयु का बन्ध नहीं हो रहा है ऐसे जीवों के भी उन्हीं छह कर्मों में बटवारा होता है, ऐसा समझना। ज्ञानावरण आदि कर्मों का अपना प्रदेश भाग अपनी-अपनी प्रकृतियों (समान्तर भेदों) में बँट जाता है।

इस प्रकार बन्ध पदार्थ का संक्षेप से व्याख्यान हुआ। इससे आगे अब उपशमन विधि और क्षपणविधि कहते हैं—

गाथार्थ—मोहकर्म तथा ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय के क्षय से सर्वपदार्थों को प्रकाशित करनेवाला केवलज्ञान उत्पन्न होता है ॥१२४८॥

आचारवृत्ति—मोह के विनाश से तथा ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय के विनाश से सर्वद्रव्य और पर्यायों को जाननेवाला केवलज्ञान उत्पन्न होता है। गाथा के 'अथ' शब्द से सूचित इस सूत्र के द्वारा ही अब उपशमन विधि कहूँगा।

अनन्तानुबन्धी क्रोध-मान-माया-लोभ, सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और सम्यङ्मिथ्यात्व इन सात प्रकृतियों का असंयतसम्यग्दृष्टि, संयतासंयत, प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयत में से कोई एक गुणस्थानवर्ती जीव उपशमन करता है। उसमें यह अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण इन तीन करणों को करता है अर्थात् दो करण करने के पश्चात् अनिवृत्तिकरण के काल में संख्यात भागरूप काल के व्यतीत हो जाने पर विशेषघात से नष्ट किया जानेवाला ऐसा अनन्ता-

प्रकृतिस्वरूपेण स्थानमनन्तानुबन्धिनामुपशमः पुनरधःप्रवृत्त्यपूर्वानिवृत्तिकरणानि कृत्वा अनिवृत्तिकरणकालस्य संख्येयेषु भागेषु गतेषु दर्शनमोहत्रिकस्योदयाभाव उपशमस्तेषामुपशान्तानामप्युत्कर्षापकर्षपरप्रकृतिसंक्रमणानामस्तित्वं यत इति। अपूर्वकरणे नैकमपि कर्मोपशाम्यति। किन्त्वपूर्वकरणः प्रतिसमयमनन्तगुणविशुद्ध्या वर्द्धमानः अन्तर्मुहूर्तेनैकैकस्थितिखण्डकं पातयन् संख्यातशतसहस्राणि स्थितिखण्डकानि पातयति, तावन्मात्राणि च स्थितिबन्धापसरणानि करोति। एकैकस्थितिखण्डाभ्यन्तरे संख्यातसहस्राण्यनुभागखण्डकानि पातयति प्रतिसमयमसंख्यातगुणश्रेण्या प्रदेशनिर्जरां करोति। अप्रशस्तकर्मांशान्न बध्नाति। तेषां प्रदेशाग्रमसंख्यातगुणश्रेण्या अन्यासु प्रकृतिषु बध्यमानस्वतस्तदुपरि(?)संक्रामयति। पुनरपूर्वकरणमतिक्रम्यानिवृत्तिकरणं प्रविश्यान्तर्मुहूर्तमात्रमनेन विधानेन स्थित्वा द्वादशानां कषायाणां नवानां नोकषायाणामन्तरमन्तर्मुहूर्तेन करोति। अन्तरे कृते प्रथमसमयादुपरि अन्तर्मुहूर्तं गत्वा असंख्येयगुणश्रेण्या नपुंसकवेदमुपशमयति। ततोऽन्तर्मुहूर्तेन तेनैव विधिना षण्णां कषायाणां पुरुषवेदं चिरन्तनसत्कर्मणा सह युगपदुपशमयति। तत ऊर्ध्वं समयोने द्वे आवल्यौ गत्वा पुंवेद-

---

नुबन्धी चतुष्क स्थितिसत्कर्म उपशम को करता है। अपने स्वरूप को छोड़कर अन्य प्रकृति रूप से स्थित हो जाना अनन्तानुबन्धी का उपशम है। पुनः वही जीव अधःकरण और अपूर्वकरण परिणाम को करके अनिवृत्तिकरण में संख्यात भाग बीत जाने पर दर्शनमोह की तीन प्रकृतियों का उदयाभावरूप उपशमता है अर्थात् उपशम को प्राप्त होने पर भी इनका उत्कर्ष, अपकर्ष और परप्रकृतिरूप संक्रमण का अस्तित्व होता है। यह उपशम का विधान हुआ। अर्थात् चौथे, पाँचवें, छठे या सातवें गुणस्थान में से किसी में इन तीन-तीन करणरूप परिणामों द्वारा उपशम सम्यक्त्व प्राप्त करके अधःप्रवृत्तिकरणनामवाले सातवें गुणस्थान का अन्तर्मुहूर्त काल बिताकर अपूर्वकरण नामक आठवें गुणस्थान में आ जाता है।

अपूर्वकरण में एक भी कम का उपशम नहीं होता है किन्तु इस अपूर्वकरण परिणामवाला जीव प्रतिसमय अनन्तगुणी विशुद्धि से परिणामों की शुद्धि को वृद्धिगत करता रहता है। अतः अन्तर्मुहूर्त से एक-एक स्थितिखण्ड का घात करता हुआ संख्यात लाख स्थितिखण्डों का घात कर देता है और उतने प्रमाण ही स्थिति-बन्धापसरण भी करता है। इन एक-एक स्थिति-बन्धापसरणों के मध्य संख्यात हजार अनुभागखण्डकों का घात होता है और प्रति समय असंख्यात गुणश्रेणी रूप से कर्मपरमाणुओं की निर्जरा होती है। वह जीव अप्रशस्त कर्मांशों को नहीं बाँधता है बल्कि उनके प्रदेशाग्रों को असंख्यातगुण श्रेणीरूप से बद्धमान अन्य प्रकृतियों में संक्रमण करा देता है।

पुनः अपूर्वकरण का काल बिताकर, अनिवृत्तिकरण में प्रवेश करके, अन्तर्मुहूर्त मात्र तक इसी विधि से स्थित होकर बारह कषाय और नौ नोकषायों का अन्तर करता है। इसमें अन्तर्मुहूर्त लगता है। अन्तर करने के बाद, पहले समय से ऊपर अन्तर्मुहूर्त जाकर असंख्यातगुणश्रेणी द्वारा नपुंसक वेद का उपशम करता है। इसके अनन्तर अन्तर्मुहूर्त काल से नपुंसकवेदोपशम विधि से ही स्त्रीवेद का उपशम करता है। अन्तर उसी विधि के अनुसार छह नोकषायों का और चिरन्तन सत्कर्म के साथ रह रहे पुंवेद का भी युगपत् उपशम कर देता है। इसमें भी अन्तर्मुहूर्त काल लगता है। तदनन्तर एक समय कम दो आवली के बीत जाने पर पुरुषवेद के नवक

---

१. क स्वानुवीतेः।

नवक-बन्धमुपशमयति । ततोऽन्तर्मुहूर्त्तं गत्वा अप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानसंज्ञकौ क्रोधौ क्रोधसंज्वलन चिरन्तन-सत्कर्मणा सह युगपदुपशमयति । ततः समयोने द्वे आवल्यौ गत्वा क्रोधसंज्वलननवक-बन्धमुपशमयति । ततोऽन्त-र्मुहूर्त्तं गत्वा अप्रत्याख्यान-प्रत्याख्यानमानौ असंख्यातगुणश्रेण्या मानसंज्वलन चिरन्तनसत्कर्मणा सह युगपदुप-शमयति । ततः समयोने द्वे आवल्यौ गत्वा मानसंज्वलननवक-बन्धमुपशमयति । ततः प्रतिसमयमसंख्यातगुणश्रेण्या उपशमयन्नन्तर्मुहूर्त्तं गत्वा द्विप्रकारां मायां मायासंज्वलनं चिरन्तनसत्कर्मणा सह युगपदुपशमयति । ततो द्वे आवल्यौ समयोने गत्वा मायासंज्वलननवकबन्धमुपशमयति । ततोऽन्तर्मुहूर्त्तं गत्वा द्विप्रकारं लोभं लोभसंज्वलनेन चिरन्तनसत्कर्मणा सह लोभवेदकाद्धा द्वितीयत्रिभागे सूक्ष्मां किट्टिकां मुक्त्वा शेषं बादरलोभं स्पर्द्धकगतं सर्व-नवक-बन्धोच्छिष्टावलिकवर्ज्यम् अनिवृत्तिचरमसमयेऽनिवृत्तिरुपशमयति, नपुंसकवेदमादिं कृत्वा बादरलोभ-संज्वलनम् एतेषामनिवृत्तेरुपशमक भवति । ततोऽनन्तरसमये सूक्ष्मकिट्टिकास्वरूप वेदलोभ वेदयन् नष्टाऽनि-वृत्तिसंज्ञो सूक्ष्मसाम्परायो भवति । ततश्चात्मनश्चरमसमये लोभसंज्वलन सूक्ष्मकिट्टिकास्वरूप निःशेषमुप-शमयति । तत उपशान्तकषायः वीतरागछद्मस्थो भवति । उदयोदीरणोत्कर्षणोपकर्षणपरप्रकृतिसंक्रमणस्थित्यनु-भागखण्डकघातैर्विना स्थानमपि समन्नाम्नैव मोहनीयोपशमनविधिः । इति ।

बन्ध का उपशम करता है । पुनः अन्तर्मुहूर्त के बाद अप्रत्याख्यान और प्रत्याख्यान संज्ञक क्रोध का और चिरन्तन सत्कर्म के साथ संज्वलन क्रोध का एक साथ उपशम कर देता है । पुनः एक समय कम दो आवली प्रमाण काल के व्यतीत हो जाने पर, क्रोधसज्वलन के नवक बन्ध का उपशम करता है । अनन्तर अन्तर्मुहूर्त के बाद, अप्रत्याख्यान-मान और प्रत्याख्यान-मान का एवं चिरन्तन सत्कर्म के साथ संज्वलन-मान का असंख्यात गुणश्रेणी से एक साथ उपशम करता है । इसके बाद एक समय कम दो आवली काल के अनन्तर मान के संज्वलन के नवक बन्ध का उपशम करता है । इसके बाद प्रति समय असंख्यात गुणश्रेणी के द्वारा अन्तर्मुहूर्त के अनन्तर दो प्रकार की माया का और चिरन्तन सत्कर्म के साथ संज्वलन-माया का एक साथ उपशम कर देता है । पुनः एक समय कम दो आवली के बीत जाने पर माया-संज्वलन के नवक बन्ध का उपशम करता है । पुनः अन्तर्मुहूर्त के बाद दो प्रकार के लोभ का और चिरन्तन सत्कर्म के साथ संज्वलन लोभ का उपशम कर देता है । अथवा लोभवेदक से द्वितीय त्रिभाग में जो सूक्ष्मकृष्टिरूप लोभ है उसे छोड़कर स्पर्द्धकगत सर्वबादर लोभ, जो कि सर्वनवक बन्ध की उच्छिष्टावलि से वर्जित है, का अनिवृत्तिकरण गुणस्थान के अन्त समय में यह जीव उपशम कर देता है । इस तरह नपुंसकवेद से लेकर लोभसंज्वलन तक इन प्रकृतियों का यह अनिवृत्तिकरण में उपशामक होता है ।

इसके अनन्तर सूक्ष्मकृष्टिरूप लोभ का अनुभव करता हुआ अनिवृत्तिसंज्ञक गुणस्थान से आगे बढ़कर सूक्ष्मसाम्पराय हो जाता है । यह जीव अपने इस गुणस्थान के चरमसमय में सूक्ष्म किट्टिका रूप संज्वलन लोभ को पूर्णतया उपशान्त कर देता है । तब उपशान्तकषाय गुणस्थान में वीतराग छद्मस्थ हो जाता है । उदय, उदीरणा, उत्कर्षण, अपकर्षण, परप्रकृतिसंक्रमण, स्थित्यनुभागखण्ड घात के बिना यह स्थान अपने नाम के अनुरूप ही है । अर्थात् इसका उपशान्त नाम सार्थक है । यह मोहनीय कर्म के उपशमन की विधि कही गयी ।

भावार्थ—चतुर्थ, पंचम, छठे या सातवें इन चार गुणस्थानों में से किसी भी एक गुण-

अथ क्षपणविधिं वक्ष्ये। क्षपणं नाम अष्टकर्मणां मूलोत्तरभेद इति न प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशानां जीवा ज्योतिः शेषे विन्यास इति (?)। अनन्तानुबन्धिक्रोधमानमायालोभमिथ्यात्वसम्यङ्मिथ्यात्वसम्यक्त्वाख्याः सप्तप्रकृतीरेता असंयतसम्यग्दृष्टिः संयतासंयतः प्रमत्तसंयतोऽप्रमत्तो वा क्षपयति, किमक्रमेण नेत्याह—पूर्वं अनन्तानुबन्धिचतुष्कं त्रीन् करणान् कृत्वाऽनिवृत्तिकरणचरणमसमयेऽक्रमेण क्षयपति। पश्चात्पुनरपि त्रीन् करणान् कृत्वा अधःप्रवृत्तिकरणापूर्वकरणौ द्वावतिक्रम्यानिवृत्तिकरणकालसंख्येयभागं गत्वा मिथ्यात्वं क्षपयति ततोऽन्तर्मुहूर्तं गत्वा सम्यङ्मिथ्यात्वं क्षपयति। ततोऽन्तर्मुहूर्तं गत्वा सम्यक्त्वं क्षपयति। ततोऽधःप्रवृत्तिकरणं कृत्वाऽन्तर्मुहूर्तेनापूर्वकरणो भवति स एकमपि कर्म [न] क्षपयति, किन्तु समयं प्रति असंख्येयगुणस्वरूपेण

स्थान में उपशम सम्यक्त्व[1] को प्राप्त करके यह जीव द्वितीयोपशम सम्यग्दृष्टि कहलाता है। पुनः उपशम श्रेणी चढ़ने के सन्मुख हुआ यह जीव छठे से सातवें गुणस्थान में आकर सातिशय अप्रमत्त से अपूर्वकरण नामक आठवें गुणस्थान में पहुँच जाता है। उपर्युक्त कथित विधि से चारित्र-मोह प्रकृतियों को उपशमाता हुआ ग्यारहवें उपशान्तकषाय गुणस्थान में सर्वमोह का उपशम कर देता है। यद्यपि इस उपशम विधि में अनेकों अन्तर्मुहूर्त बताये हैं। फिर भी प्रत्येक गुण-स्थान का काल अन्तर्मुहूर्त ही है और उपशमश्रेणी के चारों गुणस्थानों का काल भी अन्तर्मुहूर्त ही है। क्योंकि अन्तर्मुहूर्त के भी असंख्यातों भेद माने गये हैं ऐसा समझना।

अब क्षपण विधि को कहते हैं—

बन्ध के प्रकृति, स्थिति अनुभाग और प्रदेश ये चार भेद हैं। तथा ज्ञानावरण आदि मूलभेद आठ और उनके उत्तरभेद एक सौ अड़तालीस हैं। इन सबका नाश करना क्षपण है। इनके नाश होने पर जोव ज्ञानज्योति स्वरूप अपने अनन्त गुणों को प्राप्त कर लेता है।

अनन्तानुबन्धी क्रोध-मान-माया-लोभ, मिथ्यात्व, सम्यङ्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व इन सात प्रकृतियों का असंयतसम्यग्दृष्टि, संयतासंयत, प्रमत्तसंयत अथवा अप्रमत्तसंयत मुनि क्षय कर देता है।

क्या एक साथ क्षय कर देता है ?

नहीं, पहले वह अधःप्रवृत्तकरण और अपूर्वकरण पुनः अनिवृत्तिकरण नामक तृतीय करण के चरम समय में अनन्तानुबन्धी-चतुष्क का एक साथ क्षपण कर देता है। इसके अनन्तर पुनः अधःप्रवृत्तिकरण और अपूर्वकरण का समय बिताकर अनिवृत्तिकरण काल में भी संख्यात-भाग व्यतीत हो जाने पर मिथ्यात्व कर्म का विनाश करता है। उसके बाद अन्तमुहूर्त काल व्यतीत करके सम्यङ्मिथ्यात्व का क्षपण करता है। पनः अन्तर्मुहूर्त के अनन्तर सम्यक्त्व प्रकृति का विनाश करता है। तब उन्हें क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त हो जाता है। अर्थात् यह क्षायिक सम्यक्त्व चौथे से लेकर सातवें गुणस्थान तक किसी में भी हो सकता है। ये तीन करण सम्यक्त्व के लिए होते हैं।

अनन्तर छठा गुणस्थानवर्ती मुनि सातवें गुणस्थान में पहुँचकर उस अधःप्रवृत्तिकरण नामक सातवें गुणस्थान के अन्तर्मुहूर्त काल को व्यतीत कर अपूर्वकरण नामक आठवाँ गुण-स्थान प्राप्त कर लेता है। वह अपूर्वकरण मुनि एक भी कर्म का क्षपण नहीं करता है, किन्तु समय-समय के प्रति असंख्यातगुणरूप से कर्म प्रदेशों की निर्जरा करता है। अन्तर्मुहूर्त

---

१. विचारणीय है।

प्रदेशनिर्जरां करोति, अन्तर्मुहूर्तेनैकैकस्थितिखण्डकं पातयन्नास्मनः कालाभ्यन्तरे असंख्यातसहस्राणि स्थिति-खण्डकानि पातयति, तावन्मात्राणि च स्थितिबन्धापसरणानि करोति, तेभ्यश्च संख्यातसहस्रगुणानुभागखण्डक-घातान् करोति, यत एकानुभागखण्डकोत्कीर्णकालादेकस्य स्थितिखण्डकोत्कीर्णकालः संख्यातगुण इति। एवंविधं कृत्वाऽनिवृत्तिगुणस्थानम् प्रविश्यानिवृत्तिसंख्यातभागोऽपूर्वकरणविधानेन गमयित्वाऽनिवृत्तिकालसंख्यातिभागे शेषे स्त्यानगृद्धित्रय-नरकगति-तिर्यग्गत्येकेन्द्रियद्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियजातिनरकगतितिर्यग्गतिप्रायोग्यानु-पूर्व्यातपोद्योतस्थावरसूक्ष्मसाधारणसंज्ञकाः षोडशप्रकृतीः क्षपयति। ततोऽन्तर्मुहूर्तं गत्वा अप्रत्याख्यानावरण-क्रोधमानमायालोभान् क्रमेण क्षपयति। स एष कर्मप्राभृतस्योपदेशः, कषायप्राभृतोपदेशः। पुनः अष्टसु कषायेषु क्षीणेषु पश्चादन्तर्मुहूर्तं गत्वा षोडशकर्माणि द्वादश वा क्षपयत्यत उपदेशौ ग्राह्यौ द्वावप्यवद्यभीरुभिरिति। ततोऽन्तमुहूर्तं गत्वा चतुर्णां संज्वलनानां नवानां नोकषायाणाम् अन्तरं करोति, सोदयानामन्तर्मुहूर्त-मात्रं प्रथमस्थितिं स्थापयति अनुदयानां समयोनावलिकामात्रां प्रथमस्थितिं स्थापयति। ततोऽन्तरं कृत्वाऽन्त-र्मुहूर्तेन नपुंसकवेदं क्षपयति। ततोऽन्तर्मुहूर्तं गत्वा स्त्रीवेदं क्षपयति। ततोऽन्तर्मुहूर्तं गत्वा षण्णोकषायाणां वेदं चिरन्तनसत्कर्मणा सह वेदविद्द्विचरमसमये युगपत् क्षपयति। तत आवलीमात्रकालं गत्वा पुंवेदं क्षपयति,

---

काल के भीतर ही असंख्यात हजार स्थितिखण्डों का घात कर देता है और वह उतने मात्र ही स्थितिबन्धापसरणों को कर लेता है। उनसे भी असंख्यात हजार गुणे अनुभागखण्डों का घात करता है, क्योंकि एक अनुभागखण्डकोत्कीर्ण काल से एकस्थितिखण्डकोत्कीर्ण काल संख्यात गुणा अधिक होता है।

यह विधि करके वह मुनि अनिवृत्तिकरण नामक नवम गुणस्थान में प्रवेश करके इस गुणस्थान का संख्यातभाग काल अपूर्वकरण के विधान से ही बिताकर, पुनः अनिवृत्तिकरण का संख्यातभाग काल शेष रह जाने पर, स्त्यानगृद्धि, निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला, नरकगति, तिर्यंच-गति, एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रियजाति, नरकगति प्रयोग्यानुपूर्व्य, तिर्यंचगतिप्रायो-ग्यानुपूर्व्य, आतप, उद्योत, स्थावर, सूक्ष्म और साधारण इन सोलह प्रकृतियों का क्षय कर देता है। पुनः अन्तर्मुहूर्त काल व्यतीत कर अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया और लोभ इन चारों का क्रम से क्षपण करता है—सो यह 'कर्मप्राभृत' ग्रन्थ का उपदेश है, किन्तु 'कषायप्राभृत' का का ऐसा उपदेश है कि आठ कषायों का नाश कर देने पर पुनः अन्तर्मुहूर्त काल के अनन्तर सोलह कर्म प्रकृतियों का अथवा बारह कर्मों का नाश करता है। पापभीरू भव्यों को इन दोनों उपदेशों को ग्रहण करना चाहिए। अर्थात् केवली या श्रुतकेवली के अभाव में आज दोनों में से एक का सही निर्णय नहीं हो सकता है अतः हम और आपके लिए दोनों ही उपदेश प्रमाण के योग्य हैं।

इसके बाद अन्तर्मुहूर्त काल बिताकर चार संज्वलन और नौ नोकषायों का अन्तर करता है—उदय सहित कर्मों को अन्तर्मुहूर्त मात्र प्रथम स्थिति में स्थापित करता है और जिनका उदय नहीं है ऐसे अनुदयकर्मों (संज्वलन और नौ नोकषायों) को एक समय कम आवलिमात्र प्रथम स्थिति में स्थापित करता है। इसके बाद अन्तर करके अन्तर्मुहूर्त काल से नपुंसकवेद का क्षपण करता है। इसके अन्तर्मुहूर्त काल के बाद स्त्रीवेद का क्षय करता है। पुनः अन्तर्मुहूर्त व्यतीत कर छह नोकषायों का और चिरन्तन सत्कर्म के साथ वेद का सवेद भाग के द्विचरम समय में युगपत् विनाश कर देता है। पुनः आवलीमात्र काल के बाद पुंवेद का क्षपण करता है। पुनः

ततोऽन्तर्मुहूर्तेन क्रोधसंज्वलनं क्षपयति। ततोऽन्तर्मुहूर्तेन मानसंज्वलनं क्षपयति। ततोऽन्तर्मुहूर्तेन मायासंज्वलनं क्षपयति। ततोऽन्तर्मुहूर्तं गत्वा सूक्ष्मसाम्परायगुणस्थानं प्रतिपद्यते। एतेषु सोऽपि सूक्ष्मसाम्परायमात्मनश्चरमसमये किट्टिकागतं सर्वं लोभसंज्वलनं क्षपयति। ततोऽनन्तरं क्षीणकषायो भवति। सोऽप्यन्तर्मुहूर्तं गमयित्वा आत्मनो द्विचरमसमये निद्राप्रचलासंज्ञके द्वे प्रकृती क्षपयति। ततोऽनन्तरं चरमसमये पंचज्ञानावरणचतुर्दर्शनावरणपंचान्तरायाख्याश्चतुर्दश प्रकृतीः क्षपयति। एतेषु त्रिषष्टिकर्मसु क्षीणेषु सयोगिजिनो भवति। ॥१२४८॥

सयोगिकेवली भट्टारको न किंचिदपि कर्म क्षपयति ततः। क्रमेण विहृत्य योगनिरोधं कृत्वा अयोगिकेवली भवति स यत्कर्म क्षपयति तन्निरूपयन्नाह—

तत्तोरालियदेहो णामा गोदं च केवली युगवं।
आऊण वेदणीयं चदुहि खिविइत्तु णीरओ होइ ॥१२४९॥

तत ऊर्ध्वं अयोगिकेवली औदारिकशरीरं सनिःश्वासं एवाय नामगोत्रे कर्मणी आयुर्वेदनीयं च युगपत् क्षपयित्वा नीरजाः सिद्धो भवति। विशेषमाह—अयोगिकेवली आत्मकालद्विचरमसमयेऽनुदय-

---

अन्तर्मुहूर्त काल से क्रोधसंज्वलन का क्षय करता है। पुनः अन्तर्मुहूर्त काल से मानसंज्वलन का क्षय करता है। पुनः अन्तर्मुहूर्त से मायासंज्वलन का क्षय करता है। पुनः अन्तर्मुहूर्त काल बिताकर सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान को प्राप्त कर लेता है।

इस दशवें गुणस्थान में वह चरमसमय में किट्टिकागत सम्पूर्ण लोभसंज्वलन का क्षय कर देता है। इसके अन्तर वह क्षीणकषाय निर्ग्रन्थ हो जाता है। वहाँ पर भी वह अन्तर्मुहूर्तकाल व्यतीत करके अपने इस बारहवें गुणस्थान के द्विचरम समय में निद्रा और प्रचला इन दो प्रकृतियों का क्षपण करता है। इसके बाद अन्तिम—चरमसमय में पाँच ज्ञानावरण, चार दर्शनावरण और पाँच अन्तराय इन चौदह प्रकृतियों का विनाश करता है। इस प्रकार इन त्रेसठ कर्मप्रकृतियों के सर्वथा विनष्ट हो जाने पर वह मुनि सयोगी जिन केवली हो जाता है।

भावार्थ—चतुर्थ, पंचम, छठे या सातवें इन में से किसी भी गुणस्थान में क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त करके कोई भी जीव छठे गुणस्थान से सातवें में पहुँचकर, पुनः आठवें में प्रवेश कर क्षपक श्रेणी में आरोहण करके चारित्रमोह का क्षय करता हुआ दशवें में पूर्णतया मोह का विनाश करके, बारहवें में पहुँचकर शेष तीन घातिया और १६ अघातिया प्रकृतियों का ऐसे कुल त्रेसठ प्रकृतियों का विनाश करके केवलज्ञान को प्राप्त कर तेरहवें गुणस्थान में पहुँच जाता है।

सयोग केवली भट्टारक कोई भी कर्म का क्षपण नहीं करते हैं, वे क्रम से विहार करके योगनिरोध करके अयोगकेवली हो जाते हैं। वे जिन कर्मों का क्षपण करते हैं, उनका निरूपण करते हैं—

गाथार्थ—इसके अनन्तर केवली भगवान् एक साथ औदारिक शरीर, नाम, गोत्र, आयु और वेदनीय इन चारों कर्मों का क्षय करके कर्मरजरहित हो जाते हैं ॥१२४९॥

आचारवृत्ति—इसके पश्चात् वे अयोगकेवली भगवान् निश्वास सहित औदारिक शरीर, नाम, गोत्र, आयु और वेदनीय इन कर्मों का एक साथ क्षय करके रजरहित सिद्ध भगवान् हो जाते हैं।

वेदनीय-देवगतिपंचशरीरपंचसंघातपंचशरीरबन्धनषट्संस्थानत्र्यंगोपांगषट्संहननपंचवर्णद्विगन्धपंचरसाष्टस्पर्श-देवगतिप्रायोग्यानुपूर्व्यागुरुलघूपघातपरघातोच्छ्वासद्विविहायोगत्यपर्याप्तस्थिरास्थिरशुभाशुभ-सुभगदुर्भगसुस्व-रदु:स्वरानादेयायश:कीर्ति-निमान-नीचैर्गोत्राणि एता द्वासप्ततिप्रकृती: क्षपयति। ततोनन्तरं सोदयवेदनीय-मनुष्यायुर्मनुष्यगतिपंचेन्द्रियजातिमनुष्यगतिप्रायोग्यानुपूर्व्यत्रसबादरपर्याप्तोच्चैर्गोत्रप्रत्येकतीर्थंकरनामादेययश:-कीर्तिसंज्ञकास्त्रयोदश प्रकृतीश्चरमसमये क्षपयति । ततो द्रव्यरूपमौदारिकशरीरं त्यक्त्वा नीरजा निर्मल: सिद्धो-निर्लेप: सर्वद्वन्द्वरहितोऽनन्तज्ञानदर्शनसुखवीर्यसमन्वितोऽक्षयो युगपत्सर्वद्रव्यपर्यायावभासकोऽनन्तगुणाधार: परमात्मा भवतीति ॥१२४६॥*

इतिश्रीमदाचार्यवर्यवट्टकेरिप्रणीतमूलाचारे श्रीवसुनन्दिप्रणीत-
टीकासहिते द्वादशोऽधिकार: ॥१२॥

इसीका विशेष कथन करते हैं—अयोग केवली भगवान् अपने चौदहवें गुणस्थान के द्विचरम समय में उदयरहित वेदनीय, देवगति, पाँच शरीर, पाँच बन्धन, पाँच संघात, छह संस्थान, तीन अंगोपांग, छह संहनन, पाँच वर्ण, दो गन्ध, पाँच रस, आठ स्पर्श, देवगति-प्रायोग्यानुपूर्व्य, अगुरुलघु, उपघात, परघात, उच्छ्वास, दो विहायोगति, अपर्याप्त, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, सुभग, दुर्भग, सुस्वर, दु:स्वर, अनादेय, अयशस्कीर्ति, निमान और नीच-गोत्र इन बहत्तर प्रकृतियों का नाश करते हैं । इसके अनन्तर चरमसमय में उदयसहित वेदनीय, मनुष्यायु, मनुष्यगति, पचेन्द्रियजाति, मनुष्यगति प्रायोग्यानुपूर्व्य, त्रस, बादर, पर्याप्त, उच्चगोत्र, प्रत्येकशरीर, तीर्थंकर नाम, आदेय और यशस्कीर्ति इन तेरह प्रकृतियों का क्षय करते हैं। इसके अनन्तर द्रव्यरूप औदारिक शरीर को छोड़कर नीरज, निर्मल, सिद्ध, निर्लेप, सर्वद्वन्द्वों से रहित, अनन्तज्ञान दर्शन सुख और वीर्य इन अनन्त चतुष्टयों से समन्वित, अक्षय, युगपत् सर्वद्रव्य और पर्यायों को अवभासित करनेवाले और अनन्तगुणों के आधारभूत परमात्मा हो जाते हैं ।

इति श्री वसुनन्दि आचार्य द्वारा प्रणीत टीका से सहित श्रीमान् आचार्यवर्य वट्टकेरि स्वामी प्रणीत मूलाचार में बारहवाँ अधिकार पूर्ण हुआ ॥१२॥

---

* फलटन से प्रकाशित मूलाचार में अन्त में दो गाथाएं और हैं—

एसो मे उवदेसो संखेवेण कहिदो जिणक्खादो ।
सम्मं भावेदव्वो दायव्वो सव्वजीवाणं ॥

अर्थ—जिनेन्द्रदेव द्वारा कथित यह उपदेश मैंने संक्षेप में कहा है। हे शिष्यगण ! तुम लोग मन-वचन-काय की एकाग्रतापूर्वक इस उपदेश की भावना करो और इसे सभी जीवों को प्रदान करो।

दहूण सव्वजीवे दमिदूण या इंदियाणि तह पंच ।
अट्ठविहकम्मरहिया णिव्वाणमणुत्तरं जाध ॥

अर्थ—हे मुनिगण ! तुम सभी जीवों पर दया करके तथा स्पर्शन आदि पाँचों इन्द्रियों का दमन करके, आठ प्रकार के कर्मों से रहित होकर सर्वोत्कृष्ट निर्वाण पद प्राप्त करो।

इति श्री कुन्दकुन्दाचार्यविरचिते मूलाचारे एकादश: पर्याप्त्यधिकार: ।

स्रग्धरावृत्तम्

वृत्तिः सर्वार्थसिद्धिः सकलगुणनिधिः सूक्ष्मभावानुवृत्ति-
राचारस्याप्तनीतेः[1] परमजिनपतेः ख्यातनिर्देशवृत्तेः ।
शुद्धैर्वाक्यैः सुसिद्धा कलिमलमथनी कार्यसिद्धिर्मुनीनां
स्थेयाज्जैनेन्द्रमार्गे चिरतरमवनौ वासुनन्दी शुभा वः ॥

इति[2] मूलाचारविवृतौ द्वादशोऽध्यायः । इति कुन्दकुन्दाचार्यप्रणीतमूलाचाराख्यविवृतिः ।
कृतिरियं वसुनन्दिनः श्रीश्रमणस्य ।

सम्पूर्ण अर्थों को सिद्ध करनेवाली, सकल गुणों, निधि, सूक्ष्म भावों को प्रकट करने वाली, जिन्होंने आचार की नीति—पद्धति को प्राप्त कर लिया है और सम्यक्चारित्र का निर्देश किया है ऐसे परम जिनेन्द्रदेव के शुद्ध—निर्दोष वाक्यों से सुसिद्ध, कलि के मल का मथन करने वाली और मुनियों के कार्य को सिद्ध करनेवाली यह वसुनन्दि आचार्य द्वारा रची गयी तात्पर्यवृति नामक टीका चिरकाल तक श्री जिनेन्द्रदेव के शासन मे स्थायीभाव को प्राप्त हो और इस पृथ्वीतल पर आप सबके लिए कल्याणकारी हो।

इस प्रकार से मूलाचार की विवृत्ति में बारहवाँ अध्याय पूर्ण हुआ। यह
श्री कुन्दकुन्दाचार्य प्रणीत मूलाचार नामक ग्रन्थ की विवृति है
और श्री श्रमण वसुनन्दि आचार्य की कृति है।

---

१. क स्यानुनीते ।

२. ब इति मूलाचारवृत्तौ वसुनन्दिविरचितायां द्वादश परिच्छेदः समाप्तः ।

परिशिष्ट १

[मूलाचार का यह संस्करण दि० जैन सरस्वती भण्डार धर्मपुरा, दिल्ली की मुद्रित प्रति के आधार पर संशोधित, सम्पादित तथा अनूदित किया गया है। उस प्रति के अन्त में ७० श्लोकों की एक प्रशस्ति भी मुद्रित है जो श्रुतपंचमी व्रत के उद्यापन के समय मेधावी पण्डित द्वारा रची गयी थी। काव्य-रचना सुन्दर है अतः उसका हिन्दी अनुवाद दिया जा रहा है। यह प्रशस्ति वि० संवत् १५१६ में निर्मित हुई थी।]

अथ प्रशस्ति-पाठः

प्रणमामि महावीरं सिद्धं शुद्धं जिनेश्वरम् ।
यस्य ज्ञानाम्बुधौ भाति जगद्बिन्दूपमं स्थितम् ॥ १ ॥

कृतात्मनो जना यत्र कर्म प्रक्षिप्य हेलया ।
रमन्ते मुक्तिलक्ष्मीं तज्जैनं जयति शासनम् ॥ २ ॥

जयन्तु गौतमस्वामिप्रमुखा गणनायकाः ।
सूरयो जिनचन्द्रान्ताः श्रीमन्तः क्रमदेशकाः ॥ ३ ॥

वर्षे षडेकपंचैक (१५१६) पूरणे विक्रमाद्गते: ।
शुक्ले भाद्रपदे मासे नवम्यां गुरुवासरे ॥ ४ ॥

श्रीमद्वट्टेरकाचार्यकृतसूत्रस्य सद्विधेः ।
मूलाचारस्य सद्वृत्तेर्दातुर्नामावलीं ब्रुवे ॥ ५ ॥

अथ-

श्रीजम्बूपपदे द्वीपे क्षेत्रे भरतसंज्ञके ।
कुरुजांगलदेशोऽस्ति यो देशः सुखसम्पदाम् ॥ ६ ॥

तत्रास्ति हस्तिना नाम्ना नगरी मागरीयसी ।
शान्तिकुंथ्वरतीर्थेशा यत्रासन्निन्द्रवंदिताः ॥ ७ ॥

जिनके ज्ञान-सागर में स्थित जगत् बिन्दु के समान सुशोभित होता है उन सिद्ध, शुद्ध महावीर जिनेन्द्र को मैं प्रणाम करता हूँ। ॥१॥ जिसमें कुशल मनुष्य—आत्मज्ञान से युक्त जन—अनायास ही कर्मक्षय कर मुक्तिलक्ष्मी के साथ क्रीडा करते हैं वह जैन शासन जयवन्त प्रवर्तता है—सर्वोत्कृष्ट है ॥२॥ गौतम स्वामी आदि गणधर और कालक्रम से देशना करनेवाले जिनचन्द्र पर्यन्त के श्रीमान् आचार्य जयवन्त प्रवर्तें ॥३॥ विक्रम से १५१६ वर्ष व्यतीत हो जाने पर भाद्र मास शुक्ल पक्ष नवमी तिथि गुरुवार के दिन, मुनियों के आचार का सम्यक् प्रकार से निरूपण करनेवाले, तथा समीचीन आचारवृत्ति—वसुनन्दि आचार्य विरचित संस्कृत टीका से सहित, श्रीमान् वट्टेरक आचार्य रचित गाथा-सूत्रों से सहित मूलाचार की प्रति का दान करनेवाले—दाता की नामावली कहता हूँ ॥४-५॥

अथानन्तर जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र में सुखदायक सम्पदाओं का निवासभूत जो कुरुजांगल नाम का देश है उसमें लक्ष्मी से श्रेष्ठ हस्तिनापुर नाम की वह नगरी है जिसमें इन्द्रों के द्वारा वन्दित शान्ति

विद्यते तत्समीपस्था श्रीमती योगिनीपुरी ।
यां पाति पातिसाहिश्रीर्बहलोलाभिधो नृपः ॥ ८ ॥

तस्याः प्रत्यग्दिशि ख्यातं श्रीहिसारपिरोजकम् ।
नगरं नगरंभादिवल्लीराजिविराजितम् ॥ ९ ॥

तत्र राज्यं करोत्येष श्रीमान् कुतबखानकः ।
तथा हैवतिखानश्च दाता भोक्ता प्रतापवान् ॥ १० ॥

अथ श्रीमूलसंघेऽस्मिन्नन्दिसंघेऽनघेऽजनि ।
बलात्कारगणस्तत्र गच्छः सारस्वतस्त्वभूत् ॥ ११ ॥

तत्राजनि प्रभाचन्द्रः सूरिचन्द्रो जितांगजः ।
दर्शनज्ञानचारित्रतपोवीर्यसमन्वितः ॥ १२ ॥

श्रीमान् बभूव मार्तण्डस्तत्पट्टोदयभूधरे ।
पद्मनन्दी बुधानन्दी तमश्छेदी मुनिप्रभुः ॥ १३ ॥

तत्पट्टाम्बुधिसच्चन्द्रः शुभचन्द्रः सतां वरः ।
पंचाक्षवनदावाग्निः कषायक्ष्माधराशनिः ॥ १४ ॥

तदीयपट्टाम्बरभानुमाली
क्षमादिनानागुणरत्नशाली ।
भट्टारकश्रीजिनचन्द्रनामा
सैद्धान्तिकानां भुवि योऽस्ति सीमा ॥ १५ ॥

स्याद्वादामृतपानतृप्तमनसो यस्यातनोत् सर्वतः
कीर्तिर्भूमितले शशांकधवला सज्ज्ञानदानात् सतः ।

कुन्थु और अरनाथ तीर्थंकर हुए थे ॥६-७॥ उस हस्तिनापुर के समीप शोभा सम्पन्न योगिनीपुरी नाम की वह नगरी है जिसकी रक्षा बहलोल नाम का बादशाह करता है ॥८॥ उस योगिनीपुरी की पश्चिम दिशा में हिसार पिरोजक नाम का प्रसिद्ध नगर है जो केले आदि के वृक्षों तथा लताओं के समूह से सुशोभित है ॥९॥ वहाँ श्रीमान् कुतबखान तथा दानी, योगी एवं प्रतापी हैवतिखान राज्य करता है ॥१०॥

तदनन्तर इस मूलसंघ और निष्कलंक नन्दिसंघ में बलात्कारगण और सरस्वतीगच्छ हुआ ॥११॥ उसमें सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और वीर्य से सहित कामविजयी प्रभाचन्द्र नाम के आचार्य हुए ॥१२॥ उनके पट्टरूपी उदयाचल पर विद्वज्जनों को हर्षित करनेवाले तथा अज्ञानान्धकार को नष्ट करनेवाले श्रीमान् पद्मनन्दी नामक मुनिराज हुए ॥१३॥ उनके पट्टरूपी समुद्र को उल्लसित करने के लिए चन्द्रमा स्वरूप वह शुभचन्द्र हुए जो सज्जनों में श्रेष्ठ, पंचेन्द्रिय रूपी वन को भस्म करने के लिए दावानल और कषाय रूपी पर्वत को नष्ट करने के लिए वज्रस्वरूप थे ॥१४॥ उनके पट्टरूपी आकाश पर सूर्य स्वरूप, तथा क्षमा आदि अनेक गुण-रूपी रत्नों से शोभायमान श्री जिनचन्द्र नामक भट्टारक हुए, जो पृथ्वी में सिद्धान्तज्ञ मनुष्यों की मानो सीमा ही थे अर्थात् सिद्धान्त के श्रेष्ठतम ज्ञाता थे ॥१५॥ स्याद्वाद रूपी अमृत के पान से जिनका मन सन्तुष्ट था, जो चार्वाक आदि मतों के प्रवादी मनुष्य रूप अन्धकार को

चार्वाकाविमतप्रवादितिमिरोष्णांशोर्मुनीन्द्रप्रभोः
सूरिश्रीजिनचन्द्रकस्य जयतात् संघो हि तस्यानघः ।। १६ ।।

तच्छिष्या बहुशास्त्रज्ञा हेयादेयविचारकाः ।
शमसंयमसम्पूर्णा मूलोत्तरगुणान्विताः ।। १७ ।।

जयकीर्तिश्चारुकीर्तिर्जयनन्दी मुनीश्वरः ।
भीमसेनादयोऽन्ये च दशधर्मधरा वराः ।। १८ ।। युग्मं ।।

अस्ति देशव्रताधारी ब्रह्मचारी गणाग्रणीः ।
नरसिंहोऽभिधानेन नानाग्रन्थार्थपारगः ।। १९ ।।

तथा भूरिगुणोपेतो भूरानामा महत्तमः ।
श्रीमानश्वपतिश्चान्यः सुमतिर्गुरुभक्तिकृत् ।। २० ।।

अन्यो नेमाभिधानोऽस्ति नेमिर्द्धर्मरथस्य यः ।
परस्तीकमसंज्ञश्च ज्ञातयशोऽस्तमन्मथः ।। २१ ।।

भवांगभोगनिर्विण्णस्तिहुणाख्योऽपरो मतः ।
सम्यक्त्वादिगुणोपेतः कषायदववारिदः ।। २२ ।।

ढाकाख्यो ब्रह्मचार्यस्ति संयमादिगुणालयः ।
सर्वे ते जिनचन्द्रस्य सूरेः शिष्या जयन्त्विह ।। २३ ।।

श्रीमान् पंडितदेवोऽस्ति दाक्षिणात्यो द्विजोत्तमः ।
यो योग्यः सूरिमंत्राय वैयाकरणतार्किकः ।। २४ ।।

अग्रोतवंशजः साधुर्लवदेवाभिधानकः ।
तत्सुतो धरणः संज्ञा तद्भार्या भीषुही मता ।। २५ ।।

नष्ट करने के लिए सूर्य थे तथा मुनिराजों के प्रभु थे ऐसे सत्पुरुष जिन, जिनचन्द्र भट्टारक की सम्यग्ज्ञान के दान से उत्पन्न चन्द्रोज्ज्वल कीर्ति पृथ्वीतल पर फैल रही थी, उन आचार्य जिनचन्द्र भट्टारक का निष्कलंक संघ जयवन्त प्रवर्ते ।।१६।। उनके जयकीर्ति, चारुकीर्ति, मुनिराज जयनन्दी तथा भीमसेन आदि अन्य अनेक शिष्य थे, जो अनेक शास्त्रों के ज्ञाता थे, हेय-उपादेय का विचार करने वाले थे, शान्ति तथा संयम से परिपूर्ण थे, मूल एवं उत्तर गुणों से सहित थे और दशधर्मों के उत्कृष्ट धारक थे ।।१७-१८।। उनके शिष्यों में कुछ देशव्रत के धारक भी थे, जैसे अपने गण में प्रमुख तथा नाना ग्रन्थों के अर्थ के पारगामी नरसिंह, बहुत भारी गुणों से सहित, श्रेष्ठतम भूरा, श्रीमान् अश्वपति, गुरुभक्त सुमति, धर्मरूपी रथ के नेमि स्वरूप नेम, यश के ज्ञाता मदनविजयी तीकम (टीकम), संसार, शरीर और भोगों से विरक्त तिहुण, सम्यक्त्व आदि गुणों से सहित एवं कषाय रूप दावानल को शान्त करने के लिए मेघ, तथा संयमादि गुणों के घर ब्रह्मचारी ढाका। जिनचन्द्र आचार्य के ये सब शिष्य यहाँ जयवन्त रहें ।।१९-२३।। श्रीमान् पण्डित देव दाक्षिणात्य उत्तम ब्राह्मण थे, जो सूरिमन्त्र के लिए योग्य थे। तथा व्याकरण और तर्क शास्त्र के ज्ञाता थे ।।२४।। अग्रोतवंश में उत्पन्न लवदेव नाम के एक सज्जन थे। उनके धरण नाम का पुत्र था तथा धरण की स्त्री का नाम भीषुही था ।।२५।। उनके सीहू नाम का पण्डित तथा श्रावक के व्रतों को

तत्पुत्रो जिनचन्द्रस्य पादपंकजषट्पदः ।
मीहाख्यः पण्डितस्त्वस्ति श्रावकव्रतभावकः ॥ २६ ॥

तदन्वयेऽथ खंडेलवंशे श्रेष्ठीयगोत्रके ।
पद्मावत्याः समाम्नाये यक्ष्याः पार्श्वजिनेशिनः ॥ २७ ॥

साधुः श्रीमोहणाख्योऽभूत् संघभारधुरंधरः ।
तत्पुत्रो रावणो नाम पंचाणुव्रतपालकः ॥ २८ ॥

तस्य पुत्रौ समुत्पन्नौ पार्श्वथोषाभिधानकौ ।
कल्पवृक्षसमौ दाने जिनपादाब्जषट्पदौ ॥ २९ ॥

साधोः पार्श्वस्य भार्याऽभूदाद्या पद्मिनिसंज्ञिका ।
पद्मनाभस्य पद्मे व सती पद्मानना मता ॥ ३० ॥

सूहोनाम्नी द्वितीयाभूद्या सौभाग्येन पार्वती ।
रतिं रूपेण शीलेन सीतां जितवती सती ॥ ३१ ॥

सा, धन्याः सन्ति पद्मिन्यास्त्रयः पुत्रा हितान्वहाः ।
रूपवन्तः कलावन्तो दयावन्तः प्रियंवदाः ॥ ३२ ॥

तत्राद्यः साधुभीमाख्यो निजवंशविभूषणः ।
उपार्जयति वित्तं यः पात्रदानाय केवलम् ॥ ३३ ॥

रुक्मिणी नामनी तस्य गेहिनी शीलशालिनी ।
स्ववाचा कोकिला जिग्ये कान्त्या भा सवितुर्यया ॥ ३४ ॥

चत्वारः सन्ति तत्पुत्रास्तोल्हातेजाभिधानकौ ।
भोजाषिउराजनामानौ प्रफुल्लकमलाननाः ॥ ३५ ॥

धारण करनेवाला पुत्र हुआ। यह मीह, जिनचन्द्र आचार्य के चरण कमलों का भ्रमर था ॥२६॥ उसके खण्डेलवाल वंश, श्रेष्ठी गोत्र तथा पार्श्वनाथ भगवान् की यक्षी पद्मावती की आम्नाय में संघ का भार-धारण करनेवाला साहु मोहन नाम का पुत्र हुआ। उसके पाँच अणुव्रतों का पालन करनेवाला एक रावण नाम का पुत्र हुआ ॥२७-२८॥ रावण के पार्श्व और थोषा नामक दो पुत्र हुए, जो दान देने में कल्पवृक्ष के समान थे और जिनेन्द्र भगवान् के चरण-कमलों के भ्रमर थे अर्थात् जिनभक्त थे ॥२९॥ साहु पार्श्व की प्रथम पत्नी का नाम पद्मिनी था। यह कमलमुखी पद्मिनी, विष्णु की पत्नी—लक्ष्मी के समान सती थी ॥३०॥ साहु पार्श्व की द्वितीय पत्नी सूहो नाम की थी। वह सौभाग्य से पार्वती थी। रूप से रति को और शील से सीता को जीतनेवाली थी ॥३१॥ पद्मिनी के हितकारक, रूपवन्त, कलावन्त, दयावन्त और मधुरभाषी भाग्यशाली तीन पुत्र हुए ॥३२॥ उनमें पहला पुत्र साहु भीम था, जो अपने वंश का आभूषण था तथा पात्रदान के लिए धन का उपार्जन करता था ॥३३॥ उसकी रुक्मिणी नाम की शीलवती स्त्री थी। रुक्मिणी ने अपनी वाणी से कोयल को तथा कान्ति से सूर्य की प्रभा को जीत लिया था ॥३४॥ उसके चार पुत्र हुए—१. तोल्हा २. तेजा ३. भोज और ४. खिवराज। ये चारों पुत्र खिले हुए कमल के समान मुखवाले

तोल्हाख्यस्य मता भार्या तोल्हश्री: श्रीनिवासिनी ।
साढाभिधोऽस्ति तत्पुत्रो दीर्घायुः स भवेदिह ॥ ३६ ॥

पत्नी तेजाभिधानस्य तेजश्रीर्लज्जयान्विता ।
भोजाख्यस्य तथा भार्या भोजश्रीर्भक्तिकारिणी ॥ ३७ ॥

पार्श्वसाधोर्द्वितीयोऽस्ति खेतानामा तनूद्भवः ।
श्रीमान्विनयसम्पन्नः सज्जनानन्ददायकः ॥ ३८ ॥

गेहिनी तस्य नीकाख्या रतिर्वा मन्मथस्य वै ।
या जिगाय स्वनेत्राभ्यां स्फुरदभ्यां चकितां मृगीम् ॥ ३९ ॥

तस्याः पुत्रोऽस्ति वीझाख्यो विद्याधारः प्रियंवदः ।
ज्ञातीनानन्दयामास विनयादिगुणेन यः ॥ ४० ॥

पार्श्वपुत्रस्तृतीयोऽस्ति नेमाख्यो नियमालयः ।
देवपूजादिषट्कर्मपद्मिनीखण्डभास्करः ॥ ४१ ॥

साभूनाम्नी तु तज्जाया रूपलज्जावती सती ।
वस्तासुरजनौ तस्याः सुतौ जनमनोहरौ ॥ ४२ ॥

पार्श्वभार्या द्वितीया या सूहोनाम्नीति तत्सुतः ।
ईश्वराह्वो कलावासः कलुषापेतमानसः ॥ ४३ ॥

साधुचोषाभिधानस्य स्ववंशाम्बरभास्करः (स्वतः) ।
माऊनाम्न्यास्ति सद्भार्या शीलानेककलालया ॥ ४४ ॥

तस्या अंगरुहौ ख्यातौ सत्यभूषाविभूषितौ ।
लक्ष्मीवन्तौ महान्तौ तौ पात्रदानरतौ हितौ ॥ ४५ ॥

थे ॥३५॥ तोल्हा की स्त्री का नाम तोल्हश्री था। तोल्हश्री लक्ष्मी का निवास थी—अत्यन्त सुन्दर थी। उसके साढा नाम का दीर्घायुष्क पुत्र हुआ ॥३६॥ तेजा की तेजश्री नाम की लजीली स्त्री थी तथा भोजा की भोजश्री नाम की भक्त स्त्री थी ॥३७॥ पार्श्व साहु के एक खेता नाम का द्वितीय पुत्र था, जो श्रीमान् था, विनय से सम्पन्न था तथा सज्जनों को आनन्द देनेवाला था ॥३८॥ खेता की स्त्री का नाम नीका था, जो कामदेव की स्त्री रति के समान जान पड़ती और जिसने अपने चंचल नेत्रों से भयभीत मृगी को जीत लिया था। ॥३९॥ उस नीका के वीझा नाम का पुत्र हुआ जो विद्याओं का आधार था, प्रियभाषी था और विनयादि गुणों से कुटुम्ब के लोगों को आनन्दित करता था ॥४०॥ पार्श्व साहु का तीसरा पुत्र नेमा था, जो नियमों व्रतों का आलय था, और देवपूजा आदि षट्कर्म रूपी कमलिनियों के समूह को विकसित करने के लिए सूर्य स्वरूप था ॥४१॥ उसकी स्त्री का नाम साभू था। साभू रूपवती, लज्जावती तथा शीलवती थी। उसके वस्ता और सुरजन नाम के दो पुत्र हुए जो मनुष्यों के मन को हरण करने वाले थे ॥४२॥ पार्श्व साहु की सूहो नाम की द्वितीय स्त्री थी, उसके ईश्वर नाम का पुत्र हुआ, जो कलाओं का निवास था और जिसका मन पाप से रहित था ॥४३॥ अपने वंश रूपी आकाश के सूर्य स्वरूप साहु चोषा की माऊ नाम की भार्या थी जो शील-पातिव्रत्य तथा अनेक कलाओं की घर थी ॥४४॥ उसके दो प्रसिद्ध पुत्र थे, जो सत्य रूपी आभूषण से विभूषित, लक्ष्मीवन्त, महन्त, पात्रदान में रत तथा हितकारी थे ॥४५॥ उन दोनों में पहला

तयोराद्योऽस्ति संघेशो नृसिंहः पर्पासिहकः ।
चकार नेमिनाथस्य यात्रां यो दुःखहारिणीम् ॥ ४६ ॥

तत्कलत्रं लसद्गात्रं पद्मश्रीर्नाम कामदम् ।
गृहे पात्रे समायाते यदानन्दयत चिरम् ॥ ४७ ॥

तस्य पुत्रास्त्रयः सन्ति दीर्घायुषो भवन्तु ते ।
हेमराजो गजमल्लोऽपरः श्रवणसंज्ञकः ॥ ४८ ॥

चोषापुत्रो द्वितीयोऽस्ति रूल्हानामा गुणाकरः ।
रूल्हश्रीर्महिला तस्य देवराजाख्य अंगजः ॥ ४९ ॥

एतैः श्रीसाधुपार्श्वस्य चोषाख्यस्य च कायजैः ।
वसद्भिर्झूंझणुस्थाने रम्ये चैत्यालयैर्वरैः ॥ ५० ॥

चाहमानकुलोत्पन्ने राज्यं कुर्वति भूपतौ ।
श्रीमत्समसखानाख्ये (?) न्यायान्यायविचारके ॥ ५१ ॥

सूरिश्रीजिनचन्द्रस्य पादपंकजषट्पदैः ।
साधुभीमादिभिः सर्वैः साधुपद्मादिभिस्तथा ॥ ५२ ॥

कारितं श्रुतपंचम्यां महदुद्यापनं च तैः ।
श्रीमद्देशव्रताधारिनरसिंहोपदेशतः ॥ ५३ ॥ चतुष्कलं ।

तदा तैर्जिनबिम्बानामभिषेकपुरस्सरा ।
कारितार्चा महाभक्त्या यथायुक्ति च सोत्सवा ॥ ५४ ॥

भृंगारकलशादीनि जिनावासेषु पंचसु ।
क्षिप्तानि पंच पंचैव चैत्योपकरणानि च ॥ ५५ ॥

पर्पासिह था जो संघ का स्वामी एव मनुष्यों में श्रेष्ठ था तथा जिसने नेमिनाथ भगवान् की दुःखहारिणी यात्रा की थी अर्थात् संघ सहित गिरिनार की यात्रा की थी ॥४६॥ उसकी स्त्री का नाम पद्मश्री था। पद्मश्री का शरीर अत्यन्त सुन्दर और काम को देने वाला था। घर पर पात्र के आने पर जो चिरकाल तक उसे आनन्दित करती थी तथा स्वयं आनन्द का अनुभव करती थी ॥४७॥ उसके दीर्घायुवाले तीन पुत्र थे—१. हेमराज, २. गजमल्ल और ३. श्रवण ॥४८॥ चोषा के रूल्हा नाम का द्वितीय पुत्र था जो गुणों की खान था, रूल्हश्री नाम की उसकी स्त्री थी और देवराज नाम का पुत्र था ॥४९॥ श्री साधु पार्श्व और चोषा के ये पुत्र उत्तम जिनमन्दिरों से मनोहर झुंझनू नामक नगर में रहते थे। जब चाहमान कुल में उत्पन्न, न्याय-अन्याय का विचार करनेवाला समसखान नाम का श्रीमान् राजा राज्य कर रहा था तब आचार्य श्री जिनचन्द्र के चरणकमलों के भ्रमर इन साहु भीमा आदि तथा साहु पद्मा आदि ने देशव्रत के धारक श्रीमान् नरसिंह के उपदेश से श्रुतपंचमी के अवसर पर बड़ा भारी उद्यापन कराया ॥५०-५३॥ उस समय उन्होंने बड़ी भक्ति से युक्ति सहित तथा उत्सवों के साथ जिन-प्रतिमाओं की अभिषेक पूर्वक पूजा कराई ॥५४॥ पाँच जिन-मन्दिरों में पाँच-पाँच भृंगार-कलश आदि तथा छत्र-चमर आदि

एतच्छास्त्रादिभक्त्या तैर्ज्ञानदानमदायि च।
ब्रह्मश्रीनरसिंहाख्यतिहुणादिवतीशिने ॥ ५६ ॥

चतुर्विधाय संघाय सदाहारश्चतुर्विधः ।
प्रादाय्यौषधदानं च वस्त्रोपकरणादि च ॥ ५७ ॥

मित्रयाचकहीनेभ्यः प्रीतितुष्टिकृपादि च ।
दानं प्रदत्तमित्यादि धन्यव्ययो व्यधायि तैः ॥ ५८॥

इत्थं सप्तक्षेत्र्यां वपते यो दानमात्मनो भक्त्या ।
लभते तदनन्तगुणं परत्र सोऽत्रापि पूज्यः स्यात् ॥ ५६ ॥

एतच्छास्त्रं लेखयित्वा हिसारादानाय्य स्वोपार्जितेन स्वरायाः ।
संघेशश्रीपद्मसिंहेन भक्त्या सिंहान्ताय श्रीनराय प्रदत्तम् ॥ ६० ॥

यो दत्ते ज्ञानदानं भवति हि स नरो निर्जराणां प्रपूज्यो,
भुक्त्वा देवांगनाभिर्विषयसुखमनुप्राप्य मानुष्यजन्म ।
भुक्त्वा राज्यस्य सौख्यं भवतनुज (?) सुखान्निस्पृहीकृत्य चित्तं,
लात्वा दीक्षां च बुध्वा श्रुतमपि सकलं ज्ञानमन्त्यं लभेत ॥ ६१ ॥

ज्ञानदानाद्भवेज्ज्ञानी सुखी स्याद्भोजनादिह ।
निर्भयोऽभयतो जीवो नीरुगौषधदानतः ॥ ६२ ॥

धर्मतः सकलमंगलावली धर्मतो भवति मुंडकेवली ।
धर्मतो जिनसुचक्रभृद्बली नाथतद्रिपुमुखो नरो बली ॥ ६३ ॥

प्रतिमाओं के पाँच-पाँच उपकरण स्थापित किये । ब्रह्मश्री (ब्रह्मचारी) नरसिंह तथा तिहुण आदि मुनियों के लिए उन्होंने भक्तिपूर्वक इन मूलाचार आदि शास्त्रों का ज्ञान दान दिया । चतुर्विध संघ के लिए चार प्रकार का उत्तम आहार, औषधदान तथा वस्त्र एवं उपकरणादि दिये ॥५५-५७॥ उन्होंने मित्रों के लिए प्रीतिदान, याचकों को संतुष्टि दान और हीन मनुष्यों को दयादि दान दिये । इस तरह उत्तम व्यय किया ॥५८॥

इस प्रकार जो आत्मभक्ति से सात क्षेत्रों में दान देता है वह परभव में प्रदत्त वस्तुओं से अनन्त गुणी वस्तुओं को प्राप्त होता है और इस भव में भी पूज्य होता है ॥५६॥ संघपति श्री पद्मसिंह ने स्वोपार्जित धन से इस मूलाचार शास्त्र को लिखाकर तथा हिसार से बुलाकर भक्तिपूर्वक श्री नरसिंह के लिए प्रदान किया ॥६०॥ जो मनुष्य ज्ञान दान देता है वह देवों का पूज्य होता है, देवांगनाओं के साथ विषय सुख भोगकर बाद में मनुष्य जन्म प्राप्त करता है, वहाँ राज्य सुख भोग कर तथा संसार और शरीर सम्बन्धी सुखों से चित्त को निःस्पृह कर दीक्षा ग्रहण करता है और समस्त श्रुत को जानकर अन्तिम ज्ञान केवलज्ञान को प्राप्त होता ॥६१॥ ज्ञानदान से जीव ज्ञानी होता है, आहार दान से सुखी होता है, अभय दान से निर्भय होता है और औषध दान से निरोग होता है ॥६२॥ धर्म से समस्त मंगलों का समूह प्राप्त होता है, धर्म से मनुष्य प्रसिद्ध केवली होता है, धर्म से तीर्थंकर और चक्रवर्ती होता है, धर्म से ही बलशाली नारायण-प्रतिनारायण तथा बलभद्र आदि होता है ॥६३॥

ज्ञात्वेति कुर्वन्तु जनाः सुधर्मं सदैहिकामुष्मिकसौख्यकामाः ।
देवार्चनादानतपोव्रताद्यैर्धान्यं न सम्यं कृषिमन्तरेण ।। ६४ ।।

खण्डेलान्वयमण्डनेन्दुवदन त्वं पद्मसिंहाख्य भो,
हेमाद्यैस्त्रिभिरंगजैर्मतिमितैर्भीमादिभिर्बन्धुभिः ।
भव्यांभोरुहखण्डवासरमणेश्चारित्रचूडामणेः
सूरिश्रीजिनचन्द्रकस्य वचनान्नन्द्याश्चिरं भूतले ।। ६५ ।।

शास्त्रं शस्त्रं पापवैरिक्षयेऽदः शास्त्रं नेत्रं त्वन्तरार्थप्रदृष्टौ ।
शास्त्रं पात्रं सर्वचंचद्गुणानां शास्त्रं तस्माद्यत्नतो रक्षणीयम् ।। ६६ ।।

श्रुत्वा शास्त्रं पापशत्रुं हिनस्ति श्रुत्वा शास्त्रं पुण्यमित्रं धिनोति ।
श्रुत्वा शास्त्रं सद्विवेकं दधाति तस्माद्भव्यो यत्नतस्तद्धि पाति ।। ६७ ।।

यावत्तिष्ठति भूतले सुरनदी रत्नाकरो भूधरः,
कैलासः किल चक्रिकारितजगद्वन्द्यार्हच्चैत्यालयः ।
यावद्व्योम्नि शशांकवासरमणी प्रस्फेटयन्तौ तम-
स्तावत्तिष्ठतु शास्त्रमेतदमलं सम्पठ्यमानं बुधैः ।। ६८ ।।

सूरिश्रीजिनचन्द्रांह्रिस्मरणाधीनचेतसा ।
प्रशस्तिर्विहिता चासौ मीहाख्येन सुधीमता ।। ६९ ।।

ऐसा जानकर ऐहलौकिक और पारलौकिक सुख के इच्छुक मनुष्य देवपूजा, दान, तप और व्रतादि के द्वारा उत्तम धर्म करें—पुण्योपार्जन करें, क्योंकि खेती के बिना धान्य—अनाज की प्राप्ति नहीं होती ।।६४।। हे खण्डेलवंश के अलंकार ! चन्द्रवदन ! श्री पद्मसिंह ! तुम हेमा आदि तीनों पुत्रों तथा भीमा आदि चारों भाइयों के साथ, भव्य रूपी कमल-वन को विकसित करने के लिए सूर्य, चारित्रचूडामणि श्री आचार्य जिनचन्द्र के शुभाशीर्वचन से चिरकाल तक पृथ्वीतल पर आनन्द का अनुभव करो ।।६५।।

यह शास्त्र पापरूपी शत्रुओं का क्षय करने में शस्त्र है, यह शास्त्र अन्तस्तत्त्व को देखने के लिए नेत्र है, तथा यह शास्त्र समस्त उत्तम गुणों का पात्र है, अतः यह शास्त्र यत्नपूर्वक रक्षा करने के योग्य है ।।६६।। चूंकि भव्य जीव शास्त्र को सुनकर पापरूप शत्रु को नष्ट करता है, शास्त्र सुनकर पुण्यरूपी मित्र को संतुष्ट करता है, और शास्त्र सुनकर उत्तम विवेक को धारण करता है इसलिए भव्य जीव यत्न से शास्त्र की रक्षा करता है ।।६७।।

जब तक पृथ्वी तल पर गंगा नदी विद्यमान है, जब तक समुद्र विद्यमान है, जब तक चक्रवर्ती भरत के द्वारा निर्मापित जगत्पूज्य जिनचैत्यालयों से युक्त कैलास पर्वत विद्यमान है, और जब तक अन्धकार को नष्ट करनेवाले चन्द्र-सूर्य आकाश में विद्यमान हैं तब तक विद्वज्जनों द्वारा पठन-पाठन में आनेवाला यह निर्दोष शास्त्र विद्यमान रहे ।।६८।।

जिसका चित्त आचार्य जिनचन्द्र के चरणों के स्मरणाधीन है उस मीहा नामक विद्वान् ने यह प्रशस्ति बनाई है ।।६९।।

यद्यत्र क्वाप्यवद्यं स्यादर्थे पाठे मयादृतम् ।
तदा शोध्य बुधैर्वाच्यमनन्तः शब्दवारिधिः ॥ ७० ॥

इति श्रीभव्यकुमुदचन्द्रस्य सूरेः श्रीजिनचन्द्रस्य पादांभोरुहषट्पदेन
पंडितश्रीमेधाविसंज्ञेन काव्यरूपेण विरचिता
प्रशस्ताप्रशस्तिः समाप्ता ।

(इति पर्यन्तः ख-ग-पुस्तकीयः पाठः सदृशः ।)

ख—पुस्तकीयपाठः—संवत् १८८७ का पोषमासे कृष्णपक्षतिथौ ६ रविवासरे लिषाइतं पंडितसरूपचन्द तत्शिष्यसदासुषलिप्यकृतं म्हात्मा संभूराम सवाईजैपुरमध्ये । सं. १८८७ ऋषिवसुसिद्धीन्दयुते पोषमासे कृष्णपक्षे दशमीगुरुवासरे अनेकशोभाशोभिते श्रीसपादजयपुराह्वये नगरे श्रीमन्महाराजाधिराजराजेन्द्रश्रीसवाईजयसिंहजिद्राज्यप्रवर्तमाने नानाविधिवादित्रशोभिते विचित्रवेदिकान्विते मं..................

ग—पुस्तकीयपाठः—लिषितं भारतीपुरवास्तव्यपंडितपुरुषोत्तमपुत्र धाराधरसंज्ञेन ॥ छ ॥ शुभं भूयात् लेखकपाठकयोः ॥ छ ॥ छ ॥ श्रीः ॥ छ ॥ शुभं भवतु ॥ छ ॥

यदि मैंने इस प्रशस्ति के किसी पाठ या अर्थ में दोष का आदर किया है—कहीं त्रुटि की है तो ज्ञानी जनों को उसे शुद्ध कर बांचना चाहिए क्योंकि शब्द रूपी सागर अनन्त है—शब्दों का पार नहीं है ।

इस प्रकार भव्य जीव रूपी कुमुदों को विकसित करने के लिए चन्द्रस्वरूप
आचार्य जिनचन्द्र के चरणकमलों के भ्रमर मेधावी पण्डित के द्वारा
काव्य रूप से विरचित यह प्रशस्त प्रशस्ति समाप्त हुई ।

अथ ग्रन्थस्यानुवादकर्त्र्याः प्रशस्तिः

सर्वशान्तिविधातारं नत्वा शान्तिजिनेश्वरम् ।
शान्तिसागरमाचार्यं वन्दे भक्त्या पुनः पुनः ॥१॥

श्रीकुन्दकुन्दसूरीणामन्वये शारदाभिधे ।
गच्छे गणे बलात्कारे संततिवङ्.मणिस्त्वयम् ॥२॥

श्रीशान्तिसागरस्यास्य पट्टं श्रीवीरसागरः ।
अलंचकार तच्छिष्या ज्ञानमत्यार्यिकाभवम् ॥३॥

पूर्णचारित्रकामाहं मूलाचारं व्यलोकयम् ।
श्रीकुन्दकुन्ददेवानां कृतिरेवेति श्रद्धया ॥४॥

सिद्धान्तचक्रवर्तिश्री-वसुनन्दिकृतामपि ।
व्याख्यां तात्पर्यवृत्याख्यामभ्यसन्ती मुहुर्मुहुः ॥५॥

मुक्तिप्रासादसोपानसद्वृत्तचारित्र-लब्धये ।
मयानूदित ग्रन्थोयं स्वशुद्ध्यै मातृभाषया ॥६॥

कुरुजांगलदेशेऽस्मिन् सुक्षेत्रे हस्तिनापुरे ।
विकशून्यपंचयुग्मांके वीराब्दे विश्रुते भुवि ॥७॥

अक्षयाख्यतृतीयां वैशाखे बुधवासरे ।
जिनचैत्यालये ह्येषोऽनुवादः पूर्णतामगात् ॥८॥

अल्पज्ञानात्प्रमादाद्वा स्खलनं यदजायत ।
श्रुतज्ञाः शोधयन्त्वेतत् क्वायं ग्रन्थः क्व मे मतिः ॥९॥

यावत् श्रीजैनधर्मोऽयं विद्यते पृथिवीतले ।
तावत्स्थेयादयं ग्रन्थो मूलाचारोऽस्तु मे श्रिये ॥१०॥

इति

परिशिष्ट २

मूलाचारोत्तरार्धस्य गाथानुक्रमणिका

[संकेत—पहला अंक 'अधिकार' का, दूसरा अंक 'गाथा' का और तीसरा अंक 'पृष्ठ' का जानना चाहिए।]

अ

आ

परिशिष्ट ३

मूलाचार-उत्तरार्ध का पारिभाषिक एवं भौगोलिक शब्दकोश

[संकेत—प्रथम अंक गाथा और द्वितीय अंक पृष्ठ का है। अनेक स्थानों पर आगत शब्दों का एक बार ही संकलन किया गया है। कुछ परिभाषाएँ आचारवृत्ति और हिन्दी टीका से ज्ञातव्य हैं।]

अ

—o—

परिशिष्ट ४

आचारवृत्ति के आधार पर

नरक और स्वर्ग सम्बन्धी प्रस्तारों के इन्द्रकों के नाम

१. रत्नप्रभा

१. इन्द्रक, २. नारक, ३. रौरुक, ४. भ्रान्त, ५. उद्भ्रान्त, ६. संभ्रान्त, ७. असंभ्रान्त, ८. विभ्रान्त, ९. त्रस्त, १०. त्रसित, ११. वक्रान्त, १२. अवक्रान्त, १३. विक्रान्त।

२. शर्कराप्रभा

१. ततक, २. स्तनक, ३. मनक, ४. वनक, ५. घाट, ६. संघाटक, ७. जिह्वा, ८. जिह्विक ९. लोल, १०. लोलुप, ११. स्तनलोलुप।

३. बालुकाप्रभा

१. तप्त, २. त्रस्त, ३. तपन, ४. तापन, ५. निदाघ, ६. प्रज्वलित, ७. उज्ज्वलित, ८. संज्वलित, ९. संज्वालित।

४. पंकप्रभा

१. आर. २. तार, ३. मार, ४. वर्चस्क, ५. तमक, ६. खड, ७. खडखड।

५. धूमप्रभा

१. तम, २. भ्रमर, ३. ऋषभ, ४. अधःसंज्ञक, ५. तमिस्र।

६. तमःप्रभा

१. हिम, २. वर्दल, ३. लल्लक।

७. महातमःप्रभा

१. अवधिस्थान

इस प्रकार रत्नप्रभादि सात पृथिवियों में ४९ इन्द्रक हैं।

सौधर्मादि स्वर्गों के त्रेसठ इन्द्रकों के नाम—

सौधर्म-ऐशान स्वर्ग के ३१ इन्द्रक

१. ऋतु, २. विमल, ३. चन्द्र, ४. वल्गु, ५. वीर, ६. अरुण, ७. नन्दन, ८. नलिन, ९. कांचन, १०. रोहित, ११. चंचल, १२. मारुत, १३. ऋद्धि, १४. ईशान, १५. वैडूर्य,

१६. रुचक, १७. रुचिर, १८. अंकस्फटिक, १९. तपनीय, २०. मेघ, २१. अभ्र, २२. हारिद्र, २३. पद्म, २४. लोहित, २५. वज्र, २६. नन्द्यावर्त, २७. प्रभंकर, २८. पृष्ठंकर, २९. अंजन, ३०. मित्र, ३१. प्रभा।

सानत्कुमार-माहेन्द्र के सात इन्द्रक

१. अंजन, २. वनमाला, ३. नाग, ४. गरुड़, ५. लांगल, ६. बलभद्र, ७. चक्र।

ब्रह्म स्वर्ग के चार इन्द्रक

१. अरिष्ट, २. देव समित, ३. ब्रह्म, ४. ब्रह्मोत्तर।

लान्तव के दो इन्द्रक

१. ब्रह्महृदय, २. लान्तव।

महाशुक्र का एक इन्द्रक

१. शुक्र।

सहस्रार का एक इन्द्रक

१. शतार।

प्राणत के तीन इन्द्रक

१. आनत, २. प्राणत, ३. पुष्पक।

अच्युत कल्प के तीन इन्द्रक

१. सानत्कुमार, २. आरण, अच्युत।

अधोग्रैवेयक के तीन इन्द्रक

१. सुदर्शन, २. अमोघ, ६. प्रबुद्ध।

मध्यमग्रैवेयक के तीन इन्द्रक

१. यशोधर, २. सुभद्र, ३. सुविशाल।

उपरिम ग्रैवेयक के तीन इन्द्रक

१. सुमनस, २. सौमनस, ३. प्रीतिंकर।

अनुदिशों का एक इन्द्रक

१. आदित्य

अनुत्तरों का एक इन्द्रक

१. सर्वार्थसिद्धि।

—०—